महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

व्याख्याद्वयोपेतः

[तृतीयो भागः]

कुलपतेः श्रीवेङ्कटाचलस्य 'शिवसङ्कल्प' -पुरोवाचा
पुरस्कृतः

हिन्दीभाष्यकारःसम्पादकश्च
डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 17]

ŚRĪTANTRĀLOKA

OF

MAHĀMĀHEŚVARA ŚRĪ ABHINAVAGUPTAPĀDĀCĀRYA

[PART THREE]

With Two Commentaries

'VIVEKA'

BY

ĀCĀRYA ŚRĪ JAYARATHA

'NĪRAKṢĪRAVIVEKA'

BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

FOREWORD BY

PROF. V. VENKATACHALAM

VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

VARANASI

1994

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002

Available at--
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002

First Edition, 500 Copies
Price Rs. 164·00

Printed by–
VIJAYA PRESS,
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[१७]

महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

[तृतीयो भागः]

श्रीमदाचार्यजयरथकृतया

'विवेक'व्याख्यया

डॉ० परमहंसमिश्रकृतेन

'नीरक्षीरविवेक'-हिन्दीभाष्येण

कुलपतेः श्रीवेङ्कटाचलस्य 'शिवसङ्कल्प'-पुरोवाचा च पुरस्कृतः

सम्पादकः

डॉ० परमहंसमिश्रः 'हंसः'

वाराणस्याम्

२०५१ तमे वैक्रमाब्दे १९१६ तमे शकाब्दे १९९४ तमे खैस्ताब्दे

शिव-सङ्कल्प

'अद्वैत' तत्त्व भारतीय दार्शनिक चिन्तन का सर्वोच्च शिखर है, यह तटस्थभाव से विचार करने वाले संसार के सभी मनीषियों का अभिमत है। कविता के साथ शास्त्रों में जिनकी प्रतिभा की अबाध गति थी, ऐसे महाकवि श्रीहर्ष ने अपने **नैषध**-महाकाव्य के प्रसिद्ध **पञ्चनली** सर्ग में बड़े चमत्कार के साथ इस तथ्य की ओर इंगित किया है, जब काव्य की नायिका दमयन्ती स्वयंवर-मण्डप में चार मिथ्या नलों से मिलने के बाद परमार्थ नल की ओर कदम बढ़ाती है। असत्य से सत्य की ओर बढ़ती इस गति की महाकवि अपनी अनूठी शैली से द्वैतवादी मिथ्या-दर्शनों को छोड़कर पारमार्थिक अद्वैत की ओर उन्मुखता से तुलना करते हुए लिखता है—

साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां
तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मताना-
मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः॥ (१३।३६)

यह तो निर्विवाद है कि इस परमाद्वैत तत्त्व का मूल उत्स उपनिषद् है; परन्तु उपनिषदों से प्रवाहित अद्वैत को धारा ने कालान्तर में बहुमुखीरूप धारण किया। जहाँ दक्षिण के सुदूर अंचल केरल में जन्मे आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने उसको निर्विशेष ब्रह्माद्वैत के रूप में रूपायित कर अपनी अलौकिक दैवी प्रतिभा से सारे देश में प्रतिष्ठापित किया, वहाँ उत्तर की सीमा काश्मीर में उसकी एक दूसरी धारा शिवाद्वैत के रूप में विकसित हुई। इस काश्मीरी शिवाद्वैत प्रस्थान में आचार्य अभिनवगुप्त का वही स्थान है, जो ब्रह्माद्वैत दर्शन में श्रीशङ्कराचार्य का। अन्तर मात्र इतना है कि इस धारा का प्रभाव-क्षेत्र काश्मीर एवं उसके परिसर तक सीमित रहा, जब कि आचार्य शङ्कर का दर्शन सारे भारतवर्ष में छा गया। फिर भी यह अद्भुत संयोग ही कहलाएगा कि इस काश्मीर शैवदर्शन को एक धारा के प्रवर्तक श्रीकण्ठाचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर तमिल प्रदेश के सर्वशास्त्र-पारंगत विद्वान् अप्पय्य दीक्षित ने विशाल भाष्य **शिवार्कमणिदीपिका** लिखकर व्यापक प्रतिष्ठा दी।

काश्मीरी शिवाद्वैत के प्रसार का भौगोलिक क्षेत्र कुछ सीमित अवश्य रहा, फिर भी एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में उसकी समग्रता अक्षुण्ण है। उसका साहित्य भी तदनुरूप समृद्ध एवं बहुमुखी है। जिस आगम-साहित्य पर वह आधारित है, वह भी अपने आप में एक विशाल दार्शनिक ज्ञान का भण्डार है। आचार्य अभिनवगुप्त ने शैवागम साहित्यरूपी अपने मूल उत्स को समस्त दार्शनिक धाराओं को समेटने वाले एक ऐसे सर्वंकष ग्रन्थ की परिकल्पना की है, जो उनकी जैसी अलौकिक प्रतिभा के लिए ही सम्भव था। प्रस्तुत ग्रन्थ तन्त्रालोक उनके इस विराट् शिव-संकल्प का ही परिणाम है। अपने ग्रन्थ के विराट् आयाम के विषय में महाभारत की प्रसिद्ध उक्ति—

यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ।

तन्त्रशास्त्र के सन्दर्भ में अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक पर भी उतनी ही सटीक है। यही कारण है कि अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक को काश्मीरी शैव-शास्त्र के आकर ग्रन्थ की प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी। यही कारण है कि आज तक यह महामाहेश्वर आचार्य काश्मीरी शैव-दर्शन के 'मार्गदर्शी' महर्षि के रूप में पूजे जाते हैं।

यह तो स्वाभाविक ही था कि शैवागम-सर्वस्व की प्रतिष्ठा का आकांक्षी ऐसा ग्रन्थ **'मितं च सारं च'** के आदर्श का अनुगमन करने वाला हो। ऐसी संक्षिप्त शैली के बिना समूचे शैवागम को एक ग्रन्थ की परिधि में संगृहीत कर स्थापित करना असम्भव ही था। परिणाम-स्वरूप तन्त्रालोक काश्मीरी शैवदर्शन का एक प्रकार से सूत्र-ग्रन्थ बन गया। विशाल शैवागम से परिचित तन्त्रालोक का प्रत्येक पाठक यह अवश्य अनुभव करेगा कि आचार्य अभिनवगुप्त ने इसमें **'अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्'** को पारम्परिक सूत्र-शैली को आत्मसात् करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है और जैमिनि, बादरायण, कणाद, गौतम, पतञ्जलि आदि विभिन्न दर्शनों के सूत्रकारों-ऋषियों की श्रेणी में अपना स्थान बना दिया है। अन्तर मात्र इतना है कि सांख्यदर्शन में ईश्वर-कृष्ण की **'सांख्यकारिका'** के समान इनका ग्रन्थ गद्यात्मक न होकर कारिका-रूप में निबद्ध है।

जब तन्त्रालोक का निर्माण सूत्र-शैली में हुआ, तो कालान्तर में उस पर विस्तृत भाष्य लिखा जाना भी स्वाभाविक ही था। भारत के प्राचीन वैचारिक साहित्य के इतिहास से अभिज्ञ व्यक्ति तो भलीभाँति जानते हैं कि

संक्षेप और विस्तार की दोनों धाराएँ समानान्तर रूप में ज्ञान के समस्त क्षेत्रों में प्रचलित थीं। गम्भीर सूत्र-ग्रन्थों में निगूढ व्यापक अर्थों की 'कर्णा-कर्णिका' परम्परा जब शिथिल होने लगती है, तब उन गूढार्थों की रक्षा के लिए भाष्यों का उद्गम होता रहा है और ऐसे भाष्यों की रचना से दार्शनिक चिन्तन के विभिन्न प्रस्थान पूर्ण प्रतिष्ठा को अर्जित कर पाये। व्याकरण में पाणिनि-सूत्र पर महाभाष्य, मीमांसा-सूत्र पर शाबरभाष्य, वेदान्त-सूत्र पर शाङ्करभाष्य आदि ग्रन्थों की जो स्थिति उन दार्शनिक प्रस्थानों में है, ठीक वैसी ही स्थिति और वैसी ही प्रतिष्ठा राजानक आचार्य जयरथ प्रणीत 'विवेक' व्याख्या की भी है; क्योंकि तन्त्रालोक कारिकारूप में होने से तथा सूत्र-काल की दृष्टि से अर्वाचीन रचना होने से सूत्र नहीं कहा गया, इसीलिए यह व्याख्यान भाष्य नहीं कहा गया। वास्तविकता तो यह है कि इसमें प्राचीन भाष्यों की गरिमा पूर्णतया निहित है। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ के भागों को महाभाष्य के विभाजन की परम्परा से आह्निक नाम दिये हैं। प्रतीत होता है कि जयरथ ने अपने भाष्य को 'विवेक', 'प्रकाश' इन दोनों नामों से अभिहित किया है। कहीं इसे 'विवरण' भी कहा है।

जयरथ की टीका का महत्त्व मूल तन्त्रालोक से कहीं कम नहीं है। वास्तव में वह मात्र व्याख्या नहीं है, कई अंशों में उसकी पूरक भी है, जिसके बिना तन्त्रालोक का अर्थ-बोध और माहात्म्य-बोध लगभग असम्भव ही है। यह एक अद्भुत योग ही था कि तन्त्रालोककार एवं उसके भाष्यकार दोनों ही अप्रतिम विद्वान् थे, जो तन्त्र-शास्त्र के प्रति समर्पित थे। शास्त्र के गूढ़ अर्थों की परम्परा के रक्षक थे, और तो और, दोनों ही शैव-तन्त्र के परिनिष्ठित साधक भी थे। इन सब कारणों से जयरथ की 'विवेक'-व्याख्या तन्त्रालोक के अर्थावबोध के साथ-साथ तन्त्रालोक द्वारा प्रदर्शित साधना-पथ में भी उसकी अभिन्न अंग बन गयी है। यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि आचार्य जयरथ की साधना-परम्परा भी किसी न किसी रूप में अभिनवगुप्त से सम्बद्ध ही थी, जिसका संकेत उनके ग्रन्थ में भी यत्र-तत्र विद्यमान है।

हमारे देश की दार्शनिक-परम्परा में इन दोनों आचार्यों की संपृक्त प्रतिष्ठा का वास्तविक रहस्य यही है कि ये दोनों ही आचार्य तन्त्र के प्रखर साधक थे। यदि इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध सूक्ष्म संकेतों पर ध्यान दें, तो

यह स्पष्ट होगा कि ये केवल साधक ही नहीं, अपनी परिपक्व साधना के माहात्म्य से अपने साधना-पथ के सिद्ध पुरुष थे। भारतीय दार्शनिक परम्परा का यही चरम उत्कर्ष है कि यहाँ किसी दार्शनिक की मान्यता केवल बौद्धिक व्यायाम या वैचारिक विश्लेषण पर नहीं, उनकी साधना एवं अनुभूति पर भी आधृत थी। बौद्धिक गहराई से आश्चर्य की भावना जागृत हो सकती थी; किन्तु आचार्य के रूप में श्रद्धा और भक्ति का केन्द्र वही दार्शनिक बन सकता है, जो अपने अनुचरों को साधना के पथ पर अपने साथ ले जा सकता है। यही कारण है कि भारत में 'फिलासफी' और 'रिलीजन' भिन्न नहीं, एक-दूसरे से गर्भित थे। यह अपने आप में स्वतन्त्र चर्चा का विषय है, जिसका विस्तार यहाँ सम्भव नहीं है।

मैं तो इस प्रकाशन का एक बहुत बड़ा सुयोग मानता हूँ कि तन्त्रालोक के हिन्दी-भाष्य के लेखक **श्री परमहंस मिश्र** भी अपने नाम के अनुरूप काश्मीरी तन्त्र-साधना के सम्प्रदाय-सिद्ध साधक हैं और तन्त्र के साधना-पक्ष से पूर्णतया परिचित हैं। प्रस्तुत खण्ड की भूमिकारूपी 'स्वात्मविमर्श' में इन्होंने अपनी साधना के विषय में जो प्रच्छन्न और प्रकट संकेत प्रसंगवश दिये हैं, उससे अधिक लिखना या बोलना रहस्यात्मक गुरुपरम्परा की मर्यादा के अनुकूल नहीं होगा। प्रकृत ग्रन्थ के अद्यावधि प्रकाशित तीनों भागों के सम्पादन एवं सुबोध हिन्दी-भाष्य के लिए मैं उनको हृदय से साधुवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि वे इस महान् कार्य को शीघ्र ही पूरा करेंगे।

विश्वविद्यालय के कर्मठ प्रकाशनाधिकारी **डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** की कर्त्तव्य-निष्ठा एवं कार्यकुशलता सचमुच स्तुत्य है। डॉ० त्रिपाठी एवं इस ग्रन्थ के मुद्रक **विजय-प्रेस** के व्यवस्थापक श्रीगिरीशचन्द्र भी विश्वविद्यालय के धन्यवाद के पात्र हैं।

वाराणसी
गुरुपूर्णिमा,
वि० सं० २०५२

वि० वेङ्कटाचलम्
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

॥ श्रीहरिः शरणम् ॥

शुभाशंसा

परमात्मा ने सृष्टि की रचना कर प्राणियों के उद्धार हेतु उनके अदृष्ट की सहकारिता से नाना शरीरों की रचना की। इनमें मानव शरीर ही मोक्ष का द्वार माना गया है। उसका क्रम है चतुर्वर्णाश्रम-व्यवस्था। कलियुग में इस व्यवस्था के शिथिल हो जाने से मोक्ष-प्राप्ति का वैदिक-विधान भी शिथिल हो जायगा। अतः **परममाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य** ने अपनी असाधारण प्रतिभा तथा अद्वितीय साधना के बल से तन्त्र के मूलभूत तत्त्वों का अन्य दर्शन के आचार्यों की अपेक्षा अधिक रूप में यथार्थ अवगत कर उसे लोकहितार्थ भव्य तान्त्रिक-भाषा एवं तान्त्रिक शैली में प्रतिपादित किया है।

उन्होंने तन्त्र को तथा उसके समस्त विस्तार के मूलकारण को प्रकाशान्तर-निरपेक्ष स्वप्रकाशसंविद्रूप प्रतिपादित करते हुए चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया की पाँच शक्तियों से सम्पन्न बताया है। इन शक्तियों में आनन्द-शक्ति ही स्वातन्त्र्य शक्ति है, वही मूल-शक्ति है, प्रधान-शक्ति है। उसी से त्रिक-दर्शन में प्रतिपादित छत्तीस तत्त्वों का प्राकट्य होकर समस्त विश्व का विस्तार होता है। वह प्रकाश तत्त्व से अभिन्न होकर समस्त रूप में प्रकाशात्मा हो है। यह शिवरूपा स्वतन्त्र प्रकाशात्मिका संवित् सारे विश्व में अनुस्यूत होते हुए भी अपने विश्वोत्तीर्ण रूप में प्रतिष्ठित है। इन शक्तियों में परस्पर किंचिद् भी भेद नहीं है। दोनों में पूर्ण सामञ्जस्य है। इसी प्रकाशात्मा परमशिव की स्वतन्त्र-शक्ति का ही उन्मेष जीव है, वह पाशबद्ध होने से पशु बन बैठा, वह अपने स्वरूप को भूल गया है। मूल-स्वरूप में उसको प्रतिष्ठा का साधन गुरुकृपापूर्वक दीक्षा-प्राप्ति ही है।

महामाहेश्वर की प्रसन्नता से त्रिस्रोतस् तन्त्र की **"तन्त्रालोक"** संज्ञा प्रसिद्ध हुई। इसके विस्तार को दृष्टिपथ में रखते हुए उन्होंने मन्दमति जीवों के कल्याणार्थ इसका सारभूत ग्रन्थ **"तन्त्रसार"** नाम से प्रकाशित किया। **"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"** के अनुसार स्वाध्याय बहुत महत्त्वशाली माना गया है। अतः इन तन्त्र-ग्रन्थों के सतत स्वाध्याय से निर्विकल्पावस्था की प्राप्ति सम्भावित है, जिसमें पहुँचकर साधक सिद्ध बन जाता है। निर्विकल्पतारूप पुष्प का समर्पण ही माहेश्वर की भावपूजा है।

"तन्त्रालोक" के इस तृतीय खण्ड में अष्टम एवं नवम आह्निक के ही विषयों का वर्णन हुआ है। मूर्त्तिवैचित्र्य-विश्लेषक देशाध्वा का विश्लेषण इन दोनों आह्निकों में है। अष्टम आह्निक में मूर्त्तिमान् विश्व-देश का तथा नवमाह्निक में तत्त्वभेद का साङ्गोपाङ्ग निरूपण है। देशाध्वा का तीसरा अङ्ग कला है। कालाध्वा का वर्णन एकादश आह्निक में पाया जाता है। दशम आह्निक में तत्त्वभेद का ही निरूपण है।

"श्रीतन्त्रालोक" में जिन अंशों में भेदवाद दिखाई देता है, वह सब वस्तुतः अद्वय का साकार रूप है। जो कुछ दिखाई पड़ रहा है, वह सब परम-तत्त्व ही है। हम विश्व भी हैं, विश्वातीत भी हैं, विश्वमय भी हैं, विश्वोत्तीर्ण भी हैं। विश्व को पार करना विश्व को समझना मात्र है। जड़ता चेतना का घनीभाव है। इदं में इदन्ता का दर्शन कर उसे स्वीकारने के पश्चात् उसमें अहन्ता का दर्शन सम्भव है। अहन्ता एवं इदन्ता में स्व तथा पर में कोई भेद नहीं है, दृष्टि का परिवर्तन मात्र अपेक्षित है।

नीर-क्षीर-विवेचक-भाष्य-विधाता **श्रीपरमहंस मिश्र** के **"तन्त्रालोक"** तृतीय खण्ड की सारगर्भित व्याख्या को आंशिक रूप में पढ़कर अत्यधिक हृदयोल्लास हुआ। आगम-शास्त्र के गम्भीर रहस्यों के प्रकाशन से श्री मिश्र ने समयानुरूप लोकोपकार किया है, जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जनों का वास्तविक कल्याण किया है। अतः मैं सर्वथा भगवान् परमशिव से प्रार्थना करता हूँ कि श्री मिश्र स्वास्थ्यसम्पन्न चिरायुष्य प्राप्त कर ऐसे लोककल्याणकारक कार्यों के करने में समर्थ हों।

वाराणसी
गुरुपूर्णिमा,
वि० सं० २०५१

रामप्रसाद त्रिपाठी
सम्मानित-आचार्य
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

स्वात्मविमर्श

स्वात्म फलक पर स्वात्म तूलिका से स्वात्मसंविद्वपुष् परमेश्वर ने एक चित्र बनाया। उसे निरखा परखा और ठठा कर हँस पड़े ! कैसा बन पड़ा था वह चित्र[1]। स्वयं रचनाकार ही अपनी रचना देखकर निहाल हो उठे, वह कितनी अनूठी कलाकृति कही जा सकती है ? वह रचना और कुछ नहीं—यह जगत् ही है। अप्रतिम कलाकार की अनुपमेय अप्रतिम कलाकृति ! शाश्वत प्रकाशमान विश्व का यह विकसमान कमल-कोश।

महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्त की लेखनी से भी वाङ्मय-विश्व-कोश की एक संविद्-संज्ञान-मन्दाकिनी की सुधा धारा का महाप्रवाह बह चला। वह अपरंपार ऊर्मिल पारावार का रूप ग्रहण कर सोम[2] और [3]सूर्य के नवालोक से आलोकित हो उठा। नवल आलोक के इस [4]त्रिस्रोतस् तन्त्र को 'तन्त्रालोक' का नया नाम मिला। महामाहेश्वर प्रसन्न थे। इसकी विभा में समग्र शैव समुल्लास भासमान है। पारमेश्वर प्रसर के 'देश' का इसमें समग्र दर्शन और विपुल 'काल' का कलित कौलिक आकलन ! सब कुछ एकत्र ही सुलभ है।

महामाहेश्वर ने श्रीतन्त्रालोक के विस्तार को देखा। उनका हृदय द्रवित हो उठा। स्वात्म संकोच के कारण अणुत्व का वरण करने वाला अध्येता कहीं धूर्जटि के जटाजाल में जह्नुतनया की तरह खो न जाय ? परिणामतः उन्होंने स्वयं इसका [5]सार निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिया। वही 'तन्त्र-सार' के रूप में रूपायित है।

विकल्प संस्कार के लिये इन ग्रन्थों के स्वाध्याय की सदा अपेक्षा रहेगी। इससे निर्विकल्प भूमि का स्पर्श प्राप्त कर साधक सिद्धार्थ हो जाता है। इनके स्वाध्याय से उस निर्विकल्प दशा में लीन होने की विधि मिलती है। इसलिये स्वाध्याय सबसे बड़ी पूजा है। फूल आदि द्रव्यों का देवों के

---

१. जगच्चित्रं समालिख्य स्वात्मतूलिकयाऽऽत्मनि।
स्वयमेव तदालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः॥

२. सोमतत्त्व [अपानचन्द्र]; ३. सूर्य [प्राण तत्त्व] प्राणापानवाहक्रम में इनका वर्णन है; ४. पर, परापर और अपर भाग; ५. हृदय, तन्त्रसार ग्रन्थ।

लिये अर्पण आदि करते हुए पूजक अपनी बुद्धि को जड़ता से ही आक्रान्त करता है। वस्तुत: निर्विकल्पता में आदरपूर्वक लीन होने की कला ही पूजा[1] है। इसके लिये महामाहेश्वर यह आह्वान करते हैं कि अभिनव के खिले हृदय कमलरूपी विमर्श कुसुमों का चयन कर आप महेश्वर का पूजन करें।[2]

यहाँ एक दूसरी स्थिति ही घटित हो रही है। महामाहेश्वर ने स्वयं स्वोपज्ञसाररूपा गद्य रचना में तन्त्रालोक के पद्यात्मक प्रसार को समास सरणी अपना कर समाहित करने का महान् अनुग्रह किया। इधर उन्हीं के अनुग्रह ने मुझ में नीरक्षीर-विवेक भाष्य लिखने का आग्रह भर दिया। मैंने 'तन्त्रसार' का दो खण्डों में नीर-क्षीर-विवेक हिन्दी भाष्य लिखकर समास सरणी को व्यासिका का विस्तार दिया। श्रीतन्त्रालोक के वितत रूप को मैंने हिन्दी मातृका का माध्यम देने का परिग्रह पाल लिया है।

मैं अपनी अयोग्यता को जानता हूँ पर मैं क्या कर सकता हूँ। परम-परमेष्ठी गुरुवर्य के अनुग्रह ने अभिव्यक्ति के लिये इसी विग्रह को माध्यम बना लिया है। श्रीतन्त्रालोक के वितत रूप का भी विस्तार हो रहा है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय विश्व संस्कृत विद्या का अप्रतिम प्रतिष्ठान है और सम्प्रभुता सम्पन्न महाराष्ट्र की शक्ति का सम्बल भी यहाँ प्राप्त है। इनके द्वारा इस ग्रन्थ रत्न का प्रकाशन उसी प्रज्ञा पुरुष के अनुग्रह का प्रतीक है।

महामाहेश्वर को बोध का प्रकाश मिला था—श्रीमदाचार्य लक्ष्मण गुप्त से। मेरे गुरुदेव का नाम भी श्रीलक्ष्मण जू था। श्रीनगर काश्मीर के गुप्त गंगा आश्रम के इस माहेश्वर परम पुरुष ने अपने अष्टार चक्र की अमृत मञ्जुल मरीचियों से मेरी प्रज्ञा को परिष्कृत किया। कर-कमलों से मेरे शिरः-कोश में मकरन्द माधुरी भर दी। मेरी बाहरी शिखा की ग्रन्थि को सहास खोल कर उद्योतिनी शिखा को आन्तर उत्प्रवाह दिया और वाणी की वर-दायिनी सुधा से मुझे सराबोर कर दिया। 'तन्त्रसार' के दोनों खण्ड उन्होंने देखे। देखकर मेरा उत्साहवर्द्धन किया और श्रीतन्त्रालोक भाष्य के समर्थन

---

१ पूजा नाम न पुष्पाद्यैः या मतिः क्रियते दृढा।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः॥

२. तन्त्रसार प्रथम खण्ड, श्लोक ३।

से मेरे कृतित्व के व्यापक प्रसार का आशीर्वाद दिया। मुझे उन्होंने महामाहेश्वर द्वारा संगृहीत ओर प्रभा देवी की हिन्दी टीका के साथ छपी श्रीमद्भगवद्गीता दी। उस पर उन्होंने जो लिखा है, वह मेरा सारस्वत कोष है। उसे मैं यहाँ लिखने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। उसकी मातृका इस प्रकार है—

"आदरणीयशिवभक्तियोगसम्पन्नपरमहंसमिश्रहस्तकमले सस्नेहं.........
..............शिवभक्तानुचरः लक्ष्मणः २–९–८७।"

मैं शिवभक्ति-योग-सम्पन्न इसके पहले नहीं था। उन्होंने शक्तिपात से मुझे सम्पन्न कर दिया। सन् १९८७ में ही श्रीनगर रहने का अल्पकालिक अवसर मुझे मिला था। उन्होंने मुझे बुलाया था। पुनः मैं जा न सका। क्रमशः काश्मीर का वातावरण विकृत होने लगा। उन्हें काश्मीर छोड़ दिल्ली आना पड़ा। अब उनका पार्थिव शरीर न रहा, पर उनका प्रसन्न पूज्य विग्रह मेरे ललाट पर पूजा के समय सदा सर्वदा प्रेम पादुकायें स्वीकार करता है।

यह श्रीतन्त्रालोक का तृतीय खण्ड है। इसमें मात्र अष्टम और नवम दो आह्निकों का ही समावेश हो पाया है। दोनों आह्निक देशाध्वा का विश्लेषण करते हैं। देशाध्वा मूर्तिवैचित्र्य का विश्लेषण करता है। अष्टम आह्निक में मूर्त्तिमन्त विश्वदेश का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है और नवम आह्निक में तत्त्वभेद का निरूपण है। तत्त्व भी विश्ववपुष् परमेश्वर के तात्त्विक अवयव ही हैं। देशाध्वा का तीसरा अंग कला है। कलाध्वा का वर्णन एकादश आह्निक में आया है। दशम आह्निक भी तत्त्वभेद का ही प्रकाशन करता है। ये दोनों आह्निक चतुर्थ खण्ड में आ रहे हैं।

त्रिकदर्शन के अनुसार तत्त्व की यही सच्ची परिभाषा है कि एक ही रूप जो अव्यभिचरित भाव से सभी भुवनादि प्रविभागों में व्याप्त है, वही तत्त्व है। उसी एक तत्त्व का स्फार ही यह ३६ तत्त्वों में वितत प्रकाशित विश्व है। परमेश्वर स्वातन्त्र्य से ही शिव के एकत्व से अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह भेद विभासमान हो रहा है। सब में एक रस रमने वाला जो अस्तित्व है—वही तत्त्व है। शुद्ध अध्वा और अशुद्ध अध्वा के ये सारे भेद एकत्व में ही समाहित हैं।

इतना मन में बिठला लेना तन्त्र की प्रारम्भिक प्रक्रिया है। स्वाध्याय से भेद में भेदाभेद और अन्त में अभेद के दर्शन होते हैं। पर यह ध्यान देने की बात है कि आजीवन इसो स्वाध्याय में लगना भी नहीं है। वस्तुतः तत्त्व मीमांसा का विषय नहीं होता। यह साधनारत साधक को अस्तित्वगत अनुभूति है। साधक तो भेद को भित्ति पर ही खड़ा है। उसका शरोर ही समस्त तत्त्ववाद का प्रतीक है। इसी में पञ्चमहाभूत अपनी भव्यता की विभूति भर कर आजीवन अवस्थित हैं। पञ्चतन्मात्रायें हैं। अपने सूक्ष्म अस्तित्व से स्थूल की प्रतिष्ठा करती हैं। कर्म और ज्ञान की इन्द्रियाँ हैं, जो विषय सन्निकर्ष के आनन्द से ओतप्रोत करतो हैं। अन्तःकरण, प्रज्ञा, प्रकृति, पुरुष, कंचुक आदि अपना चमत्कार अलग-अलग ढंग से व्यक्त करते हैं। हम इनका अध्ययन करते हैं और इस नियम का निर्माण करते हैं कि यह सब कुछ ईश का आवास्य है। सृष्टि भी उसी सिरजनहार का विभासित विमर्श है। अनुभूति के इस स्तर पर पहुँचना सबका लक्ष्य होना चाहिये। यहो नहीं हो पाता। स्वरूप गोपन को शैवस्वातन्त्र्य मानते हैं, पर यहो अणु पुरुष के लिये अभिशाप हो जाता है। इसी अभिशाप को मिटाने के लिये साधना में उतरना आवश्यक माना जाता है। गुरुजन भी यह उपदेश देते हैं कि आराध्य की आराधना करो, साध्य को उपलब्धि के लिये साधना में उतरो। तभी कल्याण सम्भव है।

इस अवसर पर यह चेतावनी देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि मानव सदा अपनी ही दुर्बलताओं का शिकार हो जाता है। जब हम अपने कल्याण के लिये किसी कार्यक्रम को तैयार करते हैं, भविष्यत् उत्कर्ष के लिये किसी योजना को प्रस्तावना तैयार करते हैं-–तो सबसे पहले हमारा ध्यान उसकी उपयोगिता पर जाता है, जैसे वह कोई विषय हो, जिसका इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष-जन्य आनन्द हम ले सकते हैं या नहीं? यह चिन्ता ही गलत है। हम उससे परम लक्ष्य की सिद्धि को बात भूल जाते हैं। उस सत्य पक्ष को ताक पर रख देते हैं।

उदाहरण स्वरूप हम अरुणोदय को लें। अम्बर पनघट पर उषा ने अपनी ताम्र गागरी के अमृत से दिवस को अभिषिक्त करने का कार्यक्रम शुरू कर दिया। सूर्य आदित्य का उदय हुआ। वह चाहता है कि रात्रि कारागार

से निकल कर हम उन्मुक्त आकाश में छिटके प्रकाश की आभा का अवगाहन करें। हम इस लक्ष्य को भूल कर उसकी इस प्रबोधक प्रक्रिया को भौतिक-दृष्टि से देखने के आदी बन गये हैं। हम स्वास्थ्य और दिनचर्या की संकुचित दृष्टि से सूर्योदय को देखकर उसके मौलिक सन्देश से मुँह मोड़ लेते हैं।

यही दशा देशाध्वा के स्वाध्याय सम्बन्धी प्रस्तावना की है। मूर्त्ति-वैचित्र्य के चमत्कार से चराचर की चिरन्तन चारुता में चार चाँद लग जाता है। सामान्यतया सचेतस पुरुष भी इस वैचित्र्य के चाकचिक्य से प्रभावित होकर उसके स्वाध्याय की उपयोगिता-अनुपयोगिता पर ही ध्यान देता है। शास्त्रकार महामाहेश्वर श्रीमदभिनव लोगों की इस प्रवृत्ति से परिचित थे। इसी प्रवृत्ति पर प्रहार करते हुए उन्हें पहले ही आठवें आह्निक की प्रस्तावना के समय ही यह अनुशंसा करनी पड़ी कि इस मूर्तिमन्त जगत् की पार्थक्य प्रथा को, इसके अनन्तानन्त भेदसंभार को देखकर हमें कभी भूल नहीं जाना चाहिये कि यह सारा अध्वावर्ग चिन्मात्र में ही संप्रतिष्ठित है[1], अथवा यह कि अध्वा के इस प्रक्रिया-क्रम का अनुसन्धान करने पर साधक भैरवीभाव प्राप्त कर लेता है।[2] हमें भेद को भेद के रूप में नहीं वरन् सृष्टि के प्रस्फुटन के रूप में लेना चाहिये। काँटे में गुलाब देखना चाहिये और अस्तित्व के महोत्सव को माङ्गलिता के मंच पर थिरकन के रूप का अनुभव करना चाहिये। तभी हम देशाध्वा के सत्य का साक्षात्कार कर सकेंगे।

विश्व को शैव ऊर्जा के रूपान्तरण के रूप में लेना चाहिये। देशाध्वा में जिसे हम भुवन भाग कहते हैं, सूक्ष्म ऊर्जा का स्थूल रूपान्तरण ही तो है। ऊर्जा का बिन्दु से विसर्ग के रूप में विक्षेप हुआ। उसने आकार ग्रहण कर लिया और विश्व का निर्माण हो गया। इसीलिये इसे चिद्रस का साकार विग्रह मानते हैं। भुवनों के संस्थान, उनकी दूरियाँ, उनके रूप-रंग, आकार-प्रकार के अनन्त-अनन्त विस्तार, नदियों, पर्वतों, वनों-पर्वतों झीलों-पल्वलों का लालित्य, अनन्त आकाश का विस्तार और इसके अन्तराल में गतिशील ग्रहों और नक्षत्रों का मण्डल यह सब क्या है? एक मात्र शैव ऊर्जा का रूपान्तरण ही है। आठवाँ आह्निक अध्येता को यदि यह दृष्टि न दे सका और विमर्श को दिशा

१. श्रीत० ८।३; २. वही, ८।५।

में यह बोध न भर सका तो यह मानना पड़ेगा कि स्वाध्याय अधूरा है। इस रहस्य को यदि आपका तर्क स्वीकार नहीं करता तो तन्त्रशास्त्र का आपके लिये कोई उपयोग नहीं। तन्त्रशास्त्र वैचारिक संघर्ष के विपरीत बोधपूर्वक सचेत स्वीकृति में विश्वास करता है। आहंकारिक संघर्ष से बचने का सुझाव देता है। बोध के प्रकाश में स्वात्मचिदैक्यानुभूति का वरदान देता है। पुराणों में भी भुवन संस्थान के वर्णन हैं। वहाँ भी यही तान्त्रिक दृष्टि अपेक्षित है, तर्कवितर्क का अविवेकपूर्ण उद्रेक नहीं। ऊर्जा के ऊर्जस्वल स्वरूप में तादात्म्य का अमृत आप ही मिला सकते हैं।

आप साधक हैं। साधना की दिशा में अग्रसर हैं। इससे क्या होता है? सोचने पर अनुभव होने लगता है कि आपकी ऊर्जा में रूपान्तरण घट रहा है। आपकी आध्यात्मिक नींद टूटने लगती है। नई जागृति, नया बोध, नयी दिशा और तब यह विश्व भी नये रूप में स्वात्मैक्य संभूति के विभव से भव्य होकर आपके सामने आने लगता है। संगीत को नई स्वर लहरी आपको विभोर करती है। शाश्वत वंशी बजैया की बाँसुरी के वे स्वर आप सुनने लगते हैं। सारा रूप परमेश्वरमय दीख पड़ता है। प्रत्येक जीव परमेश्वर हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता के "समः शत्रौ च मित्रे च" का अर्थ अब खुल जाता है। यह आपकी ऊर्जा का नया रूपान्तरण है। यह तन्त्र का प्रभाव है।

तन्त्रशास्त्र का स्वाध्याय आपकी ऊर्जाओं को ऊर्जस्वल बनाकर एक नया आयाम खोलता है। आप में अनन्त ऊर्जायें हैं। मनुष्य ऊर्जा का पुञ्जीभूत साकार विग्रह है। आप काम, क्रोध, लोभ, मोह, बुद्धि, विवेक, विमर्श की सशक्त ऊर्जाओं के केन्द्र हैं। तन्त्रशास्त्र इन सबमें रूपान्तरण का सन्देश देता है। ये दुनियावी वृत्तियाँ मात्र नहीं हैं। आपको प्रकट के पार जाने के लिये प्रकाश का सन्देश देती हैं। ये सभी ऊर्जा के बीज हैं। इनसे विश्व को अतिक्रान्त कर विश्वातीत को पाने का प्यार मिलता है।

आप इस दृष्टि से श्रीतन्त्रालोक के आलोक में अनुप्रवेश पा लेंगे। मैंने शास्त्रों के सन्दर्भ में इसी आलोक का अमृत पाया है। इस दृष्टि के विपरीत आपको सर्वत्र सांसारिक सरसता में नीरसता की धूल ही हाथ लगेगी। तन्त्र आपको कोई विशेष दृष्टिकोण से विभूषित नहीं करता वरन् आपको एक

अनुभूत सत्य के अमृत से अभिषिक्त करता है। दृष्टिकोण के मूल में पार्थक्य की पृथकतावादी भेदवादिता भरी रहती है। तन्त्रशास्त्र इसे दूर कर आपके लिये सर्वात्मैक्य और स्वात्मैक्य के सन्दर्भों के द्वार खोल देता है।

मेरा अनुरोध है कि आप श्रीतन्त्रालोक को इसी सन्दर्भ में लें। इसी दृष्टि से उसका स्वाध्याय करें। अब तक श्रीतन्त्रालोक के नौ आह्निकों का प्रकाशन हो चुका है। इनमें केवल स्वरूप प्रथन का ही सन्देश है और स्वरूप प्रथन को ही मोक्ष कहते हैं।[१] इसका प्रथम आह्निक विज्ञान भेद का प्रकाशन करता है। इसमें ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मोक्ष, संसृति दीक्षा, परा अपरा और परापरा शक्ति विज्ञान शाम्भव शाक्त और आणव उपाय और समावेश अनुप्रवेश आदि भेदों का विश्लेषण एवं शैव विभा-वैचित्र्य का चिन्तन किया गया है।

द्वितीय आह्निक अनुपाय विज्ञान को दृष्टि प्रदान करता है। वह सन्देश देता है कि संवित्तत्त्व स्वप्रकाश तत्त्व है। इसे विना किसी उपाय के या स्वल्प युक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है। शास्त्रकार साधकों को आदेश देते हैं कि 'गुरु वाक्य में श्रद्धा से, शास्त्र परम्परा के स्वाध्याय से अद्वयशास्त्र के समाश्वासन से शङ्का के बादलों के छँट जाने पर सूर्य की रश्मियों के सुखद स्पर्श की तरह प्रभु परमेश्वर के ध्वान्तजयी प्रकाश का साक्षात्कार करो'। इसे विगलितौपयिक आह्निक भी कहते हैं।

तीसरा आह्निक शाम्भवोपाय का प्रकाशन करता है। साधकों को विधि में उतारने का सहज उपक्रम इसमें प्राप्त हो जाता है। शास्त्रकार उपदेश करते हैं कि निर्विकल्प परामर्श जिसे शाम्भवोपाय कहते हैं, इसके भेदमय [२]पचास भेदों में अभेद अद्वय का समायोजन[३] विचारक वर्ग को करना चाहिये।[४]

शुद्ध विद्या परामर्शनिष्ठ योगी स्वात्मसंवित् परामर्श पीयूष से समस्त अध्ववर्ग को तृप्त करे।[५] इस प्रकार शाक्तोपाय के माध्यम से भी अद्वय-तादात्म्य सिद्ध हो जाता है।

---

१. श्रीत० १।१५८; २. वही, १।१८७।
३. वही, ३।२७४; ४. वही, ३।१५८।
५. वही, ३।११५–१६।

पञ्चम आह्निक आणवोपाय का प्रकाशन करता है। उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान प्रकल्पन के माध्यम से जड़त्व का अनुदर्शन करने वाला साधक उसमें चिद्रूपता का साक्षात्कार करे और शैव स्वातन्त्र्य के उल्लास के प्रकल्पन द्वारा जड़त्व का तिरोधान करे। उससे अद्वयभाव अनिवार्यतः पाया जा सकता है। पूरा आह्निक इसी दृष्टि का संकेत करता है।

छठाँ आह्निक कालतत्त्व का प्रकाशन करता है। इसमें प्राणापान वाह का विशद प्रतिपादन और उसके माध्यम से प्राणस्पन्द में स्पन्दित कालतत्त्व का प्रौढ़ विवेचन किया गया है। इसी प्रकार से सातवाँ आह्निक चक्रोदय का प्रकाशन करने के लिये अवतरित है। पद, मन्त्र और अक्षरमय स्वतन्त्र चक्र में शक्तितत्त्व से संवलित स्पन्द का पदों में आकलन करता हुआ साधक मन्त्रार्थ में अनुप्रवेश करने का अधिकारी हो जाता है। अपने प्राणवाह में सूर्य-मन्त्रों का और अपानवाह में शक्ति मन्त्रों का आकलन सिद्धि में उतार देता है। मन्त्र ही मन्त्रो की शक्ति के नये आयाम खोलते हैं। मूलाधार से कुण्डलिनी तक की महाशक्ति में आनन्दवाद का प्रवर्त्तन हो जाता है। इसे चक्रसाधना या क्रिया योग भी कहते हैं। इसमें चक्रों के बीज वर्णों का बड़ा महत्त्व है। चक्रोदय की प्रक्रिया साधकों का हित सिद्ध करती है।[1]

आठवें और नवें आह्निकों का यह तृतीय खण्ड सारस्वत पुरुष के अदृश्य हाथों में अर्पित है। यह सृजन के विविध अनुरूप-विरूप बिन्दुओं को एक सूत्र में पिरो कर देशाध्वा का हार निर्मित करने में चरितार्थ है। इस सम्बन्ध में मैं पुनः निवेदन करना आवश्यक समझता हूँ कि जब हम तन्त्र-शास्त्र के स्वाध्याय में लगें—कुछ मौलिक बातों का सदा ध्यान रखें—

अ—श्रीतन्त्रालोक के जितने बिन्दुओं में हम भेदवाद का दर्शन कर रहे हैं, वे सभी वस्तुतः अद्वय के विविध साकार रूप हैं, जो अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्तवत् भासित हैं। इनके पार्थक्य का अध्ययन इनके चिदैक्य प्रतिपत्ति की दृढ़ अनुभूति के लिये ही है।

आ—हम जो कुछ हैं—जो कुछ देख या सोच रहे हैं—परमतत्त्व इसके विपरीत नहीं है—वही है—उसी में है—वहीं है—उसके स्वरूप गोपन

१. श्रीत० ७।५२।

की झोनी चादर भी वही है और उसके भोतर का प्रकाश भी वही है—आप भी वही हैं, उसके अतिरिक्त नहीं हैं।

इ—बुद्धि या विवेक द्वारा हम जहाँ से विचार के परिष्कार में लगे थे, वहाँ से अन्तिम उत्कर्ष सोमा तक वही व्याप्त है। बुद्धि और विवेक भी उसके अतिरिक्त कुछ दूसरे नहीं हैं। याद रखिये दूसरा समझना ही विपरीत दर्शन है। सर्व में स्व और स्व में सर्व व्याप्त है। सर्व में जो 'अर्' है, वही अन्तर उपस्थित करता जान पड़ता है—पर वह ऋ की गतिशीलता का ऋत तत्त्व है। स्व के स् और व के बीच में इस ऋत तत्त्व को मिला देने पर सर्व ही बन जाता है यह स्व। इस भेद के ऋत रहस्य में अनुप्रवेश करें। तब आपको पूरा सर्व 'स्व' में लहराता हुआ मिल जायेगा।

ई—सत्य में और विश्व में जो दीख रहा है उसमें कोई विरोध नहीं। कोई अन्तर नहीं—केवल स्वरूप गोपन की क्रीड़ा है। अतः साक्षीभाव से पदार्थ को देखें और उसमें झाँकते सत्य का वहीं साक्षात्कार करने का प्रयत्न करें। आपके ऐसे स्वाध्याय से आपको सत्य के वहीं दर्शन मिलने शुरू हो जायेंगे।

उ—हम विश्व भी हैं और विश्वातीत भी हैं। विश्वमय भी हैं और वहीं विश्वोत्तीर्ण भी हैं। विश्वोत्तीर्ण शब्द ही सन्देश देता है कि विश्व को पार करना विश्व की वास्तविकता को समझना मात्र है।

ऊ—कोई पदार्थ अपवित्र नहीं। जड़ता चेतना का घन रूप है। वह अपना उपयोग करने के लिये आपको सतत बुला रहा है।

ए—अपने इस रूप को, आवरण को हटाने पर ही चैतन्य का, स्वात्म का साक्षात्कार होता है।

ऐ—इदम् में इदन्ता का दर्शन कर उसे स्वीकार करने के बाद ही उसमें अहन्ता का साक्षात्कार सम्भव है।

ओ—इदन्ता और अहन्ता में—स्व में पर में कोई अन्तराल नहीं है—दृष्टि को बदलने की देर है। रहस्य का पर्दा इसी दृष्टिकोण परिवर्त्तन से ही उठ सकता है।

औ—तन्त्रशास्त्र सर्वात्मना सर्व स्वीकार को देशना का प्रवर्त्तन करता है। इसीलिये आत्मबीज, बीज, विद्या और काम बीजों के समन्वय में मन्त्रवत् विश्वास करता है।

इन दस विन्दुओं में तन्त्र का अध्येता सदा सर्वदा दृढ़ आस्था रखते हुए इस संसार का सरल और अनायास संचालन कर सकता है। इसमें सन्देह नहीं।

श्रीतन्त्रालोक को सारी देशना स्वरूप गोपन प्रक्रिया को परखने की देशना है। अचेतन भाव से ऊपर उठ कर चैतन्य में समावेश को देशना है। यह किसो वस्तु को मिथ्या, हेय और उपादेय कहने की देशना नहीं अपितु सर्व सत्य को स्वीकार करने की और स्वयं सत्य में समाहित होने की देशना है। यह सत् और अस्तित्व की भूमि पर चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थप्रकाशन की देशना है। यह किसी तार्किक की बुद्धिवादी उड़ान नहीं, स्वयं इस चिद्रस के आश्यानत्वमय साकार रूप में रमने वाले महामाहेश्वर को देशना है। इसका स्वाध्याय इन्हीं सन्दर्भों में करना चाहिये।

मैं महामाहेश्वर के अदृश्य अनुग्रह का पात्र बन सका—इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ। गुरु शक्तिपात पवित्र हो सका, यह उन्हीं का अनुग्रह मानता हूँ और समस्त शास्त्र पारङ्गत परिवृढ पुरुषों का प्यार पा रहा हूँ—इसमें अपनी कृतार्थता का अनुभव करता हूँ। विद्वद्वरेण्य प्रज्ञा पुरुषों के चरणों का मैं चञ्चरीक हूँ। नीरक्षीर-विवेक-विज्ञ 'हंस' हूँ और परमाम्बा परानुकम्पा रूप स्वाती के पीयूष विप्रुषों का शाश्वत प्यासा पपीहरा हूँ। स्वात्मदर्शन हेतु मूरत मधुर उपासी विहंगम हूँ—पाश-बद्धता को परिभाषा से परिभाषित पशुता के स्तर से ऊपर उठकर पशुपति-स्तरीय प्रतिष्ठा प्राप्त परमहंस शुभाभिधेय शिव हूँ—इन सभी रूपों में मैं अपने गुरुजनों की कृतज्ञता का ज्ञापन करता हूँ और जिनसे मैंने जो कुछ पाया है, उनके पदारविन्द मकरन्द का मधुप होकर स्वनिर्मित मधु-छत्र से विश्व को मधुमान् बनाने का अभिलाषी हूँ। यही मेरा श्रीतन्त्रालोक के हिन्दी भाष्यकार रूप का परिचय है।

और मेरी यही समीहा भी है कि तन्त्रशास्त्र का अध्येता भी वही बन जाय जो वह स्वयं है। वह जो है—वह स्वरूप गोपन प्रक्रिया के चलते

सुगुप्त हो गया है। वह उसका आवरण हट जाये ओर वह बोध प्रकाश के तादात्म्य की अनुभूति सम्भूति के महाभाव से भर जाये। प्रकाश की स्वात्म रश्मियों से इस जगत् को प्रकाशमान कर जाये। तन्त्रशास्त्र के स्वाध्याय के पहले अध्येता के अहम् भाव पर संस्कारतः जमी हुई जागतिक विकल्प-वादिता की परत छिन्न-भिन्न हो जाये और उसका वास्तविक स्वरूप अभिव्यक्त हो जाये।

तन्त्र को दर्शनशास्त्र मानकर स्वाध्याय करना श्रेयस्कर नहीं है। दर्शन मस्तिष्क फलक पर मानसिक ऊहापोह का अनुसन्धान करता है और तन्त्र अध्येता के समग्र अस्तित्व को सहला कर उसके आवरण का निराकरण कर उसको शुद्ध 'अहं' के सिंहासन पर बिठला देता है।

उसके इस अतिरिक्त रूप को अनतिरिक्त ऐक्य में समाहित कर अनात्म में आत्मभाव की भ्रान्ति को भग्न कर देता है। तब उसको पूर्णता उसे वापस मिल जाती है। अब तक वह अधूरा रहता है, विभिन्न विकल्पों के इन्द्रजाल के आकर्षण में वह खण्डित व्यक्तित्व वाला व्यक्ति अब अखण्ड आत्मभाव के आलोक में जगमगाने सा लगता है। अन्य शास्त्रों का स्वाध्याय मन-मस्तिष्क स्तर तक सीमित रहता है। पर तन्त्रशास्त्र, साधक अध्येता के उसके आत्मा के समग्र अस्तित्व में व्याप्ति चाहता है। ससीम भूमिका में तन्त्र असीम को उतार देता है।

इसलिये तन्त्रशास्त्र में प्रवेश की पहली शर्त्त है कि साधक अपना वर्त्तमान ज्ञान का चोगा उतार कर अशुद्ध अभिमान को वापस कर दे। वह माँ की गोद में दिगम्बर अबोध शिशु की तरह प्रवेश करे; क्योंकि तन्त्रशास्त्र मातृविद्या है। शिव के मुख से शक्तिमयी परमाम्बा के प्रश्नों के अमृत उत्तर की झरती मन्दाकिनी का वात्सल्य प्रवाह है। इसलिये मेरे इस अनुरोध को आप अवश्य स्वीकार करें कि आप विद्वान् बनकर अशुद्ध अहम् के आत्माभिमान को पहन कर इस वात्सल्य विद्या को पढ़कर एक और अभिमान न पाल लें। माँ अबोध शिशु के सामने ही अनावृत होती है। उसके वात्सल्य का अधिकार आप भी उसके यशोदानन्दन रूप से प्राप्त करें।

रहस्य पर जब तक आवरण है, तब तक विश्व है। आवरण के हटते ही प्रकाश का जगमगाता ऊर्जस्वल रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। श्रीतन्त्रालोक अपने अध्येता को उसी अनुत्तर स्तर तक पहुँचाने का माहेश्वर अनुग्रह रूप अभिनव आलोक तन्त्र है। यह शांकर-उपनिषद्-सार रहस्य है। इसके स्वाध्याय के साथ इसमें निर्दिष्ट साधना की विधियों का अनुविधान मरकत-काञ्चन योग बन जाता है। इस शास्त्र की परम्परा में प्रवेश माहेश्वर के अनुग्रह का ही परिणाम है।

इस अवसर पर मैं अपने गुरुजनों को प्रणाम अर्पित करता हूँ। ध्यान करता हूँ श्रीमदभिनव के आकर्षक उस दिव्य रूप का, जिसका आन्तर स्फुरण नेत्रों में प्रत्यक्ष बनकर उतर आया था। राजानक जयरथ का शान्त गम्भीर और ओज ऊर्जस्वल हृष्ट-पुष्ट शरीर जो माहेश्वर-सिंहासन के समक्ष हो साक्षात् स्फुरित हुआ था, वह आज भी हमें ज्यों का त्यों स्मरण है। पंजाबी पहलवान के समान वज्रासन में विराजमान उस महान् तन्त्रवेत्ता के मुखमण्डल पर अपेक्षाकृत आपीन शुक नासिका से मुझे नित्य विश्वगन्धी गौरव का संज्ञान हुआ था—वह मुझे नित्य आकर्षित करती है। इस विवेकी विवेक-भाष्यकार के भाष्य का मैंने हिन्दी रूपान्तरण किया है और हिन्दी भाषा में वही 'विवेक' नीर-क्षीर-विवेक भाष्य हो गया है। मैं जयरथ का वामन अनुकर्त्ता हूँ और लिखते समय उनकी लेखनी के प्रवाह को देखता हूँ। हिन्दी भाष्य में कहीं भी यदि कोई दोष है, तो वह मेरे अविवेक का प्रमाण है। यद्यपि जयरथ का 'विवेक' ही मेरा आधार है।

तन्त्राचार्य भगवत् स्वरूप गुरुवर्य लक्ष्मण जू का मैं पुनः पुनः चरण स्पर्श करता हूँ। उन्हीं के शिष्य ठाकुर जयदेव सिंह ने मुझसे सर्वप्रथम श्रीतन्त्रालोक का हिन्दी भाष्य करने को कहा था। इसकी चर्चा मैंने काश्मीर जाकर इन गुरुवर्य से की, तो चर्चिका और अमृतकला के अधिष्ठान अधरों में स्मिति की विद्युत् कौंध गयी थी और उन्होंने स्वीकृति का आशीर्वाद दिया था। मैं उनको बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

आचार्य गोपीनाथ कविराज इस अवसर पर स्मृति पथ में स्वभावतः अवतरित हो रहे हैं। आचार्य रामेश्वर झा का गुरुत्व मुझे सदा सर्वदा प्रेरणा प्रदान करता है और लगता है, वे निरन्तर मेरे साथ हैं। गैबी का जौहरी

जोशी परिवार उनका स्नेह-पात्र जानकर मुझे आज भी प्यार और गहरी आत्मीयता प्रदान करता है। मैं इन सब लोगों के शैव महाभाव का सहभागी हूँ—यह मेरा सौभाग्य है।

वर्त्तमान मनीषियों में सर्वश्री बलदेव उपाध्याय जी का मैं विशेष आभारी हूँ। उन्होंने द्वितीय खण्ड में अपनी शुभाशंसा दी है और विशिष्ट सुझाव दिये हैं। आज संस्कृत जगत् के वे महर्षि व्यास हैं। मैं इनके आशीर्वाद और स्नेह का सहज अधिकारी हूँ। इन्हें बारम्बार प्रणाम।

आचार्य सीताराम जी कविराज (श्रीदत्तात्रेयानन्द नाथ) की मुझ पर अकारण अनुकम्पा है। मेरे वे अनन्य प्रेरक हैं। आचार्य पद्मश्री पं०विद्यानिवास मिश्र ने मुझे सदा अनुगृहीत किया है। हमारे लेखकीय उत्कर्ष और स्वर्णिम भविष्य के ये आदिम उत्स हैं। ये मेरे नित्य प्रणम्य हैं।

आचार्य बटुकनाथ शास्त्रो खिस्ते की शुभाशंसा से भी द्वितीय खण्ड के महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। ये पारम्परिक तन्त्र-पद्धति के परिनिष्ठित विद्वान् हैं। मैं इनका आभार स्वीकार करता हूँ। डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री' की वरद वरेण्य प्रेरणा मेरे लेखन को उल्लसित करती है। आचार्य श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी मेरे उत्साहवर्द्धन में सदा लगे रहते हैं। समय-समय पर अपनी अमूल्य सम्मति देकर हमें अनुगृहीत करते हैं।

आचार्य और विभागाध्यक्ष डॉ० रामजो मालवीय की प्रसन्नता से मैं आनन्दविभोर हो उठता हूँ। उनका स्नेह मेरा सम्बल है। इसी विभाग के डॉ० शीतला प्रसाद उपाध्याय मेरे स्नेह के अप्रतिम अधिकारी हैं। मेरे सम्पादन में इनका बहुमूल्य सहयोग अविस्मरणोय है। इन्हें भूरिशः आशीर्वाद।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशनाधिकारी डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि,

'महामरकतेनैव समायुक्तं हि काञ्चनम्'।

जितने उत्कृष्ट ग्रन्थरत्नों का प्रकाशन इनके तत्त्वावधान में हुआ है—मैं समझता हूँ, भारत के किसी विश्वविद्यालय में इतना नहीं हुआ है। मैंने उन्हें अपनी मेज पर खाली बैठे कभी नहीं देखा है। इनके समर्पित

व्यक्तित्व ने महान् सारस्वत उपकार किया है। इनका मधुर व्यवहार, सहज आत्मीयता का उल्लास और स्नेह प्रकाशन का उत्साह अप्रतिम है। मैं इनके उत्कर्ष की कामना करता हूँ।

विजय-प्रेस के व्यवस्थापक श्रीगिरीशचन्द्र की सक्रियता में श्री त्रिपाठी जी की प्रेरणा का पुट है। इनकी मुद्रण व्यवस्था और उसमें इनके लगाव ने संस्कृत जगत् से इन्हें जोड़ दिया है—इन्हें आशीर्वाद।

अन्त में मैं सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय के कुलपति विविध विद्या-विद्योतितान्तःकरण आचार्य श्री वि० वेङ्कटाचलम् के उत्कर्ष की कामना करता हूँ। उनके शिवसंकल्प आलोक से श्रीतन्त्रालोक का द्वितीय खण्ड आलोकित है।

श्रीतन्त्रालोक का यह तृतीय खण्ड भी वह शुक्ति बनना चाहता है, जिसमें उनके स्वाती वाक्पीयूष-विप्रुष् बन्द होकर साहित्य जगत् को मुक्तामणियों के आभरण की रमणीयता से रंजित कर दें—रम्य बना दें। उनकी स्वात्मसंविद् का परिवेश विश्व-विश्रुत बने—परमाम्बा से यही प्रार्थना है।

विदुषां वशंवदः
डॉ० परमहंसमिश्र 'हंस'
ए ३६, बादशाह बाग
वाराणसी-२२१ ००२

अष्टम आह्निक सार-निष्कर्ष

कमल-नाल जल के नीचे 'एक' रहता है। जल के स्तर से ऊपर उठ कर कलिका, मुकुल, कुड्मल और विकचकोश कुशेशय का आश्रय बन जाता है। विकसित अरविन्द को मकरन्द माधुरी का आस्वाद मधुकर निकुरम्ब जानता है। उसकी सुरभि से अनिल सहर्ष अभिसार करता है। उसके पराग की पाण्डुरता से पङ्कजश्री अपना शृङ्गार करती है। शतपत्र की सुकुमार आसन्दी पर सरस्वती साम सरगम का अविश्रान्त आयोजन करती है। जब शतपत्र सहस्रदल कमल बनकर खिल उठता है, तो वह योगियों के आराध्य का अधिष्ठान बन जाता है। ऐसा है—विश्वसरसिज का आकर्षक सन्दर्भ।

क्रियाशक्ति को सक्रियता से कालशक्ति की कलना के क्रम में परमेश्वर का चिदानन्दात्मक रस आश्यानित होता है और वह घन बनकर अनन्त आकार ग्रहण कर लेता है। मूर्त्ति-वैचित्र्य से रुचिकर चराचर का चित्र-विचित्र रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। इसे हम तीन भागों में बाँट कर विश्लेषित करते हैं: १—भुवन भाग की दृष्टि से, २—तत्त्व भाग की दृष्टि से और ३—कला भाग की दृष्टि से।

क्रियाशक्ति की क्रियाशोलता में महाकालो का आकलन काल की क्रमिकता का आकल्पन करता है। इस क्रमिकता में भी तीन दृष्टियाँ एक अध्वा को जन्म देतो हैं, जिसे शास्त्र कालाध्वा कहते हैं। इसका वर्णन द्वितोय खण्ड में किया जा चुका है। वर्ण, मन्त्र और पद की तीन दृष्टियों से कालाध्वा का पूर्ण विश्लेषण करने के बाद अब मूर्त्तिवैचित्र्य से ओतप्रोत विश्व देश का विश्लेषण करने के लिये इस आठवें आह्निक की अवतारणा की गयी है। इसमें प्रधानतः भुवन विभाग का हो वर्णन है।

इन तीन अवच्छेदों में कुछ मुख्य बातें हैं। वे इस प्रकार हैं—

१—एक नाल से कमल के विकास की तरह एक परम शिव परमेश्वर से विश्व कमल विकसित है।

२—चिदात्मक रस का सामरस्य आकार ग्रहण कर प्रत्यक्ष अवभासित होता है। यही जगत् है।

३—अध्वा का अर्थ मार्ग होता है। ये दो प्रकार के होते हैं।

(अ) कालाध्वा। इसमें पद, मन्त्र और वर्ण ये तीन प्रविभाग हैं।

(ब) दूसरा अध्वा देशाध्वा है। देश भी तीन बिन्दुओं पर निर्भर करता है : १—भुवन, २—तत्त्व और ३—कला।

इस तरह कुल ६ अध्वा होते हैं। इन छहों के प्रविभाग के कारण ही त्रिकदर्शन को षडध्व दर्शन भो कहते हैं।

४—चौथो जो अनिवार्यतया ध्यान में रखने की बात है कि यह सारा अध्व समुदाय शाश्वत रूप से चिन्मात्र में प्रतिष्ठित है। जो चिन्मात्र में प्रतिष्ठित नहीं, उसे आकाश-कुसुम की संज्ञा दी जा सकती है। संविद् शक्ति, चिति और चिन्मात्र शब्द एकार्थक शब्द हो हैं।

५—चिति स्वतन्त्र शक्ति है। अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव से अपने ही रूप का यह गोपन करती है। संविद् से विश्व का उल्लास होता है। इसमें शून्य, प्राण, बुद्धि और शरीर रूप प्रमाता और बाह्य प्रमेयों में—प्राणों और शरीरों में नाडी-चक्रों और अनुचक्रों में अध्वसंस्थान उल्लसित है।

६—अध्वावर्ग का अनुसन्धान त्रिकदर्शन के अध्येता के लिये आवश्यक है। अध्वा की इस प्रक्रिया का क्रम कालाग्निरुद्र भुवन से अनाश्रित पर्यन्त विकसित है। इसकी सर्वात्मकता का स्वात्म संविदैक्य की दृष्टि से अनुसन्धान नये परिवर्त्तन लाता है। विकल्प संस्कृत होते हैं और इस योग का पथिक भैरवभाव की उपलब्धि कर लेता है।

७—स्पन्द शास्त्र में यह उल्लेख है कि जैसे किसी को किसी पदार्थ को देखने की इच्छा होती है। उसी समय उसे विषय का साक्षात्कार होता है। जैसे साक्षीभाव से देखने पर सारे अर्थ स्फुरित होते प्रतीत होते हैं, उसी तरह योगी धरा से शिवपर्यन्त अर्थ का स्वात्म में ही अनुदर्शन करता है। इस तरह एक चमत्कार फूट पड़ता है और शैव समावेश मे आकर साधक स्वयं शिवत्व प्राप्त कर लेता है।

८—इसको साधना में उतारने का क्रम है। यद्यपि इसे कारिका में लिख दिया गया है पर इसे किसी योग्य साधक को गुरु मानकर उससे सीखना चाहिये। इसको विधि है। कारिका में उसका संकेत मात्र है। उसका क्रम इस प्रकार है—

पहले अध्वा की जानकारी हो। फिर उनके अधोश्वरों का अध्ययन हो। उन-उन अध्वाओं को उनके ईश्वरों के ऐश्वर्य भाव में समाहित करे। पुनः उन्हें अपने प्राणों, बुद्धि और शरीर के पुर्यष्टक में स्वात्मसात् करे। उसके बाद स्वात्मसंविद् समावेश के सार्वात्म्य सामरस्य की अनुभूति में समा जाये। इस क्रम से साधक परमाद्वयभाव-परिपुष्ट हो जाता है।

९—इस दर्शन के प्रवर्त्तक परम गुरु श्रीकण्ठनाथ हैं। उनके अनुसार अध्वाओं के अधीश्वरों के नाम इस प्रकार हैं—

'ब्रह्माण्डकर्परिका के नीचे स्थित अनन्त से प्रधान पर्यन्त भुवनों के ब्रह्मा अधिपति हैं। पुरुषतत्त्व से कला पर्यन्त भुवनों के अधोश्वर विष्णु हैं। माया ग्रन्थि में रुद्र व्याप्त हैं। शुद्धविद्या, ईश और सदाशिवात्मक तीनों तत्त्वों के अधिपति अनाश्रित शिव हैं। इन तीनों तत्त्वों से ऊपर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवेश में परम शिव अधीश्वर हैं और इन पाँचों में पूर्णतया व्याप्त हैं।

१०—इन बातों की जानकारी से लाभ? इस प्रश्न का उत्तर स्वच्छन्द शास्त्र देता है कि प्रक्रियाज्ञान से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं होता।

११—त्रिशिरोभैरव शास्त्र और रुद्रयामल जैसे महान् प्रक्रिया ग्रन्थों में यह स्पष्ट निर्देश है कि इस छः प्रकार के अध्वावर्ग से स्वात्मसंविदैक्य स्थापित करना सबसे बड़ा योगमार्ग है। इस मार्ग से भैरवी-भाव को पुष्टि होती है।

भूलोक-१२—पृथ्वी तत्त्व स्थूलता की अन्तिम सीमा का प्रतीक है। जलतत्त्व के ऊपर अवस्थित है। इसके नेता अनन्तेश्वर हैं। नन्दिशिखा के अनुसार पार्थिव अण्डकटाह ८९ करोड़ योजन क्षेत्रफल में फैला हुआ है। त्रिशिरोभैरव के अनुसार ब्रह्माण्ड मण्डप में आठ मुख्य भुवन हैं। इनके नाम क्रमशः अनन्त, कूष्माण्ड, हाटक, कालाग्नि, शार्व, ब्राह्म, वैष्णव और रौद्र भुवन हैं।

१३—ब्रह्माण्ड के अन्तर्भुवनों में कालाग्नि भुवन एक करोड़ योजन उच्छ्रित है। यह कटाह के ऊपर स्थित है। कालाग्नि के चार मुख माने जाते हैं। ऊपर का मुख बन्द रहता है। अन्यथा उस ज्वाला से जगत् के जल जाने का भय रहता है। कहा जाता है कि जो जिससे गुणों में बड़ा होता है, वह उसमे ऊपर होता है। इस नियम के अनुसार कालाग्नि भुवन नरकों के ऊपर अर्थात् श्रेष्ठ माना जाता है। वस्तुतः स्थिति क्रम की दृष्टि से कालाग्नि भुवन से दश करोड़ योजन ऊपर नरकों के अवस्थान हैं। पाँच करोड़ योजन ऊपर एकदम शून्य ही शून्य है। इन नरकों में मुख्य नरकों के नाम १--अवीचि, २--कुम्भीपाक और ३--रौरव हैं। अवीचि में १०, कुम्भीपाक और रौरव में ११-११, कुल मिलाकर १० + ११ + ११ + ३ = ३५ नरक हैं। ये सभी दुःख रूप ही हैं।

स्वच्छन्दतन्त्र १०।८१–९० में सभी ३५ नरकों के नाम निम्नलिखित हैं--

१. अवीचि–कृमि निचय, लोह, शाल्मलि, असिपर्वत, सोच्छ्वास, निरुच्छ्वास, पूतिमांस, तप्तत्रपु, क्षारकूप, जतुलेप। इसी के कृमिनिचय में वैतरणी नदी है।

२. कुम्भीपाक—अस्थिभङ्ग, क्रकचच्छेदकूप, कटङ्कट वसामिश्र, अयस्तुण्ड, त्रपुलेप, तीक्ष्णासि, तप्तलोह, क्षुरधार, अशनि और सुतप्त।

३. रौरव—कालसूत्र, महापद्म, कुम्भ, संजीवन, इच्छुक, पाश, अम्बरीश, अयःपट्ट, दण्डयन्त्र, अमेध्य और घोररूप। कुल योग--३२ + ३ = ३५ होता है।

इनमें जाने वाले लोग वही हैं, जो शास्त्रनिर्दिष्ट मर्यादाओं को भङ्ग कर अपने काले कारनामों से दुनिया के दुःख का कारण बनते हैं। परमेश्वर परमशिव का अनन्य भाव से स्मरण नरकों की विपत्तियों से मुक्ति दिला देता है। काले कारनामे के अन्तर्गत असत्कर्म, प्राणि-वध, शठता, निर्दयता, परहिंसा, परदाररति, देवधनापहरण ब्रह्महत्या, गुरुहत्या पितृमातृ हत्या, कृतघ्नता, विश्वासघात, सुवर्ण-चोरी, धन-भूमि-चोरी, शौचाचारराहित्य, निर्दयता, पिशुनता, झूठ आदि सब दुर्गुण आते हैं। इसके विपरीत शुद्ध आचार-विचार वाले लोग नरक में नहीं गिर सकते।

१४--आठ पातालों के नाम--आभास, बरताल, शर्कर, गभस्तिमान्, महातल, सुतल, रसातल और सौवर्ण। सौवर्ण पाताल के अधीश्वर का नाम ह्राटक है।

ऊपर के सात पातालों के नाम क्रमशः बल, अतिबल, बलवान्, बल-विक्रम, सुबल, बलभद्र और बलाध्यक्ष हैं। इनमें हाटक स्वयं श्रीकण्ठ के अवतार हैं। उपासना करने पर ये पाताल के लोगों का उद्धार करते हैं। एवं विभिन्न सिद्धियाँ प्रदान करते हैं।

शैव दर्शन में दीक्षा प्राप्त करने पर जाति के बन्धन से व्यक्ति ऊपर उठ जाता है। इसमें पहली के स्मरण का भी निषेध है। प्राग्जाति स्मरण से नरक मिलता है। ऊपर अण्ड कटाह के आधे भाग के कालाग्नि भुवन, नरक और पाताल लोकों की स्थितियों का उल्लेख है। भूलोक, कालाग्नि भुवन का ही एक अंग है। इसके मध्य में मेरुपर्वत है। चौरासी हजार योजन की इसकी उच्छ्रिति निर्धारित है। इसी में देवोलक है। उसकी भूमि सुवर्ण-प्रभा है। मेरु को धरणी पर प्रतिष्ठित शिवलिङ्ग मानते हैं। धरणी इसकी पीठिका है। इसके ज्योतिष्क शिखर पर भगवान् शङ्कर का जो स्वयं श्रीकण्ठ के स्वरूप हैं, आवास है। इसके चारों ओर देवपुरियाँ शोभित हैं—१—अमरावती, २—तेजोवती, ३—संयमनी, ४—मातृनन्दा, ५—कृष्णांगारा, ६—शुद्धवती (वारुणी), ७—गन्धवती, ८—यशस्विनी। इन आठ प्रधान पुरियों के साथ जुटी २६ पुरियों का वर्णन भी शास्त्र में मिलता है। १–अमरावती के दक्षिण में अप्सराओं की कामवती नगरी है। सिद्धों की २--सौवर्णी, आदित्यों की ३—अंशुमती, साध्यों की ४--कुसुमावती, विश्वेदेवों की ५—रेवती, विश्वकर्मा की ६--दिव्यापुरी, मातृकापुरी का नाम ७--मातृनन्दा, यम-किंकररुद्रों की ८--रोहिता, एकादश रुद्रपुरी ९—गुणवती, सुकर्मा पिशाचों की १०--पिङ्गलापुरी, निस्त्रिंशों की ११—कृष्णवती, मित्रनगरी १२—सुखावती, गन्धर्वों की १३—गान्धर्वी, भूतों की १४--सिद्धसेना, वसुओं की १५—हेमावतो, विद्याधरों की १६—सिद्धवती, किन्नरों की १७—सिद्धा, चित्ररथ की सारस्वत पुरी १८—हैमी, नारद और तुम्बुरु की १९—चित्रा, गुह्यों की २०--प्रमदा, कुबेर की २१—चित्रवती, कर्म देवों की २२—शुभा, विष्णु की २३--श्रीमती, ब्रह्मा की २४—पद्मावती, अश्विनीकुमारों की २५—काम-सुखा, विनायकों की २६--महामेधा।

भारत में जन्म लेने वाले पुण्यात्मा पुरुषों के भोग के ये सभी आश्रय स्थल भी हैं।

१५—मेरु के नीचे के लोकों की गणना के प्रसङ्ग में दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में पृथ्वी के अवष्टम्भक विष्कम्भ पर्वत भी आते हैं—१-मन्दर, २--गन्धमादन, ३-विपुल और ४-सुपार्श्वक मुख्य हैं। इनमें क्रमशः श्वेत, पीत, नील और अरुण रङ्गों की शोभा का उत्कर्ष है। इनमें क्रमशः चैत्ररथ नन्दन, वैभ्राज और पितृवन नामक उद्यान हैं। रक्तोद, मानस, सित और भद्र ये चार सरोवर हैं।

मेरु के नीचे लवण समुद्र पर्यन्त जम्बूद्वीप है। एक लाख योजन वर्ग विस्तार वाला यह महान् द्वीप निषध, हेमकूट, हिमवान् जैसे महान् पर्वतों से सुशोभित है। ये तीनों इसके दक्ष भाग में अवस्थित हैं। उत्तर में नोल श्वेत और त्रिश्रृङ्ग पर्वत हैं। ये मर्यादा पर्वत माने जाते हैं। ये पूरब से पश्चिम तक फैले हुए हैं।

१६- पूर्व में माल्यवान्, पश्चिम भाग में गन्धमादन पर्वत उत्तर से दक्षिण दिग्भाग में प्रसरित हैं। इनके साथ ही जठर और हेमकूट पूर्वभाग में, कैलाश और हिमवान् दक्षिण भाग में, निषध और पारियात्र पश्चिम भाग में और जारुधि और शृङ्गवान् ये दो पर्वत उत्तर में अवस्थित हैं। इस दृष्टि से पामीर का पठार ही मेरु पर्वत प्रतीत होता है। क्योंकि पामीर के दक्षिण भाग में हा कैलाश और हिमवान् पर्वत अवस्थित हैं।

१७--स्वच्छन्दतन्त्र १०।२११ के अनुसार और मूलकारिका ८।६८ के अनुसार इलावृत नाम के स्वामी से अधिष्ठित इलावृत नाम महाद्वीप अवस्थित है। चक्रवाट के अधोभाग में अर्क और इन्दु के प्रकाश से रहित क्षेत्रों में मेरु का प्रकाश आभा वितरित करता है।

मेरु के पश्चिम में गन्धमादन का उल्लेख पहले किया गया है। उनके साथ सात कुलाद्रि पर्वतों का भी उल्लेख है। माल्यवान् के ५ कुल पर्वत, मेरु के दक्षिण में हिमवान् पर्वत और उसके दक्षिण भाग में भारतवर्ष नामक बड़ा ही सुन्दर देश है। यह कर्मभोग की भूमि है। आठवें आह्निक की कारिका ७८ से प्रमाणित है।

१८—इलावृत, केतुभद्र, कुरु, हैरण्य, रम्यक, हरिवर्ष और किन्नरवर्ष ये सभी भोग-भूमियाँ हैं, कर्मभूमियाँ नहीं हैं। इन सभी स्थानों में त्रेता का प्रभाव है किन्तु भारतवर्ष में चारों युग एक साथ प्रभावी रहते हैं।

१९—जम्बूद्वीप की तरह भारतवर्ष भी नौ खण्डों में फैला हुआ है। पार्थिव भाग ८ खण्ड और एक जल भाग मिलाकर नौ होते हैं। इनके नाम इन्द्र, कशेरु, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान्, नाग, सौम्य, गान्धर्व, वारुण और कुमारिका हैं।

२०—कन्या के ६ उपद्वीप—अङ्ग, यव, मलय, शङ्ख, कुमुद, वराह नामक हैं। इनमें मलय उपद्वीप में दो खण्ड १-अगस्त्य और २-त्रिकूट पर लङ्का है।

२१—भारत मुक्तिप्रद क्षेत्र है। इसमें भी कुमारी खण्ड का विशेष महत्त्व है। महाकाल जैसे करोड़ों रुद्रों का यह देश और गङ्गा सदृश पवित्र नदियों का यह देश नितान्त पवित्र है। यहाँ जन्म प्राप्त करना भी महत्त्वपूर्ण है। बड़े पुण्य से ही यह प्राप्त होता है। अन्य वर्षों में पशुवत् प्रवृत्ति और उसके परिणाम होते हैं, पर भारत में जन्म लेने वालों को मनोरथातीत अपवर्ग की प्राप्ति भी हस्तामलकवत् सरल है। इसमें भी कुमारी खण्ड का विशेष महत्त्व है।

२२—स्वायंभुव मनु के दश पुत्र थे। इनमें से तीन परिव्राजक हो गये थे। जम्बू द्वीप के मनुपुत्र राजा का नाम आग्नीध्र था। उसके नौ पुत्र उत्पन्न हुए। इन्हीं नौ पुत्रों में आग्नीध्र ने जम्बूद्वीप को नौ खण्डों में बाँट दिया। इन नौ पुत्रों में नाभि नवाँ पुत्र था। उसका नप्ता (नाती) भरत था। भरत की एक कन्या और आठ पुत्र थे। स्वच्छन्दतन्त्र नाती नहीं मानता। उसके अनुसार नाभि के पुत्र ऋषभ थे और ऋषभ का पुत्र भरत हुआ। इसी के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।

२३—वृत्र के भय से बहुत से पर्वत समुद्र में समा गये। वे १२ थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१-ऋषभ, २-दुन्दुभि, ३-धूम्र। ये तीनों पूर्व भाग में प्रविष्ट हुए।

२-चन्द्र, २-भङ्ग और ३-द्रोण उत्तर से प्रविष्ट हुए।

३-अशोक, २-वराह और ३-नन्दन, ये पश्चिम से प्रविष्ट हुए।

४-चक्र, मैनाक और ३-बलाहक, ये तीनों दक्षिण से समुद्र में प्रविष्ट हुए। ये सभी कुलपर्वत हैं। चक्र और मैनाक के बीच में बड़वानल का केन्द्र है।

२४--शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मलि, गोमेध और कमल ये छः प्रसिद्ध द्वीप हैं। इनके क्षीर, दधि, सर्पि, इक्षुरस, मदिरा और मधुर नामक छः समुद्र हैं।

आग्नीध्र ने मेधातिथि, वपुष्मान्, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, हवि और संवर इन पुत्रों को इन छः द्वीपों का अधिपति बनाया था।

२५—जम्बू द्वीप की प्रमा कुल मिलाकर दो करोड़ तिरपन लाख पचास हजार वर्ग योजन है। इसमें सातों सागरों का क्षेत्र सम्मिलित है।

२६--इस परिधि-परिवेश के बाहर वलयाकार लोकालोक पर्वत है। यह देवों की क्रीड़ाभूमि है। इस पर्वत को ऊँचाई और चौड़ाई की कल्पनातीत कलना स्वच्छन्दतन्त्र (१०।३३) करता है। लोकपालों के साथ यहाँ आठ रुद्र भी हैं। कुछ लोग इन रुद्रों को ही लोकपाल मानते हैं।

२७—लोकालोक और मेरु के मध्य में जब सूर्य गतिशील होते हैं तो उत्तर में सुवीथी और दक्षिण में अजवीथी पर्वत पड़ते हैं। सुवीथी में सूर्य का उत्तर अयन रहता है और अजवीथी में दक्षिण। उत्तरायण देवपथ और दक्षिणायन पितृमार्ग कहलाता है।

२८—मेरु सबके उत्तर में और लोकालोक दक्षिण में अवस्थित है।

२९--अमरावती में अर्धरात्रि के समय दक्षिण स्थित संयमनी में सूर्यास्त और जब अमरावती में सूर्योदय रहता है, तब संयमनी में अर्धरात्र रहता है। जब वरुण नगरी में सूर्य अस्त होते हैं तो उत्तर में मध्याह्न रहना स्वाभाविक है। भूमण्डल में भी सूर्य की दृष्टि से भारत में दिन और अमरीका में रात का समय रहता है।

३०—लोकालोक के बाह्य परिवेश में आकाश मण्डल का ५० करोड़ १९ लाख ४० हजार योजन पूरो तरह अन्धकार में डूबा रहता है।

३१—मृगेन्द्रतन्त्र के अनुसार गर्भोद समुद्र के अन्तर्गत हो सातों समुद्रों का विस्तार है। उसे समुद्रराट् कहते हैं।

३२—गर्भोद के किनारे कौशेय मण्डल में गरुड प्रदेश है। इस मण्डल में नौ कुलपर्वत हैं। गर्म जल को ३० नदियाँ बहती हैं, जो पातालगामिनो हैं। नैमिर नामक पुष्पोद्यान है, जिसमें निमिर नामक सुन्दर फूल खिलते हैं।

३३—मेरु से स्वादिष्ट जल वाले समुद्र तक दो करोड़ ५३ लाख ५० हजार परिमाप में हैमी भूमि, १० दश करोड़ लोकालोक का विष्कम्भ, १० हजार योजन अन्धकारमय क्षेत्र, ३५ करोड़ १९ लाख ४० हजार योजन क्षेत्र में गर्भोद और शेष कटाह को मिलाकर ५० करोड़ योजन परिमाप होता है।

३४—भूर्लोक में ५ प्रकार की भूत सृष्टि है। यह इस प्रकार है— १–पशुसर्ग, २–खगसर्ग, ३–मृगसर्ग, ४–तरुसर्ग, ५–मनुष्यसर्ग, ६–सरीसृप सर्ग। पिशाच, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर, सौम्य, प्राजेश, ब्राह्म, ये ८ योनियाँ हैं। ऊपर लिखित मानुष योनि की ६ और देवयोनि की ८, कुल मिलाकर १४ प्रकार को भूत सृष्टि होती है। यहो संसार मण्डल का सर्ग-क्रम है।

३५—**भुवर्लोक**—भूर्लोक से सूर्य मण्डल पर्यन्त है। पृथ्वी से सूर्य ९ करोड़ मील दूर माना जाता है। स्वच्छन्दतन्त्र इस दूरी का माप १ लाख योजन मानता है।

इसमें १० वायु-पथ हैं। ये प्रत्येक दस हजार योजन क्षेत्र में फैले हुए हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं। १–ऋतर्द्धि, २–प्राचेतस, ३–सेनानो, ४-मोघ, ५-वज्राङ्क, ६–वैद्युत, ७–रैवत, ८–विषावर्त्त, ९–दुर्जय और १०–परावह। परावह में तीन वायु-पथों का भी उल्लेख है—१-आवह, २–महावह और ३-महापरिवह।

३६—**स्वर्लोक**—भुवर्लोक के ऊपर ध्रुवपर्यन्त स्वर्लोक है। इसमें चन्द्र से शनि तक का ग्रह मण्डल, नाक्षत्र मण्डल, सप्तर्षि मण्डल और ध्रुव इतने लोक हैं। ध्रुव देवों का हवाई अड्डा है।

३७-**महर्लोक**—स्वर्लोक से ऊपर इसका अवस्थान है। मार्कण्डेय सदृश सिद्ध मुनीश्वर यहाँ निवास करते हैं। ऐसे देव जिनके अधिकार निवृत्त हो चुके हैं, वे भी यहाँ रहते हैं।

३८-**जन**—महान् लोक से ऊपर आठ करोड़ योजन पर जनलोक है। यहाँ कपिल जैसे महर्षि रहते हैं।

३९-**तप**—जन से तप १२ करोड़ योजन ऊपर है। यहाँ सनक-सनन्दन, सनत्कुमार सदृश देवर्षि रहते हैं। ब्रह्मा के पुत्र प्रजापतियों का भो यही आवास है।

४०-**सत्य**—तप से १६ करोड़ योजन दूर सत्यलोक है। यहाँ स्वयं ब्रह्मा रहते हैं। वेदों की विज्ञान भूमि-सत्य ही है।

४१-**वैरिञ्चधाम**—सत्यलोक से १ करोड़ योजन दूर वैरिञ्च का आसन है।

४२-**वैष्णवधाम**—वैरिञ्च से दो करोड़ ऊपर वैष्णवधाम है। इसमें विष्णुभक्त आ पाते हैं।

४३-**रुद्रधाम**—वैष्णव लोक से सात करोड़ योजन ऊपर रुद्रधाम है। यह पूरे ब्रह्माण्ड वर्त्म का अधःलोक विभाग है।

४४-**दण्डपाणि**—ब्रह्माण्ड के नीचे और रुद्र के ऊपर दण्डपाणि का क्षेत्र है।

४५-**लोकेश्वर शिव**—भूः के लोकेश्वर शर्व, भुवः के रुद्र, स्वः के भीम, महः के भव, जनः के उग्र, तपः के महान् और सत्य के ईशान ७ लोकेश्वर हैं।

४६—कालाग्नि से दण्डपाणि लोक पर्यन्त ९८ करोड़ योजन की दूरी का माप है। इसके ऊपर १ करोड़ योजन तक घन जाल है।

४७—मेरु से भूकटाह तक ५० करोड़ पैमाने की चर्चा ३३ वें बिन्दु में है। भूपृष्ठ से ऊर्ध्व कटाहान्त भी ५० करोड़ योजन ही है, यह ८।१६५-१६६ की कारिका से स्पष्ट है।

४८—**भूमण्डल** का पार्थिव तत्त्व और शतरुद्रों तक का खगोल मण्डल सारा एक बीज मन्त्र से ही भेद्य है।

४९—प्रति दिशाओं के दश रुद्र हैं। इस तरह दश दिशाओं के १० रुद्र हैं। एक साथ इनको शतरुद्र कहते हैं। ये ब्रह्माण्डधारक तत्त्व हैं।

५०-**अण्ड की परिभाषा**—अभिव्यक्ति के लिये अभिमुख, शक्ति स्तर से प्रच्युत, आवापवान् और अनिर्भक्त वस्तुपिण्ड को अण्ड कहते हैं। शरीर और इन्द्रियों का समूह भी वस्तुपिण्ड कहलाता है।

५१—**तत्त्वों के संस्थान**—धरा तत्त्व से लेकर अहंकार पर्यन्त उत्तरोत्तर दश गुने **क्षेत्र** में तत्त्वों का विस्तार है। अहंकार से बुद्धि सौ गुने अधिक परिवेश में है। बुद्धि से हजार गुना प्रकृति, प्रकृति से दश हजार गुना पौंस्न-क्षेत्र, पुरुष से नियति १ लाख गुना बड़े परिवेश में इनकी सत्ता का साम्राज्य फैला हुआ है। नियति से दश लाख गुणा क्षेत्र **अन्य कञ्चुका** है। कला से माया १ करोड़, माया से सद्विद्या १० करोड़, सद्विद्या से ईश्वर सौ करोड़, ईश्वर से १ हजार करोड़ सदाशिव, सदाशिव से वृन्दपर्यन्त शक्ति तत्त्व है। शक्तितत्त्व समस्त अध्वामण्डल को व्याप्त कर अवस्थित है। इसके बाद अप्रमेय शिवतत्त्व है।

५२-**दीक्षा**—शिवतत्त्व में प्रवेश के लिये दीक्षा आवश्यक होती है। यह १—प्राक्तनी, २—पारमेशी और ३—पौरुषेयी तीन प्रकार की होती है।

५३-**अप्तत्त्व के भुवन**—शतरुद्रों के ऊपर भद्रकाली का नीला जयनशील 'जय' क्षेत्र है। यज्ञ, दान, तप से भद्रकाली के भक्त वहाँ पहुँच पाते हैं। भद्रकाली निर्बीज दीक्षा प्रदान कर मुक्ति प्रदान करती है।

५४—भद्रकाली भुवन के बाद वीरभद्र भुवन है। इसे 'विजय' भुवन कहते हैं। अप् तत्त्व में इन दोनों के अतिरिक्त १३ भुवन हैं। आप्य के बाद तैजस, वायव्य, व्योम मण्डल हैं।

५५-**गन्धतन्मात्र मण्डल**—पाँच वर्णों से युक्त है। करोड़ों योजन की इसकी परिधि है।

५६ तन्मात्राओं के क्रमशः शर्व, भव, पशुपति, ईश और भीरु स्वामी हैं।

५७—अहङ्कार, मन, बुद्धि और तन्मात्र ये शिव के आठ शरीर हैं। (८।२१९)

५८-**करणमण्डल**—इसके बाद कर्म इन्द्रियों का करण मण्डल है। वाक् के अग्नि, पाणि के इन्द्र, पाद के विष्णु, पायु के ब्रह्मा और उपस्थ के मित्र अधिपति हैं।

प्रकाश मण्डल—ज्ञानेन्द्रियों में श्रोत्र के दिक्, चक्षु के अर्क, रसना के वरुण देव हैं। त्वक् की विद्युत् और नासिका की देवता भू है। यह प्रकाश मण्डल है।

५९-**पञ्चार्थ और मनोमण्डल**—इसके बाद पञ्चार्थ मण्डल और पुनः इसके बाद मनोमण्डल है। इसके अधिपति सोम हैं। (८।२२४)

६०-**अहङ्कार मण्डल**—मनोमण्डल के ऊपर अहङ्कार मण्डल है। यह स्थाण्वष्टक से युक्त है।

इसके बाद बुद्धि तत्त्व है—इसमें आठ देवयोनियों का आवास है। पैशाच, राक्षस, याक्ष, गान्धर्व, ऐन्द्र, सौम्य, प्राजेश और ब्राह्म ये आठ देव-योनियाँ हैं। ये योनियाँ भी संसृति चक्र में निरन्तर पिसती रहती हैं।

ऊपर वर्णित सारा मण्डल वर्ग परमेश्वर से नियोजित माया से प्रेरित और नियति से नियन्त्रित है। ब्रह्मा इन्हीं को अपनी सृष्टि में अभिव्यक्त करते हैं।

ये सभी परस्पर भी सापेक्ष दृष्टि से गुणों से विशिष्ट हैं। जैसे हमारी आँखें व्यवधान बीच में रहे तो पदार्थ का दर्शन नहीं कर सकतीं किन्तु उनकी आँखें व्यवधान रहने पर भी पदार्थ का दर्शन कर लेती हैं। यहाँ तक देवयो-न्यष्टक की बात कही गयी है।

६१—इन बातों की जानकारी प्राप्त कर दीक्षा के समय इनका शोधन करना चाहिये।

६२—देवयोन्यष्टक के बाद, क्रोधेशाष्टक, तेजोष्टक, योगाष्टक, मायापुर, और उमापतिपुर हैं।

६३—मायापुर की अधिष्ठात्री देवी माहेश्वरी हैं। प्रतिकल्प में ब्राह्मी आदि रूपों में ये अवतार ग्रहण करती हैं। वस्तुतः ये देवियाँ उन्मना धाम में रहने वाली हैं।

६४—उमापतिपुर के ऊपर मूर्त्यष्टक भुवन है। इनके ऊपर सुशिव लोक अवस्थित है। इनके ऊपर वीरभद्र भुवन है। साथ ही महादेवाष्टक का अधिष्ठान है।

६५—देवयोन्यष्टक से महादेवाष्टक पर्यन्त बुद्धितत्त्व की व्याप्ति है।

६६—बुद्धितत्त्व के बाद गुण तत्त्वों का परिवेश है। सांख्यदर्शन में प्रकृति से महान् की उत्पत्ति मान्य है। इस नियम के अनुसार प्रकृति से उसकी कार्यरूपा बुद्धि (तत्त्व) उत्पन्न होती है। यहाँ बुद्धि के बाद गुणतत्त्व की बात कही गयी है। इस सन्दर्भ में प्रकृति में क्षोभ और अक्षोभ और साम्य की बातों का विचार करने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

६७—गुणों में क्रमशः तमस्, रजस् और सत्त्व की पंक्तियाँ अवस्थित हैं। इनमें पहले तमस् की पंक्ति में ३२ रुद्र रहते हैं। दूसरी रजस पंक्ति में ३० रुद्र और तीसरी सत्त्व पंक्ति में २१ रुद्रों का आवास है।

६८—पृथ्वीतत्त्व से गुणपर्यन्त मुख्य २०७ भुवन हैं।

६९—पुरुष तत्त्व में नौ तुष्टियों और आठ सिद्धियों के अवस्थान हैं। अणिमा महिमा आदि सिद्धियाँ भी पुंस्तत्त्व की ही सिद्धियाँ हैं।

७०—अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि को **तुष्टि** कहते हैं। हेय में भी उपादेय दृष्टि की साधना से **सिद्धि** होती है।

७१—आणिम अवस्थान के ऊपर गुरुशिष्यों की तीन और पंक्तियाँ हैं। इनमें ऊपर-नीचे गुरु पंक्तियाँ और बीच में शिष्यों की पंक्ति है।

७२—इन पंक्तियों के ऊपर नाडी विद्याष्टक की स्थिति है। नाडी की अधिष्ठात्री देवियाँ भी पुरुषतत्त्व में अवस्थित हैं। इसका कारण है। पुरुष से नादमयी प्रसरा शक्ति का अवस्थान क्रियाशक्ति पर्यन्त है। नाडी शक्ति से पुरुष की पूर्णता पूरी हो जाती है। शरीर की रचना भी नाडीसंचार के साथ पूरी होती है।

७३--सारे भुवन जो इस ब्रह्माण्ड में हैं, वे विग्रहाष्टक धर्म से समन्वित हैं और स्थिति की दृष्टि से ऊपर-ऊपर हैं और सभी पुंस्तत्त्व में हैं।

७४--सारे देहधर्म १० प्रकार के हैं--

१-अहिंसा, २-सत्य, ३-अस्तेय, ४-अकल्कता, ५-गुरु शुश्रूषा, ६-शौच, ७-सन्तोष, ८-ऋजुता, ९-ब्रह्मभाव और १०-क्रोध।

७५-१६ विकारों (सांख्योक्त) तथा तीन काम, क्रोध, मोह आदि आगन्तुक पाशों, गणपाशों और विद्येश्वराष्टक पाशों का दीक्षा के समय शोधन करना चाहिये। ये सभी पुंस्तत्त्व में ही स्थित हैं और मोक्षमार्ग के अवरोधक हैं।

७६--उक्त ७५ बिन्दुओं में कथित तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पराद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दर शिवतत्त्व से अतिरिक्त सारी अभिव्यक्ति पाश है। पाश की यही सच्ची परिभाषा है। स्वात्म शिव के अतिरिक्त अनात्मभाव ही पाश का परिणाम है। भेदप्रथा बन्धप्रदा है। यही अख्याति है।

७७-आवारक पाँच तत्त्व--पुरुष भुवन के ऊपर नियति, काल, राग, अशुद्ध विद्या और कला के ऊपर-ऊपर भुवन मण्डल हैं।

७८--इनके ऊपर १-ग्रन्थिरूपा, २-तत्त्वरूपा और ३-शक्तिरूपा त्रिपुटिका माया का स्तर आता है। इन तत्त्वों में रहने वाले अणु पुरुष सारी साधनाओं की सिद्धि कर सबसे पहले अनन्त नामक ईश्वर के पास आते हैं। ये माया भगद्वार पालक हैं।

७९—मायातत्त्वाधिपति अनन्तेश शिव माया में क्षोभ उत्पन्न करते हैं अर्थात् उसे प्रसव योग्य बनाते हैं। चर्या में भी यही होता है। माया के भगाकार सम्पुटों से यह अनन्त विश्व उत्पन्न होता है। इस तरह कलातत्त्व से धरापर्यन्त यह अनन्त आवरण-जाल अभिव्यक्त हो जाता है। इनमें अभिन्न रूप से एक माया अपना काम करती है। इसे ही निशा भी कहते हैं।

८० शिवदीक्षा की तलवार से ही इसे छिन्न-भिन्न किया जा सकता है।

शुद्धविद्यातत्त्व भुवन—८।३३७

८१—महामाया के ऊर्ध्व भाग में शुद्धविद्या का भुवन है। इसमें वामा, रौद्री, ज्येष्ठा, काली, कलविकरणी, बलविकरणी, मथनी, दमनी, मनोन्मनी ये नौ शक्तियाँ निरन्तर उल्लसित हैं। साथ ही सात करोड़ मुख्य मन्त्र भी यहाँ रहते हैं। (८।३३७–३४०)

ईशभुवन—८।३४१

८२—विद्यातत्त्व के ऊपर ऐशमण्डल है। इनमें एक-दूसरे के ऊपर-ऊपर ८ विद्येश्वर रहते हैं। इस मण्डल में ५९ भुवन हैं। इनके अधिपति का नाम भी अनन्तेश्वर हो है। सभी विद्येश्वरों को चक्रवर्त्ती भी कहते हैं। भव और अतिभव दोनों रूपों में कारणता और कार्यता का सम्पादन यही करते हैं। वामा, ज्येष्ठा और रौद्री के तोन भुवन ऐश परिवेश में ही हैं। इसे सूक्ष्मावरण भी कहते हैं।

सादाशिव भुवन—८।३५७

८३—ऐश मण्डल के ऊपर सादाशिव भुवन है। ज्ञान और क्रिया शक्ति का इसमें समान योगदान है। यह शुद्धावरण भुवन माना जाता है। इसमें भावाभावशक्ति-द्वयोज्ज्वला वेदनिका विद्यावृति पूरी तरह सक्रिय है। इसके ऊपर प्रमाणाख्या शक्त्यावृति है। प्रमाण, सुशुद्ध, शैव, मोक्ष, ध्रुव, इच्छा, प्रबुद्ध और समय नामक आवरणों का ज्ञान इसी परिवेश में योगियों को होता है। इन आवरणों के ऊपर सौ शिव आवरण में सादाख्य सदाशिव देव का भुवन है। इनके सव्य भाग में इच्छा और अपसव्य भाग में क्रिया शक्तियाँ रहती हैं। इच्छाशक्ति इस सदाशिव देव की उत्सङ्गवासिनी देवी हैं। यहीं रहकर इन शक्तियों से प्रेरित होकर सदाशिव पंचकृत्य विधान करते हैं।

(अ) इसमें ५ ब्रह्मतत्त्व–१–सद्योजात, २–वामदेव, ३–अघोर, ४–तत्पुरुष और ५-ईशान संज्ञक व्याप्त हैं।

(आ) इसकी आराधना में छः अङ्गों की प्रधानता है, जिनमें न्यास का विधान होता है। वे हैं—१–हृदय, २–मूर्धा, ३–शिखा, ४–कवच, ५–आँख और ६–अस्त्र।

(इ) इसमें सकल, निष्कल, शून्य, कलाढ्य, खमलङ्कृत, क्षपण, क्षयान्तस्थ और कण्ठौष्ठ्य ये आठ सकलादि शक्तिमन्त हैं।

(ई) इसमें ॐकार, शिव, दीप्त, हेत्वीश, दशेश, सुशिवेश, कालेश, सूक्ष्म, सुतेज और शर्व नाम १० शिव भी हैं।

(उ) इसमें १८ रुद्रों का भी आवास है। सुशिव नामक देव इन देवों से सदा आवृत रहते हैं।

(ऊ) इन सबके परिवारों की परार्द्ध कोटि संख्याओं का उल्लेख शास्त्र में है। ये सभी रुद्रवर्ग माया-मल से निर्मुक्त हैं। अपने-अपने अधिकार में आरूढ हैं और सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। सर्वज्ञ हैं। अधिकार बन्ध के क्षय होने पर ये पुनर्भव प्राप्त करते हैं।

८४-**बिन्दुमण्डल**—सादाशिव भुवन के ऊपर बिन्दु का भुवन है। यहाँ शान्त्यतीत शिव विराजमान हैं। इनके दक्ष भाग में निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ता कलायें शोभित हैं। वाम भाग में शान्त्यतीता कला का निवास है। मतङ्गशास्त्र इसे लय तत्त्व मानता है। पारिभाषिक दृष्टि से इसे बिन्दु कहते हैं। विसर्ग का लय विन्दु तत्त्व में ही होता है।

८४—स्वर्ण में तैजस तत्त्व का उद्रेक है। अतः उसमें भू परमाणु परिलक्षित नहीं होते। इसी तरह ऊर्ध्व बिन्दु आवरण में भो भू परमाणु अदृश्य रहते हैं।

८५-**अर्धचन्द्रमण्डल**—इस अर्धेन्दु मण्डल की ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, कान्ति, प्रभा और विमला ये पाँच कलायें हैं।

८६-**रेखिनीमण्डल**—इसके ऊपर रेखिनी शक्ति है। इसकी भी रुन्धनी, रोद्ध्री, ज्ञानबोधा और तमोपहा पाँच कलायें होती हैं।

८७—इसके ऊपर नाद, नादान्त, शक्ति व्यापिनी शक्तियों के मण्डल हैं। इनके ऊपर समना शक्ति का परिवेश है। इस क्षेत्र को योग की भाषा में सहस्रार कहते हैं। इसका वृन्त ही ऊर्ध्व कुण्डली कहलाता है। इसके अधीश्वर 'व्यापीश' कहलाते हैं।

८८—धरा तत्त्व से लेकर शक्ति पर्यन्त यह भुवन मण्डल है। यह योगियों को सामग्रीवाद के अनुसार एक साथ भासित होता है और सामान्य जनों को क्रमसद्भावपूर्वक।

८९—ऊर्ध्व कुण्डली क्षेत्र में अनुत्तर कुल तत्त्व शिव पुरुष अपनी विसर्गरूपिणी कौलिकी शक्ति के साथ विराजमान रहते हैं[१]।

९०—पार्थिव से सदाशिव तत्त्व तक प्राकृत सर्ग है (९।४०५)।

९१—शास्त्रकार महामाहेश्वर ने जैसा इनके गुरुजनों ने निर्दिष्ट किया था, उसी क्रम से इस समस्त अष्टम आह्निक की अवतारणा की है। साधकों को इसका एतदनुसार आकलन करना चाहिये।

९२—शक्ति और शिव अभिन्न तत्त्व हैं। इस अखण्ड चिद्घन तत्त्व में समावेश को श्रीगोपीनाथ कविराज 'अखण्ड महायोग' कहते थे।

●

---

१. तत्रोर्ध्वकुण्डली भूमौ स्पन्दनोदरसुन्दरः।
विसर्गस्तत्र विश्राम्येत् मत्स्योदरदशाजुषि॥

× × × ×

अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुत्तमा॥

नवाँ आह्निक सार-निष्कर्ष

तत्त्व—

श्रीतन्त्रालोक का नवम आह्निक एक महत्त्वपूर्ण प्राकरणिक तथ्य को चरितार्थ करता है। इसके पहले भुवन अध्वा का निरूपण किया जा चुका है। भुवन वर्णन के अनन्तर उनमें आने वाले तत्त्वों का वर्णन क्रम, और अवसर दोनों दृष्टियों से अनिवार्य समझ कर ही भगवत्पूज्यपाद शास्त्रकार ने अपनी प्रतिभा का प्रकाश लेखनी के माध्यम से विमर्श के फलक पर उतारने का अनुग्रह किया।

तत्त्व का स्वरूप—

सबसे पहले यही जानना आवश्यक है कि तत्त्व क्या है? तत्त्व की जानकारी के बाद उसके भेद-प्रभेदों की जानकारी की जा सकती है। 'तत्' एक सर्वनाम शब्द है। इसका सम्बन्ध कारक एकवचन में 'तस्य' रूप बनता है। 'तस्य भावः' इस विग्रह-वाक्य का प्रवाचक तत्त्व शब्द निष्पन्न होता है। तत् शब्द से क्विप् लगाकर तुक् आगम कर पृषोदरादि नियम से भी तत्त्व शब्द निष्पन्न होता है। 'तस्य भावस्त्वतलौ' सूत्रानुसार तत् + त्व के योग में भी तत्त्व शब्द सिद्ध होता है। जैसे गोर्भावो गोत्वम् बनता है, उसी तरह 'तस्य भावस्त्वतलौ' से तत्त्व शब्द बनता है।

त्रिकदर्शन में देवाधिदेव परमशिव के प्रकाश-घन, सर्वत्रावभासित, परम रूप को (जो वसुधादिशिवान्त सर्वत्र अन्वित है) ही उसका सद्भाव माना जाता है। तत् शब्द परमशिव का सर्वनाम है। उसका भाव ही प्रकाशात्मक रूप है। यही तत्त्व है।

जो परम रूप सर्वत्र अन्वित है—वह पृथिवी से लेकर सदाशिव पर्यन्त ३४ तत्त्वों में व्याप्त है। शिवशक्ति के अद्वयभाव को लेकर यह ३६ तत्त्वात्मक विश्वप्रसार चिति का चमत्कार मात्र है। इस दृष्टि से परमतत्त्व एकमात्र 'शिव' है। वही प्रकाशैकघन है। वही समस्त विश्व को आत्मसात् करता

है। सारा विश्व, प्रसर क्रम में क्षितिपर्यन्त अक्षय रूप से प्रत्यक्ष-परोक्ष रूपों में सक्षमतया सूक्ष्म और स्थूल रूपों में रूपायित है। यह शिव से अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह भासमान है। इस रहस्य प्रसार में एक शिवतत्त्व ही सर्वत्र अन्वित होता है।

एक स्थान पर कहा गया है कि परम पुरुष परमेश्वर शिव की शक्ति ही इन ३५ रूपों में व्याप्त है।

इस दृष्टि से तत्त्व शब्द का नया विग्रह इस प्रकार भी कर सकते हैं— तनोति सर्वम् इति तत्। जो सबका प्रसार करता है, वही तत् है। अर्थात् वह परमरूप सर्वत्र अन्वित है और सब में प्रसरित है। उसी परम शिव का भाव रूप सारा व्यापार है। यह शिव से अतिरिक्त नहीं। वही परमार्थ सत्य है। वही परमतत्त्व है। उसी का भेद यह सारा विश्व प्रसार है। इसी के अन्तर्गत ३६ तत्त्व भी आते हैं।

उसी परमेश्वर परम शिव के स्वातन्त्र्य के प्रभाव से शिव के परम स्तर से पृथ्वी पर्यन्त इस भेदमयता का समुल्लास होता है। यह शाश्वत और अतीव आकर्षक है। पृथ्वी को तो वेद, माता ही घोषित करता है। जल, अग्नि, वायु और यह उन्मुक्त आकाश ये सब उसी परमेश्वर के प्रतिरूप हैं। 'रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव' रूपी श्रुति का सन्देश इसका निदर्शक है। इनसे भी सूक्ष्म रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के सर्जन का सामञ्जस्य क्या है ? इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहङ्कार, अव्यक्त प्रकृति, कञ्चुक और उनके मंचन ! माया विद्या ईश्वर सदाशिव आदि दिव्य शक्ति-शक्तिमन्तों के समुच्छलन ! यह समग्र सृजन— इनका प्रसर और संहार ! यह सब एक शिवतत्त्व का सर्वानुगामी सद्भाव कितना मनोहर है। एक विचारक इनका विश्लेषण करता है और इनके विविध रूपों में, तत्त्वों के सन्तुलित आतान-वितान में पलती प्रकृति का तात्त्विक परिदर्शन कर मुग्ध हो जाता है।

वेदान्त और सांख्य २५ तत्त्व मानते हैं; किन्तु शैव त्रिकदर्शन के अनुसार तत्त्वों की संख्या ३६ स्वीकार की गयी है। इन ३६ तत्त्वों का अन्तिम तत्त्व 'क्षिति' मानी जाती है। अब हम ३६ तत्त्वों के क्रमिक विवेचन के सन्दर्भ में सर्वप्रथम इसी अन्तिम पृथ्वी तत्त्व पर विचार करें और देखें कि

पृथ्वी का रूप क्या है और इसे तत्त्व क्यों कहते हैं ? इस शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। इनमें से तत्त्ववाची पृथ्वी के पर्याय क्षिति, भू, धरा, धरित्री और महीयसी मही ये अन्वर्थ शब्द हैं, जिनसे पृथ्वी की तत्त्ववादिता का स्पष्टीकरण भी होता है। विश्वम्भरा शब्द भी इसके तात्त्विक सन्दर्भ की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है।

पृथु विशाल को कहते हैं। इसी का संकुचित रूप यह पृथ्वी तत्त्व है। इसमें धृति, काठिन्य, गरिमा, गन्धवत्त्व आदि गुणों का अवभास स्वभावतः होता है। जैसे जहाँ-जहाँ सास्नादिमत्त्व है—वहाँ-वहाँ गोत्व है—उसी तरह जहाँ-जहाँ धृति भाव, कठिनता और गरिमा आदि हैं, वहाँ-वहाँ धराभाव है, इसमें सन्देह नहीं। विश्व में धरातत्त्व की व्यापकता का यह एक प्रमाण है। जहाँ धारकता होगी, कठिनता होगी, भारीपन होगा, वहाँ धरात्मकता निश्चित रूप से ही होगी। अतः मात्र इस भूमण्डल को ही धरा नहीं कहते, वरन् उक्त गुणवत्ता को जहाँ आधार मिलेगा वहीं धरा का अस्तित्व होगा। इस दृष्टि से श्रीतन्त्रालोक का उद्घोष है कि कालाग्नि भुवन से लेकर वीरभद्र के भुवन तक पृथ्वीतत्त्व की व्याप्ति मानी जाती है। न्यायदर्शन मात्र गन्धवती पृथिवी मानता है—पर त्रिकशास्त्र उक्त लोकों में भी विभिन्न रूपों में पृथ्वी का ही उच्छलन और अभिव्यंजन मानता है।

यही दशा जल तत्त्व की है। यह तरल स्वभाव शीतल, द्रव, घन (हिम) और स्वभावतः श्वेत परमाणु रूप से नित्य तथा जल रूप से अनित्य एवं रस रूप होता है। न्यायशास्त्र इसे शीत स्पर्शवान् मानता है। पृथ्वी तत्त्व में धृति, काठिन्य और गरिमादि गुणों के आधार पर जहाँ-जहाँ ऐसी अनुभूति होगी वहाँ पृथ्वीत्व की व्याप्ति स्वाभाविक रूप से मान्य है। उसी तरह जहाँ-जहाँ सांसिद्धिक द्रवत्व और भास्वरत्व उपलब्ध होगा, वहाँ-वहाँ स्वाभाविक रूप से जलतत्त्व को व्याप्ति है—यह निश्चित रूप से मानना चाहिये।

देह और भुवन आदि को पृथ्वी की तरह तत्त्व नहीं कह सकते; क्योंकि इनमें पृथ्वीतत्त्व की व्याप्ति है। ये पृथ्वीतत्त्व के कार्य हैं। ये कार्य स्वयं पृथ्वी के ही हैं। इनमें पृथ्वीत्व है पर ये तत्त्व नहीं कहे जा सकते। जहाँ

ऐसे गुण मिलते हों, जहाँ सादृश्य घटित हो, चाहे वे संकुचित हों या प्रकाश परमार्थ रूप हों, सर्वत्र जहाँ भी धृति काठिन्य गरिम आदि गुण उपलब्ध होंगे अथवा अनुगामी रूप से उल्लसित होंगे, वे तत्त्व पृथ्वीत्व प्राधान्य संवलित माने जाते हैं।

तत्त्व की परिभाषा

यहाँ यह ध्यान देने को बात है कि इन तत्त्वों में अपने कार्य के विस्तार की क्षमता भी होती है। 'तनोति स्वकार्यादि इति तत्त्वम्' इस विग्रह के अनुसार पृथ्वी से लेकर शिवतत्त्व तक सभी तत्त्वों में अपने को व्याप्त करने का सामर्थ्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। हम तत्त्व की यह परिभाषा दे सकते हैं कि 'महाप्रलय पर्यन्त स्थायी रहने वाले, सारे प्राणियों के उपभोग के व्यापार में व्यापृत और अपने कार्यों के विस्तार की क्षमता वाले 'तत्त्व' कहे जा सकते हैं। अनेकत्र एकरूपानुगमस्तत्त्वम् के अनुसार शिव ही सर्वोत्तम तत्त्व हैं। तत्त्व वस्तु रूप भी होते हैं। अपने धर्म को प्रकट करने और व्याप्त करने की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। स्वयं भी और दूसरे के द्वारा भी इनका आतान-वितान रूप विस्तार सम्भव है।

तत्त्वों के कार्य-कारण रूप प्रविभाग

कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। मिट्टी से घड़ा बनता है। इस स्थिति में यह सोचना आवश्यक होता है कि इस कार्यकारण भाव का मूलरूप क्या है। मिट्टी से घड़ा बनता है—इस व्यापार में कुम्भकार की इच्छा काम करती अनुमित होती है। पर इस विश्वरूप घर का निर्माता कौन है? त्रिकदर्शन मानता है कि कार्यकारण भाव शिव की इच्छा से ही परिकल्पित होता है।

हम बीज का उदाहरण लें। यह स्पष्ट ही जान पड़ता है कि जड़ बीज भी कार्यरूप एक अङ्कुर उत्पन्न करता है। यह उदाहरण मिट्टी और घड़े से भिन्न है। बीज अन्य वस्तु है, अङ्कुर अलग। घड़े में पूरी मिट्टी ही घड़े के रूप में परिवर्तित है। पर बीज रूपो गुठली अलग रह जाती है और आम का कल्ला ऊपर निकल आता है। फिर भी यह तथ्य है कि बीज रहने

पर ही अङ्कुर परिदृश्यमानसत्ताक होगा। बीज और अङ्कुर के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के सत् और असत् विषयक तर्क दिये जाते हैं। इस सत्कार्यवाद और असत् कार्यवाद के पचड़े को छोड़ देने पर इतना निश्चित प्रतीत होता है कि परमेश्वर स्वेच्छावश इस विश्व का अवभासन करते हैं। नियति से नियन्त्रित दशा में मिट्टी से घट और बीज से अङ्कुर आदि प्रकार की प्रतीति हम सबको होती है।

इस तरह हम कह सकते हैं कि अर्थ का परिस्फुरण तीन प्रकार से होता है—

१–आन्तर रूप से, २–ग्राह्य रूप से और ३–बाह्य रूप से। जैसे––पहली दशा में संविदैकात्म्य भाव से अर्थ परिस्फुरित होता है। वहाँ मन सक्रिय रहता है। दूसरी अवस्था में सुख आदि रूप से अन्तःकरणवेद्य होकर ग्राह्य हो जाते हैं और तीसरी अवस्था में घड़ा जैसे स्थूल पदार्थ बाह्य वेद्य हो जाते हैं। अतः कार्यकारणभाव संविदैकात्म्य भाव से अवस्थित कारण से बाह्यावभास रूप कार्य का प्रकटन प्रतीत होता है। इससे यह निश्चय हो जाता है कि परम परमेश्वर परमशिव के आत्मस्थित अर्थ, बाह्य रूप में भासित होकर सर्वप्रतीति के विषय बनते हैं। इसे ही कार्यकारण भाव कहना चाहिये कि अन्तर स्फुरित अर्थ भी और बाह्य स्फुरित अर्थ भी संविदैक्य भाव से वहीं कारण रूप से पड़े हुए हैं। इसीलिये कार्यकारण भाव को शिवेच्छा परिकल्पित भो कहते हैं।

आन्तर अर्थ का बाह्यावभास कोई अपूर्व बात नहीं है। इसे हम अभेद की अख्याति मात्र मान सकते हैं। परमेश्वर स्वातन्त्र्य के प्रभाव से यह सब घटित होता है। निष्कर्षतः हम यह सिद्धान्त मानने के लिये साधक अध्येता को उपदेश करते हैं कि स्वातन्त्र्य शक्ति सम्पन्न परमेश्वर समग्र अर्थ समुदाय का वास्तविक कर्त्ता है।

मिट्टी से घड़े का निर्माण करते समय कुम्हार की इच्छा घड़े को जो रूप प्रदान करती है, वह इच्छा वस्तुतः कुम्हार की नहीं होती। परतन्त्र कोई पदार्थ कर्त्ता नहीं हो सकता। मिट्टी तो अचेतन है। वह भला कुम्हार की इच्छा का पालन कैसे कर सकती है। कुम्हार के मन में घट आदि का

स्फुरण होता है। पर इतने से ही घड़ा का बाह्यावभास नहीं हो सकता। वही परमेश्वर परम शिव ही अपनी इच्छा से नियति नियन्त्रित कर कुम्हार और मिट्टी दोनों से परस्पर सापेक्ष घट को अवभासित करते हैं। कुम्हार यद्यपि यह सोचता है कि मैंने घड़े का निर्माण किया किन्तु उसका यह अभिमान परमेश्वर की महिमा का ही प्रतीक है।

कभी-कभी जड़ पदार्थों का कर्तृत्व लोकव्यवहार में देखा जाता है। जैसे लोग प्रयोग करते हैं कि 'लकड़ी जल रही है'। यह प्रयोग जलाने वाले की अपेक्षा रखता है। लकड़ी स्वयं नहीं जलती अपितु संकुचित प्रमाता में संविद् वपुष् परमेश्वर का स्वातन्त्र्य ही इस कर्त्तृत्व का प्रेरक है। इसलिये यहाँ सिद्धान्त बनता है कि स्वतन्त्र भी हो और जड़ भी हो—यह परस्पर विरुद्ध विचार है। स्वप्रकाशत्व को स्वातन्त्र्य और परप्रकाश्यत्व को पारतन्त्र्य कहते हैं। इन दोनों में कोई संसर्ग या तादात्म्य सम्भव नहीं।

कार्यकारण भाव में बौद्ध मतवाद का दृष्टिकोण अलग है। नियत पूर्वभाव कारण और नियत परभाव कार्य होता है। कारणाभिमत बीज से कार्याभिमत अङ्कुर का अभूतपूर्व अवश्यम्भाव होता है। यह उनका मत है। यह ध्यान देने की बात है कि नियम में एक-दूसरे की अपेक्षा आवश्यक रूप से अनिवार्य है। परतन्त्र जड़ पदार्थ एक दूसरे की बात को क्या समझेंगे कि तदनुकूल आचरण करेंगे। किस पूर्वभाव के रहते क्या परभाव होगा, यह अव्यवस्था ही ऐसे नियमों में जन्म लेगी।

बीज और अङ्कुर की तरह धूम और अग्नि का भी उदाहरण यदि लें तो भी हमें यह निर्धारण करना ही पड़ेगा कि कोई ऐसा 'विशेष' पदार्थ है, जो आग और धूम को इस प्रकार नियमित करता है।

कार्यकारण भाव में पौर्वापर्य का विचार भी आता है। घड़ा पहले दीख पड़ा। इसके बाद कपड़ा यदि सामने आ जाय तो क्या यहाँ कार्यकारण भाव मानेंगे? नहीं। कृत्तिका नक्षत्र के बाद रोहिणी नक्षत्र का उदय होता है। यहाँ पौर्वापर्य है पर कार्यकारण भाव नहीं है। इनमें किसी स्वरूप सन्निविष्ट विशेष की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जड़ पदार्थों में कोई न कोई

ज्ञातेय (विशेष सम्बन्ध) मानना आवश्यक है। कारण पहले हो और उससे नियत पश्चात् उत्पत्ति का परत्व हो तथा कार्य उत्पन्न हो, यहाँ पौर्वापर्य भी ज्ञातेय बनकर कार्यकारण भाव की पुष्टि करता है। जैसे आग और धूम के मध्य कार्यकारण भाव। यहाँ भी दोनों पदार्थ जड़ हैं। परस्पर स्वरूपानुसन्धान में असमर्थ हैं; किन्तु परस्पर वियुक्त रहते हुए भी इनमें पौर्वापर्य का ज्ञातेय (सम्बन्ध) है। आग और उसकी गर्मी में यह बात नहीं है। उष्णता न रहेगी तो आग भी नहीं रहेगी। इनका आपस में सत्तात्मक ऐकात्म्य है। आग और धूम की तरह विलग-विलग स्थिति रूप पौर्वापर्य नहीं है।

आग और धूम के भी दो रूप हैं। अग्नि-अग्नि भी है और कारण भी है। धूम-धूम भी है और कार्य भी है। अग्नि के बझ जाने पर भी कारणत्व नहीं समाप्त होता। कारणत्व अग्नित्व में है क्या? वह भी तो वस्तु का स्वभाव ही होता है।

भोक्ता अन्न का उपभोग करता है। वह अन्न की अपेक्षा करता है। यह सापेक्ष भाव भी संविद् के माध्यम से ही होता है। अन्न के प्रति अभिमुखी भाव, विमर्श के द्वारा आता है। कार्य-कारण में कोई इस सम्बन्ध में विचार करने की शक्ति नहीं रखता। इनमें परस्पर अनुसन्धान असम्भव है। इसलिये कार्य-कारण भाव के लिये जड़ों में किसी ज्ञातेय की कलना-कल्पना आवश्यक हो जाती है।

यह ज्ञातेय इनका पौर्वापर्य हो सकता है। कारण पहले होता है और कार्य बाद में उत्पन्न होता है। पर यह सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है। कुछ लोग पदार्थ के सामर्थ्य को महत्त्व देते हैं। जनकत्व का सामर्थ्य पूर्व पदार्थ में यदि है और जन्य का प्रजनन न हुआ, तो इसमें उसके सामर्थ्य का प्रयोग नहीं हुआ। कृत्तिका के रहते ही रोहिणी का उदय होता है। कृत्तिका के पहले रोहिणी का उदय प्रागसद्भाव का उदाहरण है। ये सारी बातें वास्तविकता को उलझाती हैं। इसलिये यह निर्णय करना पड़ता है कि कार्यकारण भाव वस्तु के 'स्व' भाव पर निर्भर करता है। धूम का धूमत्व और अग्नि का अग्नित्व कारण-कार्य-सापेक्ष है।

इसलिये कार्य-कारण भाव को सुस्पष्ट करने के लिये कोई स्वरूप-सन्निविष्ट ऐसा ज्ञातेय होना चाहिये जो अन्वय और व्यतिरेक की कसौटी पर कसा जा सके। इस दृष्टिकोण से शास्त्र विचार नहीं करते। वे पौर्वापर्य के पूर्वत्व और परत्व के सम्बन्ध में भी तर्क उपस्थित करते हैं कि यह कारण कार्य द्रव्यों के स्वभाव के अतिरिक्त है या अनतिरिक्त ? कुछ अभ्युच्चयबुद्धि निर्ग्राह्यत्व की दृष्टि से धूम में केवलधूमत्व नहीं कार्यत्व की अतिरिक्त कल्पना करते हैं। अग्नि केवल अग्नि ही नहीं, वह कारण भी है—यह मानते हैं। और कुछ इनमें प्रातिभासिकत्व ही स्वीकार करते हैं। सत्कार्यवादी और असत्कार्यवादी अपनी डफली अलग बजाते हैं। बीजाङ्कुर सम्बन्धी उपमा भी देते हैं।

हमारी यह मान्यता है कि सृष्टि के सभी भाव चाहे वे कार्य हों या कारण सभी स्वात्म मात्र पर्यवसित होते हैं। उनकी स्वात्म संविद् सत्ता नित्य है। इसके अतिरिक्त उनका प्रतिभासन ही असम्भव है। इससे संविद् सापेक्ष कार्य-कारण भाव ही मानना उचित है। विश्व में सभी पदार्थों का अवभासन स्वयं परमेश्वर ने अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से किया है। उसी में परमेश्वर स्वातन्त्र्य से ही कार्य-कारण भी स्थापित करते हैं। यही निर्दोष सिद्धान्त है कि वहीं कार्य-कारण भाव होगा। यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१—कारण के बाद कार्य का नियमित आभासन अनिवार्यतः होता है और दूसरा २—कार्य में कारण का प्राधान्यतः अन्वय होता है।

इसी दृष्टि से बीजाङ्कुर, घट-पट, कृत्तिका-रोहिणी कुम्भकार और घट आदि विचारणीय उदाहरणों का समाधान हो जाता है। इन्हीं विश्लेषणों को ध्यान में रखकर शास्त्रकार को यह कहना पड़ा कि 'कार्य-कारण भाव के सम्बन्ध में बड़ी विचित्रता दीख पड़ती है।[1]

कार्य-कारण सम्बन्धी शास्त्रीय वैमत्य

शास्त्र में जिन तत्त्वों की मान्यता है, उनमें भी कार्य-कारण भाव वैचित्र्य दृष्टिगत होते हैं। जैसे—माया से अव्यक्त और कला की उत्पत्ति

---

१. श्रीत० ९।३१-४०।

होती है, यह रौरवशास्त्र कहता है। वहीं श्रीपूर्वशास्त्र कहता है कि कला तत्त्व से अव्यक्त उत्पन्न हुआ। कार्य-कारण सम्बन्धी ये मतभेद ज्यों के त्यों रह गये हैं। इनका एक समाधान कौन दे? 'रौरव' कुछ दूसरा कहता है, 'मातङ्ग' कुछ अलग घोषणा करता है।

वैज्ञानिक आविष्कार तो मान्य या निरस्त किये जा सकते हैं पर इन स्वच्छन्द तत्त्वदर्शी ऋषितुल्य विचारकों की बात काट कर किसी एक सिद्धान्त की स्थापना शास्त्रों में नहीं की जा सकी है। अतः अपनी गुरु-परम्परागत मान्यताओं पर ही सन्तोष करना पड़ता है। वस्तुतः दर्शनों की यह स्थिति स्वाध्यायशील पुरुषों के मन-मस्तिष्क के लिये वैचारिक सामग्री तो प्रदान करती है किन्तु वह साधकों को साधना में बाधा बनकर ही उपस्थित होती है। गुरुजनों के विभिन्न वर्ग, उनके अनुयायियों की भीड़, परस्पर साम्प्रदायिक विद्वेष समाज की ज्वलन्त समस्याओं के रूप में सामने आते हैं। इस पर कोई नियन्त्रण नहीं है और न ही कोई नियन्त्रण किया जा सका है न सम्भव ही है।

प्रत्यभिज्ञावादी सिद्धान्त यही है कि पूर्ण और अखण्ड विभु परमेश्वर अपने असंख्य रूपों जैसे भूत भाव और भुवन आदि विच्छिन्न वस्तु-सत्ता में व्याप्त रहते हुए भी स्वात्म में अविच्छिन्न भाव से विभासित हैं।

तत्त्वों के गण और शुद्ध अध्वा—

शिव, शक्ति, मन्त्र महेश्वर, मन्त्रेश्वर और मन्त्र ये तत्त्वों के पाँच गण हैं। ये विशुद्ध गण माने जाते हैं। अपने-अपने गणों में जो समन्वित रूप भासित होते हैं, वे भी तत्त्व कहलाते हैं। शिवतत्त्व में १—शाम्भव गण, २—शक्तितत्त्व में शक्तिज, ३—सदाशिव तत्त्व में मन्त्रमहेश्वर गण, ४—ईश्वर तत्त्व में मन्त्रेश्वर गण और ५—सद्विद्या तत्त्व में मन्त्र गण, ये सभी विशुद्ध गण हैं और ये शुद्ध अध्वा के ५ तत्त्व और गण हैं। इनके कर्त्ता शिव हैं।

इन अपने-अपने गणों में जो समन्वयात्मक रूप भासित हैं, वे भी तत्त्व हैं। ब्रह्मा, विष्णु, हर, ईशान, सुशिव और अनाश्रित इन छः कारण रूप अधिपतियों को तत्त्व नहीं मानते। इन्हें तत्त्व मानने पर साम्राज्य का अधीश्वर सम्राट् भी तत्त्व रूप में परिगणित होने लगेगा।

धरादि में उनकी व्याप्ति का बृहत्क्षेत्र देखकर विशेषतः धरा की कालाग्नि भुवनों तक धृति, काठिन्य और गरिमा आदि की समन्विति देखकर धरा को अन्तिम तत्त्व मानते हैं।

अशुद्ध अध्वा—

माया से धरा पर्यन्त ३१ तत्त्व अशुद्ध अध्वा में परिगणित होते हैं। ईश्वर की इच्छा से क्षुब्ध भोगलोलिका से प्रभावित संकुचित आत्मवर्ग को विविध प्रकार के भोगवाद में नियोजित कर विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करने के लिये मन्त्रमहेश्वरों में श्रेष्ठ अघोरेश, अशुद्ध-अध्वा रूप सितेतर सृष्टि का प्रवर्त्तन करते हैं। अतः सितेतर सृष्टिकर्त्ता अघोरेश अनन्तेश्वर ही माने जाते हैं।

मल—

अपूर्णंमन्यता रूप अज्ञान ही मल कहलाता है। अणु वर्ग की यह समोहात्मक लोलिका शुरू में निष्कर्मा और अवच्छेदों से रहित होती है।

यह आणव मल की पहली दशा है, यह दो प्रकार का होता है। १—पहली दशा में बोध स्वातन्त्र्य की हानि होती है और २—दूसरी दशा में स्वातन्त्र्य की ही अबोधता हो जाती है। यह स्वरूप-विस्मृति रूप स्वरूपाख्याति की दशा है। मल को राग की तरह पृथक् तत्त्व नहीं मानते। आणव मल अपूर्णं-मन्यता रूप होता है। यह आणव अवस्था में अंकुरित होता है। रागतत्त्व में मुकुलित होता है और बुद्धि में फूलता-फलता रहता है। स्वात्म के प्रच्छादन की इच्छा को ही मल कहते हैं। यह अज्ञान रूप ही होता है। यह एक आवरण है। इसकी शक्ति का नाम रोद्ध्री शक्ति है। शिव और अणु दोनों का ज्ञत्व और कर्तृत्व धर्म है। मल ज्ञत्व और क्रियात्व का अपहस्तन करता है। क्या इससे धर्मी का रूप ध्वंस हो जाता है? इस प्रश्न पर विचार करने से जान पड़ता है कि,

कणाद दृष्टि से धर्म का आश्रय धर्मी होता है। [गौतम १६ पदार्थ मानते हैं। कणाद मतवादो वैशेषिक दर्शन केवल सात पदार्थ मानता है। धर्म-धर्मी का साधर्म्य-वैधर्म्य रूप विशेष दृष्टि के कारण ही कणाद मतवादी

वैशेषिकदर्शन के सिद्धान्त पर चलते हैं।] पारमेश्वर शास्त्र में वैशेषिक दर्शन की तरह धर्म शक्तियों का कोई पृथक् आश्रय धर्मी नहीं माना जाता। जैसे आत्मा धर्मी है। आत्मत्व उसका गुण है या धर्म है। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं। जैसे आग और उष्णत्व-दाहकत्व या पाचकत्व ये अलग नहीं किये जा सकते।

पर वैशेषिकदर्शन के अनुसार "आत्मत्व के अभिसम्बन्ध से आत्मा है" इस मान्यता में आत्मा अलग और आत्मत्व अलग मान लिये जाते हैं। यह गलत है। शिव से या अणुवर्ग से ज्ञान और क्रिया इन दोनों का कोई अतिशय अधिक रूप नहीं है—यह संविद् स्वातन्त्र्य मात्र है।

ईश्वर की प्रेरणा से ही मल में आवारकत्व आता है। चेतनाधिष्ठान के विना अचेतन मल कोई काम नहीं कर सकता।

मल के पर्यायवाची शब्द—

अभिलाष, अज्ञान, अविद्या, लोलिका प्रथा, भवदोष, अनुप्लव, ग्लानि, शोष, विमूढता, अहंममात्मताताङ्क, मायाशक्ति, आवृत्ति, दोष बीज, पशुत्व, संसाराङ्कुर कारण। माया की ममता की बाढ़ में—ये अणुवर्ग के जीव तिनके के भ्रान्त आश्रय से जी रहे हैं।

कार्म, मायीय और आणव मल—

संसार का अंकुर या संसार ही अङ्कुर इन दो विग्रहों में अर्थ लगाना चाहिये कि संसार का कारण कर्म है। और कर्म ही संसार का अंकुर है। अङ्कुर कारण बनकर कार्म मल बन जाता है। संसार मायीय है। इसे यों कहिये कि मल कर्म का निमित्त है। कर्म से संसार मिलता है। इसलिये आणव, कार्म और मायीय इन तीनों प्रकार के मलों से छुटकारा पाने के लिये सांख्य, योग और पाञ्चरात्र आदि शासन नैष्कर्म्य का ही उपदेश करते हैं।

विज्ञान केवल—अणुवर्ग में लोलिका नामक पहले एक इच्छा होती है। अभी उसमें क्रिया का अनुप्रवेश नहीं रहता। वह अपूर्णंमन्यता रूपा और अज्ञानरूपा होती है। यह आणव मल की प्राथमिक अवस्था होती है।

इस अवस्था में वह अणु पुरुष मूल आणव मल से युक्त तो रहता है पर सक्रियता के अभाव में कर्मफल से दूर रहने के कारण उसमें कार्ममल नहीं होता। इससे उसकी अधोगति रुक जाती है। अधः संसरण न होने से वह माया के स्तर से ऊपर रह पाता है। पर साथ ही आणव मल के कारण वह सद्विद्या के ऊर्ध्व स्तर पर भी नहीं जा पाता। इस मध्यावस्थान में वह शुद्ध चिन्मात्र का प्रतीक भी बना रहता है। इसकी स्थिति को इस प्रकार समझ सकते हैं।

१—इसमें केवल आणव मल रहता है।

२—क्रिया फल से दूर रहने के कारण कार्म मल और मायीय मल से बच जाता है।

३—अशुद्धाशुद्ध संस्कारों के कारण मध्यवर्त्ती होता है।

४—शुद्ध बोधैक स्वभाववान् होता है।

५—आणव मल से इसके स्वरूप का संकोच हो जाता है।

६—स्वरूप संकोच के परिणामस्वरूप इसके स्वातन्त्र्य की हानि हो जाती है।

७—स्वातन्त्र्यवियुक्त बोध के कारण शुद्धबोधमय शिवत्व से अलग रहने पर भी बोध का विज्ञान उसे बना रहता है।

८—केवल विज्ञान के निष्क्रिय प्रकाश के कारण यह विज्ञानकेवली कहलाता है।

९—यह न नीचे गिरता है और न ऊपर सरक पाता है। ऐसे अणु पुरुष विज्ञानकेवली पुरुष कहलाते हैं।

१०—शिवेच्छा प्रेरित होकर शैवाद्वत परामर्श के प्रभाव से क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और शिवत्व प्राप्त कर लेता है।

११—विज्ञानकल का आणवमल पहले नाश की ओर अग्रसर होने के कारण पहले नश्यदवस्थ, फिर नष्टता के नजदीक और फिर नाश को प्राप्त करता है।

१२—मल के नाश (ध्वंस) करने की इच्छा को दिध्वंसिषा कहते हैं। तब अणु दिध्वंसिषु बन जाता है। मल में तब ध्वंसमानता आती है। इसके बाद ध्वस्तता की दशा में मल का पूर्णतया ध्वंस हो जाता है और वह पूर्ण शिवाद्वय भाव भव्य हो उठता है।

१३—इस तरह शिवावेशवशीकृत कर्म परम्परा से दूर विज्ञानाकल भाव प्राप्त कर लेता है।

प्रलयाकल अणु पुरुष—

मल अज्ञान है। संसार के अङ्कुर का कारण है। संसार कर्म से फलता फूलता है। धर्म और अधर्मात्मक तथा सुख-दुःखात्मक होता है। सुख-दुःख देखकर जैसी करनी वैसी भरनी के अनुसार उसके कर्म की परीक्षा होती है। कर्म में फलानन्तर्यभाविता होती है। ऐसे कर्मों के संस्कार से प्रभावित अणु का मल कार्ममल कहलाता है। कार्ममल से फलासक्त अणुपुरुष माया के गहन गर्भ में समा जाने को विवश हो जाता है। ऐसे लोग आणव और कार्म दो मलों से युक्त होते हैं।

मोह निद्रा का उन्माद इन्हें घोर नींद में सुला देता है। ब्रह्मादि स्थावर योनियों में ये पुनः पुनः संसरण करने को बाध्य हो जाते हैं।

ब्रह्मा के दिन के अन्त में विश्व के माया में विलीन होने पर ये भी उसमें लीन हो जाते हैं। दिन के प्रारम्भ में अनन्त पुनः सितेतर सृष्टि कर इन्हें नया शरीर और कर्म-विपाक देते हैं। भावना की परिनिष्पत्ति को न पाकर प्रलयपथ के ऐसे पथिक प्रलयाकल कहलाते हैं।

मायीय मल और अणु पुरुष पर प्रभाव—

१—अणु महेश्वर के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं।

२—चिदचिद् रूपों में भासित होता है।

३—पुद्गल, क्षेत्रज्ञ और पशु इसके पर्याय हैं।

४—चिद्रूप से सर्वव्याप्त रहता है और निर्गुण रहता है।

५—निष्क्रिय भी और भोग में उत्सुक भी यह होता है।

६—अचिद् भाव में सर्वत्र अल्पज्ञ हो जाता है।

७—अप्रभु अणु मायोदरान्तःस्थ रहता है।

८—उनकी भोगेच्छा ईश्वर की इच्छा पर निर्भर होती है।

९—भोगेच्छु के उपकार के लिये अनन्तेश्वर सितेतर सृष्टि करते हैं।

माया—

१—परमेश्वर की अव्यतिरेकिणी शक्ति ही माया है।

२–इसमें भेदावभास की स्वतन्त्रता होती है।

३–गर्भीकृतानन्त-भावविभागा परा निशा माया ही है।

४–भेदमयी है। अतः जड़ है।

५–इसके कार्य भी जड़ात्मक होतें हैं।

६—यह विश्व की हेतु है।

७—सर्वव्यापिनी है।

८—सूक्ष्मा है।

९—पुरुष के भोगसाधन की साधिका है।

१०—शिवशक्ति से इसका अविनाभाव सम्बन्ध है।

११—नित्य है।

१२—यह विश्व की मूल कारण है।

१३—मीयते परिच्छिद्यते इति माया इसका विग्रह है।

१४—अशिवा और भेदप्रथाप्रदा है। यह चिन्मय शिव से पशु जनों में भेद को दृढ़ करती है। पशु सुप्त सरीसृप सा हो जाता है। इससे ज्ञान और क्रियात्व दोनों तिरोहित हो जाते हैं।

कला—

१—माया की तरह ही कला एक तत्त्व है। धरापर्यन्त माया का महाप्रभाव व्याप्त रहता है। अब कला भी अणु का आलिङ्गन करती है। अणु इसको गले लगाता है। फलतः सकल हो जाता है।

२—स्वरूप गोपन में शक्ति का अवरोध होता है। इस अवस्था में पुरुष सीमित हो जाता है। सीमित पुरुष को अशुद्ध अध्वा के गर्त्त में फेंकने का काम माया की ही एक शक्ति करती है। कल धातु का एक अर्थ विक्षेप भी होता है। विक्षेप करने वाली शक्ति क्षेप्त्री कहलाती है। यह क्षेप्त्री शक्ति कला है।

३—यह सर्वकर्त्तृत्वसम्पन्न पुरुष को किंचित्कर्त्तृत्वसम्पन्न बना देती है। अतः इसे किंचित्कर्त्तृतोद्वलनात्मिका कहते हैं।

विद्या—

१—श्रीशिवनाथ की किंचिद्वेदनात्मिका शक्ति को विद्या कहते हैं।

२—माया की या कला की कार्य है।

३—यह बुद्धि को देखती है।

४—यह अशुद्ध अध्वा की विद्या है। इसलिये इसे अविद्या या अशुद्ध विद्या कहते हैं।

५—यह ५ पर्वात्मिका होती है। तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्ध—यही इसके ५ पर्व हैं।

६—कार्यकारण में कर्म का विवेचन करती है।

७—अणु पुरुष इन्द्रियों द्वारा बुद्धि दर्पण में प्रतिबिम्बित सुख-दुःख आदि विषयों से प्रभावित होता है।

राग—

१—इस तरह अणु को कला से किंचित्कर्त्तृत्व और विद्या से किंचिज्ज्ञत्व दो भावों का अभिशाप मिल जाने पर वह उनसे अनुरक्त हो जाता है। यह अनुरक्ति देने वाला तत्त्व ही राग है। यह आसङ्ग पैदा करता है।

२—अशुचि भोगों में अनुरंजित करता है।

३—यह विरागी मन में भी 'कुछ हो जाता', 'कुछ बढ़ जाता' आदि सूक्ष्मभाव से बना रहता है।

४—धर्म आदि राग के पल्लव हैं।

५—द्वेष के मूल में भी राग ही रहता है। 'इससे हमारा अनिष्ट न हो ? यही सोचकर किसी से द्वेष होता है। अनिष्ट न होने के प्रति राग का हो रंजन रहता है।

६—अणु नियतानियत वस्तुओं में राग से ही अनुरक्त रहने लगता है।

कालतत्त्व—

१—कला से कुछ किया, कुछ करता हूँ, कुछ करूँगा इन प्रतीतियों के मूल में कालतत्त्व आकलित होता है।

२—तुष्टि लव निमेष क्षण आदि की सामयिक काल की विभाजन-रेखा में कृतित्व का आकलन करता है।

३—कार्यों का अवच्छेदक तत्त्व है।

४—सारा कर्तृत्वकाल से कलित होता है।

नियति—

१—इसी कारण से यह कार्य होता है या हो, यह अनुविधान करने वाला तत्त्व नियति तत्त्व है।

२—नियति विशिष्ट कार्य परम्परा में योजित करती है। कार्य-कारण का नियमन करतो है।

३—यह माया की तीसरी पुत्री है और पाँचवीं सन्तान है। बड़ी कर्कश है।

४—पुद्गल को कर्मजाल में जोड़ देती है।

५—कुछ विद्वान् विद्या, राग, नियति और काल का क्रम स्वीकार कर यह सिद्ध करते हैं कि ये चारों कला के ही कार्य हैं।

६—स्वच्छन्दतन्त्र में कला, विद्या, राग, काल और नियति का क्रम स्वीकृत है। ये सभी माया के कार्य (सन्तान) हैं।

७—ये सभी प्रमाता में गुप्तरूप से अपना काम अन्जाम देते हैं। ये सभी प्रमाता के भोक्ताभाव में छिपे रहते हैं। इन्हीं के योग से परासंविद् से पृथक पारिमित्य भोक्ता को मिलता है।

पशु—

श्रीत० ९।२०४ १—माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति रूप छः कञ्चुकों से कंचुकित और संकुचित रहने वाला शिव ही पशु कहलाता है। पाशबद्ध ही पशु होता है। इसे पुद्गल और अणु भी कहते हैं।

त्रिविध कञ्चुक—

अणु आणव मल से आवृत रहता है। इसके साथ ईशकी मला-धिष्ठायिका निरोध शक्ति, गुहा कर्ममूलस्थान रूप माया—ये तीनों अर्थात् आणव निरोध शक्ति और माया ये तीन भी कञ्चुक माने जाते हैं।

बुद्धि—१—इसमें बाह्य विषयों का प्रतिबिम्ब दो तरह से पड़ता है, १- इन्द्रियों द्वारा और २- स्वप्न और प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब उत्प्रेक्षा आदि द्वारा। बुद्धि की वृत्ति को इसी आधार पर अक्षानक्षाहिता और वेद्य प्रतिबिम्बसहिष्णुता-लक्षणा मानते हैं।

२—यह आत्मसंविद् की पुंबोध प्रकाशिका शक्ति है।

३—आत्मसंविद् की अभिव्यक्ति की मूल स्थान है।

अहंकार—१—यह बुद्धि से पुंप्रकाश की अभिव्यक्ति में अहंकरोमि-जानामि रूप आत्माभिमान ही अहंकार कहलाता है।

२—यह आत्मा में अहंताभिमान नहीं अपितु अनात्मरूपा बुद्धि में आत्म-प्रतिबिम्ब का अभिमान है।

३—इसकी आधार बुद्धि ही है।

४—अहंकार में एक संरम्भ वृत्ति होती है। इसी से जीवन के मूलाधार ५ प्रकार के प्राणवायु बह चलते हैं। संरम्भ वृत्ति जीवन और असंरम्भ वृत्ति मरण है।

५—अहं के साथ लगा कृत शब्द सिद्ध करता है कि यह शुद्ध अहम् से अलग है। कृत का अर्थ कृत्रिम होता है।

६—इसके दो स्कन्ध होते हैं, १—करण स्कन्ध, इससे यह करण रूप होने से अन्तःकरण कहलाता है। २—प्रकृति स्कन्ध—प्रकृति स्कन्ध से यह तीन प्रकार का हो जाता है—१—सात्त्विक अहंकार, २—राजस अहंकार और ३—तामस अहंकार।

७—सात्त्विक अहंकार से मन और ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

८—इसमें मन सर्वविषयक होता है और ज्ञानेन्द्रियाँ नियत-विषयक होती हैं।

९—इसमें सर्व तन्मात्रकर्तृत्व निहित है।

१०—बुद्धि, अहङ्कार और मन ये तीनों क्रमशः बोध, संरम्भ और संकल्प के करण हैं। अतः तीनों अन्तःकरण हैं।

११—प्राण अन्तःकरण नहीं होता। यह जड है और प्रेर्य है। प्रयत्न, इच्छा और बोधांश से यह प्रेरित होता है।

इन्द्रियों की नियत-वृत्तिता—

१—शब्दतन्मात्र हेतुत्वविशिष्ट अहंकार से प्रभावित श्रोत्र केवल शब्द ग्रहण करता है।

२—गन्धतन्मात्र के अहङ्कार से घ्राण गन्ध ग्रहण करता है।

३—इसी तरह त्वक् स्पर्श प्राप्त करता है।

४—आँख रूप देखती है।

५—रसना रसास्वाद करती है।

करण—१—आहङ्कारिकता से करणत्व घटित होता है।

२—करण में कर्त्रंश का स्पर्श होता है।

३—यह कर्त्ता से अलग होता है।

४—स्वातन्त्र्य के प्रभाव से कर्त्ता स्वयं कर्मांशस्पर्शी अपने अंश को करण बना लेता है।

कर्मेन्द्रियाँ—१—कर्मेन्द्रियाँ ५ हैं—१—वाक्, २—पाणि, ३—पायु, ४—उपस्थ और ५—चरण।

२—राजस अहङ्कार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

३—वाक् से बोलना, पाणि से स्वीकार करना, पायु से पुरीषोत्सर्ग, चरण से गति, उपस्थ से शुक्र-मूत्रोत्सर्ग रूप कार्य होते हैं।

४—ये कार्य यदि दूसरी कर्मेन्द्रियों से होंगे तो वहाँ भी उसो कर्मेन्द्रिय की वृत्ति काम करती है—यह निश्चित है। जैसे मुख से आदान, पैर की अंगुलि से लेखन। इनमें हाथ की कर्मेन्द्रिय वृत्ति ही कार्य-सम्पादन के मूल में विराजमान है।

५—कर्मानुसन्धान के पाँच भेद होते हैं। इस भेदवाद से प्रभावित कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच प्रकार की हो जाती हैं।

६—अहङ्कार तीन हैं—१—सात्त्विक, २—राजस और ३ तामस, इनमें तीनों से मन, बुद्धि, कर्मेन्द्रिय वर्ग, तन्मात्रा और पंचमहाभूतों की किससे कैसे उत्पत्ति हुई, इस विषय में साख्यवादियों, सिद्धान्त मतवादियों और त्रिक-शैवाद्वैतवादियों में बड़ा मतभेद है। इस विषय में सामान्य दृष्टिकोण यह है कि यह देख लिया जाय कि, किसकी वृत्ति में सात्त्विकता है, किसके स्वभाव में राज-सिकता और किसके स्वभाव में तामसिकता है। इसी दृष्टि से श्रीपूर्वशास्त्र में निर्णय किया गया है कि तैजस (राजस) से अक्षेश मन, वैकारिक (सात्त्विक) से इन्द्रियाँ और तामस से तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं।

७—इन्द्रियाँ बाह्यवृत्ति वाली होती हैं। इन दशों इन्द्रियों को वृत्तियों के अनुसार ही विषय-सन्निकर्षजन्य आलोचन होता है।

८—ज्ञानेन्द्रियों के आलोचन के अनुसार जो क्रियांश स्फुरित होता है—वह अन्तर्योजनात्मक मानसिक व्यापार ही होता है।

जैसे –'मैं बोलता हूँ' इस प्रयोग में प्रमाता के मुख से उत्पन्न शब्द में पहले आन्तरिक रूप से कर्त्रंश का स्पर्श हुआ। वही कार्यांश स्पर्श के उद्रेक की दशा में वाक् रूपी कर्मेन्द्रिय की मुख्य वृत्ति का आश्रय बनकर बैखरी में व्यक्त हुआ।

९ –मन, कल्पना के बाद चक्षु आदि के रूप-दर्शन आदि व्यापार को विषयों में अनुव्यवसित करता है। माया प्रमाता का यही प्रमातृत्व है कि उसका मन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा प्रमातृ-व्यापारात्मक व्यवहार का अनुविधान करता है।

तन्मात्रायें—

१- सभी शास्त्र ५ तन्मात्रायें मानते हैं। हम लोगों का पार्थिव शरीर है। पहले पृथ्वी महाभूत की तन्मात्रा का अनुसन्धान करें। इसमें गन्ध तन्मात्रा है। पृथ्वी में गन्ध है। गन्ध ही पृथिवीत्व का उत्स है। सुरभि के अतिरिक्त भी घी, रक्त, पक्वान्न, मदिरा आदि में भी विशेष गन्ध पाया जाता है, सुरभि रूप सामान्य गन्धत्व है। अतः विशेष अविशेष (असामान्य) दोनों की दृष्टि से विचार करने पर सामान्य गन्धत्व को ही गन्ध तन्मात्र कहते हैं।

२—तन्मात्राओं का गण तामस अहंकार से उत्पन्न माना जाता है।

३ –तन्मात्र व्यापक तो होते हैं पर ध्रुव नहीं होते। नित्य दो प्रकार के होते हैं—१—कूटस्थ नित्य और २—परिणामि नित्य। ये परिणामी नित्य हैं।

४—इनका नाश कारण में प्रलीन होने के अर्थ में माना जाता है।

५ –अन्तर्विपरिवर्त्ती अर्थ का बाह्यावभास इनका कार्यरूप है।

६—फिर कारण में क्रमिक विश्रान्ति होती है। इसे इनका नाश भी कह सकते हैं।

७—उक्त दृष्टि से ये ध्रुव भी हैं और अध्रुव भी हैं।

८—ये सारी बातें गन्ध की तरह रस, रूप, स्पर्श और शब्द तन्मात्राओं पर भी लागू होती हैं।

पञ्चमहाभूत—

१. नभ—

(अ) १—क्षुब्ध शब्द तन्मात्र अनेकानेक चित्रविचित्र शब्दों और श्रुतियों की अभिव्यक्ति के अवकाश स्थान नभ रूप में परिवर्त्तित हो जाता है।

२—वाच्य के अध्यास का यह आधार होता है। जैसे शब्द स्वात्म में वाच्याध्यास को अवकाश देता है, उसी तरह आकाश विश्व को अवकाश देता है।

२. वायु—

(आ) ३—आकाश ही स्पर्श तन्मात्र से क्षुब्ध होने पर वायु रूप में परिणत होता है। इसलिये यह दो गुणों १—शब्दात्मकता और २—स्पर्शात्मकता से समन्वित होता है।

४—उत्तरोत्तर महाभूतों में पूर्व-पूर्व की अवस्थिति स्वाभाविक है। जैसे आकाश में वायु की सार्वत्रिक स्थिति रूप अवियोग।

३. तेजस्तत्त्व—

(इ) ५—शब्द और स्पर्श रूप-तन्मात्र से क्षुभित होकर तेज रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इसीलिये तेज में तीन धर्म होते हैं। शब्द और स्पर्श इसके उपचरित धर्म हैं, जबकि रूप मुख्य गुण है।

४. जलतत्त्व—

(ई) ६—शब्द, स्पर्श और रूप, इन तीनों के रस से क्षुभित होने पर जल की सृष्टि हो जाती है। इसलिये जल में चार वृत्तियाँ निहित हैं।

५. भूतत्त्व—

(उ) ७—शब्द, स्पर्श, रूप और रस गन्ध से क्षुभित होकर धरा का रूप धारण कर लेते हैं। इसलिये भूमि सभी गुण-धर्मों से समन्वित होती है।

८—जैसे फैले हुए वस्त्रफलक पर विविध रंगों से रंजित चित्र युगपद् भासित होते हैं, उसी तरह भू के इस बृहद् विस्तार की रंजकता में समस्त भूत धर्म यौगपद्य भाव से भासित हो रहे हैं।

९—गन्ध से स्पर्श तक सारी चित्रात्मकता धरा में उद्भासित है। यही दशा सभी तत्त्वों की है।

१०—काणाद मतवादी कहते हैं कि शब्द स्पर्शवद् गुण नहीं हैं। इसके तीन कारण वे देते हैं—

१—अकारणगुणपूर्वकत्व के कारण,
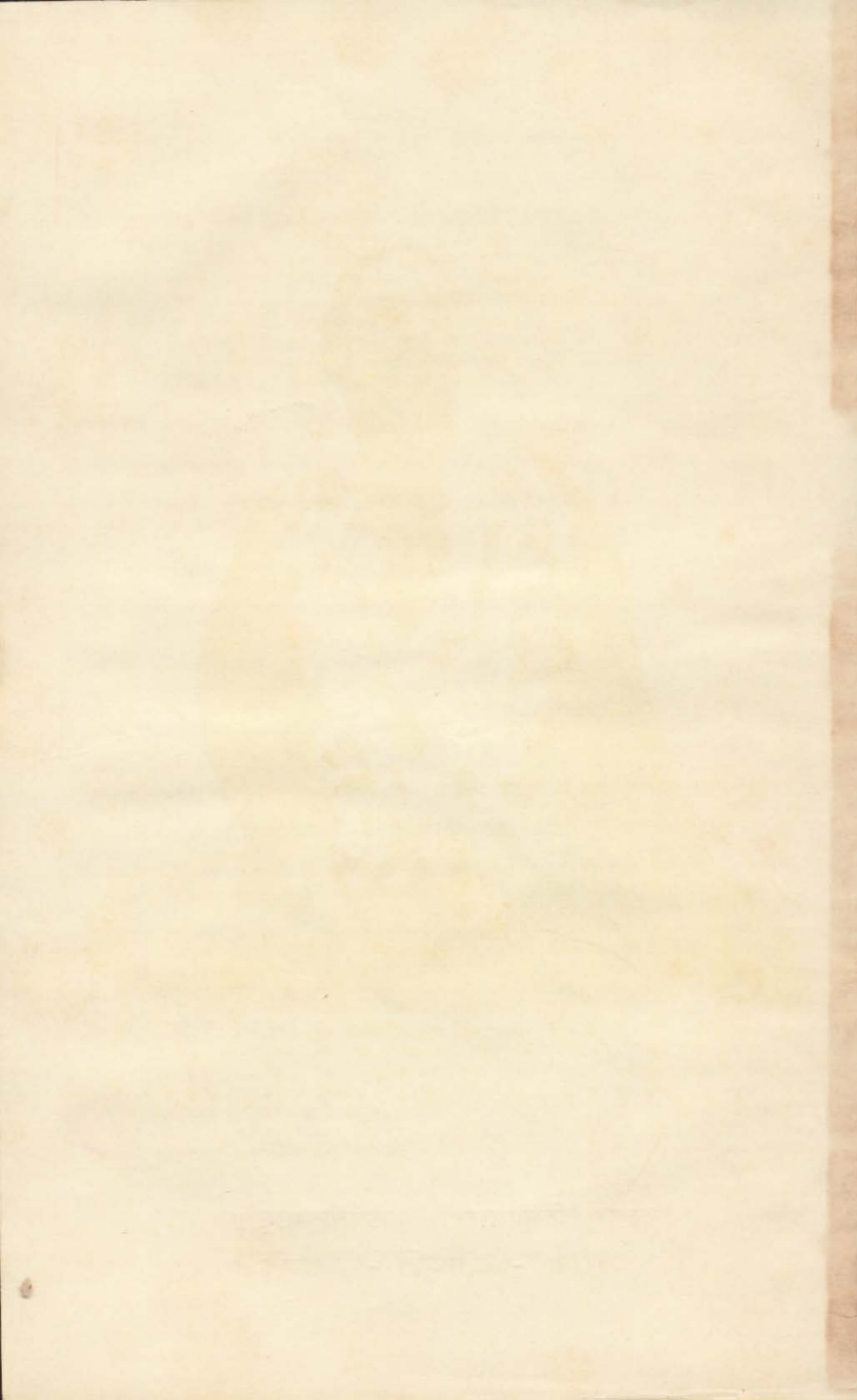
२—अयावद् द्रव्यभावित्व के कारण और

३—आश्रय से अन्यत्र उपलब्धि के कारण। त्रिकमत इसे नहीं मानता। इस विषय की विशद जानकारी श्रीत० ९।२९४ से ३१२ तक की व्याख्या से की जा सकती है।

११--गुण-प्रकर्षप्रयुक्त व्याप्यव्यापकभाव के कारण शिव से लेकर स्वात्म में चिद्धर्मता का उत्कर्ष और सारे तत्त्वों से सम्बन्धित धर्मों का संचय इस धरा तत्त्व में है। यह उन गुणों से पूर्णतया व्याप्त है।

१२—पूर्व और उत्तर तत्त्वों के वैशिष्ट्य पर ध्यान देना चाहिये। सबसे अन्तिम अर्थात् उत्तर तत्त्व धरा है। इसके पहले जल है। उत्तरतत्त्व (धरा) शक्तिरूप और जलतत्त्व शक्तिमान् रूप है। इसी तरह धरा सहित जल तत्त्व शक्ति और तेज तत्त्व शक्तिमान् है? इसी तरह उत्तर और पूर्व-पूर्व रूपों में शक्ति-शक्तिमान् रूप अद्वय तत्त्वों की व्याप्ति है। इससे सिद्ध होता है कि शैव-प्रत्यभिज्ञारूप षडध्वदर्शन के अनुसार चिद्रूप शक्ति-शक्तिमदद्वयभाव से सारा विश्व ओतप्रोत है। स्वाध्यायशील अध्येतावर्ग इसका स्वयम् आकलन करे—श्रीतन्त्रालोक का यही मन्तव्य है।

●

विषयानुक्रमः

विषयवस्तु **पृष्ठसंख्या**

५

विषयानुक्रमः

नवममाह्निकम्

विषयवस्तु पृष्ठसंख्या

में इसकी उपयोगिता, अपेक्षा में संविदाभिमुख्य, जड में इस आभिमुख्य का अभाव, स्वरूप संन्निविष्ट किसी ज्ञातेय के विना कार्यकारण भाव अनुपपन्न

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः
श्रीराजानकजयरथाचार्यकृतविवेकव्याख्यया विभूषितः
डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलितः

श्रीतन्त्रालोकः

[तृतीयो भागः]

अथ

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादविरचितस्य
श्रीमदाचार्यजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेतस्य
डॉ॰ परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-
हिन्दीभाष्यसंवलितस्य

श्रीतन्त्रालोकस्य

अष्टममाह्निकम्

जयकीर्तिरयं जयताज्जगदम्भोजं विभक्तभुवनदलम् ।
रविरिव विकासयति यश्चिदेकनालाश्रयत्वेन ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन देशाध्वनः स्वरूपं संगिरितुमुपक्रमते

देशाध्वनोऽप्यथ समासविकासयोगात् ।
सङ्क्षीयते विधिरयं शिवशास्त्रदृष्टः ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादाचार्यविरचित
श्रीराजानक जयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ॰ परमहंसमिश्रकृतनीरक्षीरविवेक
हिन्दीभाष्यसंवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

अष्टम आह्निक

विश्व-कमल, कुल भुवन-दल, अनुकल चिन्मय नाल।
विकसित करते रवि सदृश, शिव जयकीर्त्ति कुलाल॥

सप्तम आह्निक के अन्तिम श्लोक की द्वितीय अर्धाली से, अद्वितीय देशाध्वप्रकाशन नामक इस आह्निक की अवतारणा कर रहे हैं—

नन्ववान्तराणां प्रमेयाणामनन्तानां प्रतिपाद्यत्वेऽपि कथमिह अस्यैव निर्देशः, इत्याशङ्क्याह

विचारितोऽयं कालाध्वा क्रियाशक्तिमयः प्रभोः ।
मूर्तिवैचित्र्यजस्तज्जो देशाध्वाथ निरूप्यते ॥ २ ॥

'अथ' इत्यानन्तर्ये । तत्पदमन्त्रवर्णात्मना त्रिप्रकारः कालाध्वा विचारितः, इति तदानन्तर्येण युक्तं देशाध्वनोऽप्यत्र निरूपणम्, इत्यत एव क्रमेण भुवनतत्त्वकलाप्रतिपादकं वक्ष्यमाणमाह्निकचतुष्टयम् । 'तज्ज' इति तस्मात् प्रभोरेव जातः स एव तथा तथा बहिः स्फुरति इत्यर्थः । यदाहुः

'आश्यानं चिद्रसस्यौघं साकारत्वमुपागतम् ।
जगद्रूपतया वन्दे प्रत्यक्षं भैरवं वपुः ॥' इति ॥२॥

ननु यद्येवं षड्विधोऽपि अयमध्वा किंचिदेकरूपात् तस्मादतिरिक्तो न वा ? इत्याशङ्क्याह

शैव शास्त्रों की मान्यताओं के अनुकूल समास-व्यास पद्धति को प्रक्रिया को अपनाकर देशाध्वा की विधियों का वर्णन यहाँ किया जा रहा है ॥ १ ॥

देशाध्वा—जिज्ञासु की शङ्का है कि प्रमेय अनन्त हैं । वे सभी प्रतिपादन के योग्य हैं । ऐसी स्थिति में केवल देशाध्वा का ही नाम निर्देश पूर्वक प्रवर्त्तन क्यों ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

सर्वात्मा सर्व समर्थ प्रभु की क्रिया शक्ति का प्रतीक कालाध्वा है । पूर्व प्रकरण में मन्त्र, पद और वर्ण के क्रम से उसका प्रतिपादन किया जा चुका है । इसके बाद शिव के बाहरस्फुरित मूर्त्ति वैचित्र्य का क्रम आता है । मूर्त्ति का यह वैचित्र्य ही देशाध्वा है । इस सम्बन्ध में आगमिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं—

"चिति शक्ति का अमृत, आनन्द के उल्लास से विस्तार प्राप्त करता है । उसी समय यह पीयूष राशि घन होकर आकार ग्रहण कर लेती है । यही जगत् है । यह भैरव परमशिव का ही प्रत्यक्ष शरीर है" ॥ २ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ६ प्रकार के सभी अध्वा प्रायः शिव शरीर रूप ही हैं ? ये उससे अतिरिक्त हैं या नहीं ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

अध्वा समस्त एवायं चिन्मात्रे संप्रतिष्ठितः ।
यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभः कुसुमायते ॥ ३ ॥

'संप्रतिष्ठित' इति तदनतिरिक्त इत्यर्थः। अत्र व्यतिरेकमुखेन द्वितीयार्धं हेतुः। 'नभः कुसुमायत' इति न किंचित् स्यादिति यावत् ॥ ३ ॥

ननु यदि नाम संविदनतिरिक्त एवायमध्वा, तत् कथं सर्वत्र बहिर्भेदेन भायात् ? इत्याशङ्क्याह

संविद्द्वारेण तत्सृष्टे शून्ये धियि मरुत्सु च ।
नाडीचक्रानुचक्रेषु बहिर्देहेऽध्वसंस्थितिः ॥ ४ ॥

संविदेव हि स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं स्वरूपं गोपयित्वा स्वसमुल्लासिते शून्यप्राणबुद्धिदेहात्मनि प्रमातरि, बहिः प्रमेये च अनतिरिक्तत्वेऽप्यतिरिक्तमिव षड्विधमपि अध्वानमवभासयति—इत्युक्तं 'संविद्द्वारेण तत्सृष्टे शून्यादावध्वसंस्थितिः' इति। 'नाडीचक्रानुचक्रेषु' इति मरुत्सामानाधिकरण्येन योज्यम् ॥ ४ ॥

यह सारा का सारा अध्वमण्डल उसी चिन्मात्र में ही सम्प्रतिष्ठित है। उसके अतिरिक्त यह कुछ नहीं है। जो उसमें है, वही है। जो नहीं हैं, वह नहीं है। वह मात्र आकाश-कुसुम है अर्थात् उसका कोई अस्तित्व नहीं होता ॥ ३ ॥

प्रश्न है कि यदि अध्वावर्ग संविद् तत्त्व के अतिरिक्त नहीं है, तो यह बाह्य भाव से भेद पूर्वक क्यों भासित हो रहा है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

संवित् शक्ति स्वात्म स्वातन्त्र्य के प्रभाव से अपने स्वरूप का गोपन कर शून्य, प्राण, बुद्धि और देह प्रमाताओं के अतिरिक्त बाहरी जागतिक प्रमेयों में एक रहते हुए भी पृथक् की तरह, अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह भासित होती है। यह अपने में ही छः अध्वाओं को भी धारण करती है। चार प्रमाता वर्ग में प्राण की प्रधानता स्वाभाविक है। कहा गया कि 'संवित् पहले प्राण में ही परिणत हुई है'। प्राण का सञ्चार समस्त नाडी चक्रों और अनुचक्रों में भी होता ही है। इससे बाह्यावभास सम्बन्धी इस शङ्का का समाधान हो जाता है ॥ ४ ॥

ननु यद्येवं तदस्तु को दोषस्तन्निरूपणेन पुनः कोऽर्थः ? इत्याशङ्क्याह

तत्राध्वैवं निरूप्योऽयं यतस्तत्प्रक्रियाक्रमम् ।
अनुसंदधदेव द्राग् योगी भैरवतां व्रजेत् ॥ ५ ॥

'प्रक्रियाक्रमम्' इति कालाग्न्यादेरनाश्रितपर्यन्तं तथातथानुपूर्व्येण अवस्थानम् 'अनुसंदधत्' इति 'सर्वमहम्' इति विमर्शनेन स्वात्मविश्रान्तिमयतामापादयन् योगी शीघ्रमेव परसंविदैकात्म्यमियात् ॥ ५ ॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव, इत्याह

दिदृक्षयैव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन इत्युक्तं स्पन्दशासने ॥ ६ ॥

यथा दिदृक्षावसरे स्वसाक्षितयैव अर्थस्तथा स्फुरति, तथैव योगी धरादिशिवान्ततत्त्वान्तर्भाविनः सर्वानर्थान् यदा 'सर्वमहम्' इत्यनुसंधानपूर्वं स्वात्मनि क्रोडीकृत्यावतिष्ठते तदा निःशेषवेद्यविगलनेन परभैरवदशावेशचमत्काररूपं यत् फलं, तत् स्वसंविदेवानुभविष्यति—इत्यत्र बहुनोक्तेन किं ? न कश्चिदर्थ इत्यर्थः । 'स्वमेवावभोत्स्यते' इति चात्र तुर्यः पादः ॥ ६ ॥

इससे यह भी सिद्ध होता है कि अध्वावर्ग की जानकारी साधना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । विश्व के अनुसन्धान की दृष्टि से इनके निरूपण की अनिवार्यता भी है । अध्वावर्ग की प्रक्रिया का अनुसन्धान करने वाला योगी क्रान्तदर्शी हो जाता है और यथाशीघ्र उसे भैरवीभाव की उपलब्धि हो जाती है ॥ ५ ॥

इसका आगम प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

किसी पदार्थ को देखने की इच्छा को दिदृक्षा कहते हैं । जगत् के समस्त प्रमेयवर्ग का रहस्य-दर्शन साक्षी भाव से करना चाहिये । इससे पदार्थगत वस्तु तत्त्व का और उसके अर्थ का साक्षात्कार होता है । सदाशिव से क्षिति पर्यन्त समस्त पदार्थों में 'मैं ही उल्लसित हूँ' यह भाव जगने लगता है । इस प्रकार स्वात्म भाव का विस्तार होता है । स्वात्मरूप विश्व के तादात्म्य का महाभाव साधक को साध्य मय बना देता है । वह स्वयं भैरवी भाव के जिस महाफल की प्राप्ति करता है, वह अनिर्वचनीय है—यह स्पन्द शास्त्र की उक्ति है ॥ ६ ॥

ननु अध्वप्रक्रियाज्ञानमात्रादेव किमेवं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

ज्ञात्वा समस्तमध्वानं तदीशेषु विलापयेत् ।
तान् देहप्राणधीचक्रे पूर्ववद्गालयेत्क्रमात् ।। ७ ।।
तत्समस्तं स्वसंवित्तौ सा संविद्दुरितात्मिका ।
उपास्यमाना संसारसागरप्रलयानलः ।। ८ ।।

'तदीशेषु' इति ब्रह्मादिषु । 'तान्' तदीशानपि देहबुद्धिप्राणशून्यात्मनि कल्पिते रूपे 'पूर्ववत्' कालाध्वनिरूपितनीत्या 'गालयेत्' देहादारभ्य यथोत्तरं विश्रमयेत्, यावत् 'क्रमात्' प्राप्तावसरं 'तत् समस्तं देहादि स्वसंवित्सात्कुर्यात्, येनास्य सा संविदशेषवेद्यग्रासीकारेण पूर्णा सती 'उपास्यमाना' भूयो भूयस्तथा परिशीलयमाना द्वयाद्यवभासतिरस्कारेण परमाद्वयमयतया प्रस्फुरेदित्यर्थः ।। ७-८ ।।

ननु

'अथ कालाग्निरुद्राधः कटाहः संव्यवस्थितः ।
कोटियोजनबाहुल्यस्तस्योर्ध्वे भुवनानि तु ।।
नवनवतिकोट्यश्चाप्यण्डानां तु सहस्रकम् ।
कोटीनां सप्तति लक्षाण्ययुतानां सहस्रकम् ।।
अर्बुदान्यथ वृन्दानि खर्वाणि च तथैव च ।
पद्मानि चाप्यसंख्यानीत्येवमादीन्यनेकशः ।।' (स्व० १०।४)

अध्व प्रक्रिया के ज्ञान मात्र से वह महाभाव कैसे प्राप्त होता है ? इस शङ्का का समाधान कर रहे हैं—

समस्त अध्वावर्ग को जान लेने के बाद इसका विलापन उन उन अध्वाओं के अधिपतियों में करने की विधि ज्ञात हो जाती है । इसके बाद शून्य प्राण और बुद्धि चक्रों में उन अधीश्वरों का विलापन भी सरल हो जाता है । एक के बाद एक को तदात्मसात् करता हुआ साधक अपनी स्वता को परमसत्ता की चिन्मयता में समाहित कर देता है । सारे देहादि वर्ग को स्वात्म संवित् में स्वात्मसात् कर लेता है । उसकी संवित् शक्ति समस्त प्रमेय रूप वेद्य वर्ग का ग्रास कर लेती है । परिशीलयमान ऐसी संवित् संसार-सागर को प्रलयानल की तरह सुखा डालती है और साधक परम अद्वय भाव को प्राप्त कर लेता है ।। ७-८ ।।

इत्याद्युक्त्या भुवनानामानन्त्ये तदधीशानामपि आनन्त्यम्—इति तेषां प्रत्येकमेवमनुसंधाने जन्मसहस्रैरपि न कश्चित् पारं यायात्—इत्येतदशक्यानुष्ठानम्, इत्याशङ्क्याह

श्रीमद्दीक्षोत्तरे चैतानध्वेशान् गुरुरब्रवीत् ।

"गुरु:' इत्याद्यः श्रीकण्ठनाथः । अब्रवीदिति नैयत्येन ।

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

ब्रह्मानन्तात्प्रधानान्तं विष्णुः पुंसः कलान्तगम् ॥ ९ ॥

रुद्रो ग्रन्थौ च मायायामीशः सादाख्यगोचरे ।

अनाश्रितः शिवस्तस्माद्व्याप्ता तद्व्यापकः परः ॥ १० ॥

ब्रह्माण्डकर्परिकाधोवर्तिनोऽनन्तात्प्रभृति प्रधानान्तं ब्रह्मा, व्याप्ता—इति संबन्धः। एवमुत्तरत्रापि योजनीयम्। ग्रन्थौ चेति, चशब्देन तद्गतरूपायामपि मायायां रुद्रो व्याप्तेत्यर्थः। 'ईश' इतीश्वरः। 'सादाख्यगोचर' इति शुद्धविद्यादितत्त्वत्रयात्मानि। 'तस्मात्' इति सादाख्यगोचरात् अर्थादूर्ध्वं शक्तितत्त्वस्थाने नु 'तद्व्यापक' इति तेषां ब्रह्माद्यनाश्रितान्तानां पञ्चानामपि कारणानां व्यापकः परः शिव इत्यर्थः। अतश्च नियतत्वात्तदीशानां प्रत्युतैतत् सुखोपायम्, इत्यतः परमन्यज्ज्ञानं नास्तीत्युक्तप्रायम् ॥ ९-१० ॥

स्वच्छन्द तन्त्र १०।४ के अनुसार कालाग्निरुद्र से नीचे अण्ड कटाह संस्थित हैं। उसके ऊपर करोड़ योजन के विस्तृत अन्तराल अवकाश में अनन्त भुवन स्फुरित हैं। ९९ करोड़ अण्ड, हजारों लाखों, करोड़ों, अरबों-खरबों, वृन्द और पद्म पद्म असंख्य लोक उल्लसित हैं। इनके अनन्त अनन्त अधीश्वर भी स्वाभाविक हैं। इनके अनुसन्धान के लिये एक साधक को हजारों जन्म लेने पड़ सकते हैं। इस असम्भव कार्य को साध्य कैसे बनाया जा सकता है? इस जिज्ञासा को शान्त कर रहे हैं—

श्रीमद्दीक्षोत्तर ग्रन्थ में परम गुरुदेव श्री श्रीकण्ठनाथ ने कहा है कि ब्रह्माण्ड के इस परिवेश में अनन्त से प्रधान तक ब्रह्मा व्याप्त हैं। पुरुष से कला तक विष्णु, माया ग्रन्थि में रुद्र, शुद्ध विद्या से सदाशिव तक अनाश्रित शिव और शक्ति से ऊपर परम शिव व्याप्त हैं। ब्रह्मा से अनाश्रित पर्यन्त ये ५ तत्त्व कारण तत्त्व हैं। अतः इन व्यापक तत्त्वों को जानने पर सारे रहस्य

यदभिप्रायेणैव श्रीस्वच्छन्दशास्त्रमप्येवमाह

एवं शिवत्वमापन्नमिति मत्वा न्यरूप्यत ।
न प्रक्रियापरं ज्ञानमिति स्वच्छन्दशासने ।। ११ ।।

यदुक्तं तत्र

'नास्ति दीक्षासमो मोक्षो न विद्या मातृकापरा ।
न प्रक्रियापरं ज्ञानं नास्ति योगस्त्वलक्षकः ।।'

(स्व० ११।१९८) इति ॥११॥

न त्वेवमध्वनोऽनुसंधाने कथं बोधस्य साक्षात्कारो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

त्रिशिरः शासने बोधो मूलमध्याग्रकल्पितः ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वसंरम्भः स्मृतिर्भेदविकल्पना ।। १२ ।।
अव्याहतविभागोऽस्मिभावो मूलं तु बोधगम् ।
समस्ततत्त्वभावोऽयं स्वात्मन्येवाविभागकः ।। १३ ।।

विज्ञात हो जाते हैं । इस सुखोपाय से ज्ञात ज्ञान से बढ़कर कोई अन्य ज्ञान नहीं है । अतः जन्मों की लम्बी अवधि का प्रश्न अपास्त हो जाता है ॥ ९-१० ॥

स्वच्छन्द तन्त्र से भी उक्त तथ्य का समर्थन होता है । वहाँ कहा गया है कि "दीक्षा के समान कोई मोक्ष नहीं, मातृका से बढ़कर कोई विद्या और क्रियाज्ञान से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं होता" । इस उक्ति से प्रक्रिया ज्ञान सर्वोत्तमज्ञान है' इस का समर्थन हो जाता है ॥ ११ ॥

अनुसन्धान तो अध्वा का होता है । इससे बोध का साक्षात्कार कैसे ? इस प्रश्न का समाधान कर रहे हैं—

त्रिशिरो भैरव ग्रन्थ में इसका दिशा निर्देश है । इसके अनुसार बोध-वृक्ष ही मूल, मध्य और अग्र (जड़, तना जौर तरुशिखा) रूप से ३६ तत्त्वात्मक इस विश्वरूप में उल्लसित है । इनके अनुसन्धान से बोध के वास्तव स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है । अनात्मरूप बुद्धि आदि में निष्ठ अहं भाव संकुचित प्रमाता का धर्म है । यहाँ एक प्रकार की अहमात्मक स्मृति स्फुरित होती है । यही भेद की प्रकल्पना की आधार है ।

बोधमध्यं भवेत्किंचिदाधाराधेयलक्षणम् ।
तत्त्वभेदविभागेन स्वभावस्थितिलक्षणम् ॥ १४ ॥
बोधाग्रं तत्तु चिद्बोधं निस्तरङ्गं बृहत्सुखम् ।

श्रीत्रिशिरोभैरवे हि बोध एव मूलमध्याग्रकल्पितः सन् षट्त्रिंशत्तत्व-संरम्भस्तथोल्लसितः, इत्यर्थादुक्तं, येन तदनुसंधानाद्बोधसाक्षात्कारः स्यात् । तदेवार्थद्वारेण पठति 'स्मृतिः' इत्यादि । इह खलु यो नाम 'अस्मिभावः'

'बुद्ध्यस्मितासुसंरूढो गुणान्पूर्वं विभेद्य च ।
विचारयेद्भूतधर्मान् पृथिव्यादिक्रमेण तु ॥'

इत्यादि तत्रत्योक्त्या अनात्मरूपबुद्ध्यादिनिष्ठाहंभावः संकुचितः प्रमाता स स्मृतिर्भेदविकल्पना च तत्स्वभाव इत्यर्थः । स हि 'इदमहं जानामि' इति भेदेनैव विश्वं विकल्पयेत् । न केवलं सद्रूपमेवार्थमेवं विकल्पयेत्, यावद्दग्ध-पित्रादिविषये स्मृतिविकल्पादावसदपि—इत्युक्तं 'स्मृतिः' इति । अत एवेदन्तायाः प्राधान्यादव्याहतविभागः सुस्फुटभेदात्मक इत्यर्थः । तच्च बोधगं मूलं बोधस्य परां कोटिं प्राप्तं स्थौल्यमुच्यते इत्यर्थः, तथा अयं भेदेनोल्लसितः 'समस्ततत्त्वभावो' भूतभावादिः 'इदमहम्' इति न्यायेन बोधरूपे 'स्वात्मन्येव' विश्रान्तोऽत एव 'अविभागको' विगलितभेदो बोधमध्यं भवेत्, न तु बोधाग्रं; यतस्तदहन्तेदन्तयोः सामानाधिकरण्यात् आमुखे भेदप्रतिभासात् 'किंचिदाधाराधेयलक्षणं' किंचित्पदेन बोधमूलवन्न भेदप्रधानं नापि बोधाग्रवदभेदप्रधानम्—इति प्रकाशितम्; अत एव अन्तरालवर्तित्वात् 'मध्यम्' इत्युक्तम् । तथा तत्त्वानां भेदस्य 'विभागेन' मूलत एव शातनेन यत् 'अहम्' इत्यामर्शरूपे स्वात्मन्येवावस्थानं तत् 'बोधाग्रं'

इसमें अहंभाव से इदं भाव की प्रार्थक्य प्रथा का विमर्श होता है । यही बोध का 'मूल' है । यह सारा तत्त्ववाद अविभाग रूप से मुझ में अवस्थित है । आधाराधेय भाव का यह संस्कार जहाँ उत्पन्न होता है, यह बोध का 'मध्य' भाग है । बोध की वह दशा जहाँ भेद विगलित हो जाते हैं, स्वात्मभाव जागृत हो जाता है और चिद्बोध की आनन्दवादी निस्तरङ्गता होती है, वह बोध की 'अग्र' शिखर अवस्था है । यही बोध वृक्ष का वास्तविक स्वरूप है ।

बोध मूल भेद प्रधान, बोध मध्य अहन्ता और इदन्ता के सामानाधिक-करण्य के कारण भेदाभेद प्रधान तथा बोधाग्र अभेद प्रधान होता है ।

सकलभावाविभागस्वभावः, परां काष्ठां प्राप्तो बोध इत्यर्थः । अत एव तच्चिद्-बोधरूपं न तु अणुबोधरूपं, निस्तरङ्गं न तु क्षुब्धं 'बृहत् सुखं' जगदानन्दरूपं न तु अनानन्दादिरूपमित्यर्थः । यदुक्तं तत्र

'षट्त्रिंशत्तत्त्वविषये यद्भेदेन विकल्पना ।
स्मृतिः सुस्फुटभेदात्मा मितमाता तदुच्यते ॥

प्रान्तावस्थितिविज्ञानं स्थौल्यं बोधस्य भैरवि ।
समस्ततत्त्वभावोऽयं नावलोक्यो विभागशः ॥

स्वात्मनि संस्थितं विन्द्याद्बोधमध्यं तदुच्यते ।
आधाराधेयभावोऽयमुभयावस्थितस्य च ॥

तत्त्वभेदविभागेन स्वभावस्थितिलक्षणम् ।
तत्पदस्थो न विन्देत चिद्व्योमान्तरवर्तिनः ॥

तदतीतं विजानीयान्मध्यमं प्राप्त्यवस्थितम् ।
प्रान्तावस्थितिविज्ञेयं बोधाग्रं तदिहोच्यते ॥

शक्तिज्ञानं विजानीयात्परमानन्दलक्षणम् ।
नित्योदितं सुखं विद्धि निस्तरङ्गं तु कथ्यते ॥

बृहत्सुखेति कथितं चिद्बोधं तु निगद्यते ।' इति ॥१२-१४॥

एवं षड्विधेऽप्यध्वनि संविदैकात्म्यं परिशीलयतो योगिनो भैरवीभाव एव भवेत्, इत्याह

संविदेकात्मतानीतभूतभावपुरादिकः ॥१५॥
अव्यवच्छिन्नसंवित्तिर्भैरवः परमेश्वरः ।

त्रिशिरो भैरव ग्रन्थ के उद्धरण में भी ३६ तत्त्वों के भेद, उनकी स्मृति और प्रान्तरवस्थिति विज्ञान को मितमाता के बोध की स्थूलता मानते हैं। इसी तरह चिद्व्योम के अन्तराल को बोध मध्य और अभेद को बोधाग्र रूप से वर्णित किया गया है। नित्योदित सुख को निस्तरङ्ग, बृहत् एवं चिद्बोध-सुख कहा गया है। वस्तुतः त्रिशिरो भैरव इस विषय का प्रामाणिक सिद्ध ग्रन्थ है। इसके अध्वानुसन्धान से बोध का साक्षात्कार सरलता पूर्वक हो जाता है ॥ १२-१४ ॥

इस प्रकार इस छः अध्वा वर्ग में संवित् ऐकात्म्य का परिशीलन करने वाले योगी को भैरवीभाव की सिद्धि हो जाती है। यही कह रहे हैं—

न केवलमेतदत्रैवोक्तं यावदन्यत्रापि, इत्याह

श्रीदेव्या यामले चोक्तं षट्त्रिंशत्तत्त्वसुन्दरम् ॥१६॥
अध्वानं षड्विधं ध्यायन्सद्यः शिवमयो भवेत् ।

'ध्यायन्' इति स्वसंविदभेदेन परामृशन्नित्यर्थः, तदुक्तं तत्र

'अध्वानं निखिलं देवि तत्त्वषट्त्रिंशदुज्ज्वलम् ।
चिन्तयन् सद्य आप्नोति पदं शाश्वतमुत्तमम् ॥' इति ॥१६॥

ननु यदि नाम बोधात्मैव षड्विधोऽपि अयमध्वा, तद्बोधस्य देशाद्यनवच्छिन्नत्वात् कथमस्योर्ध्वादिव्यवस्था स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

यद्यप्यमुष्य नाथस्य संवित्त्यनतिरेकिणः ॥ १७ ॥
पूर्णस्योर्ध्वादिमध्यान्तव्यवस्था नास्ति वास्तवी ।
तथापि प्रतिपत्तॄणां प्रतिपादयितुस्तथा ॥ १८ ॥
स्वस्वरूपानुसारेण मध्यादित्वादिकल्पनाः ।

संविद् तत्त्व से ऐकात्म्य के महाप्रभाव से यह सारा भूत भाव और यह सारा षडध्व विस्तार अभेद रूप से उल्लसित प्रतीत होने लगता है । यह अव्यवच्छिन्न-संवित्ति ही परमेश्वर भैरव का 'स्व' भाव है । यही बात अन्य आगमिक ग्रन्थों जैसे देवी यामल आदि में भी प्रतिपादित है । श्री देवीयामल के अनुसार ३६ तत्त्वों से संवलित इस अत्यन्त आकर्षक और षडध्व सुन्दर विश्व का ध्यान करने वाला तत्काल शिवमय हो जाता है । ध्यान में स्वात्मसंविदैक्य परामर्श अनिवार्य है । वहाँ स्पष्ट घोषित किया गया है कि "३६ तत्त्वों से प्रकाशमान षडध्व-सुन्दर विश्व का चिन्तक तत्काल सर्वोत्कृष्ट शाश्वत पद पा लेता है" ॥ १५-१६ ॥

यह विश्व छः अध्वा मय है और बोधरूप ही है । इस मान्यता के अनुसार बोध के देश आदि से अनवच्छिन्न होने के कारण इसमें ऊर्ध्व और अधः की व्यवस्थिति कैसे हो सकेगी ? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

यह सत्य तथ्य है कि संविद् शक्ति से अनतिरिक्त रूप से भासमान पूर्ण परमेश्वर में ऊर्ध्व, मध्य और अन्त के किसी प्रकार के विभाग की कोई

प्रतिपत्रादयो हि संकुचितरूपत्वाद् गृहीतदेहाद्यभिमानाः—इति तदनुसारेणोर्ध्वादिव्यवस्थां कल्पेयुः, न तु वस्तुतः सा संभवेत्; अत एवोर्ध्वमप्यन्यापेक्षयाधः स्यात्। तस्मात् प्रतिपत्राद्यपेक्षयैवेयं व्यवस्था—यत् पृथिवीतत्त्वं सर्वतत्त्वान्तर्वर्ति तत्त्वान्तराणि च तद्बहिरिति ॥१७-१८॥

तदाह

ततः प्रमातृसंकल्पनियमात् पार्थिवं विदुः ॥ १९ ॥

तत्त्वं सर्वान्तरालस्थं यत्सर्वावरणैर्वृतम्।

पृथिवीतत्त्वमेव च स्थौल्यस्य परा कोटिः, इति तदुपक्रमं सुखेनावबोधात् तत्रैव प्रथमं भुवनस्थितिरुच्यते, इत्याह

तदत्र पार्थिवे तत्त्वे कथ्यते भुवनस्थितिः ॥ २० ॥

तामेवाह

नेता कटाहरुद्राणामनन्तः कामसेविनाम्।

पोतारूढो जलस्यान्तर्मद्यपानविघूर्णितः ॥ २१ ॥

स देवं भैरवं ध्यायन् नागैश्च परिवारितः ॥

गुंजायश नहीं है, फिर भी प्रतिपत्ता और प्रतिपादयिता (शिष्य और गुरु, उपदेश्य और उपदेशक आदि) की योग्यता के आधार पर इस प्रकार का असत् आकलन होने लगता है। यह वास्तविक आकलन नहीं है। 'पृथ्वी तत्त्व सभी तत्त्वों के अन्तर्गत है। अन्य सारे तत्त्व इसके बाहर हैं' इत्यादि प्रतीति ज्ञाता और अनुभविता के स्तर पर निर्भर है ॥ १७-१८ ॥

प्रायः लोग यह कहते और जानते हैं कि पार्थिव तत्त्व सभी आवरणों से आवृत सभी के बीच में उल्लसित है। यह स्थूलता की अन्तिम सीमा है। घनता की पराकाष्ठा है। यह बात आसानी से मन में घर भी कर लेती है। इसीलिये इसमें ही समस्त भुवनों का आकलन भी करते हैं। शास्त्र भी इसी आधार पर पार्थिव तत्त्व में ही समस्त भुवनों की स्थिति स्वीकार करता है। कामसेवी कटाह रुद्रों का नेता अनन्त है। जैसे कोई सुरा सेवी कर्णधार नशे में चूर रहकर अपार पारावार में पोत का संचालन करता है, उसी तरह काम मद्य के आमोद से मुग्ध अनन्त देव ही इस जगत्पोत का संचालन जलतत्त्व के ऊपर

जलस्यान्तरित्यर्थात् तदुपरि संस्थितः। यदुक्तम् इति।

'संस्थितः सोऽम्भसां मूर्ध्नि शक्त्याधारस्तु हूहुकः।'

अत एव चास्य अप्तत्त्वसंनिकर्षेण कटाहस्याधो बहिर्देशेऽवस्थानं न त्वन्तरिति सिद्धम्। यदुक्तं श्रीनन्दिशाखायाम्

'कोटियोजनतः स्थौल्यं ब्रह्माण्डस्य कटाहके।
तथैवोर्ध्वं स्थितं ज्ञेयमन्तरं कथ्यते प्रिये॥
अष्टनवतिकोटिभिर्ब्रह्माण्डं समुदाहृतम्।'

इत्युपक्रम्य

'कटाहाधः स्थितं देवि! हूहुकं भुवनेश्वरम्।
शक्त्याधारं तु जानीयादनन्तं वरवर्णिनि॥' इति।

श्रीत्रिशिरोभैरवेऽपि

'ब्रह्माण्डबाह्यतोऽनन्तो विश्वाधारस्तु कथ्यते।' इति।

अन्तरवस्थाने चास्य

'दशकोटिमितं तत्तु पोतैः सर्वत्र तत्समम्।
ऊर्ध्वं तस्य सुरेशानि कोटिमात्रं तमः परम्॥'

करता है। वह निरन्तर भैरव शिव का ध्यान करता है और नागों से आवृत रहता है। कहा गया है कि "हूहुक नामक कालरुद्र शक्ति का आधार देव जल-तत्त्व के ऊपर स्थित है'। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जल तत्त्व के सन्निकर्ष से कटाह के अधो भाग में बाहर इसकी स्थिति है, उसके भीतर नहीं।

श्री नन्दिशिखा ग्रन्थ में कहा गया है कि "ब्रह्माण्ड के कटाह में एक करोड़ योजन से स्थूलता का उल्लास है। इसी तरह ऊपर भी यह अन्तराल है। ९८ करोड़ योजन का एक ब्रह्माण्ड कहा गया है"। यहाँ से लेकर "कटाह के नीचे हूहुक नामक भुवनेश्वर हैं। शक्ति के आधार 'अनन्त' ही हैं।" यहाँ तक इसी विषय की चर्चा है।

त्रिशिरो भैरव शास्त्र में कहा गया है कि "ब्रह्माण्ड के अनन्त ही बाह्य विश्वाधार हैं"। "अपने आन्तर अवस्थान में दश करोड़ पोतों से यह युक्त है। उसके ऊपर एक करोड़ पर्यन्त तम है"। इन कथनों से भुवन आदि का मान आकलित होता है। यह आगे वर्णित ब्रह्माण्डान्तरवर्त्ती भुवनों के अतिरिक्त भुवन हैं। इस प्रकार संख्याओं का सामञ्जस्य सिद्ध होता है।

इत्याद्युक्तं भुवनादिमानं वक्ष्यमाणब्रह्माण्डान्तर्वर्तिभुवनमानसंख्यातोऽतिरिच्येत—इति तत्संख्याया असामञ्जस्यं स्यात्। ननु यद्येवं तदनन्तस्य

'ब्रह्माण्डमण्डपस्यान्तर्भुवनानि विशोधयेत्।
आदावनन्तभुवनं कौष्माण्डं हाटकेश्वरम्॥
अनन्तभुवनस्यानु कालाग्निभुवनं महत्।
शार्वं ब्राह्मं वैष्णवं च रौद्रं भुवनमुत्तमम्॥
ब्रह्माण्डोदरमध्ये तु अष्टावेते प्रकीर्तिताः।'

इत्यादीनामन्तःस्थितिविधायकानां वाक्यानां कोऽर्थः स्यात्। किं च

'ब्रह्मणोऽण्डस्य शकलं कोटिमात्रं प्रमाणतः।
तदूर्ध्वं कालरुद्रस्तु दशेशानसमन्वितः॥
कोटिमात्रं पुरं तस्य तज्ज्वाला दशकोटयः।
अनन्तोऽधः पद्म ऊर्ध्वे अन्ते तु क्रमशः स्थिताः॥'

तथा

'अधः कालान्तगो रुद्रो दशेशस्थानमध्यगः।
पद्मश्चोर्ध्वमधोऽनन्तस्थान्ये क्रमवर्तिनः॥'

इत्याद्युक्त्या कालाग्निभुवनान्तरेव अस्य भुवनं न तु पृथक्—इति वक्ष्यमाणाया भुवनसंख्याया अपि न किंचिदसामञ्जस्यम्। इह च अनन्तस्य श्रीसिद्धातन्त्रोक्तं भुवनमानं न ग्राह्यमेव,

---

"ब्रह्माण्ड मण्डप के अन्तर्गत आने वाले भुवनों का शोधन करना चाहिये। पहले १–अनन्त, २–कौष्माण्ड, ३–हाटकेश्वर, ४–अनन्त भुवन के पीछे कालाग्नि भुवन, ५–शार्व, ६–ब्राह्म ७—वैष्णव और ८–रौद्र ये ८ ब्रह्माण्डोदर अवस्थित भुवन हैं।"

यहाँ उक्त उद्धरण में भुवनों की स्थिति ब्रह्माण्ड के अन्दर कही गयी है और ऊपर इनकी बाहर स्थिति उक्त है। इसके अतिरिक्त भी,

"ब्रह्माण्ड के खण्ड एक करोड़ हैं। इनके ऊपर कालरुद्र दश ईशानों के साथ विराजमान हैं। इनके एक करोड़ पुर हैं। उनकी ज्वाला दश करोड़ योजन तक पहुँचती हैं। अनन्त अधः पद्म पर व अन्य ऊर्ध्व पद्म पर अवस्थित हैं"। तथा

"अधो भाग में कालाग्निरुद्र दश ईश स्थानों के मध्य में अवस्थित है। पद्म ऊपर और अनन्त नीचे और इसी क्रम से अन्य भुवन हैं"।

'क्रियादिभेदभेदेन तन्त्रभेदो यतः स्मृतः ।
तस्माद्यत्र यदेवोक्तं तत्कार्यं नान्यतन्त्रतः ॥' इति ।

इत्याद्युक्त्या तत्प्रक्रिया भिन्नत्वात् । तथा च इह नरकाणां द्वात्रिंशत्कोटयो मानं तत्रैकविंशतिः, यदुक्तम्

'तस्योर्ध्वं नरका घोरा एकविंशतिकोटयः ।' इति ।

इहापि

'अण्डस्यान्तरनन्त ···· ····।' (८।३९३) इति, तथा
'अष्टावन्तः साकं शर्वेण ··· ···· ····।' (८।३९७) इति च

वक्ष्यमाणं व्याहन्येत—इति किमत्र प्रतिपत्तव्यम् ? इदमत्र प्रतिपत्तव्यं—यदनन्तस्य बहिरवस्थानमिति । तथा हि श्रीतन्त्रराजभट्टारके

ब्रह्माण्डमण्डपान्तर् ···· ···· ···· ···· ····।'

इत्यादिकमनन्तस्य नान्तःस्थितेर्विधायकं, किंत्वेवं शुद्धिक्रमस्य तदवस्थितेः पूर्वमुक्तत्वात्, एतावन्मात्रस्यैवात्र विवक्षितत्वात् । यदुक्तं तत्र

'अतो भुवनदीक्षाख्या शृणु पार्वति तत्त्वतः ।
आदिषट्के पुरा प्रोक्तमेतन्निखिलतो मया ॥
तथापि तव वक्ष्यामि संक्षेपादिह भामिनि ।'

इन उद्धरणों में जो अन्तर दीख पड़ता है, इसका सामञ्जस्य अनुसन्धान का विषय है । कालाग्नि भुवन और अनन्त के अधः पद्म में भी भुवन सम्बन्धी सामञ्जस्य सिद्ध है । इस विषय में सिद्धातन्त्र में कही गयी बात मान्य नहीं की जा सकती क्योंकि "प्रक्रिया की भिन्नता और अनुभूति की भिन्नता से तन्त्रों में भेद हो जाता है । इसलिये सम्प्रदाय-परम्परा के अनुसार लिखित बातें ही मान्य हैं" ।

इसी तरह यहाँ नरकों की ३२ करोड़ संख्या मान्य है और वहाँ केवल २१ करोड़ मान ही उक्त है । तन्त्रालोक ८।३९३ और ८।३९७ के उद्धरणों में अण्ड के अन्तराल में अनन्त और शर्व के साथ भुवनों की मान्यता में अन्तर का अनुसन्धान करके यह निर्णय करना चाहिये कि अनन्त का बाह्य अवस्थान ही तथ्य है । श्री तन्त्रराज भट्टारक में ब्रह्माण्ड मण्डप के आन्तर अवस्थान सम्बन्धी उक्ति से अनन्त की बाह्य अवस्थिति ही सिद्ध है । वहाँ कहा गया है कि,

इत्युपक्रम्य

'तेषां विभागमधुना शृणु वीरेन्द्रवन्दिते।' इति।

तत्र च अस्यादिषट्के बहिरेवावस्थानं विहितम्। यदुक्तम्

'यत्तद्भूम्यण्डकं भाति पीतमम्बुजजन्मनः।
तस्याधोभागगा भान्ति पूर्वदृष्टान्तकारकाः॥
शेषाहिफणमाणिक्यविश्वकर्म्मप्रसादतः ।'(?)

इत्युपक्रम्य

'अनन्तशक्तिचन्द्रांशुपीयूषोर्मिभिरुल्वणैः ।
आलिङ्गितमतश्चोच्चैरप्तत्त्वाधः पथोच्छलत्॥
भुवनं तस्य वीरस्य भात्यनन्तस्य स्वश्रिया।
अनन्तवनितावक्त्रपद्मषण्डसरः सदा॥' इति।

विशेष्य

'ततो हूहुकरुद्रस्य चूडामणिनभ(विव)स्वतः।
त्विषा प्रध्वस्ततिमिरं पुरं वीरगणाकुलम्॥'

इत्यादिना हूहुकरुद्राणां भुवनानि,

'भैरवीयमहारज्जुप्रबद्धानि महेश्वरि।
एतान्यप्सु पुराण्यत्र निभृतानि शिवात्मना॥
लक्षोच्छ्रितानि सर्वाणि सलिलावर्तगानि च।'

"हे पार्वती यह तात्त्विक बात है कि भुवन दीक्षा एक स्वतन्त्र विषय है। यहाँ से वीरेन्द्र वन्दित सम्बोधन तक पहले ६ प्रकरणों में यह चर्चा की गयी है"। वहाँ भी अनन्त का बाह्य अवस्थान ही उक्त है। इस सम्बन्ध में ६ उद्धरण दिये गये हैं, इनमें ब्रह्मा के भूम्यण्ड और उसके अधोभाग में शेष के फणों पर माणिक्य के समान अवस्थित भुवनों, अनन्त शक्ति रूप सोम सुधा से सिक्त अप्तत्त्व से नीचे अनन्त भुवन, हूहुक रुद्र का प्रध्वस्त तिमिर लोक, भैरवीय महारज्जु से प्रबुद्ध लाखों शैव पुरों, १०० करोड़ ब्रह्माण्डों, कटाहों एवम् अन्तर्भुवनों की चर्चा है। इन शास्त्रीय ग्रन्थों का मन्थन कर निर्णय पर पहुँचना आवश्यक है। अन्यथा पूर्वापर कथनों में वदतोव्याघात दोष की प्रतीति होने लगेगी।

इत्यादिना च तेषां देशं मानं चाभिधाय

'समन्ताद्ब्रह्मणोऽण्डं तु शतकोटिप्रविस्तरम् ।
कटाहं च स्मृतं कोटिः शतरुद्रैः समन्वितम् ॥' इति ।

यत्पुनः

'...... ... ... अन्तर्भुवनानि विशोधयेत् ।'

इत्याद्युक्तं तन्मल्लग्रामवद्भूम्ना व्याख्येयम्, अन्यथा हि पूर्वापरव्याघातः स्यात् । एवमत्र अनन्तपूर्वकं शतरुद्रपर्यन्तं भुवनानां शुद्धौ यौगपद्येन तदसंपत्तेः क्रममात्रमेवाभिधित्सितं न त्वन्तर्बहीरूपत्वमपि, यथात्वे तच्छुद्धावविशेषात् । एवं

'एतेषां तु अधस्ताद्व कालाग्निभुवनं ततः ।
हूहुकाश्च तथा देवि ब्रह्माण्डोदरवर्तिनः ॥'

इत्यादावपि व्याख्येयम् । एतच्चोत्तानतयैव गृहीत्वा संग्रहकाराः प्रवृत्ताः—इति तत्र तत्र तथाभ्यधुः, येनास्य अन्तरवस्थाने भ्रान्तिबीजत्वं प्ररूढम् । तथा च सोमशंभुः

'अथ हूहुककालाग्निरुद्रौ हाटक एव च ।
कूष्माण्डश्चाथ शर्वश्च ब्रह्मा विष्णुश्च सप्तमः ॥
रुद्रश्चाष्टाविमे रुद्राः कटाहस्यान्तरे स्थिताः ।' इति ।

गुरुभिरेतन्नाना विकल्पितम्—इति तन्मतप्रदर्शनाशयेन

'अण्डस्यान्तरनन्त ... . ।' (८।३९३) इति,
'अष्टावन्तः साकं शर्वेण .... ।' (८।३९७) इति च

इस तरह अनन्त भुवन से शत रुद्र भुवनों तक क्रम और शुद्धि मात्र दृष्टि में रखना चाहिये । ग्रन्थ में इसी बात पर बल दिया गया है, न कि अन्तर्बहीरूपत्व पर । ब्रह्माण्डोदरवर्ती हूहुक और कालाग्नि भुवनों की चर्चा भी वहाँ है । इनका विशेष अनुसन्धान अखाड़े की बाजी की तरह अपेक्षित है । शास्त्रकारों और संग्रहकार विद्वानों में आन्तर और बाह्य अवस्थान सम्बन्धी उत्तान-स्तरीय भ्रान्ति का बीज बढ़ता रहा है, जिसका अन्तिम निर्णय करना कठिन है । शास्त्र की अनुसन्धित्सा से ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है ।

इस सम्बन्ध में गुरुवर्य सोमशम्भु [सोमानन्द] के विचार महत्त्वपूर्ण हैं । वे "हूहुक, कालाग्नि, हाटक, कूष्माण्ड, शर्व, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ये ८ रुद्र इस कटाह के अन्तर्गत अवस्थित हैं"—यह मानते हैं ।

पुरस्तादिह वक्ष्यति,—इति न पूर्वापरव्याहतत्वम् । यद्वक्ष्यति

अथ सकलभुवनमानं यत्पूर्वं निगदितं निजैर्गुरुभिः ।
तद्वक्ष्यते समासाद् बुद्धौ येनाशु संक्रामेत् ॥' (८।३९२) **इति ।**

यत्तु कालाग्निभुवनान्तरेवास्य भुवनं न पृथक्—इत्युक्तं तदयुक्तम्; अयं हि हूहुकरुद्राधिपतेर्बहिरवस्थितात् पृथक्शोध्यादनन्तात् कालाग्नेर्भुवनान्तर्वर्ती तत्परिवारभूतोऽन्यः । एतस्यैव हि तत्त्वे पृथक्शोध्यत्वमनभिधानीयं, कालाग्नि-रुद्रशुद्ध्यैव तच्छुद्धेः, अन्यथा पद्मादीनामपि तदापतेत्,—इति अन्तरनेके रुद्राः शोधनीयाः स्युः,—इति वृत्तावष्टोत्तरादपि शतादधिकानि प्रसज्येरन् । एवमन्यैश्च यदस्य बहिर्देशावस्थानेऽपि अधःस्थशतरुद्रदशकान्यतरत्वमुक्तं तदप्युक्तम्; एवं हि अस्य तन्मध्यपाठेनैव गतार्थत्वादादितरमेव पृथगभिधानं स्यात् । यच्च श्रीसिद्धातन्त्रोक्तं भुवनमानमिह न ग्राह्यम्,—इत्युक्तं तदप्ययुक्तम्; यतो यदि नाम नरकादिवदनन्तभुवनस्येह मानं किंचिदुच्येत तत्प्रक्रियाभेदादन्यतन्त्रोक्तम-ग्राह्यमेव, इति स्यात् । भुवनस्य मानमवश्यंभावि, तच्चेह नोक्तम्,—इति तदाकाङ्क्षायामेव अवश्यमेवान्यतः कुतश्चिदपेक्षणीयम्,—इति को नाम श्रीसिद्धा-तन्त्रे प्रद्वेषः । यद्वा श्रीतन्त्रराजभट्टारकेऽपि अस्य लक्षोच्छ्रितत्वमुक्तम्,—इति तदपेक्ष्यतां, को नाम नो निर्बन्धः, यावता हि अस्माकमन्तर्भुवनमानसंख्याया आसमञ्जस्यमभिधानीयं तच्च उभयथापि सिद्ध्येत्,—इत्यलं बहुना । 'कटाहरुद्राणाम्' इति कटाहाधोवर्तिनां हूहुकरुद्राणाम्; अतश्च तच्छुद्ध्यैव एतच्छुद्धिर्भवेदिति भावः । यदुक्तम्

'तेन शुद्धेन शुद्धानि त्वण्डान्यत्रोहकैः सह ।' (**स्व० १०।६**) इति ।

श्रीतन्त्रालोक कारिका ८।३९३ और ८।३९७ में इस तथ्य को कई प्रकार से व्यक्त किया गया है । ८।३९२ मे यह स्पष्ट ही कहा गया है कि "समस्त भुवनों का मान जिसे पूर्वाचार्यों ने व्यक्त किया है, उसे ही संक्षेप में यहाँ व्यक्त करूँगा, जिससे बुद्धि में शीघ्र ही यह संस्कारतः दृढ हो बैठ जाय" ।

उक्त विश्लेषण से कालाग्नि रुद्र और अनन्त की अवस्थिति विषयक बात स्पष्ट हो जाती है । हूहुक रुद्र से बाहर पृथक् शोध्य अनन्त अलग हैं और कालाग्निरुद्र भुवनान्तर्वर्त्ती अनन्त अलग हैं । इसकी शुद्धि कालाग्नि रुद्र की शुद्धि से ही सम्पन्न होतो है । इसके विपरीत दूसरी मान्यताओं से सारी स्थिति ही परस्पर उलझ कर रह जायेगी । सिद्धातन्त्र और तन्त्रराज भट्टारक की बातों में

एवमुत्तरत्रापि तत्तद्भुवनेश्वरद्वारेणैव तत्तद्भुवनशुद्धिरिति मन्तव्यम्। यदुक्तम्

'न तत्र दुःखितः कश्चिन्मुक्त्वा दुःखमनङ्गजम्।
रमन्ते तत्र वै वीरा नारीभिः सह लीलया ॥' (स्व० १०।८)इति।

पोतारूढ इति, यदुक्तम्

'अनन्तः संस्थितोऽधस्तात्पोतारूढो जलान्तरे।' इति।

मद्यपानविघूर्णित इति, यदुक्तम्

'महापानरतः श्रीमान्महामत्तः सदाम्भसि।' इति।

भैरवं ध्यायन्नित्यनेन अस्य तदेकप्रवणतया

'भुवनेश त्वया नास्य साधकस्य शिवाज्ञया।
प्रतिबन्धः प्रकर्तव्यो यातुः पदमनामयम् ॥' (मा० वि० ९।६४)

इत्यादि तदाज्ञानुविधायित्वमस्ति,—इति प्रथमत एव सर्वाक्षेपेण प्रकाशितम्। नागैरिति, यदुक्तम्

'पद्मश्चैव महापद्मः शङ्खपालोऽथ वज्रिणः।
कार्कोटश्च निषादश्च कम्बलाश्वतरावुभौ ॥
एभिश्चैव महानागैः समन्तात्परिवारितः ॥' इति।

एवं च स्वयमपि नागरूपत्वमेव, इति सिद्धम्। यदुक्तम्

'ऊर्ध्वबाहुर्महाकायो नागरूपी महाबलः।
फणानां तु सहस्रेण धारयित्वा जगत्स्थितः ॥ इति।

अत एव श्रीतन्त्रराजभट्टारके शेषाहित्वेनायमुक्तः ॥२१॥

हमारा कोई विद्वेष या झुकाव नहीं है। हमारा दृष्टिकोण सामञ्जस्यपूर्ण शुद्धि का है। स्व० १०।६ से भी शुद्धि विषयक निश्चय होता है। भुवनेश्वरों से भुवनशुद्धि स्वाभाविक रूप से होती है। अनङ्गज दुःख मुक्त वीर वहाँ रमण करते हैं।

श्लोक २१ में वर्णित पोतारूढ अनन्त महामत्त मद्यपान-विघूर्णित और आठ महानागों से आवृत भैरव शब्दों के द्वारा जिस वैशिष्ट्य का बोध होता है, सबका समर्थन स्वच्छन्द तन्त्र १०।८ और मालिनी वि० ९।६४ के उद्धरणों से हो जाता है। श्री तन्त्रराज भट्टारक में तो नाग से आवेष्टित ही नहीं अपितु स्वयम् उसकी नागरूपता का भी उल्लेख है। वहाँ "ऊर्ध्वबाहु, महाकाय, महाबली हजार फणों से युक्त नागरूपी भैरव" का भी वर्णन किया गया है ॥ १९-२१ ॥

इदानीं ब्रह्माण्डस्यान्तर्भुवनानि वक्तुमुपक्रमते

कालाग्नेर्भुवनं चोर्ध्वे कोटियोजनमुच्छ्रितम् ॥ २२ ॥

लोकानां भस्मसाद्भावभयान्नोर्ध्वं स वीक्षते ।

ऊर्ध्वं इत्यर्थात् कटाहस्य, स च कोटियोजनानां घनः । यद्वक्ष्यति

'अधश्चोर्ध्वं कटाहोऽण्डे स घनः कोटियोजनः' (स्व० १०।१६२) इति नोर्ध्वं स वीक्षते इति, यदुक्तम्

नोर्ध्वं निरीक्षते देवो मेदं भूद् भस्मसाज्जगत् । इति ।

अत एवास्योर्ध्ववक्त्रमनुन्मीलितम्–इति चतुर्वक्त्रत्वमेव सर्वत्रोक्तम् । यदुक्तम्

त्रिनेत्रः स चतुर्वक्त्रो वह्निज्वालावलीधरः ।' इति ॥ २२ ॥

ननु

यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वमिष्यते (मा० वि० २।६०)

इत्याद्युक्त्या नरकोर्ध्वमस्यावस्थानं युक्तं, तत् कथं तदध उक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

स च व्याप्तापि विश्वस्य यस्मात्प्लुष्यन्निमां भुवम् ॥ २३ ॥

नरकेभ्यः पुरा व्यक्तस्तेनासौ तदधो मतः ।

उक्तं च प्राक्

'निरयेभ्यः पुरा कालवह्नेर्व्यक्तिर्यतस्ततः ।

विभुरप्येष तदधः .... ॥' (६।१४२) इति ॥ २३ ॥

अब यहाँ ब्रह्माण्ड के अन्तर्वर्त्ती भुवनों के वर्णन का उपक्रम कर रहे हैं—

कालाग्नि का भुवन कटाह के ऊपर अवस्थित है। वह एक करोड़ योजन ऊँचा है। अन्य लोक उसकी दृष्टि से भस्म न हो जाँय, इससे वह ऊपर नहीं देखता। स्व० १०।१६२ के अनुसार वह 'घन' है। इससे वह चतुरानन रूप से मान्य है। पाँचवाँ ऊर्ध्व मुख अभी खुला ही नहीं, बन्द है। उसे "वह्नि ज्वाला से आवृत चतुर्वक्त्र और त्रिनेत्र भी कहते हैं" ॥ २२ ॥

'जो जिससे गुणों में बड़ा होता है, वही ऊपर माना जाता है।' मा० वि २।६० की इस उक्ति के अनुसार नरक के ऊपर इसकी अवस्थिति होनी चाहिये। यहाँ उसके नीचे कैसे लिखा गया है ? इसका समाधान कर रहे हैं—

दश कोटचो विभोर्ज्वाला तदर्धं शून्यमूर्ध्वतः ॥ २४ ॥
तदूर्ध्वे नरकाधीशाः क्रमाद्दुःखैकवेदनाः ।
अधो मध्ये तदूर्ध्वे च स्थिता भेदान्तरैर्वृताः ॥ २५ ॥
अवीचिकुम्भीपाकाख्यरौरवास्तेष्वनुक्रमात् ।
एकादशैकादश च दशेत्यन्तः शराग्नि तत् ॥ २६ ॥
प्रत्येकमेषामेकोना कोटिरुच्छ्रितिरन्तरम् ।
लक्षमत्र खवेदास्य संख्यानामन्तरा स्थितिः ॥ २७ ॥
कूष्माण्ड ऊर्ध्वे लक्षोनकोटिस्थानस्तदीशिता ।

'तदर्धं' पञ्च कोटयः । 'शून्यं' धूमोष्मादिभयाज्जनरहितम् । यदुक्तम्

'अस्योपरिष्टाद्देवेशि पञ्च कोटचो वरानने ।
न कश्चिन्निवसत्यत्र धूमोष्मपरितापितः ॥' (स्व० ०।३०) इति ।

'तदूर्ध्वे' शून्योपरि । अनुक्रमादिति संहारात्मनः, तेन रौरवे कुम्भीपाके चैकादशान्तर्भवन्ति अवीचौ च दश,—इत्यात्मना सह तन्नरकत्रयं 'शराग्नि' पञ्चत्रिंशत्संख्यावच्छिन्नं भवतीत्यर्थः । यदुक्तम्

श्लोक ६।१४२ के अनुसार पहले ही कालाग्नि रुद्र का वर्णन किया गया है। इस आधार पर यह नरकों के नीचे कहा गया है। इसमें अपनी ज्वालाओं से जगत् को जला डालने की क्षमता है और अन्य निरयों से पहले व्यक्त है ॥२३॥

स्वच्छन्द तन्त्र १०।८१-९० में नरकों का विशद वर्णन है। उनकी स्थिति के सन्दर्भ में नरकों के ऊपरी परिवेश की प्रस्तावना में कह रहे हैं कि विभु की ज्वाला दश करोड़ योजन के अन्तराल में फैली हुई है। उसके ऊपर शून्य लोक है। स्व १०।३० के अनुसार इसमें ऊष्मा का धूम व्याप्त है। परिणामतः इसमें जीवन का अभाव है। इसका परिवेश ५ करोड़ योजन है। इसके ऊपर नरकों के अधीश्वरों का निवास है। वहाँ केवल दुःखों का संवेदन होता है। नीचे, मध्य में और ऊपर अनेक भेदों से भिन्न नरकों में १-अवीचि, २-कुम्भीपाक और ३—रौरव मुख्य हैं। अवीचि के अन्तराल में १० नरक, कुम्भीपाक में ग्यारह और रौरव में भी ग्यारह नरक हैं। कुल मिलाकर (१०+११+११+३) के क्रमयोग से इनकी संख्या ३५ होती है। विवरण इस प्रकार है—

'नरकैकादशगतमवीचि शोधयेत्प्रिये ।
आत्मना द्वादशं देवि कुम्भीपाकं विशोधयेत् ॥
महारौरवसंज्ञं चाप्येवमेव विशोधयेत् ।
पञ्चत्रिंशत्प्रवक्ष्यामि समासेन वरानने ॥
अवीचिः कृमिनिचयो नदी वैतरणी तथा ।
लोहश्च शल्मलिश्चैवाप्यसिपर्वत एव च ॥
सोच्छ्वासश्च निरुच्छ्वासः पूतिमासपरस्तथा ।
तप्तत्रपुः क्षारकूपो जतुलेपस्तथैव च ॥
अन्तर्भूता अवीचौ तु कुम्भीपाकस्य श्रूयताम् ।
अस्थिभङ्गः क्रकचच्छेदकूपश्चापि कटङ्कटः ॥
वसामिश्रो ह्ययस्तुण्डस्त्रपुलेपश्च कीर्तितः ।
कुम्भीपाकश्च विज्ञेयस्तीक्ष्णासिश्च तथैव च ॥
तप्तलोहश्च विज्ञेयः क्षुरधारपथस्तथा ।
अशनिश्च सुतप्तश्च द्वादशैते प्रकीर्तिताः ॥
एकादशान्तर्विज्ञेयाः कुम्भीपाकस्य दारुणाः ।
महारौरवराजे च अत ऊर्ध्वं निबोध मे ॥
कालसूत्रो महापद्मः कुम्भः संजीवनेक्षुकौ ।
पाशोऽम्बरीशकश्चैव अयः पट्टस्तथैव च ॥
दण्डयन्त्रस्त्वमेध्यश्च घोररूपस्तथापरः ।
महारौरव एतेषामुपरिष्टाद्व्यवस्थितः ॥' (स्व० १०।८१-९०) इति ।

'एषाम्' इति त्रयान्तर्भूतानां द्वात्रिंशतो नरकाणाम् 'एकोना कोटिः' इति नवनवतिर्लक्षाणि । 'अन्तरम्' इति प्रत्येकं शून्यरूपं, तेन द्वात्रिंशत् कोटयः । तत्र सचत्वारिंशच्छतं प्रधानं, तत्रापि द्वात्रिंशत्, तत्रापि त्रयमित्युक्तं स्यात् । यदुक्तम्

१—अवीचि—कृमिनिचय, लोह, शाल्मलि, असिपर्वत, सोच्छ्वास निरुच्छ्वास, पूतिमांस, तप्तत्रपु, क्षार कूप, जतुलेप ।

२—कुम्भीपाक—तप्तलोह, क्षुरधारपथ, अशनि, सुतप्त, अस्थिभङ्ग, क्रकच, छेदकूप, कटङ्कट, वसामिश्र, अयस्तुण्ड और त्रपुलेप ।

३—रौरव—कालसूत्र, महापद्म, कुम्भ, संजीवन, इच्छुक, पाश, अम्बरीष अयःपट्ट, दण्डयन्त्र, अमेध्य और घोररूप ।

'अतः परं वरारोहे नरकाः परिकीर्तिताः ।
पञ्चाशत् कोटयो देवि…………… ………… ॥' (स्व० १०।३१) इति ।

तथा

'तेषु मध्ये शतं चत्वारिंशाधिकं प्रिये ।
तेषामपि वराश्चान्ये द्वात्रिंशन्नरकाधिपा ॥
राजराजेश्वरास्त्रीणि……………………… ॥' इति ।

एवमुपदेशे च अयमाशयी--यत् दीक्ष्यस्य पापभूयस्त्वे तारतम्येन निश्चिते वितत्य नरकाणां शुद्धिः, अन्यथा तु संक्षेपेणेति । ऊर्ध्वं इति, नरकाणाम् ॥२७॥

नन्वेवंविधेषु नरकेषु के नाम वसन्ति, के वा न ? इत्याशङ्क्याह

शास्त्रविरुद्धाचरणात् कृष्णं ये कर्म विदधते ॥ २८ ॥
तत्र भीमैर्लोकपुरुषैः पीड्यन्ते भोगपर्यन्तम् ।
ये सकृदपि परमेशं शिवमेकाग्रेण चेतसा शरणम् ॥२९॥
यान्ति न ते नरकयुजः कृष्णं तेषां सुखाल्पतादायि ।

'शास्त्रविरुद्धाचरणात्' इति विहितस्याकरणात् निषिद्धस्य च करणात् । सुखाल्पतादायीति, प्रमादादपरिनिष्पन्नत्वात् । तदुक्तम्

इस तरह तीन मुख्य नरकों के अन्तर्गत ३२ नरक होते हैं। इनकी अवान्तर संख्यायें ९९ लाख हैं। इस प्रकार ३२ करोड़ ९९ लाख का मान होता (द्रष्टव्य स्व०) है। स्व० १०।३१ में भी इनकी चर्चा है। उसके अनुसार इनकी संख्या ५० करोड़ है। १०+५+३२+३ मिलकर इतनी (५०) संख्या होती है। इनमें १४० प्रधान ३२ राजा और ३ राज राजेश्वर हैं।

इस विवरण का मुख्य लक्ष्य यह है कि जिसे दीक्षा दी जाय, वह अपने को इनसे बचकर रहने के प्रति सचेत हो जाय। पाप रहने पर शुद्धि के माध्यम से इनका शोधन करे ॥ २४–२७ ॥

नरक निवास के सम्बन्ध में शिष्य की जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

शास्त्रों के निर्देशों के विरुद्ध जो अनुचित और हीन कार्य करते हैं, वे वहाँ निवास करते हैं। भोग की अवधि तक वहाँ के भयङ्कर लोक-पुरुष इनको बहुत पीडित एवं ताडित करते हैं।

'एतेऽतिघोरा नरकास्त्रिकोणाः परिकीर्तिता।
असत्कर्मरतानां तु प्राणिनां पातनाय वै॥
निस्त्रिंशकर्मकर्तॄणां शठानां पापकर्मणाम्।
निर्दयाधमजातीनां परहिंसारतात्मनाम्॥
परदाररतानां च शिवशास्त्रस्य दूषिणाम्।
देवद्रव्यापहाराणां ब्रह्मघ्नपितृघातिनाम्॥
गोघ्नानां च कृतघ्नानां मित्रविस्रम्भघातिनाम्।
सुवर्णभूमिहर्तॄणां शौचाचारनिवर्तिनाम्॥
दयादाक्षिण्यहीनानां पैशुन्यानृतचेतसाम्।
नरकाश्च समाख्यातास्त्वकर्मपथवर्तिनाम्॥
शुभकर्मरता लोका नरके न पतन्ति हि।
तत् समासेन वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥
सत्यं क्षान्तिरहिंसा च शौचं स्नानमकल्कता।
दयालौल्यं च यस्यासौ नरकान्नाधिगच्छति॥
शान्तो दान्तः सुहृष्टात्मा त्वनहंकारवान्समः।
अद्रोही चानसूयश्च परैश्वर्ये च निःस्पृहः॥

जो पुरुष एकाग्र चित्त आर्त्त अनन्य भाव से सर्वशक्तिमान् परमेश्वर शिव की शरण में जाते हैं, वे नरक में निवास नहीं करते। उनके पूर्वकृत कृष्ण-कर्मों से भी उन्हें इतनी पीड़ा नहीं होती। शास्त्र विरुद्ध कृत्य का तात्पर्य विहित कार्यों का आचरण न करने और निषिद्ध कार्यों के करने से है। स्वच्छन्द तन्त्र में ही कहा गया कि,

"ये नरक अत्यन्त घोर और तिकोने हैं। असत्कर्म करने वाले जीव नरक में पतित होते हैं। क्रूर शठ, पापी, निर्दय, अधम-स्वभाव, हिंसक, परस्त्री-गामी, शैवशास्त्र विरोधी, देवताधन के चोर, ब्रह्मघाती, पितृहन्ता, गोघाती, कृतघ्न, मित्रवंचक, सोनाचोर, भूमिहर, शौच-आचार से रहित, दया हीन, दाक्षिण्य रहित, पिशुन, झूठे और कुपद कुपथ-गामो नरक में गिरते हैं।

सदाचारी नरक में नहों पड़ते। सच्चे, क्षान्त, अहिंसक, शुचि, कान्त दयालु, शान्त, दान्त, प्रसन्न आत्म, निरहंकारो, अद्रोही, अनसूय, निस्पृह

अमात्सर्यममानित्वं शिवभक्तिरचापलम् ।
जपध्यानरतिः स्थैर्यं कार्पण्यस्य च वर्जनम् ।।
व्रतानि नियमाश्चैव स्वाध्यायश्च त्रिसन्ध्यता ।
सर्वत्र श्रद्धानत्वमार्जवं ह्रीर्मनस्विता ।।
ओजः प्रशान्तिः संतोषोऽप्रियवाक्यविवर्जनम् ।
परीक्ष्यकारिता नित्यं मनोऽहंकारनिग्रहः ।।
अदम्भित्वममानित्वमकल्को ज्ञानशीलता ।
पितृदेवार्चने भक्तिर्गोब्राह्मणशरण्यता ।।
अग्नौ होमो गुरौ दानं ज्ञानिनां पर्युपासनम् ।
एकान्ते च रतिर्ध्यानमात्मन्येव च तुष्टता ।।
अव्यापारः परार्थेषु औदासीन्यमनागसः ।
अक्रोधित्वमनालस्यमिति धर्माः प्रकीर्तिताः ।।
यस्त्वेतान्भजते धर्मान् सोऽमृतत्वाय कल्पते ।
नश्यन्ति पौरुषाः पाशा येऽप्यनन्ताः प्रकीर्तिताः ।।
शिवाचाररतानां तु धार्मिकाणां हि देहिनाम् ।
तस्मादेवं तु विज्ञाय मनो धर्मे नियोजयेत् ।।
यस्य चित्तमसंभ्रान्तं निर्विकल्पमकल्मषम् ।
स याति परमांल्लोकान्नरकांश्च न पश्यति ।।

मत्सर रहित, अमानी, शिवभक्तिरत, स्थिर, जप ध्यानरत, अकृपण, व्रती, संयमी, स्वाध्यायी, त्रिसन्ध्याकारी, श्रद्धालु सरल, शीलवान मनस्वी, ओजस्वी, प्रशान्त, सन्तोषी, प्रियवादी, विवेकी, दमी, निग्रही, दम्भरहित, अमानी अकल्की, ज्ञानी, पितृदेवार्चनकारी, गो ब्राह्मणभक्त याज्ञिक, गुरुभक्त, दानशील, ज्ञानिजन सेवक, एकांतवासी, ध्यानी, आत्मतुष्ट दूसरे के धन पर व्यापार न करनेवाला, उदासीन, निष्पाप, अक्रोधी, स्फूर्त्त, इनके उक्त गुण धर्म कहे जाते हैं। जो इनका आचरण करते हैं, वे अमृत पुत्र होकर जीवित रहते हैं। पौरुष पाश को छिन्न करने वाले पुरुष भी अनन्त और अमृत हो जाते हैं। शैव आचार में रत, धार्मिक पुरुषों की इस सरणी के अनुसार आचरण करना चाहिये। अपने मन का नियोग धर्म में करना चाहिये। जिनके चित्त शान्त

यस्य बुद्धिरसंमूढा सर्वभूतेष्वपातकी।
अकल्कवान्सत्यवान्यो नरकान् स न पश्यति ॥
(स्वच्छन्दतन्त्र १०।५३-७१) इति ॥२९॥

सहस्रनवकोत्सेधमेकान्तरमथ क्रमात् ॥ ३० ॥
पातालाष्टकमेकैकमष्टमे हाटकः प्रभुः।

सहस्रशब्दसंनिधेरेकं सहस्रं, तदेषामशीतिसहस्राणि मानं सिद्धम्। पातालाष्टकमिति, यदुक्तम्

'आभासं वरतालं च शार्करं च गभस्तिमत्।
महातलं च सुतलं रसातलमतः परम् ॥
सौवर्णमष्टमं ज्ञेयं सर्वकामसमन्वितम्।' (स्व० १०।९६) इति।

अष्टम इति, सौवर्णाख्ये। यदुक्तम्

'तदूर्ध्वं चैव सौवर्णं पातालं परिकीर्तितम्।
तत्रावसत्यसौ देवो हाटकः परमेश्वरः ॥' (स्व० १०।११६) इति।

यद्यपि चात्र पातालसप्तके

'त्रयोऽसुरास्तथा नागा राक्षसाश्चाविभागतः।
एकैकत्र च पाताले कथितास्ते वरानने ॥
पातालसप्तके ज्ञेयास्तथान्ये भुवनाधिपाः।
बलो ह्यतिबलश्चैव बलवान्बलविक्रमः ॥
सुबलो बलभद्रश्च बलाध्यक्षश्च कीर्तिताः।' (स्व० १०।११४)

इत्याद्युक्त्या प्रत्येकं पृथक् भुवनाधिपाः संभवन्ति, तथाप्येषां

स्थिर, निर्विकल्प और अकल्मष हो जाते हैं, वे प्रकाशमान लोकों में जाते हैं! उन्हें नरक के दर्शन नहीं होते। सचेत जागरूक, सभी लोगों के प्रति शुद्ध, अकल्की और सत्यवादी पुरुष नरक नहीं देखते ॥ २८-२९ ॥

नरकों की कुल संख्या ८० हजार भी मान्य है। ९९ हजार की संख्या श्लोक २७ में आती है। इसमें से १९ हजार के ऊष्मा प्रधानों को छोड़ देने से ८० हजार की संख्या आती है। आठ पाताल लोकों का वर्णन भी शास्त्र में है। स्व० १०।९६ के अनुसार "आभास, वरताल, शर्कर गभस्तिमान्, महातल, सुतल, रसातल और सौवर्ण नामक ये आठ पाताल हैं।

'हाटकेन विशुद्धेन सर्वेषां शुद्धिरिष्यते ।'

इत्याद्युक्त्या हाटकरुद्रशुद्ध्यैव शुद्धिः, इत्यानर्थक्यादिह तदुपदेशो न कृतः ॥ ३० ॥

अस्य चैवमभिधाने किं निमित्तमित्याशङ्क्याह

प्रतिलोकं नियुक्तात्मा श्रीकण्ठो हठतो बहूः ॥ ३१ ॥
सिद्धीर्ददत्त्यसावेवं श्रीमद्रौरवशासने ।

'सिद्धीः' इति सालोक्यादिरूपाः । यदुक्तं तत्र

'प्रतिलोके नियुक्तात्मा श्रीकण्ठो भगवानसौ ।
करोति हाटको भूत्वा पातालद्वारपालनम् ॥
हठेन भङ्क्त्वा यन्त्राणि पातालेषु महोदयाः ।
सिद्धीरभ्यस्तसन्मन्त्रान् साधकांल्लम्भयत्यसौ ॥' इति ॥३१॥

नन्वसावेवं सिद्धीः केषां ददातीत्याशङ्क्याह

व्रतिनो ये विकर्मस्था निषिद्धाचारकारिणः ॥ ३२ ॥
दीक्षिता अपि ये लुप्तसमया न च कुर्वते ।

इनमें सौवर्ण पाताल में परमेश्वर 'हाटक' शिव रहते हैं। शेष सात पातालों में आसुर, नाग और राक्षस-निवास हैं। इनके बल, अतिबल; बलवान्, बलविक्रम, सुबल, बलभद्र और बलाध्यक्ष ये सात भुवनेश्वर हैं। सौवर्णेश्वर हाटक से इनकी शुद्धि होती है ॥ ३० ॥

आगम प्रामाण्य से उक्त वर्णन और इनकी उपयोगिता का समर्थन कर रहे हैं—

रौरव शास्त्र के अनुसार श्रीकण्ठ शिव ही इन लोक स्वामियों की नियुक्ति करते हैं। उनकी जानकारी से स्वात्म परिष्कार होता है और व्यक्ति सिद्धि पा सकते हैं। रौरव तन्त्र के अनुसार "भगवान् श्री कण्ठ ने सबको अपने दायित्व पूर्ण करने के लिये नियुक्त किया है। वही हाटकेश्वर भी बनते और सौवर्ण में रहते हुए पाताल-द्वार का पालन करते हैं। इनकी कृपा से पातालीय यन्त्रणातन्त्र का त्रोटन और साधकों को सिद्धि प्राप्त होती है। अर्थात् वही सिद्धि प्रदाता शिव हैं ॥ ३१ ॥

प्रायश्चित्तांस्तथा तत्स्था वामाचारस्य दूषकाः ।। ३३ ।।
देवाग्निद्रव्यवृत्त्यंशजीविनश्चोत्तमस्थिताः ।
अधःस्थगारुडाद्यन्यमन्त्रसेवापरायणाः ।। ३४ ।।
ते हाटकविभोरग्र किङ्करा विविधात्मकाः ।।

विकर्मस्थत्वे निषिद्धाचारकारित्वं हेतुः। लुप्तसमया इति, चण्डद्रव्यादिसंस्पर्शात्। अत एव प्रायश्चित्ताकरणाद्भ्रष्टदीक्षाफलाः। यदुक्तम्

'प्रायश्चित्तमकुर्वाणो मन्त्री विधिविलङ्घने।
सिद्धिभ्रंशमवाप्नोति··········· ··· ··· ··· ।।' इति।

'तत्स्था' इति वामाचारनिष्ठाः, तेन तत्कारिणस्तद्द्वेषिणश्च,—इत्युक्तं स्यात्। तेषामेव च विशेषणं 'देवेत्यादि'। अन्येषां हि एवं नारकित्वमेव भवेत्। यथोक्तम्

'यदीच्छेन्नरकं गन्तुं सपुत्रपशुबान्धवः।
देवेष्वधिकृतिं कुर्याद् गोषु च ब्राह्मणेषु च ।। इति।

'उत्तमस्थिता' इति

'वेदादिभ्यः परं शैवम् ····· ····· ··· ····· ।'

इत्याद्युक्तेः, ऊर्ध्वोर्ध्वशासनस्थाः। 'विविधात्मका' इति तत्तत्कर्मानुसारेणोत्तमादिभिन्ना इत्यर्थः। एतच्चैषां निःष्यन्दफलवत् न तु साक्षात्। तथात्वे हि

'ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या शूद्रा वा वीरवन्दिते।
आचार्यत्वे नियुक्ता ये ते सर्वे तु शिवाः स्मृताः।।

सिद्धि के उन अधिकारियों की चर्चा कर रहे हैं जिन्हें वे प्रार्थना करने पर सिद्धियाँ प्रदान करते हैं—

जो व्रती पुरुष निषिद्ध आचारों के आचरण में प्रवृत्त हैं, उन्हें विकर्म में ही स्थित मानते हैं। यद्यपि वे दीक्षा प्राप्त हैं। फिर भी वे समयाचार का पालन नहीं करते। प्रायश्चित्त न करने से उनकी दीक्षा भी दूषित हो चुकी होती है, उनको सिद्धियाँ भी असिद्ध हो जाती हैं। ऐसे लोग कृपा की प्रार्थना पर सिद्धि प्राप्त करते हैं।

इनके अतिरिक्त जो शाक्त होते हुए भी शाक्त सिद्धान्त की निन्दा करते हैं, ऐसे वामाचार निन्दक, देव, अग्नि, द्रव्य और वृत्ति के माध्यम से जो अंशजीवी

अन्यथा प्राक्स्वरूपेण ये पश्यन्ति नराधमाः ।
नरके ते प्रपच्यन्ते साद्वाब्दं वत्सरत्रयम् ॥' (स्व-४।४११) इति ।

तथा

'प्राग्जात्युदीरणाद्देवि प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ।
दिनत्रयं तु रुद्रस्य पञ्चाहं केशवस्य च ।
पितामहस्य पक्षैकं नरके पच्यते तु सः ॥ (स्व-४।५४२)

इत्यादिश्रुतिविरोधः स्यात् ॥ ३४ ॥

एवं भोगोपरमे पुनरेषां किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

ते तु तत्रापि देवेशं भक्त्या चेत्पर्युपासते ॥ ३५ ॥
तदीशतत्त्वे लीयन्ते क्रमाच्च परमे शिवे ।
अन्यथा ये तु वर्तन्ते तद्भोगनिरतात्मकाः ॥ ३६ ॥
ते कालवह्निसंतापदीनाक्रन्दपरायणाः ।
गुणतत्त्वे निलीयन्ते ततः सृष्टिमुखे पुनः ॥ ३७ ॥
पात्यन्ते मातृभिर्घोरयातनौघपुरस्सरम् ।
अधमाधमदेहेषु निजकर्मानुरूपतः ॥ ३८ ॥

हैं, शैवाचार में रत साधक होकर भी निम्न श्रेणी के गारुड आदि मन्त्रानुसार सेवा में परायण हैं, ऐसे अनियन्त्रित मनमाने विचारों के लोग उन लोकों में जाते हैं। हाटकेश्वर की आराधना से उनके इन किंकरों का उद्धार हो जाता है। दीक्षा के बाद प्रग्जाति का स्मरण नरक प्रद है। यहाँ चारों वर्ण आचार्यत्व योग्य हैं और शिव रूप हैं। अतएव समान हैं। स्व० तन्त्र के चतुर्थ आह्निक ४११ और ५४२ श्लोकों से भी इसका समर्थन होता है ॥ ३२-३४ ॥

हाटकेश्वर लोकों के भोग की समाप्ति पर इनकी क्या गति होती है ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

वे वहाँ भी देव देव भगवान् शिव की भक्ति पूर्वक उपासना करते हैं। परिणाम स्वरूप ईश तत्त्व में विलय होने की प्रक्रिया से परिचित हो जाते हैं। अभ्यास करते करते वे परम शिव में लीन हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जो उन लोक-लब्ध भोगों में उलझ जाते हैं, वे कालवह्नि के संताप से संतप्त होकर बहुत ही आर्त्त और आक्रन्दन करने के लिये विवश हो जाते हैं। वे गुण तत्त्व में विलीन होते हैं। तदनन्तर सृष्टि की उन्मुखता में मातृ शक्तियों द्वारा घोर

मानुषान्तेषु तत्रापि केचिन्मन्त्रविदः क्रमात् ।
मुच्यन्तेऽन्ये तु बध्यन्ते पूर्वकृत्यानुसारतः ॥ ३९ ॥
इत्येष गणवृत्तान्तो नाम्ना हुलहुलादिना ।
प्रोक्तं भगवता श्रीमदानन्दाधिकशासने ॥ ४० ॥
पातालोर्ध्वं सहस्राणि विंशतिर्भूकटाहकः ।
सिद्धातन्त्रे तु पातालपृष्ठे यक्षीसमावृतम् ॥ ४१ ॥
भद्रकाल्याः पुरं यत्र ताभिः क्रीडन्ति साधकाः ॥

'देवेशम्' इति हाटकम् । 'अन्यथा' इति तत्पर्युपासावैमुख्येन । 'मातृभिः' इत्यपराशक्तिभिः । यदुक्तम्

'विषयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून् ।
याः समालिङ्ग्य रुद्राणून् घोरतर्योऽपराः स्मृताः ॥' (मा०वि०३।३२)

इति । 'तत्रापि' इति मानुषत्वे । तद्धीना [अन्ये] इत्यमन्त्रविदस्तत्तत्स्वकर्मौचित्येन तत्तज्जात्याद्यनुभवन्तीत्यर्थः । न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह 'प्रोक्तमित्यादि' । यदुक्तं तत्र

'मातङ्गा हुलहुलाश्चान्ये हेतुका दिव्यरूपिणः ।
कापालिकाश्च कङ्काला महोच्छुष्माश्च शोभनाः॥'

इत्युपक्रम्य

'एवं संख्याविहीनास्तु महाचण्डेश्वरेरणात् ।
चण्डद्रव्यविलुप्तास्तु दीक्षिताः शिवशासने ॥
चण्डद्रव्येण जीवन्ति ते स्मृता ब्रह्मराक्षसाः ॥' इति ।

यातना से भरे अधम शरीरों में अपने कर्मों के अनुसार भेज दिये जाते हैं। मनुष्य का शरीर महत्त्वपूर्ण शरीर है । इस शरीर में भाग्यवश यदि मन्त्रों की सविधि जानकारी हो जाती है, तो उनके प्रभाव से उनका छुटकारा हो जाता है । शेष अपने कृत्यों के अनुसार ही बन्धन प्राप्त करते हैं ।

"श्रीमदानन्दाधिक शास्त्र में हुलहुल आदि दिव्य देव, बाह्य शक्तियों द्वारा कार्य सम्पादन करते हैं । इनके इस उत्तरदायित्व को गणवृत्तान्त कहते हैं । इनके मातङ्ग, हुलहुल, कापालिक, कङ्काल, और महोच्छुष्म इन नामों का उल्लेख वहाँ किया गया है ।

तथा

'रमन्ते विविधैर्भोगैस्तेऽपि पातालवासिनः ।
पाताले भूतराजानो भवन्ति बलदर्पिताः ॥' इति ।

'भूकटाहक' इति मनुष्याधारभूः । एवमियदन्तं ब्रह्माण्डस्यार्धं, तत्कटाहः कोटिः, कालाग्निपुरं कोटिः, तज्ज्वाला दशकोटयः, धूमः पञ्च, नरका द्वात्रिंशत्, कूष्माण्डपुरं नवनवतिलक्षाणि, पातालाष्टकमशोतिसहस्राणि, भूकटाहो विंशतिः,—इत्येवं पञ्चाशत् कोटयः । अत्रैव श्रीसिद्धयोगीश्वरीमतोक्तं विशेषं दर्शयति 'सिद्धातन्त्रे' इत्यादिना । यदुक्तं तत्र

'पातालोर्ध्वं भवद्भद्रं भद्रकालीगृहं शुभम् ।
यक्षिणीनां तु सर्वासां नायिका सम्प्रकीर्तिता ॥
चतुष्षष्टिः सहस्राणि यक्षिणीनां पुराणि तु ।
तत्र कोटिशतं यावत्कन्यानां तु पुरे पुरे ॥
क्रीडन्ति साधकास्तत्र तैः सार्धं तु मला[हा]बलाः ।
ज्ञात्वा तु यक्षिणीकल्पं सिद्धयोगीश्वरीमते ॥ इति ।

यहाँ महाचण्डेश्वर की प्रेरणा से चण्ड द्रव्य के दुष्प्रयोग से ब्रह्म राक्षस होने का भी उल्लेख है । पातालवासी लोगों का भी यह स्वभाव है कि ये अनेकानेक भोगों में रमते रहते हैं । वहाँ के राजा बड़े ही गर्वीले होते हैं ।"

पाताल के ऊपर २० सहस्र भू कटाह हैं । इनमें मनुष्यों का निवास है । उक्त कथनों से निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यहाँ तक ब्रह्माण्ड का आधा भाग है । उसके १ करोड़ कटाह, एक करोड़ कालाग्निपुर, दश करोड़ उसकी ज्वालायें , पाँच धूम, ३२ नरक, ९९ लाख कूष्माण्ड पुर, पातालाष्टक अस्सी हजार, भू कटाह २० हजार हैं । ये मिलकर ५० करोड़ मान होता है ।

सिद्धयोगीश्वरी मतानुसार "पाताल के ऊर्ध्वभाग में भद्रलोक हैं वहाँ माँ भद्रकाली का शोभन आयतन है । भद्रकाली ही सारी दक्षिणी देवियों की नायिका है" । यक्षिणियों के ६४ हजार पुर हैं । कन्याओं के १०० करोड़ नगरों में साधक लोग भ्रमण करते रहते हैं । वे सभी यक्षिणी कल्प के जानकार हो जाते हैं ।

'तस्योर्ध्वं च पुनर्लक्षं तमश्चैवातिदुस्सहम् ।
तप्ताङ्गारनिभा भूमिस्तप्तपाषाणदीपिता ।।' इति ।

'तस्योर्ध्वं च न किंचित्स्याद्यावल्लक्षाश्चतुर्दश ।
पुनर्नागालयं चैवमनन्तभयकारकम् ।।
कृष्णनागसहस्रैस्तु लक्षधा परिवारितम् ।' इति ।

'मातृद्रोही पितृद्रोही गुरुद्रोही च भ्रूणहा ।
बालहन्ता व्रजत्यत्र स्त्रीव्यङ्गे च महापशुः ।।
तिष्ठते यावत्पाताले मन्त्रमार्गस्य दूषकः ।।' इति ।।४१ ।।

एवं ब्रह्माण्डस्य भूकटाहान्तमेकमर्धमभिधाय तदूर्ध्वगपि भुवनादि दर्शयति

ततस्तमस्तप्तभूमिस्ततः शून्यं ततोऽहयः ।। ४२ ।।
एतानि यातनास्थानं गुरुमन्त्रादिदूषिणाम् ।
ततो भूम्यूर्ध्वं [मध्य] तो मेरुः सहस्राणि स षोडश ।। ४३ ।।

"उनके ऊपर एक लाख अन्ध तिमिरपुर हैं। वे बड़े ही असह्य लोक हैं। तपे हुए अङ्गार के समान वहाँ की भूमि है। तपते पत्थरों से दीप्त इनकी विचित्र शोभा है"।

"ऊपर के १४ लाख मान तक कुछ नहीं है। उसके ऊपर नागलोक है। वह बड़ा भयङ्कर लोक है। वह काले नागों को लाखों किस्मों से भरा हुआ है"।

"मातृद्रोहो, पितृद्रोही, गुरुद्रोही, भ्रूण हत्यारे, बालहन्ता पापी वहाँ निवास करते हैं। स्त्री के मोह पाश में बद्ध पशु और मन्त्र सिद्धान्त के दूषक ऐसे लोग इस घोर पाताल में रहते हैं" ॥४०–४१॥

ब्रह्माण्ड के भूकटाह तक एक अर्द्ध भाग का कथन करने के बाद उसके ऊपरी भुवन आदि की चर्चा कर रहे हैं—

उसके ऊपर अन्धकार से पूर्ण गर्मी और ऊमस से भरी शून्यता भरी हुई हैं। शून्य के उपरान्त हो नाग लोक है। यह यातना लोक हैं। गुरु मन्त्र आदि के प्रति दूषित भाव रखने वाले लोगों को ऐसा स्थान मिलना हो उनको नियति है। उसके बाद भूमि का ऊर्ध्व (मध्य) भाग पड़ता है। वहीं मेरु पर्वत है।

मग्नस्तन्मूलविस्तारस्तद्द्वयेनोर्ध्वविस्तृतिः ।
सहस्राब्धिवसूच्छ्रायो हैमः सर्वामरालयः ॥ ४४ ॥

सहस्राणीति, योजनानाम् मग्न इत्यर्थाद् भूकटाहे। तन्मूलविस्तार इति, तच्छब्देन षोडशानां सहस्राणां परामर्शः। 'तद्द्वयेन' इति द्वात्रिंशता सहस्रैः। 'सहस्राब्धिवसूच्छ्राय' इति चतुरशीति सहस्रोच्छ्रितिरित्यर्थः। तदुक्तम्

'तस्या मध्ये महामेरुः सौवर्णं··· ···· ···।' (स्व० १०।१२१)

इत्याद्युपक्रम्य

'योजनानां सहस्राणि चतुरशीतिरुच्छ्रितः।
षोडशैव सहस्राणि अधोभागे प्ररोपितः॥
तान्येव मूलविस्तारो द्विगुणो मूर्धविस्तरः।'
(स्व० १०।१२३) इति ॥ ४४ ॥

नन्वेवं मानत्वेऽपि अस्य कीदृगाकारः ? इत्याशङ्क्याह

मध्योर्ध्वाधः समुद्वृत्तशरावचतुरश्रकः ।

'समुद्वृत्त' इति सम्यगष्टाश्रतापत्तिपूर्वं उदूर्ध्वं वृत्तः, तेनाधो ब्रह्मभागे चतुरश्रो मध्ये विष्णुभागेऽष्टाश्रो रुद्रभागे च वृत्त ऊर्ध्वे मस्तके च शरावाकृतिरित्यर्थः॥

---

१६ हजार इसका मान है। मेरु पर्वत के मध्य भाग का ३२ हजार योजन विस्तार है। उसका ऊर्ध्व ८० हजार योजन है। स्व० १०।१२१ के अनुसार महामेरु उसी के मध्य में हैं। यह सुवर्णमय है और समस्त देवभूमि है। १०।१२३ तक यह सारा वर्णन स्वच्छन्द तन्त्र में है ॥ ४२-४४ ॥

इस तरह मान की स्वीकृति के बाद आकार सम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

मध्य, ऊर्ध्व और अधोभाग से शोभित जैसे 'पुरवा[1]' होते हैं, उसी तरह इनकी भी आकृति होती है। ऊपरी भाग रुद्र भाग है, वह गोल है। बीच का भाग वैष्णव भाग है। यह अष्ट कोणात्मक है और नीचे का ब्रह्म भाग है। यह चतुष्कोण होता है।

---

१. स्व० १०।६७४

नन्वेवमाकारत्वम्

'अव्यक्तं चतुरष्टाश्रवृत्तभागोपलक्षितम् " इति ।

तथा

'तच्छत्रं कुक्कुटाण्डं च··· ···· ···· ··· ।'

इत्याद्युक्त्या पारमेश्वरस्य लिङ्गस्य सम्भवेत् तत्कथम् ? इत्याशङ्क्याह

भैरवोयं च तल्लिङ्गं धरणो चास्य पीठिका ॥ ४५ ॥
सर्वे देवा निलीना हि तत्र तत्पूजितं सदा ।
मध्ये मेरुसभा धातुस्तदीशदिशि केतनम् ॥ ४६ ॥
ज्योतिष्कशिखरं शंभोः श्रीकण्ठांशश्च स प्रभुः ।
अवरुह्य सहस्राणि मनोवत्याश्चतुर्दश ॥ ४७ ॥
चक्रवाटश्चतुर्दिक्को मेरुरत्र तु लोकपाः ।
अमरावतिकेन्द्रस्य पूर्वस्यां दक्षिणेन ताम् ॥ ४८ ॥
अप्सरः सिद्धसाध्यास्तामुत्तरेण विनायकाः ।
तेजोवतो स्वदिश्यग्नेः पुरी तां पश्चिमेन तु ॥ ४९ ॥
विश्वेदेवा विश्वकर्मा क्रमात्तदनुगाश्च ये ॥
याम्यां संयमनो तां तु पश्चिमेन क्रमात् स्थिताः ॥ ५० ॥

यही शिवलिङ्ग की आकृति भी है। पृथिवो इसको पृष्ठ भूमि होतो है। इसमें सभी देवों का आलय होता है। इसी में सबकी पूजा हो जाती है। पृथ्वी पर ही महामेरु प्रतिष्ठित है। मेरु के मध्य में ब्रह्मा की सभा का मण्डप है[1]। उसके ईशान कोण में ज्योतिष्क शिखर स्फटिक शृंगसे सुशोभित है। इसके अधीश्वर श्रीकण्ठ के अंश रूप शम्भु हैं। ब्रह्मा की सभा का नाम मनोवती है। १४ हजार योजन के विस्तार में यह क्षेत्र आता है। उसके चारों ओर नगरों का समूह बसा हुआ है। भगवान् त्र्यम्बकेश्वर अपने ब्रह्मा विष्णु और रुद्र रूपी अंशों के साथ यहाँ विराजमान हैं।

सिद्धों और अप्सराओं से अलंकृत यही अमरावती पुरी है। यहाँ आठ स्वर्ग हैं। इसमें इनके अधीश्वर राज्य करते हैं। अमरावती के अधोश्वर इन्द्र हैं। यह मेरु के पूर्व भाग में है। इसके वाम भाग में विनायक रहते हैं।

---

१. स्व० १०।१३१, १२४-१२९

मातृनन्दा स्वसंख्याता रुद्रास्तत्साधकास्तथा ।
कृष्णाङ्गारा निर्ऋतिश्च तां पूर्वेण पिशाचकाः ॥ ५१ ॥
रक्षांसि सिद्धगन्धर्वास्तूत्तरेणोत्तरेण ताम् ।
वारुणी शुद्धवत्याख्या भूतौघो दक्षिणेन ताम् ॥ ५२ ॥
उत्तरेणोत्तरेणैनां वसुविद्याधराः क्रमात् ।
वायोर्गन्धवती यस्या दक्षिणे किन्नराः पुनः ॥ ५३ ॥
वीणासरस्वती देवी नारदस्तुम्बुरुस्तथा ।
महोदयेन्दोर्गुह्याः स्युः पश्चिमेऽस्याः पुनः पुनः ॥ ५४ ॥
कुबेरः कर्मदेवाश्च यथा तत्साधका अपि ।
यशस्विनी महेशस्य तस्याः पश्चिमतो हरिः ॥ ५५ ॥
दक्षिणे दक्षिणे ब्रह्माश्विनौ धन्वन्तरिः क्रमात् ।

च शब्दद्वयं हेतौ । पूजितमित्यर्थात् त्रिषु लोकेषु । यदुक्तम्

'लिङ्गरूपी भवेन्मेरुः .... ।'

अग्निकोण में तेजोवती है। उसके अधीश्वर चित्रभानु हैं। दक्षिण में यमराज की संयमनी अवस्थित है। इसमें यम और यम के परिचारक रहते हैं। पश्चिम में विश्वेदेव विश्वकर्मा और उनकी प्रजा का निवास है। इसके सटे ही मातृनन्दा नामक नगरी है। इसमें ११ रुद्र रहते हैं। नैऋत्य कोण में कृष्णाङ्गार नगरी है। उसके पूर्व में पिशाच हैं। राक्षस सिद्ध गन्धर्व भी यहाँ रहते हैं। पश्चिम में वरुण का आगार है। उनकी पुरी वारुणी शुद्धवती है। इससे कुछ दक्षिण हट कर प्राणियों का निवास है। वायव्य कोण में वायु की नगरी गन्धवहा है। इसके धुर उत्तर वसुओं और विद्याधरों के नगर है। कुछ दक्षिण हट कर किन्नर रहा करते हैं। इस गन्धवहा के ठीक पश्चिम ओर 'वीणा सरस्वती (गान्धर्व वेदवती) देवी, नारद और तुम्बुरु रहते हैं। उत्तर दिशा में सोम की महोदया नगरी है। उससे सटे पश्चिम गुह्यों के आवास हैं। वहीं कुबेर और कर्म देवों के दिव्य स्थान हैं। ईशान कोण में ईशान की यशस्विनी यशोवती नामक नगरी है। यशस्विनी के कुछ पश्चिम हरि विराजमान हैं। उसकी दाहिनी ओर ब्रह्मा, अश्विनी कुमार और धन्वन्तरि रहते हैं ॥४५-५५॥

इत्युपक्रम्य

'चतुरश्रमधो ब्रह्मा .... ।' इति।

'मध्ये अष्टाश्रको विष्णुः .... ।' इति।

'ऊर्ध्वं तु भवति रुद्रो वृत्ताकारः समन्ततः।
मेरुः संजायते लिङ्गं धरणी चास्य पीठिका॥
आलयः सर्वदेवानां तेन लिङ्गत्वमागतम्।
लीनमस्य जगत्सर्वं ब्रह्माद्यं सचराचरम्॥' इति।

'एवं ते भाषितं लिङ्गं त्रिषु लोकेषु पूजितम्।' इति।

'सुमेरुर्हेमसंपृक्तः शरावाकृतिमस्तकः।' इति।

'धातुः' इति ब्रह्मणः। यदुक्तम्

'तस्योर्ध्वे तु सभा दिव्या नाम्ना चैव मनोवती।' (स्व० १०।१२३)

इत्युपक्रम्य

'सर्वभोगगुणोपेता ब्रह्मणस्तु महात्मनः।' (स्व० १०।१२४)

इति। तदीशदिशीति, तच्छब्देन सभापरामर्शः। अत्र च यद्यपि शृङ्गत्रयमस्ति तथाप्येतदिह प्राधान्यादुक्तम्। यदुक्तं किरणायाम्

'त्रिभिः शृङ्गैः समायुक्तो रुक्मकाञ्चनरत्नजैः।

चतुष्कोण अधः स्थिति ब्रह्मा .... । और

बीच में अष्टकोण विष्णु .... । हैं और

इनके ऊपर चारों ओर वृत्ताकार रुद्रों के आवास हैं। यह मेरु का क्षेत्र है। उसकी पृष्ठभूमि ही पृथ्वी है। वह समस्त देवताओं का आलय है। इसे इसे दूसरे शब्दों में लिङ्ग कहते हैं। इसमें सारा जगत् लीन है। ब्रह्मा से चराचर विश्व तक 'लि' से लीन और 'ग' से जगत् का अर्थ होने के कारण मेरु पूज्य शिवलिङ्ग सदृश है। इसका ऊपरी भाग गोल होता है। इसकी उपमा शराब की गोल पेंदी से दी गयी है। मेरु के ही उत्तरी ऊर्ध्व भाग में दिव्या मनोवती है। वहीं ब्रह्मा की सभा का स्थल है। (स्व० १०।१२३ + १२४)

रत्नजं त्र्यम्बकस्योक्तं राजतं तु त्रिविक्रमे ॥
सौवर्णं कनकाण्डस्य .... ।' इति ।

लोकपा इति, भूम्ना । 'दक्षिणेन ताम्' इति तस्या दक्षिणे । तेन तद्दक्षिणेऽप्सरःपुरी, तद्दक्षिणे च सिद्धपुरीत्यादिक्रमः । अप्सरःप्रभृतिभिश्चात्र कामवत्याख्याः स्वपुर्यो लक्ष्यन्ते । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । अत्र च 'बहुवचनादाद्यर्थो लभ्यते' इति नीत्यादित्यानामपि ग्रहणम्,—इत्यस्मिन्नन्तराले चतस्रः पुर्योऽन्यथा षड्विंशतिर्न स्यात् । 'ताम्' इति अमरावतीम् । तेन तस्या एव वामे विनायकाः इति ज्ञेयम् । 'स्वदिशि' इत्यग्निकोणे । तच्चोत्तरत्रापि योज्यम् । एतच्च पुरीद्वयं वक्ष्यमाणायाः संयमन्यभिधायाः, पुर्याः पुरस्तात्,—इत्यर्थसिद्धम् । एता हि सर्वा एव पुर्यः पूर्वाभिमुखाः, येनास्यां पूर्वपश्चिमादिविभागः । 'मातृनन्दा' इति पुर्यभिधानम् । 'स्वसंख्याया' इत्येकादश । 'तत्साधका' इति यमपरिचारकाः । रुद्रा इति, काकाक्षिबत् । 'क्रमात्' इति मातृनन्दानन्तरं यमपरिचारकाणां रुद्राणां पुरी, तदनन्तरमेकादशानामिति । 'रक्षांसि' इति निस्त्रिंशाभिधानानि । 'तस्या दक्षिणे' इत्यर्थात् शुद्धवत्या उत्तरेण । 'पुर' इति पुरस्तात् । वीणासरस्वती, गान्धर्ववेदवतीत्यर्थः 'तत्साधका' इति कुबेरपरिचारका यक्षाः दक्षिणे इत्यर्थादमरावत्याः । 'उत्तरे दक्षिणे' इति द्विवचनादश्विनोर्धन्वन्तरेश्चैकैव पुरीति ज्ञेयम् ॥ ५५ ॥

सभा के ईशानकोण में श्लोक ४६ के अनुसार तीन स्वर्ण शृङ्गों का निर्देश यहाँ किया गया है । उस वर्णन से शङ्कर के रत्न निर्मित नगर, विष्णु की चाँदी को चमचमाती नगरियाँ और कनकाण्ड अर्थात् ब्रह्मा की सोने की नगरियों का उल्लेख किरण शास्त्र में आया हुआ है । जयरथ ने यह स्पष्ट किया है कि अप्सराओं की पुरियाँ कहाँ है । तथा सिद्धपुरी कहाँ है ? यदि कहीं श्लोक में बहुवचन का प्रयोग किया गया हो तो, यह ध्यान देने की बात है कि इस बहुवचन से 'इत्यादि' अर्थ भी लगाया जाना चाहिये । इससे उस अन्तराल में चार पुरियों को स्थिति का अवगम होता है । तभी २६ पुरियों की संख्या पूरी हो सकती हैं । अमरावती की स्थिति पूरब में होती है । उसी को आधार मानकर २६ पुरियों का चक्रवाट क्रम चलता है । रुद्र शब्द काकाक्षिन्याय से दोनों ओर लगेगा ।

तदेवोपसंहरति

भैरवे चक्रवाटेऽस्मिन्नेवं मुख्याः पुरोऽष्टधा ॥ ५६ ॥

अन्तरालगतास्त्वन्याः पुनः षड्विंशतिः स्मृताः ।

मुख्या इति, लोकपालसंबन्धित्वात् । 'अन्या' इति गौण्यः । तदुक्तम्

'सभाया ब्रह्मणोऽधस्ताद्योजनानां चतुर्दश ।
सहस्राणि परित्यज्य चक्रवाटः समन्ततः ॥
स्वर्गाष्टकं तदुद्दिष्टं तत्र तिष्ठन्ति लोकपाः ।
पूर्वेणेन्द्रस्य विख्याता पुरी नाम्नामरावती ॥
तेजोवती तथाग्नेय्यां चित्रभानोः प्रकीर्तिता ।
दक्षिणे यमराजस्य नाम्ना संयमनी पुरी ॥
कृष्णाङ्गारा तु नैर्ऋत्यां राक्षसेशस्य कीर्तिता ।
पश्चिमेन जलेशस्य पुरी शुद्धवती स्मृता ॥
वायव्यां तु पुरी वायोर्नाम्ना गन्धवहा प्रिये ।
उत्तरेणापि सोमस्य पुरी नाम्ना महोदया ॥
ऐशान्यामीशराजस्य पुरी नाम्ना यशोवती ।
एतासामन्तरे देवि शृणु षड्विंशतिं पुरीः ॥

स्वच्छन्द तन्त्र १०।१२१–१४७ में इनको इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—ब्रह्मसभा की नीचे की दिशा में १४ हजार योजन चारों ओर चक्रवाट का विस्तार है। इसमें ८ स्वर्ग हैं जिनमें उनके लोकपाल स्वामी निवास करते हैं। पूर्व में अमरावती है। अग्निकोण में तेजोवती है। इसके स्वामी चित्रभानु हैं। दक्षिण में यम की संयमनो है। नैऋत्य कोण में राक्षसाधिष्ठित कृष्णाङ्गार नगरी है। पश्चिम में वरुण की शुद्धवतीपुरी है। वायव्य कोण में वायुदेव की गन्धवहा नगरी है। उत्तर में चन्द्र की महोदया और ईशान में शंकर की यशोवती नगरी बड़ी ही रमणीय पुरी है। इन आठ स्वर्गों के अन्तराल में छब्बीस नगरियों का वर्णन आता है, जो इस प्रकार है—

दक्षिणेनामरावत्याः कामवत्यप्सरः पुरी ।
सौवर्णी सिद्धसंघानां तस्या वै दक्षिणेन तु ॥
तस्या वै दक्षिणेनान्या पद्मरागोपशोभिता ।
आदित्यानांपुरी ख्याता नाम्ना चांशुमती शुभा ॥
साध्यानां राजते दिव्या ख्याता वै कुसुमावती ।
वह्नेः पश्चिमदिग्भागे विश्वेषां रेवती पुरी ॥
तस्यास्तु पश्चिमे देवि दिव्या वै विश्वकर्मणः ।
पश्चिमे धर्मराजस्य मातृनन्दा पुरी स्मृता ॥
क्रीडन्ति मातरस्तत्र मधुपानविघूर्णिताः ।
रुद्राणां पश्चिमे तस्या रोहिता नाम काञ्चनी ॥
तत्र शूलधरा रुद्रा यमस्य परिचारकाः ।
तस्य पश्चिमतो ज्ञेया नाम्ना गुणवती पुरी ॥
एकादशानां रुद्राणां वज्रप्राकारतोरणा ।
निर्ऋतेः पूर्वभागे तु पिङ्गला नाम वै पुरी ॥
सुकर्मसंज्ञा देवेशि पिशाचास्तत्र संस्थिताः ।
नैर्ऋत्युत्तरसामीप्ये पुरी कृष्णवती शुभा ॥

अमरावती के दक्षिण कामवती अप्सराओं की पुरी है। यह स्वर्णवर्णी पुरी सिद्धों से भरी हुई है। उससे दक्षिण पद्मरागमणियों से निर्मित आदित्यों की नगरी है। उसे अंशुमती कहते हैं। अग्निकोण के पश्चिम विश्वदेवों की रेवतीपुरी है। वहीं साध्यों की कुसुमावती का भी उल्लेख है। इनके पश्चिम विश्वकर्म की दिव्यापुरी, उसके पश्चिम धर्मराज की मातृनन्दा नगरी हैं, जहाँ मद्यपान से नशे में चूर मातृशक्तियाँ विभिन्न प्रकार की क्रीड़ा करती हैं। इसके पश्चिम रुद्रों की स्वर्णिम नगरी रोहिता है। वहाँ यम के परिचारक रुद्र यमकिंकर निवास करते हैं। इसके पश्चिम गुणवती नगरी है। इसमें ग्यारह रुद्र रहते हैं। वज्र की चारदिवारी और वज्र के तोरणों से ही यह विभूषित है।

निस्त्रिंशा नाम तत्रैव वसन्ति राक्षसाः सदा।
तस्या अप्युत्तरे भागे पुरी हैमी सुखावती॥
मित्रो वसति तत्रैव बहुभृत्यजनावृतः।
अस्या अप्युत्तरे हैमी गान्धर्वी नाम विश्रुता॥
वसन्ति तत्र गन्धर्वा दिव्यकन्यासमावृताः।'

(स्व० १०।१३१-१४७) इति॥

तथा

'भूतानां सिद्धसेना तु वरुणस्य तु दक्षिणे।
हेमसंज्ञा वसूनां तु वरुणस्यापि चोत्तरे॥
तस्यास्तूत्तरतो देवि नाम्ना सिद्धवती पुरी।
सर्वविद्याधराणां तु सा पुरी परिकीर्तिता॥
वायोर्दक्षिणतो देवि सिद्धा नाम पुरी स्थिता।
वसन्ति किन्नरास्तत्र पुरैर्हेमार्कसंनिभैः॥
वायोः पूर्वेण गान्धर्वी हैमी चित्ररथस्य तु।
गन्धर्वराजमुख्यस्य दिव्यगन्धर्वनादिता॥

नैऋत्य के पूर्वभाग में पिङ्गला नगरी है। वहाँ सुकर्मा पिशाच रहते हैं। नैऋत्य के सटे उत्तर कृष्णवतीपुरी है। इसमें निस्त्रिंश नामक राक्षस रहते हैं। इसके उत्तर में हेमवर्णी सुखावतीपुरी हैं। इसमें मित्र अपने अनन्त भृत्यों के साथ निवास करते हैं। इसके भी उत्तर में गान्धर्वी नामक नगरी हैं। इसमें गन्धर्व निवास करते हैं।

स्वः १०।१४८–१६३ के अनुसार वरुणा के दक्षिणी ओर भूतों की सिद्धसेना नगरी है। वरुण के उत्तर वसुओं को हेम नगरी है। इसके भी उत्तर सिद्धवतीपुरी है। यहाँ विद्याधरों का निवास है। वायु के दक्षिण सिद्धापुरी है। इसमें किन्नर निवास करते हैं। इनमें ऐसे पुर भी हैं जो सूर्य की सुनहरी किरणों से शोभायमान रहते हैं।

आस्ते भगवती साक्षात् सप्तस्वरविभूषणा ।
ग्रामत्रयपरीधाना जातिमेखलमण्डिता ॥
मूर्छनातानचित्राङ्गी नानातानकलोदया ।
लक्षणव्यञ्जनोपेता मध्यमेनावगुण्ठिता ॥
गन्धर्वैर्गीयमाना सा तत्र देवी सरस्वती ।
तस्याःपूर्वेण चित्रा वै तुम्बुरोर्नारदस्य च ।
सोमस्य पश्चात्प्रमदा गुह्यकानां प्रकीर्तिता ॥
पूर्वेण वै तु सोमस्य नाम्ना चित्रवती पुरी ।
सर्वधातुमयी चित्रा कुबेरस्य महात्मनः ॥
षड्विंशतिसहस्रैस्तु कोटीनां परिवारितः ।
यक्षाणामुत्तमः श्रीमानास्ते भोगैरनुत्तमैः ॥

वायु के पूर्व गान्धर्वी नगरी है। यह चित्ररथ गन्धर्व की है और हेमवर्णी हैं। चित्ररथ गन्धर्वराज हैं। यहाँ भगवती सरस्वती का सारस्वत अस्तित्व सबको प्रभावित करता है। भगवतो शारदा गन्धर्वों को नाद विद्या से प्रसन्न रहती हैं। वहाँ विशिष्ट गन्धर्ववाद्य अनवरत बजते रहते हैं। 'ग्राम' नाम स्वर लहरो का ही सारस्वत परिधान वे पहनती हैं। 'जाति' नामक लयलहरी ही उनकी मेखला है। विभिन्न मूर्च्छनाओं के तान लेती रहने के कारण उनके अङ्गों की चित्रात्मकता दर्शनीय होती हैं। अनेक तान-कलाओं से इनका अभ्युदय कला पारखियों के उदय का कारण बनता है। लक्षणाओं और व्यंजनाओं से विभूषित हैं। 'मध्यम' स्वर से उनका अवगुण्ठन होता है। इस गान प्रक्रिया में गन्धर्वों की मुख्य भूमिका होती है।

इसके पूर्व भाग में नारद और तुम्बरु ऋषियों के आवास हैं। सोम के उत्तर-नगर से पश्चिम गुह्यकों की प्रमदारपुरी है और इसके पूर्वभाग में चित्रवती नगरी है। यह सर्वधातुमयी चित्रवर्णी नगरी कुबेर की है। ये छब्बीस हजार करोड़ यक्षों से समावृत हैं। इसके पूर्व जाम्बूनदमयी शुभा नगरी है।

तस्याः पूर्वे शुभा नाम्ना जाम्बूनदमयीपुरी।
तत्र वै कर्मदेवास्तु देवत्वं कर्मणा गताः ॥
पश्चिमेनेशराजस्य विष्णोर्वै श्रीमती पुरी।
तत्रास्ते श्रीपतिः श्रीमानतसीपुष्पसंनिभः।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जनार्दनः ॥
ईशस्य दक्षिणे भागे नाम्ना पद्मावती पुरी ।
महापद्मोपविष्टस्य पद्ममालाधरस्य तु ॥
पद्मपत्रायताक्षस्य ब्रह्मणः पद्मजन्मनः ।
तस्या दक्षिणतो देवि नाम्ना कामसुखा पुरी ॥
अश्विनौ तत्र देवेशि तथा धन्वन्तरिः स्मृतः ।
उत्तरे त्वमरावत्या महामेघेति विश्रुता ।
विनायकानां सा दिव्या वसतिस्तत्र कल्पिता ॥'
(स्व० १०।१४८-१६३) इति च ॥ ५६ ॥

इसमें कर्म से देव बने कर्मदेव रहते हैं। ईशान के पश्चिम में विष्णु की श्रीमती पुरी है। अतसी के फूलों के सदृश कान्तिमान्, शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म से विभूषित पीताम्बर, जनार्दन निवास करते हैं। ईशान के दक्षिण पद्मावतीपुरी है। इसमें महापद्म पर विराजमान, कमलमाल, कमलनेत्र कमलजन्मा ब्रह्मा निवास करते हैं। इसके दक्षिण में कामसुखापुरी है। इसमें अश्विनी कुमार और धन्वन्तरि निवास करते हैं। अमरावती के उत्तर में महामायापुरी है। इसमें विनायक रहते हैं। यह बड़ी दिव्य नगरी है।

स्वच्छन्द तन्त्र के इन उद्धरणों में आठ स्वर्ग और छब्बीस नगरियों का वर्णन है। इससे छप्पनवें श्लोक में आये प्रमुख नगरों के निर्देशों का विवरण उपलब्ध हो जाता है।

मूल उक्तियों के समर्थन में स्वच्छन्द तन्त्र एवं अन्य आगमों के उदाहरण हैं। उनके अर्थ ऊपर के वर्णन में आ गये हैं। स्पष्ट है कि, भैरव चक्रवाट में ब्रह्म-सभा के नीचे १४ हजार योजन के अन्तराल में अवस्थित आठ स्वर्ग हैं। इनके अतिरिक्त इसके उत्तर में २६ नगरियाँ और भी अवस्थित हैं ॥ ५६ ॥

एतच्च पुण्यकर्मणां भोगस्थानमित्याह

इष्टापूर्तरताः पुण्ये वर्षे ये भारते नराः ॥ ५७ ॥
ते मेरुगाः सकृच्छम्भुं ये वार्चन्ति यथोचितम् ।

'पुण्य' इति वर्षान्तरेभ्यो वैलक्षण्यं कटाक्षितम् । यथोचितमिति, पौराणिक्या प्रक्रिययेत्यर्थः । तदुक्तम्

'इष्टापूर्तरता देवि ये नराः पुण्यभारते ।
त्र्यम्बकं सकृदर्चन्ति मेरुं गच्छन्ति ते नराः ॥'
(स्व० १०।१७०) इति ॥ ५७ ॥

इदानीं मेर्वधो वर्षादि विभक्तुमुपक्रमते

मेरोः प्रदक्षिणाप्योदग्दिक्षु विष्कम्भपर्वताः ॥ ५८ ॥
मन्दरो गन्धमादश्च विपुलोऽथ सुपार्श्वकः ।
सितपीतनीलरक्तास्ते क्रमात्पादपर्वताः ॥ ५९ ॥

विष्कम्भेति, भुवोऽवष्टम्भकत्वात् ॥ ५९ ॥

उक्त कथन के समर्थन में स्वच्छन्द तन्त्र के दशम पटल के १३१ से १७० तक के श्लोक जयरथ ने दिये हैं। स्वच्छन्द तन्त्र के श्लोक सरल हैं। महामाहेश्वर आचार्य अभिनव ने उन्हीं के आधार पर उक्त लोकों की स्थिति का वर्णन किया है। इस पावन भूमि भारतवर्ष के इष्टापूर्त्त आदि पुण्य कर्मों में लीन पुरुष मरणोपरान्त मेरु स्थित लोकों में भोग भोगने के लिये जाते हैं। इसलिये इन्हें भोग लोक कहते हैं। वहाँ भाग्यशाली लोग शम्भु की आराधना से धन्य हो जाते हैं ॥ ५७ ॥

मेरु के निचले भागों में भी लोकों का आकलन क्रान्तदर्शी महापुरुष करते हैं। उनके अनुसार मेरु के दक्षिण पश्चिम और उत्तर भागों की ओर विष्कम्भ पर्वत हैं। मन्दर, गन्धमादन, विपुल, सुपार्श्वक पर्वत श्वेत पीत नील लाल रंगों और वृक्षों से आच्छादित घने जङ्गलों से शोभित हैं। ये पर्वत पृथ्वी को स्तभ के समान धारण करते हैं। इसलिये इन्हें विष्कम्भ पर्वत कहते हैं ॥ ५८-५९ ॥

---

१. स्व० १०।१३२

तदाह

एतैर्भुवमवष्टभ्यमेरुस्तिष्ठति निश्चलः ।

एषां च पृथङ्मानस्यानुक्तत्वात् वक्ष्यमाणेलावृताख्यवर्षैकदेशत्वमवगन्तव्यं, तच्च मेर्वासन्नमन्यथैषां पादपर्वतत्वं न स्यात् ॥

एषु च चतुर्ष्वपि अचलेषु प्रत्येकमुद्यानसरःकल्पवृक्षाः संभवन्ति, इत्याह

चैत्ररथनन्दनाख्ये वैभ्राजं पितृवनं वनान्याहुः ॥ ६० ॥
रक्तोदमानससितं भद्रं चैतच्चतुष्टयं सरसाम् ।
वृक्षाः कदम्बजम्ब्वश्वत्थन्यग्रोधकाः क्रमशः ॥ ६१ ॥
एषु च चतुर्ष्वचलेषु त्रयं त्रयं क्रमश एतदाम्नातम् ।

अत्र च जम्बूरसोत्था जम्बूनदी संभवतीति शेषः । तदुक्तम्

'कदम्बो मन्दरे ज्ञेयो जम्बूर्वै गन्धमादने ।
अश्वत्थो विपुले ज्ञेयो न्यग्रोधश्च सुपार्श्वके ॥
सरांस्युपवनान्यत्र अरुणोदं तु पूर्वतः ।
मानसं दक्षिणे ज्ञेयं सितोदं पश्चिमेन तु ॥
महाभद्रमुत्तरतस्ततश्चैत्ररथं वनम् ।
नन्दनं तु सवैभ्राजं पितृसंज्ञं क्रमात्स्थितम् ॥' इति ।

यही कह रहे हैं—

मेरु स्वयं पृथ्वी का अवस्तम्भन करता है । यह इलावृत वर्ष में पड़ता है । आधुनिक कुछ विद्वान् इलावृत वर्ष अफ्रिका और कुछ यूरोप को मानते हैं और यह भी कहते हैं कि उसका मध्य पठारीय पर्वत भाग ही मेरु पर्वत है । यदि इस भौगोलिक संरचना को आधार मान कर इसका आकलन किया जाय तो मेरु का पता करना सरल हो जायेगा ।

मन्दर, गन्धमादन, विपुल और सुपार्श्व इन चार पाद पर्वतों की तात्कालिक पृष्ठ भूमि मेरु से लगी हुई थी । वे क्रमशः सित, पीत, नील और रक्त थे । उन पर चैत्ररथ, नन्दन, वैभ्राज और पितृवन नामक बन थे । पूर्व में अरुणोद, दक्षिण में मानस, पश्चिम में सितोद और उत्तर में महाभद्र नामक सरोवर थे ।

तत्प्रमाणा स्मृता जम्बूर्गन्धमादनमूर्धनि ।
तस्याः फलसमूहोत्थो रसो ज्ञेयोऽमृतोपमः ॥
तेन जम्बूनदी जाता प्रिये वेगवती भृशम् ।
मेरुं प्रदक्षिणीकृत्य जम्बूमूलं विशेत्स्वकम् ॥
तत्संपर्कात् समुत्पन्नं कनकं देवभूषणम् ।
तेन जाम्बूनदं लोके जायते भूषणोत्तमम् ॥'
(स्व० १०।१९३) इति ॥ ६१ ॥

मेर्वधो लवणाब्ध्यन्तं जम्बुद्वीपः समन्ततः ॥ ६२ ॥
लक्षमात्रः स नवधा जातो मर्यादपर्वतैः ।

समन्तत इति, वलयाकारत्वेन । तदुक्तम्

'मेर्वधो वलयाकारो जम्बुद्वीपो व्यवस्थितः ।
लक्षयोजनविस्तारः .... ॥' इति ॥ ६२ ॥

नवधा जातत्वमेव अस्य दर्शयति

निषधो हेमकूटश्च हिमवान्दक्षिणे त्रयः ॥ ६३ ॥
लक्षं सहस्रनवतिस्तदशीतिरिति क्रमात् ।
नीलः श्वेतस्त्रिशृङ्गश्च तावन्तः सव्यतः पुनः ॥ ६४ ॥

उनमें क्रमशः कदम्ब, जम्बू, अश्वत्थ और बरगद् के महावृक्ष भी थे। स्व० १०।१९१ के अनुसार गन्धमादन पर्वत के जम्बू फलों के रस से जम्बूनद बह चला। इसमें सोने के अणु परमाणु थे। इसी आधार पर स्वर्ण को जाम्बूनद भी कहते हैं ॥ ६१ ॥

मेरु के अधोभाग में लवण समुद्र (खारे पानी का) समुद्र है। लवण समुद्र पर्यन्त स्थल भाग को जम्बूद्वीप कहते हैं। एक लाख योजन वृत्ताकार जम्बूद्वीप मर्यादा पर्वतों से नव खण्डों में विभक्त हो जाता है ॥ ६२ ॥

मर्यादा बनाने वाले उन पर्वतों को क्रमशः निषध, हेमकूट और हिमवान् कहते हैं। ये तीनों दक्षिण भाग में स्थित हैं। इनसे मेरु का मुख पूर्व ओर है—यह प्रतीत होता है। इनके गोल होने के कारण पहले एक लाख, दूसरे हेमकूट

मेरोः षडेते मर्यादाचलाः पूर्वापरायताः ।
पूर्वतो माल्यवान्पश्चाद्गन्धमादनसंज्ञितः ॥ ६५ ॥
सव्योत्तरायतौ तौ तु चतुस्त्रिंशत्सहस्रकौ ।
अष्टावेते ततोऽप्यन्यौ द्वौ द्वौ पूर्वादिषु क्रमात् ॥ ६६ ॥
जाठरः कूटहिमवद्यात्रजारुधिशृङ्गिणः ।
एवं स्थितो विभागोऽत्र वर्षसिद्ध्यै निरूप्यते ॥ ६७ ॥

'दक्षिणत' इति पूर्वाभिमुखस्य मेरोः। लक्षमिति, जम्बुद्वीपस्य तावत्परिमाणत्वात्। एवं सकलद्वीपायतत्वेऽपि एषां बहिर्यथायथं तद्वर्तुलतानुपाततो हेमकूटहिमवतोरायाममानह्रासः, विस्तरस्त्वेषामविशिष्ट एव। यदुक्तम

'लवणोदधिपर्यन्ताः सहस्रद्वयविस्तृताः ।' (स्व० १०।२०२)

इति। 'तावन्त' इति लक्षादिमानाः। चतुस्त्रिंशत्सहस्रकाविति, नीलनिषधाभ्यां सीमन्तित्वेनैवंमानस्येलावृतस्य वक्ष्यमाणत्वात्, विस्तरतस्तु सहस्रम्। यदुक्तम्

'पूर्वेण माल्यवान्मेरोः पर्वतस्तु विराजते ।
चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानां सुरेश्वरि ॥
याम्योत्तरायतो भाति सहस्रं तस्य विस्तृतिः ।
तथैवापरदिग्भागे तत्यक्तो गन्धमादनः ॥' (स्व० १०।२०६)

इति। अत्र च नीलनिषधमाल्यवद्गन्धमादनाख्यानां चतुर्णां पर्वतानां चत्वारिंशत्सहस्राणि योजनानामुत्सेधोऽन्येषां तु दश,—इति ज्ञेयम्। यदुक्तम्

'नीलश्च निषधश्चैव माल्यवान् गन्धमादनः ।
चत्वारिंशत्सहस्राणि योजनानां समुच्छ्रितः ॥'
(स्व० १०।२०७) इति।

तथा श्रीमृगेन्द्रोत्तरे

का ९० हजार और तीसरे हिमवान् का अस्सी हजार योजन परिमाण हो जाता है। नील, श्वेत और त्रिशृङ्ग मेरु के सव्य अर्थात् वाम भाग में अवस्थित हैं। पूरब पश्चिम आयताकार ये पर्वत मेरु की सीमा का निर्धारण करते हैं ॥६३-६५॥

स्व० १०।२०२–२१० के जयरथ प्रयुक्त उद्धरणों के अनुसार भी पूर्व भाग में अवस्थित पर्वत का नाम माल्यवान् है। इसका विस्तार ३४ हजार योजन है। यह उत्तर-दक्षिण आयताकार है। इसकी दूसरी ओर गन्धमादन पर्वत है।

.... '**दशोत्सेधा नवान्तराः ।**' इति ।

एवं दक्षिणोत्तरस्थैस्त्रिभिस्त्रिभिः, पूर्वपश्चात्स्थेन चैकैकेन,—इत्यष्टभिः पर्वतैर्विभक्तो जम्बूद्वीपो नवधा जातः। 'तत' इत्यष्टाभ्यः 'कूटो' हेमकूटः। हिमवानर्थात् सकैलासः। 'यात्रः' पारियात्रः, स च अर्थान्निषधयुक्तः। तदुक्तम्

> '**जठरो हेमकूटश्च पूर्वभागे व्यवस्थितौ ।**
> **कैलासो हिमवांश्चैव दक्षभागे व्यवस्थितौ ॥**
> **निषधः पारियात्रश्च अपरेण महीधरौ ।**
> **जारुधिः श्रृङ्गवांश्चैव उत्तरेण व्यवस्थितौ ॥**'
> (स्व० १०।२१०) इति ।

एते च विष्कम्भपर्वता नियतदेशस्थाः,—इति नात्र विभागान्तरनिमित्तं विभागो नवखण्डात्मा ॥ ६३-६७ ॥

तदेवाह

समन्ताच्चक्रवाटाधोऽनर्केन्दु चतुरश्रकम् ।
सहस्रनवविस्तीर्णमिलाख्यं त्रिमुखायुषम् ॥ ६८ ॥

'इलाख्यम्' इति इलावृत्ताख्यस्वाम्यधिष्ठितत्वात् इलावृताभिधानं वर्षमित्यर्थः। एतच्च पुरस्तादेव स्फुटीभविष्यति,--इति नेहायस्तम्। एवं वर्षान्तरेष्वपि तदभिधानप्रवृत्तौ निमित्तं ज्ञेयम्। तच्च समन्तान्मेरोश्चतुर्दिक्कं नवसहस्रं विस्तीर्णमिति। मध्ये मेरुमूलीयानि षोडश सहस्राण्याकलय्य चतुस्त्रिंशत्सहस्रम्,

---

इसका विस्तार भी माल्यवान् के समान ही हैं। कुल मिलाकर ये आठ कूट पर्वत हैं। इनमें नील, निषध, माल्यवान् और गन्धमादन इन चारों की ऊँचाई ४० हजार योजन है। अन्य चार पर्वतों का उत्सेध १० हजार योजन है। और श्रृङ्गवान्‌जाठर हेमकूट कैलास सहित हिमवान्, निषध और पारियात्र जारुधि और श्रृङ्गवान् ये क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में अवस्थित हैं। इन आठों से जम्बू द्वीप ९ धा विभक्त है विष्कंभ पर्वतों की स्थिति उस समय की वर्ष (देश) सिद्धि का निरूपण करती है ॥ ६६–६७ ॥

अत एव माल्यवद्गन्धमादनयोर्दैर्ध्यादियदेव मानमुक्तम्, अत एव सर्वतोदिक्कं साम्याच्चतुरश्रं न तु वर्षान्तरवदायतचतुरश्रम् । अनर्केन्दुत्वे चक्रवाटाधोवर्तित्वं हेतुः । 'त्रिमुखायुषम्' इति सहस्रशब्दसंनिधेस्त्रयोदशसहस्रायुरित्यर्थः । यदुक्तम्

'मेरोः समन्ततो रम्यमिलावृत्तमुदाहृतम् ।
अधस्ताच्चक्रवाटस्य नवसाहस्रविस्तृतम् ॥
योजनानां चतुर्दिक्षु चतुरश्रं समन्ततः ।
नातपो भानुजस्तत्र न च सोमस्य रश्मयः ॥
प्रभवन्ति हि लोकानां मेरोर्भासा प्रभासितम् ।'

(स्व० १०।२११) इति ।

'त्रयोदशाब्दसाहस्रमायुस्तेषां प्रकीर्तितम् ।

(स्व० १०।२१३) इति च ॥ ६८ ॥

अनर्केन्दु शब्द अर्क (सूर्य) और इन्दु (चन्द्र) शब्दों से नञ् समास के योग से बना है । इसका अर्थ वह स्थान जहाँ सूर्य और सोम की उष्ण और शीत रश्मियों का प्रकाश नहीं होता । अग्निसोमात्मकं जगत् के वैदिक दृष्टिकोण के विरूद्ध यह ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ सूर्य और चन्द्र की आकाशीय कक्षाओं का प्रभाव न पड़ता हो । यह स्थान उस चक्रवाट के नीचे है जो मेरु के नीचे है । यहाँ का मौसम ऐसा होना चहिये जिसमें न तो सूर्य का ताप जनता या प्राणियों को तप्त करता हो और न चन्द्र अपने शीताधिक्य के प्रभाव से जल को हिम में परिणत कर सकता हो । यह नम जलवायु में ही सम्भव है । इस लिए नञ् का अर्थ स्वल्पात्मक हो माना जाना चाहिए । यह इलावृत्तवर्ष का लक्षण है । आजकल इसे यूरोप कहते हैं । इसके तत्कालीन स्वामी का नाम भी इलावृत्त था । उसी के नाम के आधार पर इस वर्ष का नाम इलावृत्त वर्ष पड़ा होगा । इस समय स्वामी के नाम पर वर्षों और देशों के नाम पड़ा करते थे । यहाँ चतुरश्र शब्द का अर्थ चतुष्कोण नहीं अपितु मेरु के चारों ओर विस्तारवान् इलावृत्त वर्ष के स्वरूप से है । चक्रवाट के नीचे होने से वहाँ सूर्य चन्द्र के तापशीत का उग्र प्रभाव नहीं होता । त्रिमुखापुष शब्द भी तेरह हजार वर्ष आयु का निर्देश करता है । पहले हजार शब्द का प्रयोग ९ के साथ है । काकाक्षि न्याय से सहस्र शब्द 'त्रि' के साथ भी लगेगा । इससे इसका अर्थ तेरह हजार वर्ष आयुष्य वाला हो जाता है । पहले लोगों की आयु ऐसी लम्बी होती थी ।

मेरोः पश्चिमतो गन्धमादो यस्तस्य पश्चिमे ।
केतुमालं कुलाद्रीणां सप्तकेन विभूषितम् ॥ ६९ ॥

पश्चिमत इति, नतु दक्षिणतोऽवस्थितो विष्कम्भपर्वतः। सप्तकेनेति, यदुक्तम्

'जयन्तो वर्धमानश्च अशोको हरिपर्वतः ।
विशालः कम्बलः कृष्णस्तत्र सप्त कुलाद्रयः ॥'
(स्व० १०।२१८) इति ॥ ६९ ॥

मेरोः पूर्वं माल्यवान्यो भद्राश्वस्तस्य पूर्वतः ।
सहस्रदशकायुस्तत्सपञ्चकुलपर्वतम् ॥ ७० ॥
पूर्वपश्चिमतः सव्योत्तरश्च क्रमादिमे ।
द्वास्त्रिंशच्च चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि निरूपिते ॥ ७१ ॥

सहस्रदशकायुरिति, केतुमालशेषतयापि व्याख्येयम्। उक्तं हि
'..... ... ...जीवन्त्ययुतमेव च।' इति।

सपञ्चकुलपर्वतमिति, यदुक्तम्

'कौरञ्जः श्वेतपर्णश्च नीलो मालाग्रकस्तथा ।
पद्मश्चैव समाख्यातास्तत्र पञ्च कुलाद्रयः ॥'
(स्व० १०।२२०) इति।

'इमे' इति केतुमालभद्राश्वाख्ये वर्षे। 'क्रमात्' इति यथासंख्येन। तेन पूर्वपश्चिमतो भद्राश्वकेतुमाले द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशत्सहस्राणि, माल्यवान् गन्धमादनश्चैकमेकं सहस्रम्, उभयपार्श्वाभ्यामिलावृतमष्टादश, मेरुः षोडश,—

मेरु के चारों ओर इलावृत्त का विस्तार है। मेरु के नीचे चक्राकार बाट अर्थात् नगरों के समूह हैं। उनके नीचे सूर्य और चन्द्र से रहित ऐसा अन्धकार मय अन्तराल है जो चतुष्कोण है। नौनौहजार योजन चारों ओर का उनका विस्तार है। न दिन का प्रकाश और न रात की चाँदनी छटा किन्तु सौभाग्य से मेरु की आभा से वे उद्दीप्त रहते हैं। स्व० १०।२११ के अनुसार भी इस तथ्य का समर्थन होता है ॥ ६८ ॥

इत्येवं पूर्वापरायतजम्बुद्वीपं योजनानां लक्षं, सव्योत्तरतश्च चतुस्त्रिशत् इत्येतदिलावृतमाननिरूपणादेव गतार्थम् ॥ ७१ ॥

मेरोरुदक् शृङ्गवान्यस्तद्बहिः कुरुवर्षकम् ।
चापवन्नवसाहस्रमायुस्तत्र त्रयोदश ॥ ७२ ॥

मेरु पश्चिम के भाग में गन्धमादन और उसके कुछ और पश्चिम तुमाकेल पर्वत है। केतुमाल के जयन्त, वर्धमान, अशोक, हवि, विशाल, कम्बल और कृष्ण ७ कुल पर्वत हैं। मेरु के पूर्व में माल्यवान् की चर्चा है। उसके धुर पूरब में भद्राश्व पर्वत है। दश हजार वर्ष की आयु इनपर रहने वालों की है। भद्राश्व के कौरञ्ज, श्वेतपर्ण, नील, मालाग्रक और पद्म ये पाँच कुल पर्वत हैं। ये पूरब पश्चिम के क्रम से और उत्तर दक्षिण के क्रम से स्थित हैं। पूरब पश्चिम वाले पर्वत ३२ हजार और केतुमाल माल्यवान् और गन्धवाहन ३४ हजार ऊँचाई का माप उस समय की हैं।

स्वच्छन्द तन्त्र १०।२१८ में सात कुल पर्वतों के नाम दिये हुए हैं। श्लोक ६९ में मात्र इनका संकेत है। मेरु के पश्चिम में गन्धमादक और उसके कुछ पश्चिम केतुमाल पर्वत है। वस्तुत: इसी के ये सात कुल पर्वत हैं। गन्धमान के पश्चिम में उ ल्लेख होने से यह अर्घ भी अनुमित होता है कि निष्कम्भ पर्वत दक्षिण में अवस्थित नहीं हैं।

हजार वर्ष की आयु माल्यवान् और गन्धमादन से लेकर केतु माल तक के क्षेत्र में रहने वाले पुरुषों की होती थी। स्व० तन्त्र की 'अयुत जीवन' सम्बन्धी उक्ति से इसका समर्थन होता है। जहाँ तक पाँच कुल पर्वतों की बात है, इसका समर्थन स्व० तन्त्र की १०।२२० वीं कारिका से होता है। वहाँ इन पाँचों के नाम दिये हैं। ७० वें मूल श्लोक में मात्र इनका संकेतात्मक उल्लेख है।

केतुमाल और भद्राश्व के क्रमश: अवस्थान के सम्बन्ध में राजानक जयरथ का कहना है कि भद्राश्व और केतुमाल ये दोनों पूर्व पश्चिम लम्बाई की दिशा में अवस्थित हैं। इनका क्षेत्र ३२-३२ हजार योजन का है। यह आकलन पूर्व पश्चिम की लम्बाई और चौड़ाई का क्षेत्रफल है। माल्यवान और गन्ध-मादन एक एक हजार योजन मान वाले विस्तार में अवस्थित हैं। इस तरह दोनों बगल से इलावृत अठारह, मेरु १६ हजार योजन विस्तारवाले हैं।

शृङ्गवांस्तृतीयः पर्वतः, 'तद्बहिः' तस्यापि उदगित्यर्थः। 'चापवत्' इति वलयाकारं, क्षाराब्धिसामीप्यात् । यदुक्तम्

'नवयोजनसाहस्रं धन्वाकारं प्रकीर्तितम् ।'

(स्व० १०।२२५) इति ।

आयाममानावचने चात्रायमाशयः—यत् शृङ्गवन्माननिरूपणादेव गतार्थमेतदिति । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । त्रयोदशेति, अर्थात् सहस्राणि । यदुक्तम्

'त्रिदशाब्दसहस्रायुः कुरुवृक्षफलाशनः ।
युग्मप्रसूतिः कुरुषु श्यामापुष्पद्युतिर्जनः ॥' इति ॥ ७२ ॥

इस प्रकार पूर्व पश्चिम लम्बाई वाले जम्बुद्वीप का क्षेत्रफल १ लाख योजन का होना चाहिये। दक्षिण और उत्तर इसकी चौड़ाई ३४ हजार योजन है। इलावृत मान के निरूपण से ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है ॥६९-७१॥

मेरु के उत्तर में शृङ्गवान् पर्वत है। उसके बाहर कुरुवर्ष है। चाप के समान लम्बाई लिए हुए गोल ये पर्वत १३ हजार वर्ष की आयु वाले प्राणियों के हैं। कुरु वर्ष के उत्तर और वायव्य कोण में स्थित समुद्र में १५ हजार द्वीप हैं।

शृङ्गवान् तीसरा पर्वत है। श्लोक में तद्बहिः का अर्थ उससे उत्तर लगाना चाहिये। चाप के समान का तात्पर्य वलयाकार है। इसका कारण है कि खारा सागर पास में ही लहरा रहा होता है। उसके टकराव के कारण किनारे वलयाकार हो जाते हैं। स्व० त० १०।२२५ में कहा गया है कि,

"नौ हजार योजन का किनारा धनुष के समान बन गया है।"

कुरुवर्ष के आयाम के सम्बन्ध में यहाँ कुछ नहीं कहा गया है। इसका कारण यह है कि शृङ्गवान् पर्वत के वर्णन में वह भी गतार्थ हो गया है। इसी तरह आगे के प्रकरणों में यही शैली अपनायी गयी है। उसी से अवगम कर लेना चाहिये।

तेरह अङ्क के साथ हजार शब्द का प्रयोग अनिवार्य है। आगम में कहा गया है कि,

तेरह "हजार वर्ष आयु वाले, कुरुवृक्ष के फल का आहार करने वाले, दो सन्तान उत्पन्न करने वाले और अतसी के फूल के सदृश कान्ति वाले लोग कुरुवर्ष में निवास करते हैं" ॥७२॥

कुरुवर्षस्योत्तरेऽथ वायव्येऽब्धौ क्रमाच्छराः ।
दश चेति सहस्राणि द्वीपौ चन्द्रोऽथ भद्रकः ॥ ७३ ॥

यौ श्वेतशृङ्गिणौ मेरोर्वामे मध्ये हिरण्कयम् ।
तयोर्नवकविस्तीर्णमायुश्चार्धत्रयोदश ॥ ७४ ॥

'अब्धौ' इति अब्धिमध्ये । तदुक्तम्

'तस्य चोत्तरदिग्भागे प्रविश्य लवणोदधिम् ।
योजनानां सहस्राणि चत्वार्येव वरानने ॥
एकाधिकानि विस्तीर्णं चन्द्रद्वीपं प्रकीर्तितम् ।
दशयोजनसाहस्रं द्वीपं भद्रं प्रकीर्तितम् ॥'

(स्व० २०।२२९) इति ।

'तयोः' इति मेरुवामार्धस्थितयोः श्वेतशृङ्गिणोः तेन शृङ्गवतो दक्षिणे, श्वेतस्य वामे,—इत्यर्थसिद्धम् । 'अर्धत्रयोदश' इति अर्धेन त्रयोदश द्वादशसहस्राणि सार्धाणीति यावत् । यदुक्तम्

'अध्यर्धानि सहस्राणि द्वादशायुर्हिरण्मये ।' इति ।

तत्र वै वामतः श्वेतनीलयो रम्यकोऽन्तरे ।
सहस्रनवविस्तीर्णमायुर्द्वादश तानि च ॥ ७५ ॥

चन्द्र और भद्रक द्वीप क्रमशः ५ हजार १० और हजार योजन हैं (स्व० २०।२२९) । ये दोनों श्वेत शृङ्गवान् पर्वत हैं । मेरु के बायें और मध्य स्वर्ण की खानों से भरे पड़े हैं । इन पर रहने वाले हजारों वर्ष जीते हैं ।

कुरुवर्ष के उत्तर में और वायव्य में क्रमशः चन्द्र और भद्रक द्वीप अवस्थित हैं । इनमें स्व० २०।२२९ के अनुसार चन्द्र पाँच हजार और भद्र १० हजार योजन विस्तार वाले हैं । श्लोक ७४ में तयोः का प्रयोग मेरु के बामार्थ में अवस्थित बर्फीली चोटियों वाले श्वेत और दक्षिण भाग में अवस्थित शृङ्गवान के अर्थ में किया गया है । यहाँ अर्धत्रयोदश का अर्थ साढ़े बारह हजार वर्ष आयु से लिया गया है । आगम प्रामाण्य से इसका समर्थन भी किया गया है ॥७३-७४॥

मेरोर्दक्षिणतो हेमनिषधौ यौ तदन्तरे ।
हर्याख्यं नवसाहस्रं तत्सहस्राधिकायुषम् ।। ७६ ।।
तत्रैव दक्षिणे हेमहिमवद्द्वितयान्तरे ।
कैन्नरं नवसाहस्रं तत्सहस्राधिकायुषम् ।। ७७ ।।
तत्रैव दक्षिणे मेरोर्हिमवान्यस्य दक्षिणे ।
भारतं नवसाहस्रं चापवत्कर्मभोगभूः ।। ७८ ।।

'अन्तरे' इत्यर्थात् श्वेतस्य दक्षिणे, नीलस्य तु वामे । तानीति, सहस्राणि । 'तदन्तरे' इत्यर्थात् निषधस्य दक्षिणे, हेमकूटस्य वामे । तदुक्तम्

'हेमकूटस्य सौम्येन निषधस्य च दक्षिणे ।
हरिवर्षं समाख्यातं ... ... ।।'

(स्व० १०।२३६) इति ।

द्वादशेति, सहस्राणि । 'कैन्नरम्' इति किंपुरुषसंज्ञम् । यदुक्तम्

'हेमकूटस्य याम्येन हिमवतस्तथोत्तरे ।
वर्षं किंपुरुषं नाम .... ।।'

(स्व० १०।२३८) इति ।

साढ़े बारह हजार वर्ष की इन की आयु है । श्वेत पर्वत के दक्षिण भाग में और नील के बायें भाग में तथा निषध के दक्षिण और हेमकूट के बायें रम्यक और हरिवर्ष अवस्थित हैं । (१०।२३६) । इन पर १२ हजार वर्ष की आयु के लोग निवास करते हैं । रम्यक का विस्तार ९ हजार योजन है ।

स्व० १०।२३८ के अनुसार हेमकूट के दक्षिण और हिमवान् के उत्तर में किंपुरुष वर्ष है । इसके निवासी सोने के समान पीले होते हैं । यह भी ९ हजार वर्ग योजन का क्षेत्र है । यहाँ के रहने वाले नौ हजार वर्ष से भी अधिक जीवित रहते हैं ।

वहीं हिमाचल के दक्षिण और लवण समुद्र के उत्तर भारत वर्ष अवस्थित है । यहाँ सुख कम और दुख अधिक है । इसमें भयङ्कर जातिप्रथा और वर्णाश्रम विभाग है । यह धनुष के समान विस्तृत है । इसका विस्तार ९ हजार योजन है । यह कर्मभूमि है । शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार यहाँ फल की प्राप्ति होती है । स्व० १०।२३९-२७३ में भारत की स्थिति का वास्तविक चित्रण है ।

'तत्सहस्राधिकायुषम्' इति तेभ्यो नवसहस्रेभ्यः सहस्रेणाधिकमायुर्यत्र तद्दशसहस्रायुरित्यर्थः। अस्य 'दक्षिणे' इत्यर्थात् क्षाराब्धेरुत्तरे। तदुक्तम्

'याम्ये हिमाचलेन्द्रस्य उत्तरे लवणोदधेः।
भारतं नाम वर्षं तु तत्र चाल्पं सुखं स्मृतम् ॥'

(स्व० १०।२४०) इति।

अत एव लवणोदधेर्वलयाकारत्वात् चापवदित्युक्तम्। अस्य च वर्षान्तरवद्भोगभूमित्वेऽपि कर्मभूमित्वमपि अस्तीत्याह 'कर्मभूः' इति। यदुक्तम्

'गुणस्त्वेकः स्थितस्तत्र शुभाशुभफलार्जनम्।'

(स्व० १०।२४६) इति ॥ ७८ ॥

वर्षान्तराणां हि भोगभूमित्वमेवास्ति, नतु कर्मभूमित्वमपि,—इत्याह

इलावृतं केतुभद्रं कुरुहैरण्यरम्यकम्।
हरिकिन्नरवर्षे च भोगभूर्न तु कर्मभूः ॥ ७९ ॥

श्लोक ७७ में तत्सहस्राधिक आयुष्य का प्रसङ्ग यह सिद्ध करता है कि हरि वर्ष की नौ हजार आयु से इनकी आयु एक हजार वर्ष अधिक है। अर्थात् कुल मिलाकर दश हजार वर्ष आयु का प्रमाण है। इसी श्लोक में प्रयुक्त दक्षिण शब्द सापेक्ष प्रयोग है। इसका समुद्र की अपेक्षा से उत्तर अर्थ होगा। स्व० १०।२४० का आगम प्रामाण्य यह सिद्ध करता है कि,

"हिमाचल पर्वत के दक्षिण भाग में और लवण समुद्र के उत्तर भाग में सर्वाङ्ग सम्पूर्ण भारत नामक वर्ष है। इसमें स्वर्ग की अपेक्षा सुख की मात्रा अत्यन्त स्वल्प है।"

इसीलिये लवण समुद्र के वलयाकार होने के कारण पहले तटीय भाग को चाप के समान कहा गया है। अन्य वर्षों की तरह यह भोग भूमि होते हुए भी कर्म भूमि भी है। इसी आधार पर श्लोक ७८ में इसे 'कर्म भूमि' कहा गया है ॥७५-७८॥

अन्य वर्ष कर्म भूमि नहीं, अपितु भोग भूमि ही हैं। यही कह रहे हैं—

इलावृत, केतु, भद्र कुरु, हैरण्य, रम्यक, हरि और किन्नर ये आठ वर्ष भोग भूमि हैं। ये कर्म भूमि नहीं हैं।

ननु क्वचिद्भोगभूमावपि कर्मभूमित्वं संभवेत्, यदुक्तं प्राक्

'ते तु तत्रापि देवेशं भक्त्या चेत्पर्युपासते ।
तदीशतत्त्वे लीयन्ते क्रमाच्च परमे शिवे ॥
अन्यथा ये तु वर्तन्ते तद्भोगनिरतात्मकाः ।
ते कालवह्निसंतापदीनाक्रन्दपरायणाः ॥
गुणतत्त्वे निलीयन्ते ततः सृष्टिमुखे पुनः ।
पात्यन्ते मातृभिर्घोरयातनौघपुरस्सरम् ॥' इति ॥७९॥

तत् कथमेतदुक्तं यद्भारतात् अन्यद्भोगभूरेव ? इत्याशङ्क्याह

अत्र बाहुल्यतः कर्मभूभावोऽत्राप्यकर्मणाम् ।
पशूनां कर्मसंस्कारः स्यात्तादृग्दृढसंस्कृतेः ॥ ८० ॥

क्या कभी भोगभूमि में भी कर्म भूमि की सम्भावना की जा सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि, कभी-कभी ऐसा होता है। इसके समर्थन में आगम प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

"ऐसे साधक वहाँ भी भक्ति भावना से भावित होकर यदि परमाराध्य देवेश्वर की उपासना करते हैं, तो वे ईश्वर तत्त्व में लय भाव प्राप्त कर लेते हैं। उपासना के इस क्रम में क्रमशः आगे बढ़ते हुए ईश्वर, सदाशिव शिव और फिर परमशिव से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। इसके विपरीत जो जीव भोगवाद के आकर्षण में पड़ जाते हैं, वे क्रमशः भुक्ति की परिणति जन्य भीषणता के दूषित वातावरण में फँसते ही चले जाते हैं। काल के क्रूर प्रहार से दुःख की ज्वाला की लपटों से झुलस कर दीनतापूर्ण आक्रन्दन से पराभूत जीवन व्यतीत करते हैं। ये लोग त्रिगुणात्मकता की बलि चढ़ जाते हैं। परिणामतः आवागमन के चक्कर में ऐसे पड़ते हैं, जिससे मुक्त होना बड़ा ही दुःसाध्य हो जाता है। करणेश्वरी देवियों की वत्सलता भी वहाँ काम नहीं करती। विवश होकर ये मातायें भी उन्हें घोर यातनाओं के अमङ्गल मय मार्ग में भटकने के लिए छोड़ देती हैं। परिणामतः उनके पतन का पथ प्रशस्त हो जाता है।" ॥७९॥

तब भारत के अतिरिक्त सभी भोग भूमियाँ हैं ? ऐसा क्यों कहा गया है इसका उत्तर दे रहे हैं कि,

कर्मभूभावः 'कर्मभूमित्वमित्यर्थः। नन्वत्र भूम्नापि कर्मभूमित्वं नास्ति, यत् तिर्यगादयः प्राक्कर्मोपभोगमेव अत्र विदधति न त्वभिनवकर्मार्जनमपि—इत्याशङ्क्याह 'अत्रापि' इति। अपिर्भिन्नक्रमः। तेनाकर्मणामपीति योज्यम्। अकर्मत्वं चैषा-मन्यवत्प्रतीतिवृत्तेनायोग्यत्वात् वस्तुवृत्तेन पुनस्तत्तद्वासनादार्ढ्यादस्त्येव एषां कर्मसंस्कारः, तदेषामपि तत्कार्यं शुभाशुभं भवेदेवेति भावः॥ ८०॥

नन्वेवमप्यत्र कर्मभूमित्वं न सिद्धयेत्, अन्यत्र च भोगभूमित्वं, यदत्र केषामपि कर्म न स्यादन्यत्र च स्यात्,—इत्याशङ्क्याह

संभवन्त्यप्यसंस्कारा भारतेऽन्यत्र चापि हि।
दृढप्राक्तनसंस्कारादीशेच्छातः शुभाशुभम्॥ ८१॥

यहाँ अधिकतम कर्म भूमि के भाव का ही विकास परिलक्षित होता हैं। यहाँ के रहने वाले मनुष्यों को कौन कहे पशुओं के और पक्षियों के भी कर्म संस्कार-सम्पन्न ही प्रतीत होते हैं। उनमें वासना की बलवत्ता से तथा संस्कारों की दृढ़ता से ही ऐसा अनुभव होता है 'कर्म भू भाव' शब्द में प्रयुक्त भाव शब्द भाववाचक प्रत्यय के अर्थ में प्रयुक्त है। इसका अर्थ कर्मभूमित्व है। अकर्मा वही जीव या व्यक्ति हो सकता है जो कर्म न करे अर्थात् केवल भोग भूमि के आनन्द का अधिकारी हो। पहले यह चर्चा आ चुकी है कि कहीं भोगभूमि में भी कर्मभूमित्व हो जाता है, तो क्या कर्मभूमि भारत में भोगभूमित्व नहीं हो सकता या क्या भोगभूमि इलावृत्त आदि में कर्मभूमित्व नहीं हो सकता ?

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि अकर्मा अर्थात् तिर्यक् आदि जीव जो कर्मभोग रहे हैं उनमें भी अभिनव कर्म की संस्कार-वादिता दृष्टि गोचर होती है। यद्यपि दूसरों की तरह प्रतीत होने वाले जीवन व्यवहार सम्पन्न करने के कारण वे कर्मभूमित्व के अयोग्य प्रतीत होते हैं, फिर भी उनमें वास्त-विक चारित्रिक उत्कर्ष के कारण विभिन्न वासनाओं की दृढ़ता प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होती है। फलतः कर्म संस्कार-जन्य शुभाशुभ कार्य होते हैं; भले ही वे पुद्गल पशु क्यों न हों॥ ८०॥

इतने कथन मात्र से भारत वर्ष का कर्मभूमि होना और दूसरे वर्षों का भोग भूमि होना कैसे सिद्ध हो सकता है। किस आधार पर यह कह सकते हैं कि यहाँ किसी का कर्म है और अन्यत्र नहीं है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

स्थानान्तरेपि कर्मास्ति दृष्टं तच्च पुरातने ।
तत्र त्रेता सदा कालो भारते तु चतुर्युगम् ॥ ८२ ॥

'असंस्कारा' इति कर्मणः संन्यस्तत्वात् । 'अन्यत्र स्थानान्तरे' इति स्वर्गादिस्थानमध्ये इत्यर्थः । एकोऽपि शब्दो भिन्नक्रमः, तेन शुभाशुभमपीति योज्यम् । नन्वत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्योक्तं 'दृष्टं तच्च पुरातने' इति । 'पुरातन' इति भारतरामायणाद्यात्मनि पुराणादौ । तत्र हि जनकस्य भारतवर्षेऽपि अकर्मित्वं, नहुषस्य स्वर्गेऽपि अशुभकर्मयोगित्वमुक्तम्; अतश्च युक्तमुक्तं—यद्भारते भूम्ना कर्मभूमित्वम्; अन्यत्र च भोगभूमित्वमिति । तत्रेति, इलावृत्तादौ । तदुक्तं

'नाष्टासु विद्यते काचिद्युगत्रयवती स्थितिः ।
चतुर्युगवती ज्ञेया भारताख्ये वरानने ॥'

(स्व० १०।२४७) इति ॥ ८२ ॥

संस्कार-राहित्य अयोग्यता की दशा में या संन्यास दशा में सम्भव है । यह भारत में और अन्य वर्षों में भी दीख पड़ता है । शुभ और अशुभ कर्मों की प्रवृत्ति और उसके परिणाम पूर्व जन्म के संस्कारों के प्रभाव से या ईश्वर की प्रेरणा से अच्छे बुरे होते हैं । अन्य वर्षों में भी कर्म होते हैं—यह हमारे प्राक्तन रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थों से प्रमाणित है । भारत वर्ष में विदेह जनक अकर्म के प्रतीक हैं । नहुष स्वर्ग में भी अशुभ कर्म में प्रवृत्त होता है । इसी आधार पर भारतवर्ष में चारों युगों की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं । अन्य वर्षों में केवल त्रेता युग का ही प्रभाव होता है । स्व० १।२४६ के अनुसार वहाँ भारत को छोड़ अन्य वर्षों में कृत युग के अतिरिक्त त्रेतादि युगत्रयी स्थिति नहीं होती । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में बाहुल्यतः कर्मभूमित्व है । अन्यत्र भी बाहुल्य से ही भोगभूमित्व होता है । इसी आधिक्य के आधार इसे कर्मभूमि और अन्य इलावृत्त आदि को भोग भूमि कहते हैं । स्व० तन्त्र १०।२४७ में कहा गया है कि,

'उक्त इलावृत्त आदि आठों में युगत्रयी के कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते । भारत में चतुर्युग व्यवस्था दीख पड़ती है" पार्वती को सम्बोधित कर रहे भगवान् शिव की यह बात आगमप्रामाण्य का प्रतीक है ॥ ८१-८२ ॥

भारतमपि वर्षं जम्बूद्वीपवन्नवखण्डमेव,—इत्याह

भारते नवखण्डं च सामुद्रेणाम्भसात्र च ।
स्थलं पञ्चशती तद्वज्जलं चेति विभज्यते ॥ ८३ ॥

सामुद्रेणाम्भसेति, अर्थादष्टधा प्रसृतेन, तथात्वेनैव नवधात्वस्य संपत्तेः। यथाहि जम्बूद्वीपः पर्वतैरष्टभिर्विभक्तो नवधा जातः, तथैतदपि समुद्रैः, किंतु एते पूर्वापरायता एव सर्वे इति । तदुक्तम्

'नव भेदाः स्मृतास्तत्र सागरान्तरिताः प्रिये ।
एकैकस्य तु द्वीपस्य सहस्रं परिकीर्तितम् ॥
शतानि पञ्च विज्ञेयं स्थलं पञ्च जलं तथा ।'

(स्व० १०।२५१) इति।

यत्तु श्रीमृगेन्द्रे

'नवाब्धिस्रोतसि द्वीपा नवैवात्रार्धकस्थले ।'

इत्याद्युक्तं तत् क्षाराब्ध्यपेक्षया, अन्यथात्र दशाब्धिस्रोतांसि स्युः । अतश्च सर्वेषां द्वीपानां पार्श्वद्वयेऽपि सामुद्रमम्भः कन्याख्यस्य तु दक्षिण एव, वारुणेनैव पञ्चशतिकेन समुद्रेणास्य विभक्तत्वात् । तेनास्य वामतो हिमवानेव न तु समुद्रान्तरे, तथात्वे हि समुद्रान्तरितत्वात् द्वीपान्तरवत् तन्निवासिनामपि हिमवानगम्यः स्यात्; अतश्च हिमवत्संनिकर्षेणैव एतन्मितमिति सिद्धम् । तदुक्तं तत्र

भारतवर्ष भी जम्बूद्वीप की तरह नौ खण्डों में विभक्त है। यही कह रहे हैं—

भारतवर्ष में नौ खण्ड हैं। जैसे आठ पर्वतों से जम्बूद्वीप नौ भागों में विभक्त हो जाता है, उसी तरह भारतवर्ष भी समुद्रों से विभक्त है। ये पूरब और पश्चिम को विस्तृत हैं। स्व० १०।२५१ के अनुसार भी यही सिद्ध है। आज कल भारत भूखण्ड का बड़ा भौगोलिक परिवर्त्तन हो चुका है। प्रतीत होता है, यह आगमिक वर्णन उस समय का है, जब राजस्थान में समुद्र लहराता था। विन्ध्यमेखला भी समुद्र से प्रक्षालित थी और कुमारी अन्तरीप का भू भाग भी अलग नहीं था और हिमवान् से १ हजार योजन था। उस समय जल की तुलना में थल ही अधिक था। इसीलिये स्व० १०।२५१ में 'शतानि पञ्च विज्ञेयं स्थलं'

"द्वीपं कुमारिकाख्यं तु हिमवन्निकटे मतम् । इति ।

एवं चास्य सहस्रमपि योजनानां स्थलैकरूपत्वमेव,—इत्यर्थलभ्यम् । अत एवास्य श्रीतन्त्रराजभट्टारकादौ हिमवत्सकाशात् सीमान्तविभागं दर्शयितुं तत्पादावस्थिताद्बिन्दुसरोनाम्नः सरोविशेषादारभ्य सहस्रयोजनपरिमाणत्वेन निर्देशः कृतः । यदुक्तं तत्र

'प्रालेयरोधसो याम्ये सौम्ये वै वीचिमालिनः ।
कार्मुकाकारसंस्थानं वर्षं तत्कुरुमानगम् ॥'

इत्युपक्रम्य

'शीतसानोः समाश्लिष्टं नाम्ना बिन्दुसरः सरः ।
तदारभ्य खण्डमेकं सर्वतः सज्जनाकुलम् ॥
वारिलुप्तं न यन्मानं दुहित्रे तद्ददौ भुवः ।
कुमार्यै भरतो राजा सपत्नेन्दुनभोग्रहः ॥
द्वीपं कुमारिकासंज्ञमतो ह्येतत्प्रगीयते ।
योजनानां सहस्रं तु नानावर्णाश्रमान्वितम् ॥' इति ।

लिखा है किन्तु जल के लिये मात्र पञ्च भाग ही लिखा गया है । तन्त्रालोक में जल स्थल बराबर और मृगेन्द्र तन्त्र के अनुसार भी नौ सामुद्रिक स्रोत और नौ स्थल भाग निर्दिष्ट हैं । सभी द्वीपों के दोनों पार्श्व में जल के स्रोत थे । हिमवान् पर्वत आज की ही तरह इनके उत्तर में निकट ही अवस्थित था । कन्याकुमारी में आज की ही तरह दक्षिण में समुद्र था ।

श्री तन्त्रराज में हिमवान् की अधित्यका में विन्दुसर की चर्चा है । वहाँ कुमारिका नाम पड़ने का इतिहास भी उल्लिखित है । अपनी कुमारी पुत्री के लिये यह भूमि उन्होंने दान में ही दी थी । इसी आधार पर यह नाम पड़ा ।

श्रीतन्त्रराज भट्टारक में "कुरुवर्ष नामक कार्मुक के आकार वाले एक ऐसे ही वर्ष संस्थान की चर्चा है । वह हिमनद के दक्षिण ओर लहराते आजकल के अरब समुद्र के उत्तर था" । इसके बाद और भी लिखा है कि,

"हिमपर्वत के सानु प्रदेश से एकदम सटे विन्दुसर नामक महान् सरोवर था । उससे प्रारम्भ होकर एक ऐसा भू-खण्ड उभर आया था जिसके जल में लुप्त होने की सम्भावना नहीं थी । उस भू-खण्ड को जिसने स्वर्गतक को अपने वश कर रखा था, ऐसे राजा भरत ने अपनी कुमारी कन्या को दान में दे दिया ।

श्रीस्वच्छन्देऽपि

'बिन्दुसरः प्रभृत्येव कुमार्याह्वं प्रकीर्तितम् ।
योजनानां सहस्रं तु नानावर्णाश्रमान्वितम् ॥'
(स्व० १०।२५४) इति ॥ ८३ ॥

एषां च नवानामपि खण्डानां नामविभागमाह

इन्द्रः कशेरुस्ताम्राभो नागीयः प्राग्गभस्तिमान् ।
सौम्यगान्धर्ववाराहाः कन्याख्यं चासमुद्रतः ॥ ८४ ॥

'आसमुद्रत' इति समुद्रादारभ्य, तेन क्षाराब्धिनिकटे इन्द्रद्वीपं यावत्पर्यन्ते हिमवन्निकटे कन्याद्वीपम् । 'ताम्राभ' इति ताम्रवर्णः । प्रागिति, गभस्तिमान् आदौ पश्चान्नागीयः । 'वाराहो' वारुणः । तदुक्तम्

'इन्द्रद्वीपं कशेरुं च ताम्रवर्णं गभस्तिमत् ।
नागद्वीपं च सौम्यं च गान्धर्वं वारुणं तथा ॥
द्वीपं कुमारिकाख्यं च नवमं परिकीर्तितम् ।'
(स्व० १०।२५३) इति ॥ ८४ ॥

तभी से उस द्वीप का नाम 'कुमारी खण्ड' पड़ गया। एक हजार योजन के द्वीप में आश्रम और वर्ण व्यवस्था के अनुसार समाज परिचालित होता था।"

स्व० १०।२५४ के अनुसार "विन्दुसर से ही कुमारी अन्तरीप का प्रारम्भ होता था। उसका परिमाण उतना ही था और सामाजिक व्यवस्था वर्ण और आश्रम पर आधारित थी ॥ ८३ ॥

इन ९ खण्डों के नाम इस प्रकार हैं—

समुद्र से लेकर इन्द्र, कशेरु, ताम्राभ, गभस्तिमान्, नागीय, सौम्य, गान्धर्व, वाराह (वारुण) और कुमारी (कन्या कुमारी) ये नौ द्वीप हैं। स्व० १०।२५३ से इनकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। स्वच्छन्द तन्त्र में भी यही क्रम माना गया है। आ समुद्र का अर्थ समुद्र पर्यन्त नहीं अपितु समुद्र से आरम्भ कर होना उचित है। इससे यह स्पष्ट होता है कि क्षार समुद्र के पास ही 'इन्द्र' नामक द्वीप भी था। लगता है कि आज का अण्डमान द्वीप ही इन्द्र द्वीप है जो उस समय तट से और नजदीक रहा होगा। । कन्याकुमारी इन्द्र और हिमवान का यह त्रिकोण स्वच्छन्दतन्त्र कालीन भूखण्ड का आनुमानिक चित्र प्रस्तुत करता है ॥ ८४ ॥

कन्याद्वीपे च नवमे दक्षिणेनाब्धिमध्यगाः ।
उपद्वीपाः षट् कुलाद्रिसप्तकेन विभूषिते ॥ ८५ ॥
अङ्गयवमलयशङ्कुः कुमुदवराहौ च मलयगोऽगस्त्यः ।
तत्रैव च त्रिकूटे लङ्का षडमी ह्युपद्वीपाः ॥ ८६ ॥

दक्षिणेनाब्धिमध्यगा इति, वारुणोदधेर्मध्यस्था इत्यर्थः । तदुक्तम्

कुमार्याख्यस्य निकटे मध्यस्था वारुणोदधेः ।
अतीत्य योजनशतमनुद्वीपाश्च षट् स्मृताः ॥
अङ्गद्वीपो यवद्वीपो मलयद्वीप एव च ।
द्वीपोऽन्यः शङ्कुसंज्ञश्च कुमुदश्च ततोऽन्यतः ॥
वराहश्चैव षष्ठः स्यात् ··· ····· ··· ···· ····· ।' इति ।

कुलाद्रिसप्तकेनेति, यदुक्तम्

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च भान्त्येते कुलपर्वताः ॥'
(स्व०१०।२५७) इति ।

मलयगोऽगस्त्य इति, यदुक्तम्

'कथितो मलयद्वीपे मलयो नाम पर्वतः ।
तस्य पादे त्रिकूटो वै लङ्का तस्योपरिस्थिता ॥'
(स्व० १०।२५९) इति ।

इसमें ६ उपद्वीप भी हैं । सात कुल पर्वतों से विभूषित कन्या कुमारी के पास वारुण समुद्र के बीच में अवस्थित हैं । उनके नाम १—अङ्ग २—यव ३–मलय ४—शङ्कु ५—कुमुद और ६—वाराह द्वीप हैं । ये सभी छह उपद्वीप हैं । कुल पर्वतों के नाम—१. महेन्द्र २. मलय, ३. सह्य ४. शुक्तिमान् ५. ऋक्ष ६. विन्ध्य और ७. पारियात्र हैं । स्व० १०।२५७ से यह बात प्रमाणित है । स्व० तन्त्र के ही १०।२५९ से यह ज्ञात होता है कि मलय द्वीप स्थित मलय पर्वत के तल भाग में त्रिकूट नाम छोटा पर्वत है, जिस पर 'लङ्का' अवस्थित है । मलय पर्वत पर ही अगस्त्य आश्रम का भी उल्लेख स्व० त० १०।२६२ में आता है । मलयगोऽगस्त्य शब्द अपने अन्दर एक इतिहास छिपाये बैठा प्रतीत होता है ।

'अगस्त्यशिखरं तत्र मलये भूधरोत्तमे ।
तत्राश्रमो महापुण्य आगस्त्यः स्फटिकप्रभः ॥'
(स्व० १०।२६२) इति च ॥ ८६ ॥

अत्र च कीदृग्लोकः ? इत्याशङ्क्याह

द्वीपोपद्वीपगाः प्रायो म्लेच्छा नानाविधा जनाः ।
मुक्ताकाञ्चनरत्नाढ्या इति श्रीरुरुशासने ॥ ८७ ॥

'म्लेच्छा' इति वर्णाश्रमाचारबहिष्कृता इत्यर्थः। प्रायः शब्देन च क्वचित्सदाचारा अपि संभवन्तीत्युक्तम्। नन्वत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्योक्तम् 'इति श्रीरुरुशासने' इति। तदुक्तं तत्र

युक्ता वर्णाश्रमाचारैः कुमार्याख्ये परं प्रजाः ।
इतरे म्लेच्छभूयिष्ठाः प्रभूतमणिकाञ्चनाः ॥' इति ॥८७॥

अगस्त्य एक पौराणिक ऋषि हैं। ये विन्ध्य पर्वत के प्रसिद्ध गुरु और समुद्र शोषक महासिद्धि के प्रतीक हैं। मलय द्वीप में मलय नामक पर्वत है। उसकी तीन मुख्य चोटियाँ मिलकर त्रिकूट पर्वत कहलाती थीं। इसी मलय नामक श्रेष्ठ पर्वतराज पर एक शिखर और भी था। वहीं ऊपरी भाग में अगस्त्य मुनीश्वर तपस्या करते थे। उनके नाम पर ही उस शिखर का नाम अगस्त्य शिखर पड़ गया। स्व० १०।२६२ के अनुसार उस शिखर की कान्ति स्फटिक के समान प्रभा विकीर्ण करने वाली है ॥ ८५-८६ ॥

इन द्वीपों और उपद्वीप के निवासी अविकसित और वर्णाश्रमाचार से रहित म्लेच्छप्राय हैं। इनके पास समृद्धि की कमी नहीं हैं। रत्नों और स्वर्ण राशि दोनों से भरे पूरे हैं और जिस स्थिति में हैं, उसी में सुखी हैं। म्लेच्छ शब्द ऐसे व्यक्ति के विशेषण के रूप में व्यवहृत होता है, जो वर्ण और आश्रम के आचारों से शून्य होता है। नानाविध जन शब्द यह संकेत करता है कि अर्थोपार्जन के लक्ष्य से विभिन्न देशों के लोग वहाँ आने-जाने के साथ ही वहाँ बस भी गये थे। श्रीरुरुशासन नामक आगमग्रन्थ में भी लिखा है कि,

"कुमारिका खण्ड में प्रजा वर्ण और आश्रम के आचारों से संस्कार सम्पन्न थी। इतर अर्थात् अन्य द्वीपों और उपद्वीपों में लोग वर्णाश्रमाचार से रहित किन्तु समृद्ध थे"। यही कारण है कि उन्हें म्लेच्छ कहकर उनकी

नन्वेवमत्र शुभाशुभार्जनेन कोऽर्थः ? इत्याशङ्क्याह

भारते यत्कृतं कर्म क्षपितं वाप्यवीचितः ।
शिवान्तं तेन मुक्तिर्वा कन्याख्ये तु विशेषतः ॥ ८८ ॥

'कर्म' इति शुभाशुभम् । क्षपितमिति, क्रियाज्ञानादिना । तेनात्र कर्मणा कृतेन क्षपितेन वा पृथिव्यादिषु शिवान्तेषु तेषु तेषु तत्त्वेषु भुक्तिस्ततो वा मुक्तिर्भवेदित्यर्थः । यदुक्तम्

'तत्रैव यत्कृतं कर्म शुभं वा यदि वाशुभम् ।
वसन्ति तेन लोकाश्च शिवाद्यावीचिमध्यगाः ॥'
(स्व० १०।२४८) इति ।

तथा

'कन्याख्ये यत्कृतं कर्म जन्तुभिस्तु सितासितम् ।
स्वर्नारकापवर्गेषु तद्बीजं फलभोगदम् ॥' इति ॥ ८८ ॥

सामाजिकता के स्तर पर कटाक्ष किया गया है । प्रायः शब्द से यह ध्वनि भी निकलती है कि कभी-कभी वे लोग भी वर्णाश्रम व्यवस्था से प्रभावित होते थे और तदनुकूल आचरण भी करते थे ॥ ८७ ॥

भारतवर्ष कर्म भूमि है । इसमें किये कर्म से भुक्ति और मुक्ति दोनों की प्राप्ति होती है । कर्म से भुक्ति और कर्म क्षय से मुक्ति यह स्वाभाविक है । अवीचि शब्द का अर्थ पृथिवी है । त्रिक शास्त्र में पृथ्वी से शिव पर्यन्त ३६ तत्त्व माने जाते हैं । अवीचितः शिवान्तं का यही अर्थ है । यों अवीचि शब्द के तरङ्ग शून्य और नरक ये दो अर्थ भी होते हैं । विशेष रूप से कन्याकुमारी क्षेत्र कर्म के अनुसार भुक्ति मुक्ति प्रदान करने का पवित्र स्थल माना जाता है । स्व० तन्त्र १०।२४८ के अनुसार "चाहे शुभकर्म हो या अशुभ, दोनों कर्म फलप्रद हैं ।" शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों को ज्ञान और क्रिया योग के द्वारा क्षपित किया जा सकता है । अपनी साधना के अनुसार साधकों को अपवर्ग, मुक्ति, जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है । अशुभ कर्म की समाप्ति पर स्वर्ग मिलता है । यहाँ धरादि शिवान्त कर्मफल की व्यवस्था है । अन्यत्र भी कहा गया है कि,

नन्वेतत् कन्याद्वीपे विशेषेण भवेत्,—इत्यत्र किं निमित्तम् ?

इत्याशङ्क्याह

महाकालादिका रुद्रकोटिरत्रैव भारते ।
गङ्गादिपञ्चशतिका जन्म तेनात्र दुर्लभम् ॥ ८९ ॥

अत्रैवेति कन्याख्ये द्वीपे । यदुक्तम्

'तत्र मध्ये महाद्वीपं कुमारीद्वीपसंज्ञितम् ।
तत्र रुद्रायुतं पूर्णमवतीर्णं शुभंकरम् ॥
पशूनां हेतुभूतं च स्मरणात्पापनाशनम् ।' इति ।

तथा

'महाकालस्तथैकाम्रमेवमादि वरानने ।
तीर्थानां कोटिरुद्दिष्टा महाकामफलोदया ॥
गङ्गादीनां नदीनां च तत्र पञ्च शतानि च ।'

(स्व० १०।२४९) इति ।

तेन तीर्थभूयिष्ठत्वादिनेति ॥ ८९ ॥

"कन्या कुमारी में सित या असित आचरित कर्म अपने बीज के अनुसार नरक, स्वर्ग और अपवर्ग प्रदान करने में सक्षम हैं" ॥ ८८ ॥

कन्याकुमारी के वैशिष्ट्य का विशेष कारण है । यहाँ महाकाल और करोड़ों रुद्रों ने भी जन्म ग्रहण किया है । गङ्गा आदि ५०० नदियाँ भी प्रवहमान हैं । इसलिये यहाँ जन्म लेना अत्यन्त दुर्लभ है । यहाँ के लोग कमल के किसलय के समान रंगवाले हैं और उतने ही कोमल हैं । जामुन का फल खाते हैं और उसका रस पीते हैं । श्रीकण्ठी की उक्ति से भी यह प्रमाणित है । कि,

वारुण समुद्र के मध्य में कुमारी नामक द्वीप सुशोभित है । यहाँ दश हजार रुद्रों ने अवतार ग्रहण किया था । उनका अवतार नितान्त कल्याणकारी था । पशु स्तरीय पाशबद्ध लोगों के कल्याण का कारण था । उनके स्मरणमात्र से पापों का नाश हो जाता है ।"

और स्व० १०।२४९ से यह सिद्ध हो जाता है कि,

ननु वर्षान्तरेषु

'प्रत्यग्राम्बुजपत्राभा जनाश्चातीव कोमलाः ।
जम्बूफलरसाहारा जरामृत्युविवर्जिताः ॥' (स्व० १०।२१३)

इत्याद्युक्त्या सुखभूयिष्ठा जनाः, इह च

'जना रोगभयग्रस्ता दुःखिता मन्दसंपदः ।' (स्व० १०।२४०)

इत्याद्युक्त्या दुःखभूयिष्ठाः,—इत्यत्र 'जन्म दुर्लभम्' इति केन निमित्तेनोक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अन्यवर्षेषु पशुवद् भोगात्कर्मातिवाहनम् ।
प्राप्यं मनोरथातीतमपि भारतजन्मनाम् ॥ ९० ॥

मनोरथातीतमिति, भोगापवर्गादिर्महीयस्त्वात् ॥ ९० ॥

नन्वेवं चेदविशेषेण भारतजन्मनां सिद्धयेत् तत् 'कन्याख्ये तु विशेषत' इति कस्मादुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

नानावर्णाश्रमाचारसुखदुःखविचित्रता ।
कन्याद्वीपे यतस्तेन कर्मभूः सेयमुत्तमा ॥ ९१ ॥

"वहाँ महाकाल और एकाम्र सदृश महत्वपूर्ण पावन करोड़ों तीर्थ थे। इनसे समस्त कामनाओं की सिद्धि हो जातो थी। गङ्गा आदि ५०० नदियाँ वहाँ प्रवाहित थीं" ॥ ८९ ॥

स्व० १०।२१३ के अनुसार जम्बूद्वीप निवासी जरामृत्युरहित हैं और १०।२४० के अनुसार यहाँ के मनुष्य रोगभयग्रस्त और दुःखी है। ऐसी स्थिति में यहाँ का जन्म दुर्लभ कैसे माना जाय ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये ग्रन्थकार अपना मत व्यक्त कर रहे हैं—

उनका कहना है कि अन्य सारे वर्ष भोग वर्ष हैं। कर्म मय जीवन यापन इनके निवासियों की विवशता है। वहीं भारतवर्ष में जन्म ग्रहण महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यहाँ मनोरथातीत उपलब्धि प्राप्त कर जीवन धन्य हो जाता है। भोग, स्वर्ग और अपवर्ग यहाँ सर्व सुलभ हैं ॥ ९०॥

यदुक्तम्

'ये पूर्वोक्ता गुणा लोके भारते वरवर्णिनि ।
ते तत्रैव स्थिता लोके कुमारीसंज्ञके प्रिये ॥'
(स्व० १०।२५५) इति ।

अतश्च एतन्निवासिनामेव शुभाशुभकर्मानुष्ठानात् स्वर्निरयावाप्तिः स्यात् ॥ ९१ ॥

तदाह

**पुंसां सितासितान्यत्र कुर्वतां किल सिद्धचतः ।
परापरौ स्वर्निरयाविति रौरववार्तिके ॥ ९२ ॥**

किमत्र प्रमाणमित्युक्तं 'रौरववार्तिके' इति ।

तदुक्तं तत्र

'पुंसां सितानि कर्माणि कुर्वतामसितानि च ।
सिद्धचतः स्वर्गनिरयावत्र क्षिप्रं परापरौ ॥' इति ॥ ९२ ॥

यहाँ विविध प्रकार के वर्णाश्रमाचार प्रचलित हैं। यहाँ सुखदुःख की धूपछाँह का अचरज भरा आनन्द है। इसे उत्तम कर्म भूमि कहना यथार्थ है। स्व० १०।२५५ में जगज्जननी से परमेश्वर शिव के सम्वाद का उल्लेख है। शिव कहते हैं—प्रिये ! भारतवर्ष में जन्म का जो महत्व है, उससे कुछ अधिक ही कुमारी क्षेत्र का है ॥ ९१ ॥

रौरववार्त्तिक का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि शुभ और अशुभ कर्म करने वाले लोग यहाँ 'पर' और 'अपर' रूप स्वर्ग और नरक की सरलता से सिद्धि कर लेते हैं।

रौरववार्त्तिक की उक्ति है कि—

अनादि सिद्ध अनन्त अनन्त अणु पुरुष विभिन्न प्रकार के सित असित कर्म करते ही रहते हैं किन्तु इस कुमारिका खण्ड में वे जो भी सित (पुण्य) और असित (दूषित) कर्म करते हैं—उनकी तत्काल प्रक्रिया होती है। पुण्य कर्मों से उन्हें स्वर्ग की सिद्धि होती है। अपुण्य अर्थात् पाप कर्मों से निरय लोकों की भो तत्काल प्राप्ति होतो है। सित कर्मों से फल रूपी स्वर्ग 'पर' सिद्धि और निरय 'अपर' सिद्धि कहलाती है ॥ ९२ ॥

एतदेव उपसंहरति

एवं मेरोरधो जम्बूरभितो यः स विस्तरात् ।
स्यात् सप्तदशधा खण्डैर्नवभिस्तु समासतः ॥ ९३ ॥

सप्तदशधेति, इलावृताद्यान्यष्टौ, इन्द्रद्वीपादीनि च नवेति । नवभिरिति, भारतेन सहेलावृताद्यैः ॥ ९३ ॥

नन्वेवं खण्डत्वेऽस्य किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

मनोः स्वायंभुवस्यासन् सुता दश ततस्त्रयः ।
प्राव्रजन्नथ जम्ब्वाख्ये राजा योऽग्नीध्रनामकः ॥ ९४ ॥
तस्याभवन्नव सुतास्ततोऽयं नवखण्डकः ।
नाभिर्यो नवमस्तस्य नप्ता भरत आर्षभिः ॥ ९५ ॥
तस्याष्टौ तनयाः साकं कन्यया नवमोंऽशकः ।
भुक्तैस्तैर्नवधा तस्माल्लक्षयोजनमात्रकात् ॥ ९६ ॥

इस विषय का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि,

इस प्रकार मेरु पर्वत की छत्रछाया में पलने वाला यह जम्बूद्वीप विशेषतः भारत महत्त्वपूर्ण मानव मूल्यों की प्रस्थापना करता है । जम्बूद्वीप १७ खण्डों में विभक्त है । संक्षेप में इसे नौ प्रकार का मानते हैं । इलावृत आदि ८ वर्षों और इन्द्र आदि ९ द्वीपों को मिलाकर इसे सत्रह खण्डों में विभक्त मानते हैं । संक्षेपतः ९ खण्डों के रूप में यह इलावृत वर्षों के साथ भारतवर्ष को मिलाकर ही मान्य होता है ॥ ९३ ॥

प्रश्न है कि इस खण्ड और प्रखण्ड प्रक्रिया में पूरे महाद्वीप को बाँटने का क्या कारण था ? इसका उत्तर ९४–९६ कारिकाओं में दे रहे हैं––

स्वायम्भुव मनु के वंश में उनके दश पौत्र हुए । उनमें से तीन ने संन्यास ग्रहण कर लिया । जम्बुद्वीप का राजा अग्नोध्र राजगद्दी पर बैठा । उसके नव पुत्र हुए । उन पुत्रों को व्यवस्थित करने के लिये इसे नौ खण्डों में बाँट दिया गया । इन नवों खण्डों के आग्नीध्र अलग अलग राजा बने । इनमें से नवाँ नाभि था । उसका दौहित्र भरत था । उसे आर्षभि कहते थे । क्योंकि उसके पिता का नाम ऋषभ था ।

"'सुता' इति पौत्राः। जम्बाख्ये राजेति, अर्थात् एतन्मध्यात्। ऋषभस्यापत्यमार्षभिः अत एव नप्तेत्युक्तम्। अष्टौ तनया इति, प्राुक्ता इन्द्राद्याः। तदुक्तम्

'स्वायंभुवो मनुर्नाम तस्य पुत्रः प्रियव्रतः।
तस्याथ दश पुत्रा वै जाता वीर्यबलोत्कटाः॥
अग्नीध्रश्चाग्निबाहुश्च मेधा मेधातिथिर्वपुः।
ज्योतिष्मान्द्युतिमान् हव्यः सावनः सत्र एव च॥
मेधा सत्रोऽग्निबाहुश्च एते प्रव्रजितास्त्रयः।
सप्तद्वीपेषु ये शेषा अभिषिक्ता महाबलाः॥
जम्बुद्वीपे तथाग्नीध्रस्तस्य पुत्रा नव स्मृताः।
नाभिः किंपुरुषश्चैव हरिश्चैव इलावृतः॥
भद्राश्वः केतुमालश्च रम्यकश्च हिरण्मयः।
नवमस्तु कुरुर्नाम नववर्षाधिपाः स्मृताः॥

भरत के आठ पुत्र हुए। एक कन्या भी हुई। कुल ९ सन्तान भरत के थे। इन नवों के लिये एक लाख योजन वर्ग क्षेत्र में फैला यह जम्बुद्वीप का भाग नव खण्डों में बाँट दिया गया। इस कारिका में प्रयुक्त सुत शब्द पौत्र अर्थ में है। पूरे जम्बुद्वीप के एक मात्र राजा स्वायंभुव मनु थे। उनके बाद इसके खण्ड खण्ड में बँट जाने पर अलग अलग खण्डों के राजा हुए। आर्षभि शब्द ऋषभ शब्द से अपत्य अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय लगाने से बनता है। नप्ता नाती को कहते हैं। वह लड़की का लड़का होता है। आठ पुत्र भरत के थे। उनके इन्द्र आदि इन पुत्रों की चर्चा आ चुकी है। स्व० तन्त्र के १०।२७४ से २८३ तक के श्लोकों में इसका वर्णन है। वही उद्धरण में यहाँ दिया गया है। उसमें कहा गया है कि,

"स्वायम्भुव मनु के पुत्र का नाम प्रियव्रत था। उसके दश पुत्र थे। वे बड़े वलवान् और मनस्वो थे। अग्नीध्र, अग्निबाहु, मेधा, मेधातिथि, वपु, ज्योतिष्मान् द्युतिमान्, हव्य, सावन और सत्र उनके नाम थे। इनमें से मेधा, सत्र और अग्निबाहु तीनों परिव्राजक हो गये। सात शेष बचे पुत्र सात द्वीपों में अभिषिक्त किये गये। जम्बूद्वीप में अग्नीध्र का अभिषेक हुआ। अग्नीध्र के नौ पुत्र नाभि, किंपुरुष, हरि, इलावृत, भद्राश्व, केतुमाल, रम्यक हिरण्मय और कुरु थे। ये अपने नाम से प्रख्यात वर्षों के स्वामी थे। नाभिका पुत्र ऋषभ था।

अग्नीध्रतस्तु जाता वै शूराश्चातिबलोत्कटाः ।
तेषां नामाङ्कितानीह नव वर्षाणि पार्वति ॥
नाभेः पुत्रो महावीर्य ऋषभो धर्मतत्परः ।
तस्यापि हि सुतो ज्ञेयो भरतस्तु प्रतापवान् ॥
तन्नाम्नैव तु विज्ञेयं भारतं वर्षमुत्तमम् ।
तस्याप्यष्टौ पुनः पुत्रा जाताः कन्यापरा प्रिये ॥
भारते त्वष्टद्वीपेऽत्र अष्टौ पुत्रा निवेशिताः ।
नवमस्तु कुमार्याह्वः कन्यायाः प्रतिपादितः ॥
तेषां नाम्ना तु ते द्वीपा भरतेन प्रकीर्तिताः ॥'
(स्व० १०।२८३) इति ।

तस्मादिति, जम्बुद्वीपात् लक्षयोजनमात्रकादिति । तत्रास्य पूर्वपश्चिमतो लक्षयोजनत्वं प्राक् प्रदर्शितं, दक्षिणोत्तरतस्तु इदानीमुच्यते । तत्र भारतादीनि षड्वर्षाणि प्रत्येकं नवसाहस्राणि,—

ऋषभ से महाप्रतापी भरत की उत्पत्ति हुई । उसी के नाम से भारतवर्ष यह नाम विख्यात हुआ । भरत के आठ पुत्र और एक कन्या हुई । भारतवर्ष के आठ द्वीपों के वे आठों स्वामी हुए । इन्हीं के नाम पर उन द्वीपों के नाम भी रख दिये गये । नवीं कन्या कुमारी हुई ।" स्व० १०।२७४ से २८३ तक इसी विषय का वर्णन है । जम्बूद्वीप का पूर्व से पश्चिम तक का विस्तार १ लाख योजन और उत्तर से दक्षिण तक का विस्तार का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है । भारतवर्ष आदि ६ वर्षों के नौ-नौ हजार विभाग किये गये थे । ये कुल मिकाकर ६ × ९ = ५४ चौवन हजार होते हैं । हिमवान् आदि प्रत्येक २ हजार भागों में विभक्त थे । इसमें ६ भारतादि वर्षों के गुणन से १२००० भाग होते हैं । मेरु की तलहटी के सोलह हजार योजन विस्तार अर्थात् बाहर भीतर के योग से ३ हजार वर्ग के साथ बाह्यान्तर इलावृत वर्ष के २००० मिलाने पर ३४००० योजन का होता था । इनको मिलाने से ५४ × १२ × ३४ = १०० हजार अर्थात् एक लाख योजन का विस्तार सिद्ध होता है । इस कथन की पुष्टि

इति चतुष्पञ्चाशत्, हिमवदादयश्च प्रत्येकं द्विसाहस्रा,—इति द्वादश, मेरुमूलीय-सहस्रषोडशकेन सह इलावृतं चतुस्त्रिंशत् सहस्राणि,—इत्येवं योजनानां लक्षं जम्बुद्वीपम् ॥ ९६ ॥

इदानीं तद्बहिरपि संस्थानविशेषं दर्शयति

लक्षैकमात्रो लवणस्तद्वाह्येऽस्य पुरोऽद्रयः ।
ऋषभो दुन्दुभिर्धूम्रः कङ्कद्रोणेन्दवो ह्युदक् ॥ ९७ ॥
वराहनन्दनाशोकाः पश्चात् सहबलाहकौ ।
दक्षिणे चक्रमैनाकौ बाडवोऽन्तस्तयोः स्थितः ॥ ९८ ॥
अब्धेर्दक्षिणतः खाक्षिसहस्रातिक्रमाद्गिरिः ।
विद्युत्वांस्त्रिसहस्रोच्छ्रायामोऽत्र फलाशिनः ॥ ९९ ॥
मलदिग्धा दीर्घकेशश्मश्रवो गोसधर्मकाः ।
नग्नाः संवत्सराशीतिजीविनस्तृणभोजिनः ॥१००॥

स्व० १०।२०५ से होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि जम्बूद्वीप का पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण का एक लाख वर्ग योजन विस्तार उस समय था। आधुनिक भूवलय की स्थिति से अकल्प्य अन्तर तात्कालिक भूवलय से था, यह आकलन का विषय है। सामाजिक दृष्टि से भी महान् अन्तर था ॥९४–९६॥

इसके बाद अब बाह्य संस्थान का वर्णन कर रहे हैं—

लवण समुद्र का बाह्य संस्थान भी एक लाख योजन वर्ग विस्तृत था। इन्द्रके भय से ऋषभ, दुन्दुभि, धूम्र ये तीन पर्वत पूरब की ओर से समुद्र में जा छिपे थे। चन्द्र, कङ्क और द्रोण ये तीन उत्तर की ओर से समुद्र में समा गये। अशोक, वराह और नन्दन ये तीनों पश्चिम तथा चक्र मैनाक और बलाहक ये तीन दक्षिण की ओर समुद्र में छिप गये थे। इस तरह ये १२ पर्वत लवण समुद्र में इन्द्र के भय से छिप गये थे। इनमें चक्र और मैनाक दोनों पर्वतों के मध्य में बडवानल का केन्द्र है।

दक्षिण समुद्र से २० हजार योजन विद्युत्वान् पर्वत हैं। तीन हजार योजन में फैला यह पर्वत उतना ही ऊँचा भी है। वहाँ घासपात और फल पर जीवन निर्वाह करने वाले, दाढ़ी मूछों से और शिर के लम्बे बालों से भद्दी आकृति वाले,

निर्यन्त्राणि सदा तत्र द्वाराणि बिलसिद्धये ।
इत्येतद् गुरुभिर्गीतं श्रीमद्रौरवशासने ।। १०१।।
इत्थं य एष लवणसमुद्रः प्रतिपादितः ।
तद्बहिः षडमी द्वीपाः प्रत्येकं स्वार्णवैर्वृताः ।।१०२।।
क्रमद्विगुणिताः षड्भिर्मनुपुत्रैरधिष्ठिताः ।
शाककुशक्रौञ्चाः शल्मलिगोमेधाब्जमिति षड्द्वीपाः ।
क्षीरदधिसर्पिरैक्षवमदिरामधुराम्बुकाः षडम्बुधयः ।।१०३।।
मेधातिथिर्वपुष्माञ्ज्योतिष्मान्द्युतिमता हवी राजा ।
संवर इति शाकादिषु जम्बुद्वीपे न्यरूपि चाग्नीध्रः ।।१०४।।

शरीर से मैले कुचैले नंगे और पशुवद् व्यवहार करने वाले लोग रहते हैं। उनकी आयु ८० वर्षों की होती है। वहाँ कहीं आने जाने की रोक नहीं, नगर प्राकार नहीं। ऐसी अविकसित जीवन पद्धति वाले लोगों के सम्बन्ध में श्रीरौरव शास्त्र में उल्लेख है। ऐसा यह लवण समुद्र है ॥ ९७-१०२ ॥

इस लवण समुद्र के बाहर छः द्वीप हैं। शाक, कुश, क्रौञ्च, शल्मलि, गोमेध और अब्ज उनके नाम हैं। इनमें मनुष्यों का निवास है। ये क्रमशः दूने विस्तार के हैं। अर्थात् शाक द्वीप यदि दो लाख योजन विस्तार वाला है तो कुश द्वीप चार लाख का। ये छः द्वीप और इनके क्रमशः क्षीर, दधि, सर्पि, इक्षु, मदिरा और मधुर स्वाद वाले छः समुद्र हैं। मेधातिथि, वपुष्मान्, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान् और शंवर ये ५ शाकादि द्वीपों के अधिपति थे और जम्बूद्वीप में आग्नीध्र का राज्याभिषेक हुआ था। यह सारा वर्णन स्व० १०।२६९-२७३, १०।२८९-२९० तथा १०।२८५-२८७ से प्रमाणित है।

स्वच्छन्द तन्त्र स्वयं शिव द्वारा पार्वती को सुनाया गया अत्यन्त प्रामाणिक आगम ग्रन्थ है। तन्त्र शास्त्र की परम्परा में इसका उतना ही प्रामाण्य है जितना आर्ष ग्रन्थों में वेदों का। लवण समुद्र भारत के बाहर दक्षिण में अवस्थित है। सृष्टि चक्र के सन्दर्भ में भारत का वर्णन करने बाद बाह्य संस्थान का यह वर्णन उस समय के भूगोल और खगोल दोनों की बाह्य स्थितियों का एक तरह से चित्रण है।

'लवण' इति लवणाम्भाः क्षारसमुद्र इत्यर्थः। 'इन्दुः' चन्द्रः। यदुक्तम्,

'वृत्रारिभयसंत्रस्ताः प्रविष्टास्तत्र पर्वताः।
द्वादशैव महावीरास्तान्ब्रवीमि समासतः॥'
ऋषभो दुन्दुभिर्धूम्रः प्रविष्टः पूर्वभागतः।
चन्द्रः कङ्कस्तथा द्रोणः प्रविष्ट उत्तरेण तु॥
अशोकोऽथ वराहश्च नन्दनश्च तृतीयकः।
अपरेण नगास्तत्र प्रविष्टा लवणोदधिम्॥
चक्रो मैनाकसंज्ञश्च तृतीयश्च बलाहकः।
दक्षिणेन वरारोहे प्रविष्टाश्चैव भूधराः॥
चक्रमैनाकयोर्मध्ये तिष्ठेद्वै वडवानलः।
(स्व० १०।८७३) इति।

जहाँ तक लवण समुद्र का प्रश्न है—यह खारे जल वाले समुद्र का नाम है। वर्त्तमान विश्व का सारा समुद्र लवण समुद्र है। तत्कालीन विश्व केन्द्र भारत था। इसो को केन्द्र मान कर इस से दक्षिण आज के हिन्द महासागर को प्रमुखता देकर यह वर्णन किया गया है। जिन पर्वतों के विषय में समुद्र के भीतर छिपने को बात की गयी है, उनमें एक इन्दु पर्वत की चर्चा है। वस्तुतः वह 'चन्द्र' पर्वत है। पर्यायवाची होने के कारण चन्द्र की जगह इन्दु का प्रयोग किया गया है। लवण समुद्र सम्बन्धी सन्दर्भ को स्वच्छन्द तन्त्र इस प्रकार से व्यक्त करता है—

वृत्र के भय से भयभीत पर्वत समुद्र में प्रविष्ट हो गये थे। [आधुनिक भूगोल शास्त्रियों को यह कथानक मिथक लगता है। इसका रहस्य जानने की चेष्टा ये नहीं करते। धरा सृष्टि का अन्तिम तत्त्व है। जिस समय पार्थिव जगत आकार ग्रहण कर रहा होगा, उस समय की आदिम निर्माण वेला के ये उपाख्यान हैं। इनकी उपेक्षा नहीं होनो चाहिए वरन् इनके सम्बन्ध में गवेषणा होनी चाहिये। इससे इन प्राच्य वर्णनों में और इस समय की स्थिति का समन्वयात्मक आकलन हो सकता है] वे पर्वत १२ थे। उनमें विश्व को धारण करने का महान् बल था। संक्षेप में उनको कथा इस प्रकार है। ऋषभ, दुन्दुभि और धूम्र ये तीन पर्वत पूरब से समुद्र में समा गये थे। चन्द्र, कङ्क और द्रोण उत्तर दिशा से समुद्र में प्रविष्ट हुए थे। अशोक-वराह और तीसरे

दक्षिणत इति, चक्रमैनाकादिसंनिकर्षेण, 'खाक्षि इति विंशतिः। गुरुभिरिति, बृहस्पतिपादैः यदुक्तं तत्र

योजनानां सहस्राणि समतिक्रम्य विंशतिम्।
विद्युत्वानिति विख्यातः समुद्रे दक्षिणे स्थितः॥
सहस्रविपुलस्तत्र तृणपर्णफलाशनाः।
मलोपचितदिग्धाङ्गा दीर्घश्मश्रुशिरोरुहाः॥
गोधर्माणो जना नग्ना वत्सराशीतिजीविनः।
तत्रायन्त्रविलद्वारप्रवेशाः पुरसंपदः।' इति।

नन्दन ये तीन पश्चिम से समा गये थे। चक्र, मैनाक और बलाहक ये तीन पर्वत दक्षिण दिशा से समुद्र में समा गये थे। यहाँ विशिष्ट आविष्कार के सदृश एक तथ्य की ओर भगवान् शङ्कर ध्यान दिला रहे हैं। वे कहते हैं कि शरीर के उतार चढ़ाव की दृष्टि से सर्वाङ्ग सौन्दर्य शालिनी प्रिये, चक्र और मैनाक के बीच में ही बड़वानल का केन्द्र है।" समुद्र के वैज्ञानिकों को इस तथ्य के अन्तराल में जाकर सत्य का पता लगाना चाहिए।

श्लोक ९९ में समुद्र के दक्षिण प्रदेश की चर्चा है। इस समुद्र के दक्षिण में दक्षिणी ध्रुव है। चक्र और मैनाक से 'खाक्षि' [अक्षि = २ और ख = ०] को गणना के अनुसार २० हजार योजन पर विद्युत्वान् पर्वत हैं। रौरव शासन के अनुसार "चक्र मैनाक को केन्द्र मानकर यदि दूरी की नाप की जाय तो वहाँ से "२० हजार योजन पर विद्युत्वान् नामक पर्वत है। हजार योजन उसकी ऊँचाई है। वहाँ भी उस समय मनुष्यों का निवास था। वे खेती नहीं करते थे। घास पात और फलफूल खाकर जीवन व्यतीत करते थे। उनके शरीर गन्दे, कौपीन मैले कुचैले थे। उन्हें अपने सौष्ठव का ज्ञान नहीं था। उनकी दाढ़ियाँ और मूँछें बढ़ी हुई होती थीं। बाल काटने सजाने की कला से वे वञ्चित थे। जैसे पशु रहते हों, उनका जीवन भी पशुवद् ही था। वे नङ्गे रहते। उनकी आयु सीमा ८० वर्षों की थी। बिल के सदृश सदा खुले रहने वाले उनके घरों के छोटे-छोटे द्वार थे। सम्पत्ति के नाम पर उनके वे आवास मात्र ही थे। यह बात रौरव शासन तन्त्र में वरिष्ठ गुरुवर्य आचार्यपाद—श्रीमान् बृहस्पति ने कही है।"

क्रमद्विगुणित इति, तेन शाकद्वीपे द्वे लक्षे, कुशद्वीपे चत्वारि,—इत्यर्थक्रमः। 'अब्जः' पुष्करः। इक्षुरेव ऐक्षवः। 'मधुराम्बुकः' स्वादूदः। द्युतिमतेत्यर्थात् सह, 'हविः' हव्यः। तदुक्तम्

'जम्बुद्वीपं च शाकं च कुशं क्रौञ्चं सशल्मलिम्।
गोमेधं पुष्कराख्यं च सप्त द्वीपानि पार्वति॥'
(स्व० १०।२८४) इति।

क्षारः क्षीरं दधि घृतं तथा चेक्षुरसोऽपि च।
मदिरोदश्च स्वादूदः समुद्राः सप्त कीर्तिताः॥
जम्बुद्वीपं स्मृतं लक्षं योजनानां प्रमाणतः।
परिमण्डलतो ज्ञेयः क्षारोदस्तत्समो बहिः॥
एवं द्विगुणवृद्ध्या तु समुद्रा द्वीपसंस्थिताः।'
(स्व० १०।२८५-२८७) इति।

आचार्य अभिनव गुप्त कह रहे हैं कि इस प्रकार स्वच्छन्द तन्त्र और रौरव शास्त्र में लवण समुद्र को स्थिति का आकलन है और सप्रमाण उसका प्रतिपादन किया गया है। इसके बाह्य संस्थान के स्वरूप के अनुसार ६ द्वोप हैं। ये सभी द्वीप अपने अपने समुद्रों से घिरे हुए हैं। ये सभी क्रमशः द्विगुणित (दुगुने) हैं। इस गणना के अनुसार यदि शाक द्वीप दो लाख योजन विस्तार है तो कुश चार लाख, इसका दूना मान क्रौञ्च का, क्रौञ्च से दूना शल्मलिका तथा इस तरह गोमेध और अब्ज का वर्णन भो है। अब्जद्वीप पुष्कर द्वीप के लिये कहा गया है। इनके छः समुद्रों के नाम भी क्रमशः क्षीर, दधि, घृत, इक्षुरस, मदिरा और स्वादिष्ट मधुर जल वाले 'मधूदक' हैं। जहाँ तक छः द्वीपों का प्रश्न हैं, उन्हीं के छः समुद्र भी हैं। स्वच्छन्द तन्त्र के १०।२८४ के अनुसार एक साथ ही सात द्वीपों के नाम आये हैं। वे इस प्रकार हैं।

"जम्बुद्वीप, शाकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शल्मलि द्वीप, गोमेध द्वीप और सातवाँ पुष्कर।"

इसी तरह सात समुद्र उनके संस्थान और उनके मान के सम्बन्ध में स्व० १०।२८४ से २८७ श्लोकों में कहा गया है कि,

अग्नीध्रस्तु समाख्यातो जम्बुद्वीपे वरानने।
शाके मेधातिथिर्नाम वपुष्मान् कुशसंज्ञके ॥
राजा क्रौञ्चेऽथ ज्योतिष्माञ्छल्मली द्युतिमान् स्मृतः।
गोमेधे हव्यनामा च संवरः पुष्करे तथा ॥'
(स्व० १०।२९०) इति च ॥ १०४ ॥

द्वीपषट्कमेव च विभजति

गिरिसप्तकपरिकल्पिततावद्खण्डास्तु पञ्च शाकाद्याः।
पुष्करसंज्ञो द्विदलो हरियमवरुणेन्दवोत्र पूर्वादौ ॥१०५॥

"क्षार, क्षीर, दधि, घृत, इक्षुरस, मदिरोद और मधुदक ये सात समुद्र हैं। जम्बुद्वीप का विस्तार १ लाख योजन वर्ग है। इसी परिमण्डल के बाहर लहराने वाला क्षारोदधि भी इतना ही विस्तार वाला है। इनके क्रमशः दुगुने विस्तार के द्वीप भी और उनके समुद्र भी हैं।"

श्लोक १०४ में इन सातों द्वीपों के सात राजाओं के नाम दिये गये हैं। स्वच्छन्द तन्त्र १०।२८८–२८९ के अनुसार वे नाम इस प्रकार हैं—

"शिव कहते हैं कि हे सुमुखि पार्वती, जम्बुद्वीप में इस समय अग्नीध्र राजा राज्य कर रहा है। शाक में मेधातिथि, कुशद्वीप में वपुष्मान्, क्रौञ्च में ज्योतिष्मान्, शल्मलि में द्युतिमान्, गोमेध में हव्य और पुष्कर द्वीप में संवर नामक राजा राज्य कर रहे हैं।"

उक्त वर्णन इतने पुराने हैं कि आज के सन्दर्भ में इनका आकलन भी कठिन हो गया है। तात्कालिक वर्त्तमान से आज तक हुए कल्पनातीत परिवर्त्तनों का प्रभाव काल और दिक् दोनों पर हैं। इन पर विशेष अध्ययन की आवश्यकता है ॥९७–१०४॥

सात पर्वतों के अन्तराल में शाक आदि ५ द्वीप अवस्थित हैं। पुष्कर नामक द्वीप के मध्य में पर्वत होने से वह दो भागों में विभक्त है। स्व० १०।२९१-२९३ तक के वर्णन से यह प्रमाणित है कि मेधातिथि के ७ पुत्र शाक द्वीप में अभिषिक्त हुए। शान्त, शिशिर, सुखद, नन्दक, शिव, क्षेमक और ध्रुव इन सात स्वामियों के नाम से ही सात वर्ष विभक्त थे। वहाँ गोमेध, चन्द्र, नारद, दुन्दुभि ऋषभ, सोमक और वैभ्राज ये सात ही कुल पर्वत थे। सात पर्वतों के मध्य

'तावन्तः' सप्तैव, गिरिसप्तकस्य पार्श्वगत्यावस्थितत्वात्। 'द्विदल' इति एकेन वलयाकारेण पर्वतेन मध्यतो विभक्तत्वात्। 'पूर्वादौ' इति चतुर्दिक्षु। तदुक्तम्

'मेधातिथेः सप्त पुत्राः शाकद्वीपेऽभिषेचिताः ।
शान्तोभयस्तु शिशिरः सुखदो नन्दकः शिवः ॥
क्षेमकश्च ध्रुवश्चेति वर्षनाम्ना तु तेऽङ्किताः ।
वर्षाणि सप्त ख्यातानि पर्वतांश्च निबोध मे ॥
गोमेधश्चन्द्रसंज्ञश्च नारदो दुन्दुभिस्तथा ।
ऋषभः सोमकश्चैव वैभ्राजश्च कुलाद्रयः' ॥

(स्व० १०।२९३) इति ।

'कुशे वपुष्मता पूर्वं सप्त पुत्रा निवेशिताः ।
श्वेतलोहितजीमूता हरितो वैद्युतस्तथा ॥
मानसः सुव्रतश्चेति वर्षनाम्नैव चाङ्किताः ।
कुमुदश्चोर्वदश्चैव वराहो द्रोणकङ्कतौ ॥
महिषः कुसुमश्चैव सप्त सीमान्तपर्वताः ॥'

(स्व० १०।३००) इति ।

'ज्योतिष्मता सप्त पुत्राः क्रौञ्चद्वीपे निवेशिता ।
उद्भिज्जश्च समाख्यातो वेणुमण्डल एव च ॥

पाँच खण्डों का अवस्थान श्लोक १०५ में प्रतिपादित है। यह शाक आदि द्वीपों के सम्बन्ध की बातें हैं। पर स्वच्छन्द तन्त्र का जो उद्धरण है, वह शाक द्वीप से सम्बन्धित है।

कुश में वपुष्मान् के सात पुत्र—श्वेत, लोहित, जीमूत, हरित, वैद्युत, मानस और सुव्रत वर्ष नामानुसारी द्वीपों में अभिषिक्त हुए। कुमुद, उर्वद, वराह, द्रोण, कङ्कत, महिष और कुसुम ये सात उनके सीमान्त पर्वत थे। यह स्वच्छन्द तन्त्र १०।२९७–२९९ श्लोकों के सन्दर्भ से प्रमाणित है। उनमें श्वेत तोया, कृष्णा, चन्द्रा, शुक्ला, लोचनी, विवृता और विवृन्दा नामक श्रेष्ठ नदियों के नाम भी बताये गये हैं। यहाँ के सुखी सामाजिक जीवन की चर्चा भी की गयी है।

रथकारश्च लवणो धृतिमान्सुप्रतारकः ।
कपिलश्चेति राजानो वर्षनाम्ना तु तेऽङ्किताः ॥
वैद्रुमो हेमनाभश्च द्युतिमान्पुष्पदन्तकः ।
कुशलो हरिमर्दश्च सप्तैते तु कुलाद्रयः ॥'
(स्व० १०।३०५) इति ।

'सप्त द्युतिमता पुत्राः शल्मलावभिषेचिताः ।
मनोऽनुगस्तथोष्णश्च पावनो ह्यन्धकारकः ॥
मुनिर्दुन्दुभिनामा च कुशलश्चेति ते स्मृताः ।
(स्व० १०।३०९) इति ।

'क्रौञ्चोऽथ वामनश्चैवाप्यन्धकारो दिवाकृतिः ।
द्विबिन्दुः पुण्डरीकश्च दुन्दुभिश्च कुलाद्रयः ॥'
(स्व० १०।३११) इति ।

'हव्यराजः सुतान्सप्त गोमेधे चाभ्यषेचयत् ।
जलदश्च कुमारश्च सुकुमारो मरीचकः ॥
कुमुदश्चोन्नतश्चैव महाभद्र इति स्मृताः ।'
(स्व० १०।३१५) इति ।

जहाँ तक क्रौञ्च द्वीप का प्रश्न है, ज्योतिष्मान् ने ही अपने पुत्रों को निवेशित किया। वहाँ के आदि राजा ज्योतिष्मान् ही थे। वहाँ की सामाजिक व्यवस्था भी उत्कृष्ट कोटि की थी। क्रौञ्च में ज्योतिष्मान् के उद्भिज्ज, वेणु, मण्डल, रथकार, लवण धृतिमान्, सुप्रतारक और कपिल राजा वर्ष नामानुसारी हुए। वैद्रुम, हेम, द्युतिमान्, पुष्पदन्त, कुशल, हरिमर्द ये सात कुलाद्रि थे।

द्युतिमान् ने अपने सात पुत्र शल्मलि में अभिषिक्त किए। मनोनुग, उष्ण, पावन, अन्धकारक, मुनि, दुन्दुभि और कुशल ये नामानुसारी संज्ञा वाले वर्षों के अधिपति थे। क्रौञ्च, वामन, अन्धकार, दिवाकृति, द्विविन्दु पुण्डरीक और दुन्दुभि ये सात उसके सीमान्त पर्वत थे जिन्हें कुलाद्रि कहते हैं। स्वच्छन्दतन्त्र के १०।३०९ से ३११ तक के श्लोकों से यह प्रमाणित है।

हव्यराज ने गोमेध द्वीप में सात पुत्रों को अभिषिक्त किया। उनके नाम जलद, कुमार, सुकुमार, मरीचक, कुमुद, उन्नत और महाभद्र थे। उदय, केसर, जठर, सुरैवत, श्याम, अम्बिकेय और मेरु ये कुलाद्रि थे।

'उदयः केसरश्चैव जठरोऽथ सुरेवतः ।
श्यामोऽम्बिकेयो मेरुश्च शैलाःसीमान्तगास्त्विमे ।।'
(स्व० १०।३१७) इति ।

'अतश्च पुष्कराख्ये च संवरस्तत्र नायकः ।
द्वौ पुत्रौ तेन विख्यातौ पुष्कराख्ये निवेशितौ ।।
पर्वतो वलयाकारो मानसोत्तरसंज्ञकः ।'
(स्व० १०।३२३) इति ।

'धातकी मध्यमे राजा महावीतो बहिर्नृपः ।
(स्व० १०।३२४) इति ।

'चतुर्णां लोकपालानां पुरीश्चात्र निबोध मे ।
हरेर्वस्वेकसाराख्या याम्या संयमनी पुरी ।।
सुखाह्वा वारुणी चैव सोमस्य तु विभावरी ।'
(स्व० १०।३२७) इति ॥ १०५ ॥

इयदन्तं सङ्कलयति

त्रिपञ्चाशच्च लक्षाणि द्विकोटयुतपञ्चकम् ।
स्वाद्वर्णवान्तं मेर्वर्धाद्योजनानामियं प्रमा ॥१०६॥

इसी प्रकार पुष्कर द्वीप में संवर के दो पुत्र नियुक्त हुए । वहाँ मानसोत्तर नामक वलयाकार पर्वत शोभित था । इन दोनों पुत्रों के नाम धातकी और महावीत थे ।

पुष्कर द्वीप मानसोत्तर नामक वलयाकार पर्वत से दो भागों में विभक्त हो गया था । इसमें धात की मध्य देश का राजा बना । बहरी प्रदेश जो मानसोत्तर से अलग हो गये थे । उनका राजा महावीत था । यहाँ तक शाक आदि पाँच द्वीपों का संक्षिप्त प्रतिपादन श्लोक १०५ में था । जयरथ ने स्वच्छन्द तन्त्र के उद्धरणों से इनका समर्थन किया है ।

इनके चारों ओर चारों दिशाओं के चार अधिपति हरि, यम, वरुण और सोम हैं, जिनकी पुरियों के नाम क्रमशः एकसार (पूर्व) संयमनी (दक्षिण), सुखा (पश्चिम) और विभावरी (उत्तर) हैं ॥ १०५ ॥

तत्र जम्बुद्वीपीयानि अर्थात् पञ्चाशत्सहस्राणि, क्षाराब्धिर्लक्षं शाकद्वीपं द्वे क्षीराब्धिश्च, कुशश्चत्वारि दध्यब्धिश्च, क्रौञ्चोऽष्टौ घृताब्धिश्च, शल्मलिः षोडश इक्षुरसाब्धिश्च, गोमेधो द्वात्रिंशत् मदिराब्धिश्च, पुष्करश्चतुःषष्टिः स्वादूदश्च,—इत्येवं मेर्वर्धादारभ्य स्वादूदान्तं ससहस्रपञ्चाशत्त्रिपञ्चाशल्लक्षाधिकं कोटिद्वयं योजनानां प्रमाणं भवेत्। तदुक्तम्

'कोटिद्वयं त्रिपञ्चाशल्लक्षाणि च ततः परम्।
पञ्चाशच्च सहस्राणि सप्त द्वीपाः ससागराः॥' इति॥ १०६॥

सप्तमजलधेर्बाह्यो हैमो भूः कोटिदशकमथ लक्षम्।
उच्छ्रित्या विस्तारादयुतं लोकेतराचलः कथितः॥१०७॥

जम्बूद्वीप का यह सारा विस्तार दो करोड़ तिरपन लाख पचास हजार योजन है। इसमें सातों द्वीप और सातों सागरों का आयाम आता है। यह पूरा क्षेत्र मेरु के आधे भाग से लेकर स्वादु समुद्र पर्यन्त फैला हुआ है। स्व० १०।३२८ से यह प्रमाणित है। इसमें जम्बूद्वीप का मान ५० हजार लवण समुद्र एक लाख, शाक द्वीप दो लाख और क्षीर समुद्र का मान, कुश और दधि समुद्र चार लाख, क्रौञ्चद्वीप और घृतसमुद्र आठ लाख, शल्मलि और इक्षुरस समुद्र १६ लाख, गोमेध और मदिराब्धि ३२ लाख पुष्कर और स्वादूदक समुद्र ६४ लाख योजन कुल मिलाकर यह संख्या दो करोड़ तिरपन लाख पचास हजार योजन होती है। यह गणना मेरु के अर्ध भाग से लेकर स्वादूदक समुद्र तक की है। आगम प्रामाण्य के अनुसार यह आकलन इस प्रकार है—

"दो करोड़ तिरपन लाख और पचास हजार योजन में अपने-अपने सागरों सहित ये सातों द्वीप आते हैं" ॥१०६॥

साँतवाँ समुद्र पुष्कर द्वीप का ही है। इसके बाहरी भाग की भूमि का विस्तार दस करोड़ योजन विस्तृत है। एक लाख योजन की ऊँचाई वाला और दस हजार योजन की ऊँचाई वाला एक ऐसा पर्वत वहाँ है, जिसका नाम 'लोकालोक' पर्वत है। इस पर्वत को आठों दिशाओं में आठ रुद्र अवस्थित हैं। इनके साथ दिशाओं के लोकपाल भी रहते हैं। कुछ लोग इन रुद्रों को ही लोकपाल मानते हैं। जयरथ और शास्त्रकार रुद्रों को अलग और लोकपालों को अलग मानते हैं। मेरु और लोकालोक पर्वतों के बीच में ही सूर्य सक्रिय हैं।

लोकालोकदिगष्टकसंस्थं रुद्राष्टकं सलोकेशम् ।
केवलमित्यपि केचिल्लोकालोकान्तरे रविर्न बहिः॥१०८॥

हैमी भूरिति, अर्थाद्देवानां क्रीडार्थम् । 'लोकेतराचल' इति लोकालोक-पर्वतः । यदुक्तम्

'ततो हेममयी भूमिर्दशकोट्यो वरानने ।
देवानां क्रीडनार्थाय लोकालोकस्त्वतः परम् ॥
पर्वतो वलयाकारो योजनायुतविस्तृतः ।
लक्षमात्रसमुत्सेधो योजनानां वरानने ॥'

(स्व० १०।३३१) इति ।

सलोकेशमिति, यदुक्तम्

'लोकपालाः स्थितास्तत्र रुद्राश्चामोघशक्तयः ।'

(स्व० १०।३३२) इति ।

यह इन पर्वतों से बाहर नहीं जा सकता । स्व० १०।३३१ के अनुसार सातवें समुद्र की परिधि के बाहर की भूमि (हैमी) सोने के परमाणुओं से भरी हुई है । पर्वतों की बनावट वलयाकार है । १० हजार योजन विस्तार और १ लाख योजन ऊँचाई से ऊँचे अद्रि का नाम लोक + इतर (अलोक) = लोकालोक है ।

लोकालोक पर्वत की आठों दिशायें आठ रुद्रों और लोकपालों से अधिष्ठित हैं । शास्त्रकार लीलाकार और उनके अनुयायी यह भी कहते हैं कि रुद्र ही यहाँ लोकपाल भी हैं । यह सर्वमान्य मत नहीं है । इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि यहाँ लोकालोक के अन्तर भाग में ही सूर्य हैं, बाहर नहीं । मेरु और लोकालोक के अन्तराल मे स्थित लोकों में आलोक और बाहर अलोक अर्थात् अप्रकाश, यह स्व० १०।३३२ से प्रमाणित है ।

शास्त्रकार का कथन है—'लोकालोकान्तरे रविर्न बहिः' अर्थात् लोका-लोक पर्वतों के अन्तराल में रवि रहता है, बाहर नहीं जाता । इसी तथ्य का समर्थन स्वच्छन्द तन्त्र का श्लोक ३३१ भी करता है । वहाँ लिखा है कि 'तस्यान्तर्भासयेद् भानुर्नबहिः सुर सुन्दरि' अर्थात् सूर्य लोकालोक पर्वतों के अन्तर्भाग में ही अपनी आभा का प्रसार करता है ।

आचार्य क्षेमराज ने लिखा है कि आदित्य की ऊँचाई लोकालोक पर्वतों के समान है । मेरु के भी उनके अन्तराल में रहने के कारण सूरज बाहर नहीं

केचिदिति, लीलाकारादयः। एतद्धि तैः समस्तलोकपालत्वात् रुद्रा एव लोकपालास्तत्र स्थिताः,—इत्यन्यथा व्याख्यातम्।

'लोकालोकमतो देवि तत्र रुद्रा व्यवस्थिताः।
अमोघशक्तयः सर्वे विरजा वसुधामकाः॥
कर्दमः शंखपालश्च पर्जन्यः स्वर्णलोमकः।
केतुमान्राजनश्चैव पूर्वादीशान्तमास्थिताः॥
लोकपालास्ततो बाह्ये व्याप्य सर्वमिदं स्थिताः।'

जा सकता। आधुनिक मान्यताओं और भूगोल खगोल की परिस्थितियों के अनुसार इन बातों का मेल नहीं खाता। विचार यह करना है कि इन वर्णनों का तालमेल कैसे बैठे? सूर्य की गतिशीलता का सिद्धान्त भी आज सर्व-स्वीकृत नहीं है। कुछ वैज्ञानिक कहते हैं कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा २० हजार मील प्रति घण्टे की गति से कर रही है। कुछ वैज्ञानिक यह भी मानते हैं कि अपने पूरे ग्रहमण्डल के साथ ६० हजार मील प्रतिघण्टे की गति से अपनी आकाश गंगा के केन्द्र की परिक्रमा सूरज कर रहा है। पृथ्वी पर सूर्य को इस गति का प्रभाव नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि पृथ्वी का वायुमण्डल भी इस गति चक्र में साथ रहता है और पृथ्वी सूरज की अपनी परिक्रमा में निरन्तर निरत रहती है।

लोकालोक पर्वत के दो गुण हैं। १—लोक अर्थात् प्रकाश करने का गुण और अलोक अर्थात् प्रकाश न करने का गुण। सूर्य की प्रचण्ड किरणों का कोई प्रभाव ध्रुव प्रदेशों पर नहीं पड़ता। वहाँ ६ माह के दिन और ६ महीने की रात्रियाँ हुआ करती हैं। कर्क संक्रान्ति में जिस दिन कर्क रेखा का स्पर्श सूर्य की रश्मियाँ करती हैं, वह समय उत्तरायण और मकर रेखा के स्पर्श के समय दक्षिणायन होता है। सूर्य की रश्मियों का पृथ्वी ग्रह पर पूरा प्रभाव इन्हीं दोनों रेखाओं के बीच में होता है। यह कहा जा सकता है कि इन दोनों के बाहर सूरज नहीं जा सकता। जाता भी नहीं है। इन दोनों के भीतर रहना और इन्हीं के मध्य में अपनी आभा के प्रभाव का प्रसार क्या है? यही मेरु लोकालोक पर्वतों के मध्य सूर्य का संचार है। सूर्य इनके बाहर नहीं जाता। यद्यपि सूर्य पृथ्वी से ९ करोड़ मील दूर है फिर भी सूरज की रश्मियाँ ८ सेकेण्ड में धरती का स्पर्श कर लेती हैं। गैसों की कई ऐसी पर्तें हैं, जिनसे

इत्यादीनामेतद्विरुद्धानां श्रुतीनां सम्भवात्। न बहिरिति, रवेर्लोकालोक-समानोच्छ्रायत्वात् मेरुतदन्तरालवर्तित्वाच्च; अत एवान्तःस्थितानामेव लोकानामालोको यत्र, तथा आलोकः प्रकाशोऽलोकश्च तमोऽन्तर्बहिश्च यस्येति स लोकालोक इति। तदुक्तम्

'तस्यान्तर्भासते भानुर्न बहिः सुरसुन्दरि'। इति॥ १०८॥

एवं लोकालोकमेर्वन्तरालवर्तित्वेऽस्य भानोर्गतिवैचित्र्यं दर्शयति

पितृदेवपथावस्योदग्दक्षिणगौ स्वजात्परे वोथ्यौ।
भानोरुत्तरदक्षिणमयनद्वयमेतदेव कथयन्ति ॥१०९॥

तत्रास्य भानोर्मेरुसंनिकर्षेण गच्छत उत्तरो मार्गो लोकालोकसन्निकर्षेण तु दक्षिणः, तौ च मार्गौ 'स्वजात्परे वोथ्यौ' सुविथि-अजवीथिशब्दाभ्यां व्यपदेश्यावित्यर्थः। यदुक्तम्

होकर उन्हें पृथ्वी पर आना पड़ता है। जब वे पार्थिव जगत् के स्पर्श क्षेत्र में प्रवेश पा जाती हैं, तो उसे सूरज का स्पर्श आदि माना जाता है। समस्त ऋतुओं के परिवर्त्तन, अयन गति और ग्रहण-मोक्ष आदि सूरज पर निर्भर माने जाते हैं। यह खगोल का भूगोल पर प्रभाव है। जहाँ तक 'पर्वत' शब्द का प्रश्न है—यह ऊँचाई का प्रतीक है। पृथ्वी के गोल होने से सूरज की किरणों जहाँ से आगे प्रकाश नहीं कर पातीं, वह स्थान अलोक पर्वत का शिखर है। जहाँ से प्रकाश का प्रसार होता है, वह लोक पर्वत है। इस तरह लोक और अलोक मिलकर लोकालोक शब्द का निर्माण हुआ है। यह पर्वत की उच्चता का प्रभाव मान लिये जाने का कारण है। लोक सृष्टि के इस तान्त्रिक सन्दर्भ को इसी वैज्ञानिकता की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। लोक और अलोक शब्दों पर भी विचार करना चाहिए। शास्त्र के अनुसार लोकालोक भारत के दक्षिण में और मेरु उत्तर में है। पामीर के पठार का सबसे ऊँचा भाग मेरु है। इस तरह मेरु और लोकालोक के बीच में सूरज संचरण करता है॥ १०७-१०८॥

सूर्य के पितृयान और देवयान दो पथ हैं। दूसरे शब्दों में इसे सुवीथि और अजवीथि भी कहते हैं। इसी को ज्योतिः शास्त्र की दृष्टि से उत्तरायण और दक्षिणायन भी कहते हैं। अजवीथि पितरों का और सुवीथि देवों का मार्ग

सुवीथी उत्तरे तस्य अजवीथी तु दक्षिणे।'
(स्व० १०।३३९) इति।

तावेव च पितॄणां देवानां च मार्गः,—इत्युक्तं 'पितृदेवपथौ' इति तत्र अजवीथी पितॄणां मार्गः, सुवीथी तु देवानाम्। तदुक्तम्

'अजवीथी दक्षिणं तु सुवीथी चोत्तरायणम्।
पितृमार्गस्तथा दिव्यः कथितोऽनुक्रमेण तु॥' इति।

है। कर्क संक्रान्ति से दैत्यों का दिन और देवों की रात्रि होती है। मकर संक्रान्ति से देवों का दिन और दैत्यों की रात्रि का प्रारम्भ होता है। सुवीथि ही उत्तरायण और अजवीथि दक्षिणायन है। स्व० १०।३३९ से यह उक्ति प्रमाणित है

स्वच्छन्द तन्त्र को दृष्टि बड़ी वैज्ञानिक है। सूर्य की किरणें मेरु और लोकालोक पर्वतों के बीच संचरण कर भारत सहित इस पूरे क्षेत्र को प्रभावित करती हैं। पार्थिव जगत् का हमारा यह लोक जिसकी गणना और स्थिति के विषय में पहले पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। कुछ लोग इस लोकालोक को एक उत्तर स्थित पर्वत के रूप में भी स्वीकार करते हैं क्योंकि उत्तर में भी लोक और अलोक दोनों स्थितियाँ ध्रुव प्रदेशों में दीख पड़ती हैं। यह गुण मेरु में भी हो सकता है। इसका नियामक कोई आधार आज के युग में नहीं है। हम यहाँ उत्तर में मेरु और दक्षिण में लोकालोक की बात मानकर चलें तो यह देखेंगे कि ऊपर अन्तरिक्ष के अन्तराल के गगन पथ की अपनी कक्षा में सूर्य संचार करता है। इसकी किरणें पृथ्वी पर ऋतुओं के अनुसार आड़ी तिरछी पड़ती हैं। भूपृष्ठ पर उच्च शिखर सुशोभित मेरु ऐसा ही लगता है, जैसे अरघे में प्रतिष्ठित शिवलिङ्ग। परमेश्वर की नियति से नियन्त्रित गति चक्र से उत्पन्न काल गणना के अनुसार एक अहोरात्र में पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा कर लेती है। यह भी निश्चित है कि ध्रुव के नाभि केन्द्र से समस्त नक्षत्र अभिसम्बद्ध हैं। हमारे सौर मण्डल के ग्रह भी इससे सम्बद्ध हैं।

यह अनुभव की बात है कि उत्तर में ध्रुव सदा स्थिर रहता है। सप्तर्षि-मण्डल उसको सदा परिक्रमा करता है। नियति नियन्त्रित इस गति चक्र में सूरज की एक अहम् भूमिका है। पृथ्वी मानवों की आवास भूमि है। इस ग्रह

एतदेव मार्गद्वयमुत्तरायणं दक्षिणायनं च,—इत्युक्तम् 'उत्तरदक्षिणमयनद्वयमेत-देव' इति । तदुक्तम्

लोकालोकोपरिष्टात्तु सवितुर्दक्षिणायनम् ।
तथोत्तरायणं तत्र उत्तरेण प्रकीर्तितम् ॥'

(स्व० १०।३३७) इति ॥ १०९ ॥

से देवों और पितरों के सम्बन्ध भी प्राचीन क्रान्तदर्शी महर्षियों और साधकों ने स्थापित किये थे। उनके लोकों की यात्रायें की थीं और उस ओर जीवित और मृत दोनों अवस्थाओं में प्रयाण का मार्ग भी प्रशस्त कर लिया था। इस साधना में उन्होंने यह अनुभव किया था कि ये ग्रह विशेष रूप से सूर्य विशिष्ट विशिष्ट राशिचक्रों में भी संचरण करते हैं। इस संचार क्रम में तीव्र, मध्य और मन्द किरणपात तथा उसका प्रभाव भी उनकी आँखों से ओझल नहीं था। इसी आधार पर उन्होंने ज्योतिः शास्त्र की रचना की थी। ज्योतिः शास्त्र का सारा आधार प्रथम प्रायोगिकतया सूर्य गति चक्र ही है। भारत द्वीप का यह एक उपास्य प्रत्यक्ष ब्रह्म है। पञ्च देवोपासना का यह पंचम देव है।

सूर्य की रश्मिसक्रियता जब मेरु के सन्निकर्ष में रहती है, तो, उसे उत्तर मार्ग कहते हैं। जब उसका सन्निकर्ष दक्षिण लोकालोक से होता है, तो उसे दक्षिण मार्ग कहते हैं। इन मार्गों में राशि के संचार भी विभाजित होते हैं। कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक और धन में संचार का समय दक्षिणायन कहलाता है। जब लोकालोक सम्पर्क के बाद उत्तर की ओर सूर्य संचार होता है, उससमय मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष और मिथुन राशियाँ बीच में पड़ती हैं। यह उत्तरायण का समय होता है।

यह गतागतिक प्रक्रिया सूर्य की है। श्लोक में इन दोनों मार्गों के लिये 'स्वजात्परे वीथ्यौ' शब्द का प्रयोग किया गया है। सु और अज शब्दों से 'स्वज' शब्द की व्युत्पत्ति सिद्धि होती है। इनमें दोनों से वीथी शब्द जोड़ने पर सुवीथि और अजवीथि ये दो शब्द बनते हैं। सुवीथि उत्तरायण मार्ग और अजवीथि दक्षिणायन मार्ग है। इसी को श्लोक में पितृ देवपथौ लिखा गया है। आगम प्रामाण्य से इसे सिद्ध किया गया है कि—

"अजवीथी दक्षिण मार्ग है। सुवीथी उत्तरायण है। दक्षिणायन पितृमार्ग है और सुवीथी उत्तरायण देव मार्ग है। ये दोनों बड़े ही दिव्य हैं।" ॥ १०९ ॥

ननु भानोर्मेरुसन्निकर्षेणोत्तरो मार्गो लोकालोकसन्निकर्षेण तु दक्षिणः,—इत्यत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

'सर्वेषामुत्तरो मेरुर्लोकालोकश्च दक्षिणः ।

सर्वेषामिति, वर्षाष्टकादिनिवासिनाम् । इलावृते हि भानुरेव न प्रतपति,—इति कस्तद्गतिवैचित्र्येऽपि अवकाशः, भानुरेव हि भगवान् मेरुमधिकृत्य दक्षिणदिगवस्थिते भारतादौ वर्षत्रये पूर्वतः पश्चात्स्थिते केतुमाले दक्षिणात्, उत्तरदिगवस्थिते कुर्वादौ वर्षत्रये पश्चात्प्राच्ये भद्राश्वेऽपि उदक्तः समुदयन् स्वोदयानुसारेण पूर्वदिगवस्थापनात् सर्वेषामुत्तरयति लोकालोकं च दक्षिणयति, येन अस्य तत्सन्निकर्षविप्रकर्षाभ्यामुत्तरायणदक्षिणायनादि स्यात् ॥

न केवलमस्यैवं गतावेव वैचित्र्यमस्ति यावदुदयास्तमययोरपि,—इत्याह

उदयास्तमयावित्थं सूर्यस्य परिभावयेत् ॥११०॥

'इत्थम्' इति दक्षिणावर्तभङ्ग्या, मेरोः परिभ्रमणेनेत्यर्थः ॥ ११० ॥

मेरु पर्वत की स्थिति सब के उत्तर और लोकालोक पर्वत की स्थिति सभी वर्षों के दक्षिण में है। इलावृत वर्ष में सूर्य अपना पूरा प्रकाश नहीं पहुँचा पाता। मेरु के दक्षिण के भारत वर्षादि तीन वर्षों के पूर्व, केतुमाल आदि ३ वर्षों के दक्षिण, उत्तर में स्थित कुरु आदि ३ वर्षों में और भद्राश्व में उत्तर उदित होते हुए लोकालोक को दक्षिणावर्त्त भङ्गी से दक्षिण करता है तथा सभी वर्षों को उत्तर की ओर रखता है, यह सूर्य की गति का वैचित्र्य है।

यह सारा वर्णन मेरु के सन्निकर्ष से उत्तर मार्ग और लोकालोक सन्निकर्ष से दक्षिण की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में किया गया है। सूर्य के उदय और अस्त की बात एक उपग्रह में बैठे अन्तरिक्ष यात्री से पूछिये। पृथ्वी परिक्रमा के प्रसङ्ग में एक दिन रात में ही वह कितनी बार सूर्योदय और सूर्यास्त देख सकता है। वस्तुतः न कभी सूर्योदय होता है और न सूर्यास्त। पृथ्वी के प्राणी वे जिस भाग में हैं, वहाँ की स्थिति के अनुसार सूर्योदय और सूर्यास्त देखते हैं। इस दृष्टि से सूर्योदय भी शाश्वत हो रहा है और सूर्यास्त भी प्रतिक्षण चल रहा है। इसीलिये श्लोक में परिभावयेत् क्रिया का उल्लेख किया गया है। इसका परिभावन करना चाहिये कि जिस गति चक्र की चाक्रिकता

तदाह

अर्धरात्रोऽमरावत्यां　याम्यायामस्तमेव　च ।
मध्यन्दिनं तद्वारुण्यां सौम्ये सूर्योदयः स्मृतः ॥१११॥
उदयो योऽमरावत्यां सोऽर्धरात्रो यमालये ।
केऽस्तं सोम्ये च मध्याह्न इत्थं सूर्यगतागते ॥११२॥

में हम जो रहे हैं, उसकी भौगोलिक परिणति क्या है। पहले के विश्व के वे आठ नाम आज बदल गये हैं। आज जो विश्व चित्र हमारे सामने है, उसको दृष्टिगत रखते हुए यह विचार आवश्यक हैं ॥ ११० ॥

पहले क्रम में अमरावती में अर्धरात्रि, संयमनी में अस्त, वारुणी में मध्याह्न और महोदया में उदय होता है। दूसरे क्रमानुसार अमरावती में उदय संयमनी में अर्धरात्र का समय होता है। साथ ही वारुणी में अस्त और महोदया में मध्याह्न होता है। यह सूर्य के उदयास्त का क्रम है। यह सब ज्योतिः शास्त्र का विषय है। आधुनिक विज्ञान सूर्य की गतिशीलता नहीं स्वीकार करता है। इसके अनुसार पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है और वह उदयास्तमन पृथ्वी की गति का परिणाम है। प्राचीन विद्वान आर्य भट्ट का भी यही मानना था।

सूर्य का उदय होना और अस्त होना पृथ्वी की गति पर ही निर्भर है। पृथ्वी जैसे-जैसे सूरज के सम्मुख आती रहती है, वहाँ-वहाँ सूर्योदय और जो भाग सूरज से परोक्ष होते रहते हैं; वहाँ संन्ध्या, सूर्यास्त और रातें हुआ करती हैं। इस गतिचक्र में यह पृथ्वो की शाश्वत गतिशीलता के कारण शाश्वत उदयास्त प्रक्रिया चलती है। गति में चूंकि समय का प्रभाव पड़ता है; इसलिये जहाँ सूर्योदय होगा वहाँ से नियत कुछ दूरी पर मध्याह्न और नियत दूरी पर सूर्यास्त और वहाँ से नियत दूरी पर अर्द्धरात्रियाँ भी स्वाभाविक होती हैं। श्लोक में तत्कालीन पृथ्वी में स्थित नगरियों के साथ भुवः और स्वः में भो जहाँ सूर्य की गतिशीलता का प्रभाव पड़ता था, वहाँ की अवस्था का चित्र प्रस्तुत किया गया है।

इह खलु 'सौम्ये' मेरोरुत्तरे भागे महोदयाख्यायां नगर्यां यदा वारुण्यां आगच्छतः सूर्यस्योदयदर्शनं भवेत् तदा प्रहरद्वयस्य व्यतीतत्वात् वारुण्यां गन्धवत्याख्यायां नगर्यां मध्याह्नो, याम्यायां दक्षिणदिगवस्थितायाः संयमन्याख्यायां नगर्यां च सूर्योऽस्तमेति, प्रहरचतुष्टयातिक्रमेण पर्वतच्छायान्तरितत्वात् प्रकाशो न दृश्यते इत्यर्थः। पूर्वदिङ्नगर्याममरावत्याख्यायां चार्धरात्रस्तद्वारुण्युदयावसरेऽस्तमयत्वात् प्रहरद्वयेन चोदयस्य भविष्यत्त्वात्। यश्च अमरावत्यां सूर्योदयः सौम्याया आगच्छतो दर्शनं स यमालयेऽर्धरात्र

जैसे सौम्य अर्थात् मेरु के उत्तर भाग में स्थित महोदया में वारुणी से आने वाले सूर्य का जब उदय कालीन दर्शन होता था, उस समय तक दोपहर का समय बीत चुका होता था। परिणामतः वारुणी की गन्धवती नामक नगरी में मध्याह्न का होना स्वाभाविक था। उसी समय दक्षिण दिशा में स्थित संयमनी नगरी में चार पहर बीत जाने के कारण सूर्यास्त हो जाता था। चार पहर में सूर्य संयमनी से महोदया में पहुँच गया। परिणामतः संयमनी में प्रकाश का अभाव तो गया होता था। इसे गूढ़ भाषा में पर्वत से सूरज का छिपना कहते हैं। पर्वत के अन्तरित प्रकाश का यही अर्थ है कि पृथ्वी की गोल आकृति के कारण वह स्थान एक चोटी वाले पहाड़ के सदृश हो गया होता है, जहाँ सूरज का प्रकाश पृथ्वी के उस भाग पर नहीं पहुँचता। यहाँ पर्वत का अर्थ पहाड़ से न लेकर पर्व और त के अक्षरों के योग से बने भूमि का तत्रत्य पर्व अर्थात् खण्ड जहाँ से प्रकाश न दीख पड़े—अर्थ लेना चाहिये।

पृथ्वी का यह प्रत्येक विन्दु पर्व है जो सूर्य की कक्षा के पथ में ठीक पृथ्वी पर लम्ब बनाता है। प्रत्येक विन्दु प्रत्येक विन्दु से ऊँचा है। चार पहरों के अवसान पर आने वाला भू पर्व ही पर्वत है। 'त' तत्र और तत्रत्य में प्रयुक्त तद् से निष्पन्न सर्वनाम है। इसलिये यह पर्वत है। प्राचीन काल में ऐसे अक्षर-शब्द योग से बने प्रत्याहारों का बड़ा प्रचलन था। स्वयम् 'तत्' शब्द गायत्री मन्त्र का प्रत्याहार है जो महावाक्य 'तत् सत्' में प्रयुक्त होता है। सत् भी सवितुः के आदि अक्षर और प्रचोदयात् के 'त्', को लेकर बना प्रत्याहार है। ये दोनों गायत्री मन्त्र के ब्रह्ममयत्व के प्रतीक हैं।

इस तरह पूरब में अवस्थित अमरावती में जहाँ आधी रात रही होगी वह वारुणी नगरी में उदय लेने के समय तक दोपहर बीत जाने के कारण, अब अमरावती में सूर्योदय का होना कालचक्र के अनुसार स्वाभाविक हो

प्रहरद्वयेन सूर्यस्योदेष्यमाणत्वात्, के वारुणे चास्तमयः सौम्योदयवेलायां तत्र मध्याह्नस्य वृत्तत्वात् इदानीं प्रहरचतुष्टयस्य अतिक्रान्तत्वात्, सौम्ये च प्रहरद्वयस्य अतीतत्वात् मध्याह्नः—इत्यनेनैव क्रमेण पूर्वपश्चिमयोर्विदिक्षु चोदयास्तमयावपि सूर्यस्य चिन्त्यौ;–इत्युक्तम् 'इत्थं भानोर्गतागते' इति। यदुक्तम्

'अर्धरात्रोऽमरावत्यामस्तमेति　यमस्य च।'

(स्व० १०।३३८) इति।

तथा

'यदैव　चामरावत्यामुदयस्तस्य　दृश्यते।
तदास्तमेति　वारुण्यामित्यादित्यगतागतम्॥' इति।

एतच्च द्वीपान्तरेष्वपि योज्यं सूर्योदयस्य सर्वत्र समानत्वात्॥ ११२॥

जायेगा। अमरावती में उत्तर से आये हुए सूर्य का जब उदय होगा तो संयमनी में आधी रात होगी। दोपहर बीतते बोतते वहाँ सूर्योदय होगा—यह गतिचक्र से सिद्ध हो जाता है। उस समक 'क' अर्थात् पश्चिम के वरुण से सुरक्षित वारुणी में सूर्यास्त का समय होगा। उत्तर में सूर्योदय होने पर वहाँ मध्याह्न की वेला होगी। पहरों के चार बीतने पर वारुणी में सूर्यास्त के बाद आधी रात का क्रम आकलन का विषय है।

उक्त उदाहरण तत्कालीन भूगोल के हैं, जिनको शास्त्रकारों ने प्रत्यक्ष देखा था। आज के भूमण्डल में दिन और रात के क्रम से जो स्थिति होती है, उस समय भी इसी प्रकार का क्रम था। आज भी एशिया सूर्योदय का महाद्वीप है। जिस समय भारत में सूर्योदय हो रहा होता है, उस समय का देश के तथा विदेश के नगरों में ही बड़ा अन्तर रहता है। अक्षांश और देशान्तर के आधार पर वहाँ का समय निकाला जा सकता है। अयोध्या का अक्षांश २६।४८ है। लन्दन का ५१।३० है। इसी से समय का अनुमान लगाया जा सकता है। हमारे देश के सूर्योदय के समय अमेरिका में सूर्य को अस्तमन वेला और क्रमशः मध्य रात्रि का समय स्वाभाविक है। आठ पहर के काल में पूरा दिक् विभक्त हो जाता है। ये सभी तथ्य स्वच्छन्द तन्त्र १०।३३७-३३८ श्लोकों में वर्णित हैं। समस्त द्वीप द्वीपान्तरों में समय की गणना दिक् के अक्षांश और देशान्तर के आधार पर की जाती है। इसे ही सूर्य की कक्षा या गतागत का दिक्काल प्रभाव कहते हैं॥ १११-११२॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवानुसरति

पञ्चत्रिंशत्कोटिसंख्या लक्षाण्येकोनविंशतिः ।
चत्वारिंशत्सहस्राणि ध्वान्तं लोकाचलाद्बहिः ॥११३॥
सप्तसागरमानस्तु गर्भोदाख्यः समुद्रराट् ।
लोकालोकस्य परतो यद्गर्भे निखिलैव भूः ॥११४॥

तदुक्तम्

'तस्य बाह्ये तमो घोरं दुष्प्रेक्ष्यं जीववर्जितम् ।
पञ्चत्रिंशत्स्मृताः कोटचो लक्षाण्येकोनविंशतिः ॥
चत्वारिंशत्सहस्राणि योजनानां वरानने ।'
(स्व० १०।३४१) इति ।

पैंतीस करोड़ उन्नीस लाख चालिस हजार योजन विस्तार का ध्वान्त क्षेत्र लोकाचल पर्वत से बाहर पड़ता है। स्व० १०।३४१ से यह उक्ति प्रमाणित है। सातों समुद्रों की स्थिति गर्भ की स्थिति के सदृश है। जिसके गर्भ में ये हैं उसे समुद्रराट् गर्भोद कहते हैं। यह लोकालोक की परली ओर है। सारी पृथ्वी भी इसी गर्भ है।

यह पूरी कलना लोकालोक पर्वत की परली ओर से सम्बन्धित है। लोकालोक के उत्तर में सूर्य की रश्मियाँ अपना प्रभाव प्रदर्शित करती हैं। उसके दक्षिण भाग में पड़ने वाला यह ध्वान्त क्षेत्र वह ध्रुव क्षेत्र है, जो मानव गमनागमन की सीमा में नहीं है। स्व० तन्त्र भी यही कहता है कि "उसके बाहर घोर अन्धकार है। वहाँ हाथ पर हाथ भी नहीं दीख पड़ता। इसीलिये उसे 'दुष्प्रेक्ष्य' कहा गया है। वहाँ जीव जगत् का अस्तित्व नहीं है। यह क्षेत्र ३५१९४०००० योजन विस्तृत है।"

जहाँ तक सातों सागरों के मान का प्रश्न है, श्लोक १०६ में जम्बु शाक कुश आदि द्वीपों के साथ मेरु के आधे भाग से लेकर स्वादूदक तक दो करोड़ तिरपन लाख पचास हजार योजन का एक मान दर्शित है। इसमें द्वीपों और समुद्रों का साथ वर्णन है और द्विगुणितक्रम से ही वह गणना की गयी है। यहाँ १ करोड़ २७ लाख योजन का जो मान प्रदर्शित है, उसके समान ही मान

सप्तानां क्षारादीनां लक्षात्प्रभृति द्विगुणद्विगुणया वृद्ध्या सप्तविंतिलक्षैक-कोट्यात्म यन्मानं तत्तुल्यमान इत्यर्थः। समुद्रराडिति, क्षारादिसमुद्रसप्तकगर्भी-कारात्। तदुक्तम्

'गदिता येऽब्धयः सप्त तेऽत्र गर्भे यतः स्मृताः।
कथितस्तेन गर्भोदः समस्ताब्धिरसोद्वहः॥'

(मृगेन्द्रा०) इति॥ ११४॥

अत्र च तमःस्थाने श्रीसिद्धयोगीश्वरमतोक्तं विशदयति

सिद्धातन्त्रेऽत्र गर्भाब्धेस्तीरे कौशेयसंज्ञितम्।
मण्डलं गरुडस्तत्र सिद्धपक्षसमावृतः॥११५॥
क्रीडन्ति पर्वताग्रे ते नव चात्र कुलाद्रयः।
तत उष्णोदकास्त्रिंशन्नद्यः पातालगास्ततः॥११६॥

वाला एक और महासमुद्र है। इसका नाम गर्भोद है। समुद्रराट् इसका विशेषण है। इसलिये कि क्षाराब्धि से लेकर स्वादूदक तक के सातों समुद्र इसी के गर्भ में हैं। जब समुद्र गर्भ में हैं तो यह स्वयं सिद्ध है कि उनसे सम्बन्धित सारी पृथ्वी भी उसके गर्भ में है। इससे उसको महत्ता का स्वयम् आकलन किया जा सकता है। मृगेन्द्रार्णव तन्त्र में लिखा है कि,

"ये जो सातों समुद्र परिगणित हैं, ये सभी उसके गर्भ में हैं। यह सभी समुद्रों के रसों का संवाहक समुद्र है॥ ११४॥

श्री सिद्ध योगीश्वरी मतानुसार गर्भोदधि के किनारे कौशेय नामक मण्डल है। सिद्ध पक्ष गरुड यहाँ विराजमान हैं। उनके सहचर और अनुचर भी उस पर्वत शिखर पर कल्लोल करते हैं। वहाँ सात कुल पर्वत हैं। उनके रोधक, वामन, काण्ड हुल, हाल, वर, क्रोध कोटक और मूल ये नाम हैं। गर्म जल की ३० नदियां वहाँ बहती हैं। वे सभी समुद्र में समा जातो हैं और पाताल चली जाती हैं। द्वीप के चारों ओर 'निमिर' कुसुमों के उद्यान हैं। योगिनियाँ उन में विहार करती हैं। उसमें नागों का काला मेघमण्डल सा समुदाय स्वतन्त्र विहार करता है। सूखी भूमि में रत्नों ओर स्वर्ण की खाने हैं। हरिश्चन्द्र की पर्वतीय भूमि शोभा का शृङ्गार करती हैं। अत्यन्त प्रकाश मान कौशेय मण्डल का दृश्य स्वर्णिम और सुहावना है।

चतुर्विङ्नैमिरोद्यानं योगिनीसेवितं सदा ।
ततो मेरुस्ततो नागा मेघा हेमाण्डकं ततः ॥११७॥

तीरे इति, अस्मात्परस्मिन् । तत्र हि लोकालोकसन्निकर्षे गर्भोदः । 'नैमिरोद्यानम्' इति नैमिरपुष्पसंज्ञकमित्यर्थः । नागा इत्यार्थाद्रत्नमय्यां भुवि । मेघा इत्यर्थाद्धरिचन्द्रपर्वतोपरि । 'हेमाण्डकम्' इति हैमाण्डीया कर्परिकेत्यर्थः । तदुक्तं तत्र

'गर्भोदस्य परे तीरे कौशेयं नाम मण्डलम् ।
तत्र तिष्ठति देवेशो गरुत्मांश्च समावृतः ॥
सिद्धपक्षसहस्रैस्तु तत्तुल्यबलदर्पितैः ।
तिष्ठन्ति पर्वताग्रे ते क्रीडमाना मुहुर्मुहुः ॥' इति ।

गर्भोदधि के तीर पर या किनारे कहने का तात्पर्य दूसरी ओर से लिया जाना चाहिये । इधर वाला किनारा लोकालोक पर्वत के सन्निकर्ष में है और उधर वाला किनारा 'कौशेय' नामक वह मण्डल है, जिसमें गरुड़ की पाँखें अपना चमत्कार प्रदर्शित करती हैं ।

'निमिर' एक फूल का नाम है । इससे भरे हुए उद्यानों को नैमिर उद्यान कहते हैं । इन फूलों से वह पूरा क्षेत्र व्याप्त है । वहाँ चारों ओर निमिर पुष्पों से आकर्षक दिशायें सबके मन मोह लेती हैं । एक तरफ स्वर्ण और रत्नों से शोभायमान भूमि और दूसरी ओर काले काले नाग (हाथी) ! मानों स्वर्णिम भूमि पर मेघ मण्डल । इधर हरिश्चन्द्र पर्वत और उसपर सचमुच के काले गभुआरे मेघ । यह सारा वर्णन कौशेय मण्डल का है । इसमें जो वर्णन है, वह सिद्धा तन्त्र के अनुसार है । अतः इसमें मतभेद स्वाभाविक है ।

वहाँ के सम्बन्धित उद्धरणों से श्लोकोक्त वर्णन का यहाँ समर्थन कर रहे हैं । कौशेय ओर गरुड़ के सम्बन्ध में सिद्धातन्त्र में लिखा है कि,

"गर्भोदधि के दूसरे किनारे कौशेय नामक मण्डल है । वहाँ देवेश विशेषण विशिष्ट गरुड़ निवास करते हैं । वे अपने ही सदृश हजारों हजार आकाश विहार समर्थ गरुड़ वर्ग से समावृत रहते हैं । उन्हें अपने बल का बड़ा ही गर्व है । पर्वत शिखरों पर क्रीडा करने वाले ये गरुड़ अपने स्वामी के समान ही बलवान् हैं"

उनके कुलपर्वतों के विषय में कहा गया है कि,

'हुलहालवरक्रोधाः कोटको मूलपर्वतः ।
रोधको वामनः काण्डो विज्ञेयाः कुलपर्वताः ॥' इति ।
'पर्वतान्ते पुनस्त्रिंशन्नद्यो योजनविस्तराः ।
उष्णोदकाः स्मृतास्तास्तु पातालतलनिम्नगाः ॥' इति ।
'पुनस्तदापगातीरे वनं नैमेरपुष्पकम् ।
तत्र क्रीडन्ति देवेशि योगिन्यो बलदर्पिताः ॥ इति ।
'वनस्य बाह्यस्य भूमिः सर्वतः संव्यवस्थिता ।
शुष्का जलविहीना तु पुनर्भूमिस्तु रत्नजा ॥
दिङ्मातङ्गसमाकीर्णा समन्तात्परिशोधिता ।
वारणा बहवो यत्र मेरुमन्दरसन्निभाः ॥' इति ।

"हुल, हाल, वर, क्रोध कोटक, रोधक, मूल, वामन और काण्ड ये ९ कुलपर्वत वहाँ हैं ।"

नदियों के विषय में यह वर्णन है कि,

"पर्वत प्रदेशों से निकलने वाली, योजनाधिक विस्तार वाली, गर्मजल के प्रवाह से गतिशील पाताल तल में समा जाने वाली ३० नदियाँ उस क्षेत्र को सुशोभित करती हैं ।"

निमिर पुष्पों के सम्बन्ध में कहा गया है कि,

"उन नदियों के आसपास के तीर प्रदेशों में नैमेर पुष्पों के उद्यान हैं (नैमेर और नैमिर दो शब्द पाठ भेद हैं । नैमेर से मूल शब्द निमेर नामक फूल और नैमिर शब्द से निमिर नामक फूल होगा) इन निमिरोद्यानों में अपने बल पर दर्प का भाव रखने वाली योगिनियाँ निवास करती हैं ।"

नागों के सम्बन्ध में वहाँ लिखा गया है कि,

"वनों के बाहर की भूमि भी बड़ी सुव्यवस्थित है । कुछ भूमि सूखी और बंजर है । वहाँ जल नहीं होता । कुछ ऐसी भी भूमि है जो रत्नों की खान है । दिशाओं के हाथी वहाँ विहार करते हैं । चारों ओर परिशोधित क्षेत्र में बड़े-बड़े मतङ्ग मचलते रहते हैं । मानों मेरु मन्दर ही मन्द-मन्द गतिशील हो रहे हों ।"

"ततस्तानप्यतिक्रम्य उत्थितस्तु महाचलः ।
हरिश्चन्द्र इति ख्यातो वलयाकारसंस्थितः ॥' इति ।
'तत्र सन्निहिता मेघाः संवर्ताद्या महारवा ।' इति ।
'पुनस्तद्दृश्यते चाण्डं काञ्चनं चातिभास्वरम् ।' इति ॥ ११७ ॥

तदेव संकलयति ।

ब्रह्मणोऽण्डकटाहेन मेरोरर्धेन कोटयः ।
पञ्चाशदेवं दशसु दिक्षु भूर्लोकसंज्ञितम् ॥११८॥

तत्र मेरोरारभ्य स्वादूदकान्तं प्राक्कलितं ससहस्रपञ्चाशत्त्रिपञ्चाशल्लक्षाधिकं कोटिद्वयं हैमी भूः, कोटिदशकं लोकालोकविष्कम्भः, सहस्रदशकं तमः, सहस्रचत्वारिंशदेकोनविंशतिलक्षाधिकं कोटिपञ्चत्रिंशकं गर्भोदश्च, ससप्तविंशतिलक्षा कोटिरित्येवं कोटिपरिमाणेन ब्रह्माण्डकटाहेन सह अर्धात्पञ्चाशत्कोटयो भवन्तिः—इत्येवं 'दशसु दिक्षु' इति सर्वतः कोटिशतं भूर्लोको भवेत् ॥ ११८ ॥

वहाँ के मेघमण्डित हरिश्चन्द्र पर्वत के विषय में लिखा है कि,

"उन समस्त पर्वतों को अतिक्रान्त कर वहाँ एक बहुत बड़ा पर्वत गर्व से अपना शिखर उन्नत कर अवस्थित है। उसका नाम 'हरिश्चन्द्र' है। यह वलयाकार अवस्थित है। वहाँ गर्जना करने वाले संवर्त्त आदि प्रलयकालीन मेघ भी हैं।" हेमाण्डक के विषय में लिखा है कि,

"वहाँ एक ऐसा गोल क्षेत्र है, जहाँ अत्यन्त चमकीले कञ्चन चारुता का विस्तार करते हैं। कर्परिका शब्द कंकरीली पठारी भूमि को कहते हैं। अर्थात् वहाँ की भूमि ही स्वर्ण के कंकड़ों से भरी हुई है। उस क्षेत्र का नाम हो हेमाण्डक क्षेत्र रख दिया गया है ॥ ११५-११७ ॥

भूलोक विस्तार के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि,

यह पूरा ब्रह्माण्ड कटाह मेरु से दो भागों में विभक्त होता है। इस अर्धवलय को भूर्लोक कहते हैं। दशों दिशाओं को लेकर इसका विस्तार ५० करोड़ योजन है। मेरु से मीठे जल के समुद्र तक २ करोड़ तिरपन लाख ५० हजार योजन हैमी भूमि, १० करोड़ लोकालोक खण्ड, १० हजार

एष च भूर्लोकः चतुर्दशविधस्यापि भूतसर्गस्यास्पदमित्याह--

पशुखगमृगतरुमानुषसरीसृपैः षड्भिरेष भूर्लोकः ।
व्याप्तः पिशाचरक्षोगन्धर्वाणां सयक्षाणाम् ॥११९॥

विद्याभृतां च किं वा बहुना सर्वस्य भूतसर्गस्य ।
अभिमानतो यथेष्टं भोगस्थानं निवासश्च ॥१२०॥

'तरु' इति स्थावरम्। 'विद्याभृताम्' इति ऐन्द्रप्रकारभूतानाम्। किं वा बहुना इति, एषां हि प्रकारप्रकारिभावेन वचनमानन्त्याय भवेदिति भावः सर्वस्येति, चतुर्दशविधस्य। 'अभिमानत' इत्यनेन 'एतद्भोगस्थानादित्वमभिमानमात्रसारमेव न तु वास्तवं किञ्चित्' इति दर्शितम्। निवास इति विनापि भोगं केषांचित्; अतश्चैतदत्रैवशोधनीयमित्याशयः। तदुक्तम्

'पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वं त्वैन्द्रमेव च ।
सौम्यं तथा च प्राजेशं ब्राह्मं चैवाष्टमं विदुः ॥'

(स्व० १०।३५१) इति ।

तमस् क्षेत्र, ३५ करोड़ १९ लाख ४० हजार योजन गर्भोदधि और २ करोड २७ लाख अन्य विस्तार मिलकर यह यह ५० करोड़ योजन होता है। केन्द्र से दोनों ओर का माप करने पर भूलोक की पूरी सीधी लम्बाई चौड़ाई सौ करोड़ की होती है ॥ ११८ ॥

यह भूमण्डल पशुओं, पक्षियों, मृगादि जन्तुओं, वृक्षों, मनुष्यों और सरक कर चलने वाले सरीसृपों इन छः जीवों और स्थावरों से भरा हुआ है। इसमें विद्याधरों, यक्षों, राक्षसों, गन्धर्वों और पिशाचों का भी बहुल आवास है। इनके स्वत्व की यहाँ पूर्त्ति होती है तथा भोगवाद का पूरा सौविध्य है। स्व० १०।३५२–३५३ से यह प्रमाणित है।

स्वच्छन्द तन्त्र के १०।३५१ की उक्ति है कि,

"यहाँ पिशाचों का निवास है। इसे 'पैशाच' आवास कहते हैं। राक्षस हैं। यक्षों का पूरा परिक्षेत्र 'याक्ष' नाम से विख्यात है। गन्धर्वों के क्षेत्र को 'गान्धर्व' कहते हैं। भूमण्डल में यह क्षेत्र भी है। इन्द्र से सम्बन्धित ऐन्द्र क्षेत्र

'पशुपक्षिमृगाश्चैव तथान्ये च सरीसृपाः ।
स्थावरं पञ्चमं चैव षष्ठं मानुषयोनिकम् ॥
देवयोनिसमायुक्तं प्रोक्तं संसारमण्डलम् ।
चतुर्दशविधं चैव भूर्लोके तु विशोधयेत् ॥'
(स्व० १०।३५२) इति ॥ १२० ॥

इदानीं भुवर्लोकाद्यभिधत्ते

भुवर्लोकस्तथा त्वार्काल्लक्षमेकं तदन्तरे ।
दश वायुपथास्ते च प्रत्येकमयुतान्तराः ॥१२१॥
आद्यो वायुपथस्तत्र विततः परिचर्च्यते ।

इसमें है। लोग कहते हैं कि स्वर्ग नरक सब यहीं है—इसका यही अर्थ है। सोम का क्षेत्र सौम्य कहलाता है। प्रजेश और ब्रह्मा के क्षेत्र भी यहाँ विद्यमान हैं।"

आवास के सम्बन्ध में भोग स्थान और निवास दो शब्द श्लोक में प्रयुक्त हैं। उनके सम्बन्ध में कहा गया है कि कभी-कभी विना भोग क्षेत्र रहने पर भी लोग आवास बनाते हैं। स्वच्छन्द तन्त्र १०।३५२-३५३ में कहा गया है कि,

"यहाँ विविध प्रकार के पालतू पशु प्राणी हैं। पक्षियों के आकर्षण से तो यह सारा विश्व मुग्ध है। मृग सदृश स्वतन्त्र विहारी वन्य जीव हैं। सरक कर चलने वाले सरीसृपों से यह भूमि भरी हुई है। स्थावर तरु जातियों से जंगल और सारे क्षेत्र रमणीय लगते हैं। इसके साथही जंगम प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य योनि का तो यहाँ प्राधान्य है। देव योनियों से पूरा भरपूर यह संसार मण्डल है। चौदह प्रकार का यह संसार मण्डल है। यही पुराणों का चौदह भुवन है। यह सब भूलोक में शोधित करना चाहिये।" ११९-१२० ॥

भुवः मण्डल—

इसके सम्बन्ध में स्व० १०।४३ का मत है कि भू पृष्ठ से ऊपर सूर्यतक का यह अन्तरिक्ष अन्तराल जिसे रोदसी भी कहते हैं—यह भुवर्लोक है। इसका विस्तार १ लाख योजन है। इसमें वायु के १० पथ हैं। प्रत्येक पथ १० हजार योजन के अन्तर से प्रारम्भ होते हैं। ये सभी वायुपथ ईश्वर की इच्छा के अधीन हैं।

'आ अर्कात्' इति अर्कं यावदित्यर्थः। तदुक्तम्

'भूपृष्ठाद्यावदादित्यं लक्षमेकं प्रमाणतः।'

(स्व० १०।४२२) इति।

'अयुतान्तरा' इति दशसहस्रप्रस्थाना इत्यर्थः। तत्रेति, वायुपथदशक-मध्यात् ॥ १२१ ॥

वायुपथों में अन्तर, उनकी दूरी, उनका विभाजन और उनके गुणों के सम्बन्ध में आधुनिक विज्ञान ने पूर्ण विचार किया है। सौर मण्डल के जितने लोक हैं, वे भुवर्लोक में ही हैं। इनमें केवल पृथ्वी ही एसी है जिसमें वायुमण्डल है। अन्य ग्रहों में नहीं है। वायु का घनत्व पृथ्वो कक्षा पर समान रूप से बना रहता है। यह अवश्य है कि सीमित नियति-नियन्त्रित ऊँचाइयों पर उसके घनत्व में अन्तर पड़ता जाता है। मानव, मृग पशु पक्षी या अन्य प्राणी तथा वृक्षों और वनस्पतियों का जीवन वायु पर निर्भर है। वायु को प्राण भी कहते हैं। आधुनिक विज्ञान यह स्पष्टरूप से कहता है कि ७ मील तक की ऊँचाई तक के वायुमण्डल में ही दैनिक जोवन की व्यावहारिकता सम्पन्न होती हैं। पूरे वायुमण्डल के इन्होंने सिर्फ ५ भाग किये हैं।

१—७ मील तक का वायुमण्डल ही व्योम मण्डल है।

२—१५ मील तक की ऊँचाई तक समताप मण्डल का क्षेत्र है।

३—४५-५० मील ऊँचाई तक का वायु पृथ्वी का वायु-कवच माना जाता है। पराबैगंनी किरणें इसमें शोषित होकर तब पृथ्वी पर आती हैं।

४—लगभग ३५० मील ऊपर आयन मण्डल है। इस भाग में गैसों के कई प्रकार हैं। सभी सूर्य की किरणों से विशेष प्रभावित होती हैं।

५—इसके ऊपर सूर्य का प्रचण्ड ताप अपनी पूरी क्षमता में प्रज्वलित रहता है।

तान्त्रिक विज्ञान अपने ढङ्ग से इसकी माप जोख करता है। यह दुर्भाग्य है कि आधुनिक वैज्ञानिक विद्वान् संस्कृत नहों जानते। उनमें भारतीय विज्ञान को महत्त्व देने का भाव भी नहीं है। यदि समन्वय की दृष्टि से इस तुलनात्मक स्वाध्याय की व्यवस्था की जाती तो विश्व का महान् कल्याण होता। दश हजार

तदाह

पञ्चाशद्योजनोर्ध्वे स्यादृर्तार्द्धर्नाम मारुतः ॥१२२॥
आप्यायकः स जन्तूनां ततः प्राचेतसो भवेत् ।
पञ्चाशद्योजनादूर्ध्वं तस्मादूर्ध्वं शतेन तु ॥१२३॥
सेनानीवायुरत्रैते मूकमेघास्तडिन्मुचः ।
ये मह्याः क्रोशमात्रेण तिष्ठन्ति जलर्वाषिणः ॥१२४॥
तेभ्य ऊर्ध्वं शतान्मेघा भेकादिप्राणिवर्षिणः ।
पञ्चाशदूर्ध्वमोघोऽत्र विषवारिप्रवर्षिणः ॥१२५॥
मेघाः स्कन्दोद्भवाश्चान्ये पिशाचा ओघमारुते ।
ततः पञ्चाशदूर्ध्वं स्युर्मेघा मारकसंज्ञकाः ॥१२६॥

योजन के अन्तर से वायुपथ के दश भेद करने से १ लाख योजनका भुवर्लोक का अन्तर सिद्ध होता है। यह मान्यता स्व० तन्त्र के आदि प्रवक्ता शिव से पारम्परिक रूप से प्रचलित है। श्लोक में आर्कात् शब्द आ + अर्कात् से निष्पन्न है। उसका अर्थ भूपृष्ठ से सूर्य पर्यन्त होता है। इस दूरी को आधुनिक विज्ञान ९ करोड़ मील मानता है ॥ १२१ ॥

भूपृष्ठ के ऊपर पहले वायुपथ का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—पचास योजन ऊपर 'ऋतर्द्धि' नामक वायु का क्षेत्र है। यह प्राणियों को रस तत्त्व से विभूषित और तृप्त करता है। उसके ऊपर ओषधियों को बल प्रदान करने का उत्तर दायित्व है। पृथ्वी का यह पोषक है और आप्यायक है।

उसके ऊपर 'प्राचेतस्' नामक वायु का पथ है। यह प्रचेतस् वरुण द्वारा विनिर्मित है। इसमें दाहकत्व और सेचकत्व दो गुण हैं। पौधों को जला देना और पुनः उन्हें अङ्कुरित कर देना इसका स्वाभाविक गुण है। प्राचेतस अग्नि के साथ रहने से इसमें ये गुण आ गये हैं। इसे ही जब यह समुद्र में रहता है, बडवानल कहते हैं।

तत्र स्थाने महादेवजन्मानस्ते विनायकाः ।
ये हरन्ति कृतं कर्म नराणामकृतात्मनाम् ॥१२७॥
पञ्चाशदूर्ध्वं वज्राङ्को वायुरत्रोपलाम्बुदाः ।
विद्याधराधमाश्चात्र वज्राङ्के संप्रतिष्ठिताः ॥१२८॥

पञ्चाशद्योजनोर्ध्वे इति भूपृष्ठात् । आप्यायक इति, यदुक्तम्

'यो विवर्धयते पुष्टिमोषधीनां बलं तथा ।
वृंहयेच्च महीं सर्वामाप्याययति चाव्ययः ॥

(स्व० १०।४२४) इति ।

इससे १०० योजन ऊपर 'सेनानी' नामक दूसरा वायु है। इसमें बिजली की चमक से भरे मौन मेघ विहार करते हैं। जलवर्षा के समय ये पृथ्वी से कोस भर से भी कम की दूरी पर आ जाते हैं।

इनके भी १०० योजन ऊपर सत्त्ववह मरुत्पथ में 'सत्त्ववह' नामक मेघ हैं। दुर्दिन में इनसे ही मछलियाँ, कछुवे और मेढक भी बरस जाते हैं। इससे ५० योजन ऊपर स्व० १०।४३२ के अनुसार ओघ नामक चतुर्थ वायुपथ है जो रोगप्रद है। इसको जहरीली वर्षा से लोग बीमार भी हो जाते हैं। ओघके ऊपर 'अमोघ' नामक ५वाँ वायुपथ है। इसमें रहने वाले मेघ मृत्युप्रद होते हैं। इसमें स्कन्द जन्मा पिशाच भी रहते हैं।

उनसे ५० योजन ऊपर छठाँ 'वज्राङ्क' वायु है। यहाँ के मेघ उपल वर्षा करते हैं। ओघ में महादेव जन्मा विनायक और इसके अधर विद्याधर निवास करते हैं। इसमें वे लोग भी मर कर पहुँचते हैं जिनकी मृत्यु अभिचार और श्मशान साधन की गड़बड़ी से होती है। स्व० १०।४३०-४४६ में भो इस तथ्य का उल्लेख है।

श्लोक १२२ में पचास योजन ऊर्ध्व की चर्चा है। वहाँ यह नहीं लिखा गया है कि कहाँ से ऊपर ? इस ऊपर का अर्थ भूपृष्ठ से ऊपर लगाना चाहिये। क्योंकि जब भी गणना होगी भूतल की पृष्ठ भूमि से ही सम्भव होगी। आप्यायन के सम्बन्ध में स्व० तन्त्र १०।४२४ कहता है कि,

पञ्चाशद्योजनादूर्ध्वमिति, यथा भूपृष्ठात् पञ्चाशद्योजनानि परिवर्ज्य ऊर्ध्वमृतर्द्धिः स्थितः, तथा तदूर्ध्वमपि पञ्चाशद्योजनान्यन्तरालत्वेन परिस्थाप्य अयमित्यर्थः। 'प्राचेतस' इति प्रचेतोभिर्निर्मितत्वात् तदाख्येन चाग्निना सह निवासात्, अत एवाप्यायकत्वं दाहकत्वं च। तदुक्तम्

'प्राचेतसो नाम वायुः प्रचेतोभिर्विनिर्मितः।
स व नाशयते वृक्षान्कदाचित्संप्रवर्तयेत्॥
अग्निः प्राचेतसो नाम तेनैव सह तिष्ठति।'

(स्व० १०।४२७) इति।

"जो जीवन में पुष्टि का वरदान देता है, ओषधियों में रोग निवारण का बल प्रदान करता है एवं इस धराधाम का उपबृंहण करता है, वही अव्यय 'ऋतर्धि' नामक आप्यायक मरुत् है।"

ऐसा यह 'ऋतर्द्धि' मरुत् है। भूपृष्ठ से ५० योजन छोड़ कर एक गोल रेखा है, जहाँ से इस वायुपथ का प्रारम्भ है। उससे ऊपर भी एक ऐसी गोल रेखा की कल्पना करें जो भूतल से १०० योजन पर पृथ्वी को परिवेष्टित करती हो। इन्हीं दोनों रेखाओं के बीच में ऋतर्द्धि वायु का विस्तार है। इसे 'गृद्धधर' भी कहते हैं। इसी सीमा में गृद्ध रहते हैं।

ऋतर्द्धि वायु की सीमा से ऊपर जिस वायु पथ की परिकल्पना की गयी है; उसका नाम 'प्राचेतस' है। यह द्वितीय वायुपथ है। प्रचेतस् नामक दिव्य तत्त्व रूपी दिव्य शक्तियों के प्रतीक का नाम शास्त्र की भाषा में प्रचेतस् है। अमरकोश के अनुसार यह वरुण का पर्यायवाची शब्द भी है। 'प्रचेतस्' अग्नि का भी एक नाम है। इस प्रकार वरुण धर्म आप्यायकत्व और अग्नि-धर्म दाहकत्व दोनों से यह संवलित है। यह कभी आप्यायन का और कभी दाहन का भी काम करता है। परिणामतः यदि कभी इस वायु का कोई अंश किसी प्रकार प्रवाह-पतित होकर भूपृष्ठ से संस्पृष्ट हुआ तो उस क्षेत्र के बृक्षों को जला भी सकता है। कभी वृक्षों में प्राण संचार भी कर सकता है। कभी कभी खड़े पेड़ सूख जाते हैं। यह उसी वायु का परिणाम है। यह स्व० तन्त्र १०।४२७ की मान्यता है। १०।४२९ के अनुसार यह समुद्र में बडवानल बनकर अवस्थित है।

'तस्मादूर्ध्वं शतेन' इति प्राचेतसाप्यूर्ध्वं योजनानां शतमतिक्रम्येत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम्। तथाभिधायित्वाभावात् भेकादिप्राणिवर्षित्वादेव च सत्त्ववहा इत्युक्ताः। तदुक्तम्

'योजनानां शतादूर्ध्वं मेघाः सत्त्ववहाः स्मृताः।
मत्स्यमण्डूककूर्माश्च वर्षन्ते दुर्दिने च ते॥'

(स्व० १०।४३०) इति।

विषवारिवर्षित्वादेव चोपसर्गादिकारिणः। तदुक्तम्

'पञ्चाशद्योजनादूर्ध्वं वायुरोघः प्रकीर्तितः।
तस्मिंस्तु रोगदा मेघा वर्षन्ति च विषोदकम्॥
तेनोपसर्गा जायन्ते मारकाः सर्वदेहिनाम्।'

(स्व० १०।४३२) इति।

भूपृष्ठ से ५० योजन के ऊपर सौ योजन के क्षेत्र में दो वायु हैं। १—ऋतर्द्धि और २—प्राचेतस। इनके ऊपर तीसरे वायु का क्षेत्र आता है। इसका नाम 'सेनानी' है। कभी कभी मेघ इस क्षेत्र में भी आ जाते हैं। यद्यपि वे मूक मेघ कहलाते हैं किन्तु उनमें विद्युत अन्तर्गर्भ के रूप में स्पन्दित रहती है।

भीषण मूसलाधार वर्षा के समय ये कभी पृथ्वी से एक दम समीप आ जाते हैं। वायु के थपेड़े इन्हें नीचे उतार देते हैं। सेनानी क्षेत्र के ये मूक मेघ हैं। इनके ऊपर भी ऐसे मेघ हैं जिन्हें 'सत्त्ववह' कहते हैं। सत्त्व प्राणी वाचक शब्द है। उनको वहन करने के कारण इन्हें 'सत्त्ववह' कहते हैं। कभी कभी प्रचण्ड वर्षा के अवसरों पर इनसे मछलियाँ, मेढक और कछुवे तक बरस पड़ते हैं। आजकल ऐसी वर्षा तो इधर एकदम बन्द है। आज से लगभग ६० वर्ष पहले तो स्वयं मैंने भी ऐसी मछली देखी थी जो वर्षा से गिरी थी। कहीं से बह कर आने को वहाँ कत्तई सम्भावना नहीं थी।

सेनानी वायु के ऊपर ५० योजन भूपरिवेष्टित शून्य 'ओघ' नामक वायु के विलास का परिवेश है। इसमें ऐसे मेघों की सत्ता का शास्त्रीय प्रमाण है, जो जहरीले जल को वर्षा करते हैं। संयोगवश यदि कभी ऐसे जल से शरीर का सम्पर्क हुआ तो भयङ्कर परिणाम होता है। विभिन्न प्रकार के 'उपसर्ग' उपद्रव शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर में प्राण लेवा पीड़ा का उत्पीडन आरम्भ हो जाता है। प्राणी इस पीड़ा के परिणाम स्वरूप मृत्यु का भी वरण

'ओघे वसन्ति वै दिव्याः पिशाचाः स्कन्ददेहजाः ।
त्रिंशत्कोटिसहस्राणि स्कन्दस्यानुचराः स्मृताः ॥
ते वै दिव्यैश्च कुसुमैरर्चयन्ति हरात्मजम् ।'

(स्व० १०।४४२) इति ।

'तत्र स्थान' इति अमोघाख्ये मरुति 'अकृतात्मनां संशयानानाम् । यदुक्तम्

'तस्मादूर्ध्वं तु तावद्भ्यो देव्यमोघः स्थितो मरुत् ।
तस्मिस्ते मारका मेघा अमोघे संप्रतिष्ठिताः ॥'

(स्व० १०।४३३) इति ।

'अमोघे विनायका घोरा महादेवसमुद्भवाः ।
त्रिंशत्कोटिसहस्राणि तस्मिन्वायौ प्रतिष्ठिताः ॥
ये हरन्ति कृतं कर्म नराणामकृतात्मनाम् ।'

(स्व० १०।४४४ इति च ।

'उपलाम्बुदा' इति उपलवर्षित्वात् तदाख्याः । विद्याधराधमा इति, वक्ष्यमाण-विद्याधरापेक्षया अल्पसिद्धित्वात्; अत एवैषां तत्रत्यमातङ्गारोहादेव तत्तद्गति-भाक्त्वम् ॥१२८॥

कर लेता है। यह वर्णन स्व० तन्त्र के १०।४३२-४३३ में भी आया है। इस ओघ वायु की एक और विशेषता यह है कि इसमें ऐसे पिशाच रहते हैं जो स्कन्द के शरीर से उत्पन्न हैं। इनकी त्रिंशत् कोटि सहस्र की बहुत बड़ी संख्या इसी क्षेत्र में रहती है। ये सभी स्कन्द के अनुचर माने जाते हैं। यह वर्णन स्व० तन्त्र १०।४४२-४४३ में आया है।

इसके बाद 'मारक' नामक मेघों का क्षेत्र आता है। यह ओघ से भी ५० योजन ऊपर है। इसमें महादेव के विनायक' नामक गण निवास करते हैं। यह 'अमोघ' वायुपथ है। श्लोक १२७ में 'तत्र स्थाने शब्द से अमोघवायु का क्षेत्र हो लिया गया है। इसमें प्रयुक्त अकृतात्मा शब्द अनिश्चयशील संशयात्मा के लिये गृहीत होता है। इनके समस्त आचरित कर्मों के फलों का ये स्वयं हरण कर लेते हैं। स्व० तन्त्र १०।४३३ में देवी को सम्बोधित करते हुए भगवान शंकर कहते हैं कि हे देवि ! इसमें मारक नामक मेघ रहते हैं। विनायकों की संख्या भी पिशाचों के समान ही बहुत बड़ी है।

एतत्पदप्राप्तौ चैषां निमित्तमाह

ये विद्यापौरुषे ये च श्मशानादिप्रसाधने ।
मृतास्तत्सिद्धिसिद्धास्ते वज्राङ्के मरुति स्थिताः ॥ १२९ ॥

'विद्यापौरुषे' गारुडविद्यादिस्पर्धायाम् । मृता इत्यर्थादितदन्ते । तदुक्तम्

'वज्राङ्को नाम वं वायुः पञ्चाशद्योजने स्थितः ।
तस्मिश्चोपलका नाम मेघास्तूपलवर्षिणः ॥'

(स्व० १०।४३४) इति ।

'वज्राङ्केऽपि तथा वायौ मातङ्गाः क्रूरकर्मिणः ।
भिन्नाञ्जननिभा घोरास्तापना नाम विश्रुताः ॥
विद्याधराणामधमा मनः पवनगामिनः ।
ये विद्यापौरुषे ये च वेतालादौश्मशानतः ॥
साधयित्वा ततः सिद्धास्तेऽस्मिन्वायौ प्रतिष्ठिताः ।

(स्व० १०।४४६) इति च ॥१२९॥

श्लोक १२८ में आये हुए उपलाम्बुद शब्द का अर्थ ऐसे बादलों से है जो उपल की वर्षा करते हैं । यही कारण है कि ऐसे बादलों की संज्ञा ही 'उपलाम्बुद' हो गयी । ये मेघ 'वज्राङ्क' नामक वायुपथ में रहते हैं । इसमें अधम विद्याधर अर्थात् अल्पसिद्धि वाले विद्याधर निवास करते हैं । स्व० तन्त्र १०।४४५ से ४५० तक इस वायुपथ का विशिष्ट वर्णन है ।

वहाँ लिखा गया है कि,

"जब वज्राङ्क वायु पथ में क्रूरकर्मा मदमत्त मतङ्ग मस्ती से झूमते हुए भूकम्प मचाते हुए से चलते हैं तो लगता है स्वयम् अन्धतमस् का आडम्बर चल रहा है । इन्हें तापन मातङ्ग कहते हैं । इनकी गति भी वायु के समान ही तीव्र है । उन्हीं पर चढ़कर वे विद्याधर अपना कार्य करते हैं एवं यात्रादि सम्पन्न करते हैं । वाहन का आश्रय लेकर चलने वाले विद्याधर अधम कोटि के हैं । उत्तम कोटि के विद्याधर तो सिद्ध होते हैं । वे मन्त्र विद्या के प्रभाव से इच्छा-गति शील होते हैं । इसमें ऐसे लोगों का निवास होता है, जो किसी विद्यापौरुष (शास्त्रार्थ या महाविद्यासाधनाक्रम) स्पर्धा में अथवा वेतालसाधना में या श्मशान साधन में सिद्ध हो गये होते हैं । सिद्ध शब्द मृत अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । बहुत से लोग

पञ्चाशदूर्ध्वं वज्राङ्काद्वैद्युतोऽशनिवर्षिणः ।
अब्दा अप्सरसश्चात्र ये च पुण्यकृतो नराः ॥ १३० ॥
भृगौ वह्नौ जले ये च संग्रामे चानिर्वतिनः ।
गोग्रहे वध्यमोक्षे वा मृतास्ते वैद्युते स्थिताः ॥ १३१ ॥

पुण्यकृत्त्वमेव व्याचष्टे 'भृगावित्यादिना' । भृग्वादौ मृतास्तथाम्नातत्वात् तच्च लुप्तस्मृत्यादीनाम् । यदुक्तम्

'**भृगौ च स्मृतेर्लुप्त** .... ।' इति ।

साधना विघ्नों में मर भी जाते हैं। वे लोग भी इसी वायुपथ में निवास करते हैं ॥ १२२-१२९ ॥

इसके ५० योजन ऊपर 'वैद्युत' नामक वायु पथ है। इसमें मेघ वज्र की वर्षा करते हैं, संवत्सर, अप्सरायें और पुण्यात्मा लोग इसमें निवास करते हैं। ऐसे लोग जिनकी मृत्यु पहाड़ी ढलान से लुढक जाने से आग, जल, युद्ध पशुग्रह में सिंहादिके झटके अथवा वध्य के मोक्षार्थ हो जाती है, वे भी इसी वायविक लोक प्रवाह पथ में विहार के अधिकारी होते हैं। इसका समर्थन स्व० १०।४३५-४४९ श्लोकों में है।

वैद्युत वायुपथ बज्राङ्क से ५० योजन ऊपर है। वायुपथों में मेघों की प्रकल्पना का भौतिक स्वरूप आजकल नहीं दीख पड़ रहा है। शास्त्र से यह प्रमाणित है। इसका एक साधनात्मक स्वरूप है। पैर के अँगूठे के अग्रभाग में अवस्थित विन्दु से शरीर का भूलोक शुरू होता है। यह चरण और कटि के मिलन की युजिरेखा से नीचे है। इसमें वैद्युतिक जागरण का मूल मन्त्र कूर्च बीज के साथ फट् लगाकर है। उसका पूरा वर्णन भूलोक के प्रकरण में आ चुका है। भुवर्लोक ग्रीवा और शिरोभाग की युजिरेखा तक हैं। इस अंश में श्वास की प्रक्रिया नाभि से चलती है और विशुद्ध चक्र तक दश वायु (प्राणवायु) की प्रकल्पना है। जब श्वास को कुम्भक की दशा में नाभि से ऊपर की ओर गर्दन तक भरते हैं तो इन वायु स्तरों की अनुभूति साधन द्वारा अनुभूतव्य है। मूलाधार में कूर्चबीज के प्रयोग की सिद्धि हो जाने पर ही ये अनुभूतियाँ हो सकती हैं।

तथा

'परां काष्ठामनुप्राप्तो भिषग्भिः परिवर्जितः ।
रसास्वादपरित्यक्तो व्याधिभिः परिपीडितः ॥
विमुखः स्वजनत्यक्तो देहत्यागोद्यतो नरः ।
आरुहेद्भृरवं यो हि स तत्फलमवाप्नुयात् ॥
अन्यथा पातयेद्देहं ब्रह्महत्याफलं लभेत् ।' इति ।

अस्तु भौतिक जागतिक परिवेश की अशनिवर्षा जिस रूप में होती है—इसको बादल फटने से होने वाली प्रलयकालीन विनाश-लीला के रूप में माना जा सकता है । बिजली की तड़क के बाद कहीं एक जगह बिजली गिर जाना छोटा अशनिपात माना जा सकता है । इसमें निवास करने वाले पितर प्राणियों के प्रकार की गणना यहाँ की गयी है । सर्वप्रथम पुण्यकर्मा मनुष्यों के पितर यहाँ इसी क्षेत्र रहते हैं । इसकी चर्चा है । इन्द्र प्रयोजित अप्सरायें भी यहाँ भू लोक के हित में यहाँ नियुक्त हैं । इसके बाद सात प्रकार के पितरों का यहाँ वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है—

१—भृगुमृत—भृगु अतट प्रपात को कहते हैं । कभी कभी ऐसा होता कि लोग प्रपात दर्शन करने गये और वहीं गिर गये । चोट और डूबने से मृत्यु हो जाती है । भृगु सहस्रार क्षेत्र का वह विन्दु भी कहलाता है, जहाँ स्मृति चक्र का नियोजन रहता है । उस विन्दु पर आघात होने से आदमी स्मृति खो बैठता है और कोमा की मूर्च्छा में पहुच जाता है । इस दशा में मरनेवाले दो प्रकार के प्राणी होते हैं । पहले साधक वर्ग के पुण्यकर्मा लोग और दूसरे वे लोग जो वैद्यों के अभाव में रोग ग्रस्तता से मरते हैं । ये सामान्य मृतात्मा हैं । इन्हें पहले वहाँ जाना पड़ता है । उसके बाद फिर अन्यत्र भोग लोकों में वे भेजे जाते हैं । ऐसे लोग ब्रह्म हत्या आदि पापों के फल भी प्राप्त करते हैं ।

२—वह्नि मृत—ये भी दो प्रकार के होते हैं । पहले वर्ग के योगाग्नि द्वारा प्राण विसर्जक लोग और दूसरे आग से झुलस कर मरे लोग । इसमें भी कुछ शत्रुओं द्वारा आग में जलाकर मार डाले गये लोग होते हैं और कुछ स्वयं जल कर मरते हैं । ये सभी वहाँ पहुँचते हैं । पुण्यकर्मा वहीं रह जाते हैं और पापात्माओं को निरय लोकों की प्राप्ति होती है ।

संग्राम इत्यर्थाच्छरणागतादिनिमित्तम्, अन्यथा हि आत्मघातिन एते भवेयुः,—इति कथमेतत्पदप्राप्तिः स्यात् । यदुक्तम्

'असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो नराः ॥'
(ई० उ० ३ ऋ०) इति ।

स्थिता इति, अर्थाद्विमानैः । तदुक्तम्

'तावद्भिर्योजनैरेव ततो वै वद्युतोऽनिलः ।
मेघास्तु वैद्युतास्तस्मिन्निवसन्ति तु वैद्युताः ॥
अशनिर्वायुसंक्षोभात्तेष्वसौ जायते महान् ।'
(स्व० १०।४३५) इति ।

'वैद्युतेऽप्सरसस्तस्मिन्वासवेन प्रयोजिताः ।
तिष्ठन्ति सर्वदा तत्र पृथिवीपुरपालने ॥
भृगौ वह्नौ जले वाथ संग्रामेष्वनिवर्तकाः ।
गोग्रहे वन्दिमोक्षे च म्रियन्ते पुरुषोत्तमाः ॥
ते व्रजन्ति ततस्तूर्ध्वं विमानैर्मणिचिह्नितैः ।'
(स्व० १०।४४९) इति ॥१३१॥

३—जल में समाधि लेकर प्राण विसर्जन करने वाले और जल में डूब कर मरने वाले दोनों प्रकार के लोग ।

४—संग्राम-रणभूमि में वीरता के आवेश में मरने वाले सूर्य लोक का भी भेदन कर देने में समर्थ होते हैं । उनका मोक्ष हो जाता है । इसीलिये इन्हें अनिवर्त्ती कहते हैं । पहले ये लोग भी यहाँ आते हैं । पश्चात् अन्य चित्रगुप्तीय व्यवस्था होती है । (ई० उ० ३) के अनुसार—

"आत्मघाती लोग यहाँ नहीं आते । वे अन्ध तमस् से भरे ऐसे नरकों में जाते हैं, जहाँ सूरज का प्रकाश नहीं पहुँचता ।"

गोग्रह—गाय पर सिंह ने आक्रमण कर दिया हो । उस समय बहादुर आदमी सिंह पर आक्रमण कर गाय को छुड़ाने की चेष्टा करता है और स्वयं मारा जाता है । गाय को काटने के लिये ले जाने वाले पशुघ्न का विरोध करने पर उसके द्वारा मारे गये लोग भी गोग्रह-मृत स्तर के हैं । ये पुण्यात्मा लोग भी इसमें आते हैं ।

वैद्युताद्रैवतस्तावांस्तत्र पुष्टिवहाम्बुदाः ।
ऊर्ध्वं च रोगाम्बुमुचः संवर्तास्तदनन्तरे ॥ १३२ ॥
रोचनाञ्जनभस्मादिसिद्धास्तत्रैव रैवते ।
क्रोधोदकमुचां स्थानं विषावर्तः स मारुतः ॥ १३३ ॥
पञ्चाशदूर्ध्वं तत्रैव दुर्दिनाब्दा हुताशजाः ।
विद्याधरविशेषाश्च तथा ये परमेश्वरम् ॥ १३४ ॥
गान्धर्वेण सदार्चन्ति विषावर्तेऽथ ते स्थिताः ।
विषावर्ताच्छतादूर्ध्वं दुर्जयः श्वाससंभवः ॥ १३५ ॥
ब्रह्मणोऽत्र स्थिता मेघाः प्रलये वातकारिणः ।
पुष्कराब्दा वायुगमा गन्धर्वाश्च परावहे ॥ १३६ ॥

६—वध्य पाठ तन्त्रालोक का है। स्व० तन्त्र १०।४४९ में बन्दिमोक्ष पाठ है। बन्दी बनाये गये शत्रुवर्ग के सैनिक या बलि के लिये चुने गये जीव ये दोनों वध्य हैं। इनको छुड़ाना पुण्य कार्य है। वन्दि पाठ में आचार्य क्षेमराज हठात् अपहृत स्त्रियों में मरणवरण मरने वाली, जौहरव्रत में मरने वाली आत्मायें आती हैं। ऐसे प्राणियों के मोक्ष के संघर्ष में भी पुण्य कर्मा की मृत्यु हो जाती है। ऐसे लोग भी यहाँ आते हैं ॥१३०-१३१॥

'वैद्युत' के ऊपर ५० योजन के बाद 'रैवत' नामक वायुपथ है। यहाँ के बादल पुष्टिप्रद होते हैं। इसके बाद नवाँ 'संवर्त्त' नामक वायुपथ है। उसके संवर्त्त नामक मेघ रोगप्रद वारि को वर्षा करते हैं। १०वें 'विषावर्त्त' में विद्याधर सदृश महात्मा लोग निवास करते हैं। इसमें दुर्दिन नामक मेघ रहते हैं। इसके बाद ११वाँ 'पुष्करावर्त्त' नामक वायुपथ है? इसमें पुष्कर नामक मेघ रहते हैं। १२वाँ 'दुर्जय' नामक वायुपथ है। यहाँ प्रलय-वात निवास करते हैं। उसके ऊपर १३वाँ 'आवह' १४वाँ 'परावह' १५वाँ 'महावह' और १६वाँ 'महापरिवह' वायुपथ है। विषावर्त्त तक १० वायुपथ हो जाते हें। उसके ऊपर दुर्जय, आवह, परावह, महावह और महापरिवह ये दिव्य वायुपथ हैं। इनमें उमापाति शिव निर्मित विशिष्ट जोव शैव महाभाव में समाधि सुख का उपभोग करते हैं।

जीमूतमेघास्तत्संज्ञास्तथा विद्याधरोत्तमाः ।
ये च रूपव्रता लोका आवहे ते प्रतिष्ठिताः ॥ १३७ ॥
महावहे त्वीशकृताः प्रजाहितकराम्बुदाः ।
महापरिवहे मेघाः कपालोत्था महेशितुः ॥ १३८ ॥

'भस्मादि' इत्यादिग्रहणात् पादुकादि । तदुक्तम्

'तदूर्ध्वं योजनानां तु पञ्चाशद्रैवतः ।
तस्मिन्पुष्टिवहो नाम पुष्टिं वर्षति देहिनाम् ॥'

(स्व० १०।४३६) इति ।

"रैवते तु महात्मानः सिद्धा वै सुप्रतिष्ठिताः ।
गोरोचनाञ्जने भस्म पादुके अजिनादि च ॥
साधयित्वा महात्मनः सिद्धास्ते कामरूपिणः ।'

(स्व० १०।४५१) इति च ।

इस प्रकरण में जयरथ ने स्व० १०।४५३ के आधार पर उद्योतकार क्षेमराज की आलोचना की है। अपने मत को ये महाजन परिगृहीत होने के कारण अच्छा मानते हैं। यह निर्देश भी देते हैं कि क्षेमराज के मत का अनुसरण कर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। स्व० १०।४३६-४६४ तक के सन्दर्भ में इस विषय पर विशद विचार किया गया है।

वैद्युत के अनन्तर रैवत के वर्णन करने के सन्दर्भ में स्वच्छन्द तन्त्र के उद्धरण प्रस्तुत कर अपनी बात को प्रमाणित कर रहे हैं—

"स्व० तन्त्र १०।४३६ के अनुसार वैद्युत के ५० योजन ऊपर 'रैवत' वा कु पथ अवस्थित है। इस परिवेश में जो मेघ रहते हैं, उन्हें 'पुष्टिवह' नामक मेघ कहते हैं। ये जीवन में 'पुष्टि' की वर्षा करते हैं। 'पुष्टि' एक परिभाषिक शब्द है। इसके अर्थ में परमेश्वर की कृपा का भाव अन्तर्निहित रहता है।"

स्व० तन्त्र १०।४५१ के अनुसार रैवत की स्थिति का सिंहावलोकन कर रहे हैं—

"रैवत पर प्रतिष्ठा प्राप्त यशस्वी सिद्ध महात्मा निवास करते हैं। उन्होंने गोरोचन से लिखे यन्त्र विद्या की सिद्धि प्राप्त की है। अञ्जन गुटिका

ऊर्ध्वमिति, रैवतात् 'तदन्तरे' इति तान्येव पञ्चाशद्योजनान्यन्तरं शून्यरूपं यत्रेत्यर्थः। तदुक्तम्

'संवर्ते रोगदा मेघास्ते रोगोदकवर्षिणः।
पञ्चाशद्योजने ते वै तस्मिंस्तिष्ठन्ति तोयदाः॥'

(स्व० १०।४३७) इति।

दुर्दिनाब्दा इति, दुर्दिनकारित्वात्, 'गान्धर्वेण' इति वंशवीणादिना। तदुक्तम्

'विषावर्तो नाम वायुः पञ्चाशदुपरि स्थितः।
तस्मिन्क्रोधोदका नाम मेघा वै संप्रतिष्ठिताः॥
ते क्रोधरागबहुलं संग्रामबहुलं तथा।
राज्ञां क्षयकरं चैव प्रजानां क्षयदं तथा॥
वर्षं चैव प्रकुर्वन्ति यदा वर्षन्ति ते घनाः।'

(स्व० १०।४४०) इति।

साधन में वे पारङ्गत हैं। भस्म धारण से बड़े संकटों को दूर कर लेते हैं। भस्म श्मशान साधन का एक उपकरण भी है। पादुका पहनकर जल संचरण करना सिद्ध लोगों के लिए बायें हाथ का खेल है। मृगचर्म पर अपनी साधना का सारा उपक्रम उन्होंने पूरा किया हुआ है और तपश्चरण में सर्वाग्रणी हैं। वे इच्छा रूप-धारी हैं। ऐसे महात्मा जन 'रैवत' पर विहार करते हैं।"

श्लोक १३२ में ऊर्ध्वं शब्द का रैवत से ऊपर ५० योजन शून्य परिवेश अर्थ लेना चाहिये। स्व० तन्त्र १०।४३७ के अनुसार,

"संवर्त्त में रोगप्रद वायु प्रवहमान हैं। इसमें संवर्त्त नामक मेघ भी होते हैं। ये ऐसी वर्षा करते हैं, जिसमें पड़ जाने वाला व्यक्ति निश्चित ही रुग्ण हो जाये।"

श्लोक १३४ में दुर्दिन नामक बादलों का उल्लेख है। ये बादल विषावर्त में रहते हैं। इन बादलों का नाम दुर्दिन इसलिये पड़ा है कि, ये निरन्तर दुर्दिन (मेघाच्छन्नं तु दुर्दिनम्) का वातावरण बनाये रहते हैं। स्व० तन्त्र १०।४४० में कहा गया है कि,

"विषावर्त्त नामक वायुपथ संवर्त्त से ५० योजन ऊपर है। इसमें 'क्रोधोदक' नामक मेघ रहते हैं। वे ऐसी वर्षा करते हैं जिससे प्रभावित पुरुष क्रोध से हमेशा आविष्ट से रहते हैं। उनमें राग द्वेष की आग प्रज्वलित रहती है।

'विषावर्ते महावायौ विद्याधरगणाः स्मृताः ।
दश त्रिंशच्च कोटयस्ते दिव्याभरणभूषिताः ॥'
(स्व० १०।४५३) इति ।

'आग्नेया धूमजा मेघाः शीतवृर्विनवाः स्मृताः ।
विषावर्तं नावमिव ते वायुं यान्ति संश्रिताः ॥
तत्र गान्धर्वकुशला गन्धर्वं सह-धर्मिणः ।
वंशवीणाविधिज्ञाश्च पक्षिणः कामरूपिणः ॥'
(स्व० १०।४५५) इति च ।

अत्र च संवर्तेऽपि महावायाविति उद्द्योतकारव्याख्यापाठान्न भ्रमणीयं, यत्संवर्ते कथं विद्याधरा नोक्ता विषावर्ते तु उक्ता इति, अस्मत्तर्कित एव हि पाठः साधुर्महाजनपरिगृहीतत्वात् । एवम्

आपस में लड़-झगड़ पड़ने और मारपीट कर लेने में उन्हें आनन्द आता है । हर समय संग्राम छेड़ देने को मानो आकुल से रहते हैं । इस वर्षा से राजाओं का सर्वनाश उपस्थित हो जाता है । प्रजावर्ग का उत्पीड़न प्रारम्भ हो जाता है ।"

स्व० तन्त्र १०।४२३ के अनुसार "विषावर्त्त वायुपथ में विद्याधरों के निवास हैं । उनकी संख्या चालिस करोड़ है । वे दिव्य आभरणों से भूषित भव्य जीवन व्यतीत करते हैं ।"

स्व० तन्त्र १०।४५४–४५५ के अनुसार "विषावर्त्त वायुपथ में रहने वाले विद्याधर गान्धर्व विद्या के समयाचार के आधार पर परमेश्वर की पूजा करते हैं। गान्धर्व विद्या में वे सिद्धहस्त और निष्णात हैं। ये विद्याधर वर्ग के लोग गन्धर्वों के सहधर्मी होते हैं। वंशीवादन विधि के विशेषज्ञ और वीणावादन विधि में पारङ्गत होते हैं। इसी तरह के कुछ कामरूप पक्षी भी वहाँ हैं जो उपर्युक्त विद्याओं के विशेषज्ञों की तरह आचरण करते हैं। जैसे नौका में बैठकर कोई पाल फैलाकर नाव अनायास चलाता है, उसी तरह प्रसरित पक्ष यह पक्षी वर्ग वहाँ के वायु-पथ में आकाश विहार करता है।"

स्वच्छन्द तन्त्र श्लोक १०।४५३ में 'विषावर्त्त की जगह 'संवर्त्त' पाठ है। उद्योतकार आचार्य क्षेमराज ने संवर्त्त' पाठ के अनुसार ही व्याख्या की है।

'योजनानां शतादूर्ध्वं वायुरोघः प्रकीर्तितः ।' (स्व० १०।४३१)

इत्यादावपि अस्मत्तर्कित एव पाठो ग्राह्यः, अन्यथा हि

'तस्मादूर्ध्वं　तु　तावद्भ्य·······। (स्व० १०।४३२)

इत्यादौ तावदर्थस्तन्मतेऽपि न सङ्गतः स्यात् । 'दुर्जय' इति तन्नाम्ना वायुः । तदुक्तम्

'ब्रह्मजा नाम वै　मेघा　ब्रह्मनिःश्वाससम्भवाः ।
उपरिष्टाद्योजनशताद्दुर्जयस्योपरि　स्थिताः ॥'

(स्व० १०।४५७) इति ।

गन्धर्वश्च इति, चशब्दाद् दुर्जयाख्यमेघादीनामपि ग्रहणम् । तदुक्तम्

'तत्रैव दुर्जया　नाम　इन्द्रस्य　परिरक्षकाः ।
परावहाभिधं वायुं ते समाश्रित्य संस्थिताः ॥

आचार्य जयरथ उनके विरुद्ध हैं । जयरथ की विप्रतिपत्ति विद्याधरों के सम्बन्ध में है । शास्त्रकार परमेष्ठी गुरुवर्य अभिनव ने विद्याधरों की चर्चा विषावर्त्त वायुपथ में हो की है । संवर्त्त में नहीं । 'महाजनों येन गतः स पन्थाः' के अनुसार महामाहेश्वराचार्य वर्य सदृश महापुरुष जिस तथ्य का उल्लेख कर रहे हैं, उसी का महत्त्व है ।

इसी प्रकार स्व० तन्त्र १०।४३१ में भी 'वायुरोघ' पाठ ही स्वीकार्य है— 'वायुरोग' आदि कोई पाठ स्वीकार करने योग्य नहीं है । यह पाठ ही सम्प्रदाय स्वीकृत है । ऐसा न मानने पर अमोघः स्थितः वाला १०।४३३ वाला पाठ भी विप्रतिपत्ति ग्रस्त हो जायेगा ।

मूल श्लोक १३५ में दुर्जय नामक ब्रह्मा के श्वास से उत्पन्न वायु का उल्लेख है । स्व० तन्त्र १०।४५७ के अनुसार यह सिद्ध है कि,

"वहाँ 'ब्रह्मज' नामक मेघ हैं । वे ब्रह्मा की साँसों से उत्पन्न हैं ।

मूल श्लोक १३६ में 'गन्धर्वाश्च' शब्द में 'च' अव्यय का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि परावह में दुर्जय नामक इन्द्र के परिरक्षक निवास करते हैं । स्व० तन्त्र १०।४५८-४६१ में कहा गया है कि

महावीर्यबलोपेता दश कोटयः प्रकीर्तिताः ।
पुष्करावर्तका नाम मेघा वै पद्मजोद्भवाः ॥
शक्रेण पक्षा ये छिन्नाः पर्वतानां महात्मनाम् ।
परावहस्तान्वहति मनुजानिव वारणः ॥
तस्मिन्वायुगमा नाम गन्धर्वा गगनालयाः ।'
(स्व० १०।४६१) इति ।

तदाप्रभृति एषां नैरन्तर्येणावस्थानमवसातव्यमन्तरालविधायिन्याः श्रुतेरभावात् । 'तत्संज्ञा' इति जीमूतसंज्ञाः । तदुक्तम्

'जीमूता नाम ये मेघा देवेभ्यो जीवसम्भवाः ।
द्वितीयमावहं वायुं मेघास्ते च समाश्रिताः ॥
तस्मिञ्जीमूतका नाम विद्याधरगणा दश ।'
(स्व० १०।४६२) इति ।

"वहीं 'दुर्जय' नामक इन्द्र के परिरक्षकों का भी निवास है। 'परावह' नामक वायुपथ को आश्रय बना कर ये उसी में निवास करते हैं। ये बड़ी शक्तियों से सम्पन्न बली और प्रतापी हैं। इनकी संख्या दश करोड़ है। इसमें 'पुष्करावर्त्त' नामक मेघ हैं। ये भी ब्रह्मसमुद्भव मेघ हैं।

जिन पर्वतों की पाँखें इन्द्र ने काट दी थीं, उन पाँखों को परावह आज भी उसी तरह वहन करता है। जैसे हाथी अपनी पीठ पर मनुष्यों को बैठाकर वहन करता है। इसमें ऐसे गन्धर्वों का भी निवास है जो वायुविहारी हैं और आकाश निलय निवासी भी हैं।"

प्रारम्भ से आज तक उनका निरन्तर निवास यहाँ है। ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। किससे इस प्रक्रिया में कोई अन्तराल आया हो। मूल श्लोक १३६ में 'तत्संज्ञा' शब्द प्रयोग से जीमूत संज्ञा अर्थ निकालना चाहिये।

स्व० तन्त्र १०।४६२ में कहा गया है कि, 'जीमूत' नामक वे मेघ देवताओं की साँसों से उत्पन्न हैं। ['जीव' श्वास दोनों पर्याय शब्द हैं। इसलिये जीवसम्भव का अर्थ श्वास से उत्पन्न होता है] ये मेघ द्वितीय 'आवह' वायुपथ का आश्रय लेते हैं। इसमें 'जीमूतक' नामक विद्याधरों के दसवर्ग निवास करते हैं।

'रूपव्रता' इति रूपविडम्बकवद् रूपविधानं न तु वस्तुनिष्ठं वस्तु येषां तेन व्रत[ता] जीविन इत्यर्थः। तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे

'ये च रूपव्रता लोकास्तेषां तत्र समाश्रयः।' इति।

एतदर्थं च उद्द्योतकृता न दृष्टम्,—इति न भ्रमणीयम्। ईशकृता इति उमापति-निर्मिताः। तदुक्तम्

महावहस्ततो वायुर्यत्र द्रोणाः समाश्रिताः।
तस्मिन्द्रौणाः समाख्याता मेघानां परिरक्षकाः॥
हितार्थं तु प्रजानां वै निर्मितास्ते मया पुरा।'

(स्व० १०।४६३) इति।

'मेघा' इति संवर्ताद्याः। तदुक्तम्

'उपरिष्टात्कपालोत्थाः संवर्ता नाम वै घनाः।
महापरिवहो नाम वायुस्तेषां समाश्रयः॥'

(स्व० १०।४६४) इति ॥१३८॥

श्लोक १३७ में 'रूपव्रताः'शब्द प्रयुक्त किया गया है। इस शब्द का अर्थ बहुरूपिया ही होना चाहिये। रूपवान् वस्तु में निष्ठ रूपों से अपनी आजीविका चलाने वाले नहीं होना चाहिये। स्व० तन्त्र में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

मूल श्लोक १३८ में ईशकृता शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ उमापति महादेव द्वारा स्वयं निर्मित मानना चाहिये। स्व० तन्त्र १०।४६३ में लिखा गया है कि,

"महावह" नामक वायुपथ में मेघों के परिरक्षक द्रोण अवस्थित हैं। [द्रोण भी एक प्रकार के मेघ ही होते हैं जो भयङ्कर वर्षा करते हैं। द्रोण झील को भी कहते हैं] ये मेघों के रूप में ही महावह में समाश्रित है। स्वयं भगवान् भूत भावन कहते हैं कि 'मैंने प्रजाओं की रक्षा के लिये स्वयं निर्मित किया है'।

इसी श्लोक में मेघ शब्द का भी प्रयोग है। इसका संवर्त्त आदि सभी मेघों के लिये एक साथ प्रयोग किया गया है। स्व० तन्त्र १०।४६४ में कहा गया है कि,

"इसके ऊपर शिव के शिरो भाग से उत्पन्न संवर्त्त नाम मेघ समुदाय है। इनका आश्रय 'महापरिवह न।मक वायु है" ॥१३२-१३८॥

एतदेव उपसंहरति

महापरिवहान्तोऽयमृतर्द्धेः प्राङ्मरुत्पथः ।

एवमत्र योजनानां सहस्रदशकात् ऋतर्द्धेरारभ्य महापरिवहान्तं षोडशानां वायूनामन्तरालेषु यथोक्तक्रमेण सार्धं शतसप्तकं परिसंख्याय शिष्टं विशेषश्रुत्यभावात् सममेव विभजनीयम्, येन प्रत्येकं शतपञ्चकं सार्धक्रोशा चाष्टसप्ततिर्मानं स्यात् ॥

जयरथ ने तन्त्रालोक की उक्तियों की प्रामाणिकता के लिये स्वच्छन्द तन्त्र के श्लोकों का उद्धरण प्रस्तुत किया है। स्वच्छन्द तन्त्र के अनुसार ११ मुख्य वायुपथ और ५ दिव्य वायुपथ मिलाकर १६ वायुपथ होते हैं। जयरथ ने इसे श्री तन्त्रालोक ८।१३९ की प्रथम अर्धाली की टीका में स्वीकार किया है। और यह कहा है कि ऋतर्द्धि से महापरिवह तक १६ वायुपथ हैं। स्वच्छन्द तन्त्र में उनके स्पष्ट नाम क्रम हैं, जो इस प्रकार हैं—

१—ऋतर्द्धि, २—प्राचेतस, ३—सेनानी, ४—सत्त्ववह, ५—ओघ, ६—अमोघ, ७—वज्राङ्ग, ८—वैद्युत, ९—रैवत, १०—संवर्त्त और ११ विषावर्त्त। ये ११ मुख्य वायुपथ हैं। १२—दुर्जय, १३—परावह, १४—आवह, १५—महावह और १६—महापरिवह—ये ५ दिव्यवायुपथ हैं। इन पाँचों को मिलाकर १६ वायुपथ निश्चित हो जाते हैं।

उक्त सन्दर्भ का उपसंहार करते हुए कह कह रहे हैं कि,

ऋतर्द्धि से लेकर महापरिवह वायु पर्यन्त इस वायु पथ का विस्तार है। पहला वायुपथ दश हजार योजन मान वाला है। उसकी भूमि के ऊपर पचास योजन शून्य है। इस शून्य लोक क्षेत्र ऊपर के ऋतर्द्धि आदि ११ वायुपथ हैं। इनमें सेनानी और सत्त्ववह वायुपथ केवल १००-१०० योजन क्षेत्र में ही संचारयुक्त हैं। शेष प्रत्येक ५०।५० योजन के परिवेश में ही अवस्थित हैं। इस तरह भूपृष्ठ से विषावर्त्त पर्यन्त ७५० योजन होते हैं। इनके ऊपर ९३०० योजनों में दुर्जय, परावह, आवह महावह और महापरिवह ये पाँच वायु स्थित हैं। निष्कर्षतः दश हजार योजन में से ७५० योजन निकाल देने पर ९२५० योजन मान होता है। इनमें १६ का भाग देने पर सबके अन्तराल का पथ ५७८$\frac{१}{८}$ योजन ही मान्य होता है। स्वच्छन्द तन्त्र श्लो० १०।४२३ में अयुतायुत अन्तर्निवास का उल्लेख है। श्री तन्त्रालोक सामान्यतया ५७८$\frac{१}{८}$ योजन का ही अन्तराल मानता है।

अग्निकन्या मातरश्च रुद्रशक्त्या त्वधिष्ठिताः ॥ १३९ ॥
द्वितीये तत्परे सिद्धचारणा निजकर्मजाः ।
तुर्ये देवायुधान्यष्टौ दिग्गजाः पञ्चमे पुनः ॥ १४० ॥
षष्ठे गरुत्माननन्यस्मिङ्क्ङ्कान्यत्र वृषो विभुः ।
दक्षस्तु नवमे ब्रह्मशक्त्या समधिति[नि]ष्ठितः ॥ १४१ ॥
दशमे वसवो रुद्रा आदित्याश्च मरुत्पथे ।
नवयोजनसाहस्रो विग्रहोऽर्कस्य मण्डलम् ॥ १४२ ॥
त्रिगुणं ज्ञानशक्तिः सा तपत्यर्कतया प्रभोः ।
स्वर्लोकस्तु भुवर्लोकाद्ध्रुवान्तं परिभाष्यते ॥ १४३ ॥
सूर्याल्लक्षेण शीतांशुः क्रियाशक्तिः शिवस्य सा ।
चन्द्राल्लक्षेण नाक्षत्रं ततो लक्षद्वयेन तु ॥ १४४ ॥
प्रत्येकं भौमतः सूर्यसुतान्ते पञ्चकं विदुः ।
सौराल्लक्षेण सप्तर्षिवर्गस्तस्माद्ध्रुवस्तथा ॥ १४५ ॥
ब्रह्मैवापररूपेण ब्रह्मस्थाने ध्रुवोऽचलः ।
मेधीभूतो विमानानां सर्वेषामुपरि ध्रुवः ॥ १४६ ॥

'मातरो' ब्राह्म्याद्याः । द्वितीय इति, वायुपथे । तत्पर इति, तृतीये । अष्टाविति, नाराचादीनि । तदुक्तम्

दूसरे प्राचेतस वायुपथ में अग्नि कन्याओं का और ब्राह्मी आदि मातृ शक्तियों का निवास है। ये सभी रुद्र शक्ति से अधिष्ठित हैं। प्राचेतस नामक अग्नि के प्रभाव से इसमें वानस्पतिक सौन्दर्य जन्य सुखानुभूतियों का अभाव रहता है क्योंकि वृक्ष आदि इस अग्नि के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं। तीसरे पथ में सिद्ध और चारण योनियाँ अपने कर्मों के अनुसार सक्रिय हैं।

'चतुर्थे पथि चैवात्र वसन्त्यायुधदेवताः ।
नाराचचापचक्रर्ष्टिशूलशक्तीषु मुदगरा ॥'
(स्व० १० ४६८) इति ।

'दिग्गजा' इति ऐरावतादयः । तदुक्तम्

'पञ्चमे पथि देवेशि वसन्त्यैरावतादयः ।
ऐरावतोऽञ्जनश्चैव वामनश्च महागजः ॥
सुप्रतीकः करीन्द्रश्च पुष्पदन्तस्तथैव च ।
कुमुदः पुण्डरीकश्च सार्वभौमोऽपि चाष्टमः ॥
दिग्गजा इति विख्याताः स्वासु दिक्षु व्यवस्थिता ।'
(स्व० १०।४७१) इति ।

अन्यस्मिन्निति, सप्तमे । अन्यत्रेति, अष्टमे । वसवोऽष्टौ, रुद्रा एकादश, आदित्या द्वादश । तदुक्तम्

चौथे वायुपथ को सत्त्ववह कहते । इसमें देवायुध नामक देवयोनि निवास करतो है । स्वच्छन्द तन्त्र १०।४६८ के अनुसार इन्हें आयुध देवता कहते हैं । नाराच, चाप, चक्र, ऋष्टि, शूल, शक्ति और मुद्गर इनके विशेष हथियार हैं ।

पाँचवें अमोघ नामक वायुपथ में दिग्गज निवास करते हैं । इनके नाम ऐरावत, अञ्जन, वामन, महागज, सुप्रतीक, करीन्द्र, पुष्पदन्त, कुमुद, पुण्डरीक और सार्वभौम हैं । ये सभी अपनो-अपनी दिशाओं में व्यवस्थित हैं । स्व० तन्त्र १०।४७०–४७१ में इनका वर्णन है ।

छठवें वायुपथ में गरुड का आवास है । सातवें वज्राङ्क में आकाशगङ्गा ८ वें वैद्युत में वृष, नवें रैवत में दक्ष अधिष्ठित है । ये वज्र शक्ति सम्पन्न हैं । दसवें संवर्त्त में वसु, रुद्र, और आदित्य निवास करते हैं । यह नव हजार योजन का सूर्यमण्डल है । परम ईशान की ज्ञानशक्ति त्रिगुण अर्थात् ९ हजार × ३ = २७ हजार योजन के सूर्यमण्डल में प्रकाश का चमत्कार प्रदर्शित करती है ।

मूल श्लोक १४२ में वसु, दसवें वायुपथ में रुद्र और आदित्यों की चर्चा है । स्वच्छन्द तन्त्र १०।४९० से ४९५ के श्लोकों में इनके नाम दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं—

'अत्र चाङ्गारकः सर्पिर्नैर्ऋतः सदसस्पतिः ।
बुधश्च धूमकेतुश्च विख्यातश्च ज्वरस्तथा ॥
अजश्च भुवनेशश्च मृत्युः कापालिकस्तथा ।
एकादश स्मृता रुद्राः सर्वकामफलोदयः ॥
धाता ध्रुवश्च सोमश्च वरुणश्चानिलोऽनलः ।
प्रत्युषश्च प्रदोषश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥
वसवः कथिता ह्येते आदित्यांश्च निबोध मे ।
अर्यमा इन्द्रवरुणौ पूषा विष्णुर्गभस्तिमान् ॥
मित्रश्चैव समाख्यातस्त्वजघन्यो जघन्यकः ।
विवस्वांश्चैव पर्जन्यो धाता वै द्वादश स्मृताः ॥'
(स्व० १०।४९१) इति ।

"रुद्र ग्यारह प्रसिद्ध हैं। इनके नाम क्रमशः अङ्गारक, सर्पिः, नैऋत, सदसत्पति, बुध, धूमकेतु विख्यात, ज्वर, अज, भुवनेश, मृत्यु और कापालिक हैं। ये उपासना करने पर उचित फल प्रदान करते हैं।"

"आठ वसुओं के नाम इस प्रकार हैं। १—धाता २—ध्रुव, ३—सोम, ४—वरुण, ५—अनिल, ६—अनल, ७—प्रत्यूष और ८ प्रदोष। जहाँ तक आदित्यों का प्रश्न है, उनके नाम निम्नलिखित हैं। १—अर्यमा, २—इन्द्र, ३—वरुण, ४—पूषा ५—विष्णु, ६—गभस्तिमान्, ७—मित्र, ८—अजघन्य, ९—जघन्य, १०—विवस्वान्, ११—पर्जन्य और १२—धाता। इस तरह इनकी कुल संख्या बारह होती है" ॥१३९-१४३॥

श्री तन्त्रालोक का नाम-क्रम अस्पष्ट है। सत्त्ववह, अमोघ और संवर्त्त इन तोनों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इस आह्निक के श्लोक १२२ से श्लोक १३८ तक इनकी गणना श्री तन्त्रालोक में है। श्री तन्त्रालोक के क्रम में श्लोक १२५ में प्राणिवर्षी मेघ का उल्लेख है। ये मेघ सत्त्ववह वायु पथ में हैं—यह अनुमिति करनी पड़ती है। ओघ १२५ के बाद अमोघ का उल्लेख न कर श्लोक १२८ में वज्राङ्क का उल्लेख किया गया है। जयरथ ने ओघ अमोघ इन दोनों शब्दों के स्वच्छन्द तन्त्र के उद्धरण तो दिये पर उक्त अस्पष्टता का उल्लेख नहीं किया है।

त्रिगुणमिति, सप्तविंशतिसहस्राणि । 'तपति' विश्वं प्रकाशयति इत्यर्थः । ज्ञानस्य हि प्रकाशकत्वमेव स्वभाव इति भावः । तदुक्तम्

'ज्ञानशक्तिः परस्यैषा तपत्यादित्यविग्रहा ।'

(स्व० १०।४९८) इति ।

वायुपथों के १० मुख्य हैं या ११ इसमें भी मतभेद है । श्री तन्त्रालोक में श्लोक १२१ यें दश वापुपथाः का उल्लेख है । साथ ही साथ महापरिवहान्तोऽयं ऋतद्धैः प्राङ् मरुत्पथः (१३९) का उल्लेख है । इसी तरह श्लोक १३९ से १४२ तक पहले दूसरे तीसरे चौथे पाँचवें आदि से दसवें तक में स्पष्ट नामोल्लेख न कर अस्पष्टता को ही प्रश्रय दिया गया है ।

भुवर्लोक और ध्रुव के मध्य का क्षेत्र स्वर्लोक है । शिव की ज्ञान शक्ति सूर्यरूपसे भुवर्लोक में और क्रियाशक्ति स्वर्लोक में चन्द्र रूप से सक्रियता को प्रस्फुरित करती है । चन्द्र से १ लाख योजन नक्षत्र मण्डल और इससे २ लाख ऊपर भौम मण्डल है । इससे भी ऊपर बुध और बुध से लेकर शनिश्चर तक यह सौर मण्डल है । सौर मण्डल से १ लाख ऊपर सप्तर्षि मण्डल है । सप्तर्षि मण्डल में ऊपर ध्रुव मण्डल हैं । ध्रुवसाक्षात् ब्रह्म है वह अचल है, और समस्त गतिचक्रों का नियामक है । स्वच्छन्द तन्त्र १०।४६८ से ५१० तक इसका समर्थन होता है ।

परमेश्वर शास्त्र में शिव की पाँच शक्तियों का वर्णन है । १—अर्थ-प्रकाशरूपा संवित् (चित्) शक्ति, २—शिवस्वातन्त्र्य रूपा आनन्द शक्ति, ३—चैतन्य चमत्कार रूपा इच्छा शक्ति ४—प्रकाश विमर्श रूपा ज्ञान शक्ति और ५—सर्वाकार योगित्व क्रिया शक्ति । इन मुख्य शक्तियों से युक्त, अनवच्छिन्न प्रकाश रूप परमेश्वर शिव स्वातन्त्र्य-वश स्वात्म संकोच को स्वीकार कर आणव भाव में व्यक्त हो जाते हैं । मूल श्लोक १४३ में परमेश्वर शिव को ज्ञान शक्ति ही सूर्य रूप से विश्व को प्रकाश से प्रकाशमान कर रही है । स्वच्छन्द तन्त्र १०।४९८ में स्पष्ट उल्लेख है कि,

"परम शिव की ज्ञान शक्ति ही आदित्य का शरीर धारण कर तप रही है अर्थात् अपने प्रकाश पुंज से विश्व को प्रकाशमान कर रही है ।"

भुवर्लोकादित्यारभ्य सूर्यादिति, भुवर्लोकान्ते स्थितात् । क्रियाशक्तिरिति, जगदाप्यायकारित्वात् । तदुक्तम्

'चन्द्ररूपेण तपति क्रियाशक्तिः शिवस्य तु ।'

(स्व० १०।५०२) इति ।

नाक्षत्रमिति, मण्डलम् तदुक्तम्

'इन्दूर्ध्वे लक्षमात्रेण स्थितं नक्षत्रमण्डलम् ।'

(स्व० १०।५०२) इति ।

लक्षद्वयेन इत्यूर्ध्वम्; तेन नक्षत्रमण्डलादूर्ध्वं लक्षद्वयेन भौमः, ततोऽपि बुधो यावदन्ते सौरः । लक्षेण इत्यूर्ध्वम् । तदुक्तम्

यहाँ तक भुवः मण्डल का वर्णन है । इसमें सूर्य अपने ग्रह मण्डल के साथ विराजमान है । यह प्रकाश का देवता है । ज्ञान का प्रकाश ही स्वभाव है । सूर्य भी प्रकाश रूप है । अतः ज्ञान रूप हो है ।

इसके आगे स्वर्लोक-मण्डल का वर्णन है । भूलोक से सूर्यलोक का परिवेश हो भुवर्लोक है जिसका वर्णन किया जा चुका । अब स्वर्लोक के उस स्थान का उल्लेख कर रहे हैं, जहाँ से स्वर्लोक का आरम्भ होता है । वह स्थान भुवर्लोक का अन्त अर्थात् सूर्य मण्डल है । भुवर्लोक वहाँ समाप्त हो जाता है । वहाँ से लेकर ध्रुव तक के परिवेश को स्वर्लोक कहते हैं । श्लोक १४९ में भूमि से ध्रुव की दूरी १५ लाख योजन लिखो हुई है । यह गणना 'योजन' के माप पर आधारित है । आधुनिक वैज्ञानिक भूमि से सूर्य को ही ९ करोड़ मील मानते हैं । सूर्य के ऊपर सोम, नक्षत्र मण्डल, सप्तर्षि और ध्रुव की दूरी है । यहाँ भू-ध्रुव दूरो पन्द्रह लाख मानी गयी है । इसे दश करोड़ पन्द्रह लाख योजन मानने पर ८१ करोड़ २० लाख मील की गणना आती है । यह आधुनिक विज्ञान से मेल खा सकती है ।

स्वर्लोक की यह विशेषता है कि इस परिवेश में परमेश्वर की क्रिया शक्ति का समुल्लास है । जैसे ज्ञान शक्ति के प्रतीक सूर्य हैं । उसी तरह परमेश्वर की क्रिया शक्ति का प्रतीक 'सोम' है । सोम संसार को आप्यायित करने वाली क्रिया शक्ति है । इसके रस से तृप्त जगत् अनन्त आकार ग्रहण करता है और अपने में पूर्णता की तृप्ति का अनुभव करता है । स्वच्छन्द तन्त्र १०।५० की अर्द्धाली अनुसार—

'अत्रिश्चैव वसिष्ठश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृग्वङ्गिरा मरीचिश्च ऋषयः सप्त कीर्तिताः ।।'
(स्व० १०।५०५) इति ।

तथेति, लक्षेणोर्ध्वमित्यर्थः । 'मेधीभूत' इति बन्धनस्थानतामाप्त इत्यर्थः । विमानानामिति, ग्रहादिसम्बन्धिनाम् । तदुक्तम्

'ब्रह्मैवापररूपेण ध्रुवस्थाने नियोजितः ।
तस्य ज्योतिर्गणो देवि निबद्धो भ्रमते सदा ।।
निश्चलः स तु विज्ञेयः शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः ।'
(स्व० १०।५१०) इति ।।१४६।।

"शिव की क्रिया शक्ति ही सोम रूप से प्रकाशमान है ।"

नक्षत्र मण्डल के सम्बन्ध में पुनः स्व० तन्त्र १०।५०२ में कहा गया है कि, "चन्द्रमा से ऊपर एक लाख योजन तक नक्षत्र मण्डल फैला हुआ है ।" स्व० तन्त्र १०।५०५ के अनुसार सप्तर्षियों के नाम इस क्रम से दिये गये हैं—

"अत्रि, वशिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, अङ्गिरा और मरीचि ये सात सप्तर्षि मण्डल के ऋषि हैं ।"

श्लोक १४६ में प्रयुक्त मेधीभूत शब्द एक महत्त्वपूर्ण पुराकालिक उत्कर्ष की सूचना देने वाला अप्रचलित शब्द है । मेध्यते यत्र स मेधः इस व्युत्पत्तिविग्रह में मेध शब्द बन्धन स्थान, सङ्गम स्थान, यज्ञ स्थान आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है । मेधृधातु हिंसा और मिलन अर्थ में पाणिनि और काशकृत्स्न द्वारा गृहीत धातु है । मेध इसीलिये यज्ञ को कहते हैं । प्रस्तुत स्थल में यह विमानों के साथ प्रयुक्त है । ध्रुव पर ज्योतिश्चक्र के देवगण अपने विमानों से यात्रा किया करते थे । उनके विमानों के ठहरने की जगह निर्धारित थी । जहाँ वे मिलते रहे होंगे । उनको स्थिर रखने के लिये उन्हें बन्धन की आवश्यकता होती होगी । उसी ऐतिहासिक पौराणिक और आगमिक मन्तव्य को यह शब्द व्यक्त कर रहा है । आजकल ऐसे स्थानों को हम हवाई अड्डा कहते हैं । आंग्लभाषा में इसे Airport या Air drome कहते हैं । स्व० तन्त्र १०।५१० में लिखा हुआ है कि,

"अपर रूप से ब्रह्मा ही ध्रुव स्थान में नियोजित हैं । उनसे सम्बद्ध ज्योतिर्गण सदैव वहाँ भ्रमण किया करते हैं । वह स्थिर ज्योतिश्चक्र है । इसीलिये इसे ध्रुव कहते हैं । यह शिव और शक्ति से अधिष्ठित ध्रुव मण्डल है ।" ।। १४३-१४६ ।।

अत्र बद्धत्वेऽपि एषामाधारः कः ? इत्याशङ्क्याह

अत्र बद्धानि सर्वाण्यप्यूह्यन्तेऽनिलमण्डले ।

अनिलमण्डलानि च कियन्ति ? इत्याशङ्क्याह

स्वस्सप्त मारुतस्कन्धा आमेघाद्याः प्रधानतः ॥ १४७ ॥

स्वरिति, स्वर्गलोके। 'आमेघाद्या' इति आमेघादामेघं तदाद्यो येषाम्। तदुक्तम्

'आमेघाद्भास्करात्सोमान्नक्षत्राद्ग्रहमण्डलात् ।
ऋषिसप्तकनिर्देशादाध्रुवान्तं च सप्तमः ॥'

(स्व० १०।५१२) इति।

तथा

'पृथिव्याः प्रथमः स्कन्ध आमेघेभ्यो य आवहः ।
द्वितीयश्चापि मेघेभ्य आसूर्यात्प्रवहश्च यः ॥
सूर्यादूर्ध्वं तथा सोमादुद्वहो यस्तु वै स्मृतः ।
सोमादूर्ध्वं तथर्क्षेभ्यश्चतुर्थः संवहस्तु सः ॥
ऋक्षेभ्यश्च तथैवोर्ध्वमाग्रहाद्विवहस्तु सः ।
ऊर्ध्वं ग्रहादृषिभ्यस्तु षष्ठो योऽसौ परावहः ॥
सप्तर्षिभ्यस्तथैवोर्ध्वमाध्रुवात्सप्तमस्तु सः ।
वातस्कन्धः परिवहः································ ॥'

(पुराणे) इति ॥१४७॥

स्वर्लोक के वातावरण में ७ सात अनिल मण्डल हैं। इनसे ही सारे गतिचक्र नियन्त्रित हैं। इनके नाम क्रमशः १–आमेध, २–भास्कर, ३–सोम, ४–नक्षत्र ५–ग्रह, ६–सप्तर्षि और ७–ध्रुवान्त हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, विवह, परावह और परिवह कहते हैं।

स्वच्छन्द तन्त्र १०।५१२ में इन सात मारुत स्कन्धों के नाम आये हैं। उन्हीं का यह उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त इसके पौराणिक प्रसङ्ग भी उपलब्ध हैं। वहाँ लिखा हुआ है कि,

"पृथिवी का प्रथम स्कन्ध 'आवह' है। द्वितीय मेघ और सूर्य के अन्तराल में रहने वाला 'प्रवह' है। सूर्य से ऊपर सोम पर्यन्त 'उद्वह' स्कन्ध है।

केषां चात्र निवासः ? इत्याह

इतश्च क्रतुहोत्रादि कृत्वा ज्ञानविवर्जिताः ।
स्वर्यान्ति तत्क्षये लोकं मानुष्यं पुण्यशेषतः ॥ १४८ ॥

एतत्संकलयन्नन्यदवतारयति

एवं भूमेर्ध्रुवान्तं स्याल्लक्षाणि दश पञ्च च ।
द्वे कोटी पञ्च चाशीतिर्लक्षाणि स्वर्गतो महान् ॥ १४९ ॥
मार्कण्डाद्या ऋषिमुनिसिद्धास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
निर्वर्तिताधिकाराश्च देवा महति संस्थिताः ॥ १५० ॥
महान्तराले तत्रान्ये त्वधिकारभुजो जनाः ।
अष्टौ कोट्यो महल्लोकाज्जनोऽत्र कपिलादयः ॥ १५१ ॥

सोम से ऊपर नक्षत्र मण्डल तक चतुर्थ 'संवह' स्कन्ध है। नक्षत्रों से ऊपर ग्रहमण्डल तक विवह' और ग्रहों से शप्तर्षिमण्डल तक विवह के बाद 'परावह' स्कन्ध आता है। सप्तर्षियों से लेकर ध्रुव तक 'परिवह' नामक वात स्कन्ध है। इस प्रकार उनकी संख्या सात निश्चित है।" ॥ १४७ ॥

इन लोकों में वे लोग निवास करते हैं, जिनके पास जीवन्मुक्ति परक स्वात्मज्ञान प्रकाश का अभाव होता है। यज्ञ आदि कर्मों द्वारा कुछ पुण्य अर्जित कर लेते हैं। पुण्य के प्रभाव से इन लोकों में निवास करते हैं। पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः मर्त्यलोक की कर्मभूमि में उन्हें विवश आना ही पड़ता है। 'क्षीणे-पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' यह परम गुरु श्री कृष्ण का उद्घोष है ॥ १४८ ॥

इस प्रकार भूमि से ध्रुव पर्यन्त १५ लाख योजन का अन्तराल है। स्वर्लोक से दो करोड़ पच्चीस लाख योजन महर्लोक है। मार्कण्डेय आदि सिद्ध मुनि महर्षि वहाँ निवास करते हैं। ऐसे देव जो देवलोकों के अधिकार से किसी कारण वंचित हो जाते हैं जैसे सङ्क्रदन आदि वे भी इसमें रहते हैं ॥ १५० ॥

महर्लोक से जनलोक आठ करोड़ यौजन दूर है। इसमें विभिन्न प्रकार के कपिल जैसे पुण्यात्मा प्रवास करते हैं। एकपाद, जह्नु आसुरि, भौतिक और वाड्वलि आदि भी इसी लोक में ही रहते हैं। साध्य नामक पवित्रात्मा इसी में रहते हैं।

तिष्ठन्ति साध्यास्तत्रैव बहवः सुखभागिनः ।
जनात्तपोर्ककोट्योऽत्र सनकाद्या महाधियः ॥ १५२ ॥
प्रजापतीनां तत्राधिकारो ब्रह्मात्मजन्मनाम् ।
ब्रह्मालयस्तु तपसः सत्यः षोडश कोटयः ॥ १५३ ॥
तत्र स्थितः स स्वयम्भूर्विश्वमाविष्करोत्यदः ।
सत्ये वेदास्तथा चान्ये कर्मध्यानेन भाविताः ॥ १५४ ॥
आनन्दनिष्ठास्तत्रोर्ध्वकोटिवैरिञ्चमासनम् ।
ब्रह्मासनात्कोटियुग्मं पुरं विष्णोर्निरूपितम् ॥ १५५ ॥
ध्यानपूजाजपैर्विष्णोर्भक्ता गच्छन्ति तत्पदम् ।
वैष्णवात्सप्तकोटीभिर्भुवनं परमेशितुः ॥ १५६ ॥
रुद्रस्य सृष्टिसंहारकर्तुर्ब्रह्माण्डवर्त्मनि ।

तत्र भुवर्लोको लक्षेण, ततः सोमस्ततोऽपि नक्षत्रमण्डलम्,—इति त्रीणि लक्षाणि । ततो भौमात्सौरान्तं प्रत्येकं लक्षद्वयेन दश, ततः सप्तर्षयो लक्षेण, ततो ध्रुवः,—इति पञ्चदश भूमेर्ध्रुवान्तं भवेत् । 'स्वर्गत' इति स्वर्लोकादारभ्येत्यर्थः । 'देवा' इति तत्तल्लोकवासिनः सङ्क्रन्दनाद्याः,

'ये निवृत्ताधिकारास्तु लोकत्रयनिवासिनः ।
सङ्क्रन्दनादयस्तेषां महल्लोके लयः स्मृतः ॥'

यदभिप्रायेणैव पूर्वं

जनलोक से १२ करोड़ योजन दूर तपोलोक है । यहाँ सनक सनन्दन सनत्कुमार सनन्द, शंकु और त्रिशङ्कु आदि आगमिक निवास करते हैं। प्रजापति ब्रह्मा के मानस पुत्र भो यहो हैं ॥ १५१–१५३ ॥

तपोलोक से सत्यलोक १६ करोड़ योजन दूर है । वहीं जगत्स्रष्टा ब्रह्मा रहते हुए विश्व के सर्जन में संलग्न हैं। इसी लोक में चारों वेद विराजमान हैं । शिक्षाकल्प व्याकरण का आदि उत्स वही है । उपनिषद् आरण्यक मीमांसा स्वाहा, वषट्, गायत्री आदि शक्तियों की यह उल्लास भूमि है ॥ १५४ ॥

'कूष्माण्डहाटकाद्यास्तु क्रीडन्ति महदाह्वये ।'

इत्याद्युक्तम् । 'अन्य' इति तत्तद्यज्ञानुष्ठातारः कपिलादय इति । तदुक्तम्

'एकपादोऽथ जह्नुश्च कपिलश्चासुरिस्तथा ।
भौतिको वाड्वलिश्चैव जनलोकनिवासिनः ॥'

(स्व० १०।५०८) इति ।

तथा

'साध्या नाम सुरास्तस्मिन्वसन्ति सुखिनः सदा ।' इति ॥

अर्ककोट्यो द्वादश । ब्रह्मात्मजन्मनामित्यर्थान्मानसानाम् । तदुक्तम्

'सनकश्च सनन्दश्च सनत्कुमारः सनन्दनः ।
शंकुश्चैव त्रिशङ्कुश्च तपोलोकनिवासिनः ॥'

(स्व० १०।५२०) इति ।

तथा

'प्रजानां पतयस्तत्र मानसा ब्रह्मण··· ···।' इति ।

'आविष्करोति' इति सृजतीत्यर्थः । 'अन्ये इति शिक्षाकल्पादयः । 'आसनम्' इति आस्यतेऽस्मिन्निति भुवनम् । तदुक्तम्

कर्मज्ञानेन संसिद्धा अद्वैतपरिनिष्ठिताः ।
आनन्दपदसंप्राप्ता आनन्दपदमागताः ॥
ऋग्वेदोमूर्तिमांस्तस्मिन्निन्द्रनीलसमद्युतिः ।'

(स्व० १०।५२५) इति ।

'उत्तरेण यजुर्वेदः शुद्धस्फटिकसंन्निभः ।'

(स्व० १०।५२६) इति ।

'स्थितः पश्चिमदिग्भागे सामवेदः सनातनः ।'

(स्व० १०।५२७) इति ।

सत्य लोक से १ एक करोड़ योजन पर ब्रह्मासन नामक दिव्य स्थान है । उससे दो करोड़ योजन ऊपर विष्णु आसन है । विष्णु की भक्ति और ध्यान आदि साधनों से भक्त वहाँ पहुँचते हैं । विष्णु संस्थान से सात करोड़ योजन परमेश रुद्र का भुवन है । ये सृष्टि संहारकारी परम देव हैं । ब्रह्माण्डवर्त्म का यह अद्भुत लोक है । भूलोक से ध्रुव की दूरी की गणना १५ लाख योजन मानने

'अथर्वाञ्जनवच्छ्यामः स्थितो दक्षिणतस्तथा ।'
(स्व० १०।५२९) इति ।

'षडङ्गानीतिहासाश्च पुराणान्यखिलानि तु ।
वेदोपनिषदश्चैव मीमांसारण्यकं तथा ॥
स्वाहाकारवषट्कारौ रहस्यानि तथैव च ।
गायत्री च स्थिता यत्र यत्र देवश्चतुर्मुखः ॥'
(स्व० १०।५३०) इति ।

'कोटियोजनमानेन सत्यलोकोर्ध्वतः प्रिये ।
ब्रह्मासनमिति ख्यातम् ··· ···· ···· ··· ·······॥'
(स्व० १०।५३३) इति च ।

'तत्पदम्' इति विष्णुपदम् । वैष्णवादिति, तदूर्ध्वमित्यर्थः ॥१५६॥

केषां चात्र निवासः ? इत्याह

दीक्षाज्ञानविहीना ये लिङ्गाराधनतत्पराः ॥ १५७ ॥
ते यान्त्यण्डान्तरे रौद्रं पुरं नाधः कदाचन ।

लिङ्गाराधनतत्परा इति, शिवधर्मोत्तरादिप्रक्रियया ॥१५७॥

के लिये कोई योजन सम्बन्धी नयी परिभाषा बनानी पड़ेगी। स्वर्लोक से रुद्र तक की कुल दूरी ४८ करोड़ ८५ लाख योजन निर्धारित की गयी है। मूल श्लोकों और स्व० तन्त्र के उद्धरणों को दूरी की तालिका निम्नवत् है—

१—स्वर्लोक से	मह लोक	२ करोड़	८५ लाख	योजन
२—मह से	जन ,,	८ ,,	०० ,,	,,
३—जन से	तप ,,	१२ ,,	०० ,,	,,
४—तप से	सत्य ,,	१६ ,,	०० ,,	,,
५—सत्य से	ब्रह्मसन ,,	१ ,,	०० ,,	,,
६—ब्रह्मासन	विष्णुलोक ,,	२ ,,	०० ,,	,,
७—विष्णु लोक से	रुद्र लोक	७ ,,	०० ,,	,,

कुल योग ४८ करोड़ ८५ लाख योजन आधुनिक विज्ञान इस दूरी तक पहुँचने में असमर्थ है। श्लोक १५३ में ब्रह्मात्मनाम् का उल्लेख किया गया है। उसका भाव स्व० तन्त्र २०।५२० के उद्धरण से स्पस्ट किया गया है। दीक्षा

ननु यद्येवं तत्किमेते तत्रैवासते किमुत ततोऽप्यूर्ध्वं यान्ति ? इत्याशङ्क्याह

तत्स्थाः सर्वे शिवं यान्ति रुद्राः श्रीकण्ठदीक्षिताः ॥ १५८ ॥
अधिकारक्षये साकं रुद्रकन्यागणेन ते ।

शिवमिति परं, 'यान्ति' इति तदैकात्म्यापत्त्या मुच्यन्ते इत्यर्थः ॥

नन्वेवं माहात्म्यवत्किमेतदेव भुवनमस्ति उत भुवनान्तराण्यपि ? इत्याह

पुरं पुरं च रुद्रोर्ध्वमुत्तरोत्तरवृद्धितः ॥ १५९ ॥

तदाह

ब्रह्माण्डाधश्च रुद्रोर्ध्वं दण्डपाणेः पुरं स च ।
शिवेच्छया दृणात्यण्डं मोक्षमार्गं करोति च ॥ १६० ॥
शर्वरुद्रो भीमभवावुग्रो देवो महानथ ।
ईशान इति भूर्लोकात् सप्त लोकेश्वराः शिवाः ॥ १६१ ॥

'ब्रह्माण्ड' इति तत्कर्परिकाध इत्यर्थः । 'दृणाति' इति खण्डयति विगतावरणं करोतीत्यर्थः । 'देवो महान्' इति महादेवः । भूर्लोकादित्यारभ्य, तेन भूर्लोके शर्वोऽधिपतिर्यावत्सत्यलोके ईशानः,—इति क्रमः । पशुपतिस्तु रुद्रलोकेऽधिपतिरित्यर्थसिद्धम् ॥१६१॥

ज्ञान से रहित लिङ्ग आदि की आराधना में निरत लोग इस रुद्रलोक में जाते हैं । वे इससे नीचे नहीं जा सकते ॥ १५५–१५७ ॥

ये सभी लोग श्रीकण्ठ से दीक्षा प्राप्त करते हैं । वहाँ के अधिकार की पूर्ति के उपरान्त रुद्र कन्याओं के साथ उत्तरोत्तर ऊर्ध्व रुद्रलोकों में पदार्पण करते हैं । रुद्र लोक के ऊपर और ब्रह्माण्ड के नीचे दण्डपाणि शिव का स्थान हैं । ये शिवेच्छा पूर्वक अण्ड-आवरण को तोड डालते हैं और मोक्ष मार्ग प्रशस्त कर देते हैं ।

रुद्रलोकों के अधिपति पशुपति भगवान शिव हैं । शर्व, रुद्र, भीम, भव, उग्र, महादेव और ईशान ये सात भूलोक से लेकर सत्य तक के लोकेश्वर-शिव हैं । भूलोक के शर्व, भुवः के रुद्र, स्वः के भीम, मह के भव, जन के उग्र, तप के महादेव और सत्य के ईशान यह लोकेश्वर शिवों का क्रम है ॥१५८–१६१ ॥

अत्र च लोकानां परापरत्वमप्यस्तीत्याह

स्थूलैर्विशेषैरारब्धाः सप्त लोकाः परे पुनः ।
सूक्ष्मैरिति गुरुश्चैव रुरौ सम्यङ्न्यरूपयत् ॥ १६२ ॥

विशेषैरिति भूतैः, सूक्ष्मैरिति अविशेषैस्तन्मात्रैः तदाहुः

'तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषा ··· ··· ····· ···· ····· ···· — ॥

(सां० ३८ का०)

किमत्र प्रमाणम्,—इत्याशङ्क्योक्तम्

'इति गुरुश्चैव रुरौ सम्यङ्न्यरूपयत्' इति ॥ १६२ ॥

तदाह

ये ब्रह्मणादिसर्गे स्वशरीरान्निर्मिताः प्रभूताख्याः ।
स्थूलाः पञ्च विशेषाः सप्तामी तन्मया लोकाः ॥ १६३ ॥
परतो लिङ्गाधारैः सूक्ष्मैस्तन्मात्रजैर्महाभूतैः ।
लोकानामावरणैर्विष्टभ्य परस्परेण गन्धाद्यैः ॥ १६४ ॥

लिङ्गाधारैः शरीराश्रयैः, अत एव लोकावरणे कारणभूतैरित्यर्थः । 'विष्टभ्य परस्परेण' इति सामान्यविशेषरूपतया परस्परावष्टम्भेन अवस्थितैरित्यर्थः ॥ १६४ ॥

रुरु आगम की उक्ति का अपने शब्दों में उल्लेख कर रहे हैं कि, विशेष लोकों की स्थिति के अनुसार ही ये सातों लोक हैं। सांख्य कारिका ३८ में भी लिखा है कि, अविशेष तन्मात्राओं से विशेष पञ्च महाभूत उत्पन्न हैं॥ १६२ ॥

आदि सर्ग में ब्रह्मा ने अपने शरीर से प्रभूत नामक सृष्टि प्रतीक उत्पन्न किये। वे तन्मात्राओं के दो तामस-तैजस अविशेष और विशेष महाभूत ये ७ प्रकार के सर्जन तत्त्व हैं। सप्तलोक इन्हीं सप्त गुणों से निर्मित हैं और तन्मात्र तथा पञ्चमहाभूतमय हैं। सृष्टि शरीराश्रयी है। यह स्थूलता की विवशता है। सूक्ष्म अवस्था में कारणरूप और स्थूल अवस्था में कार्य रूप तत्त्व होते हैं। सूक्ष्म तन्मात्राओं से स्थूल पञ्चमहाभूत जब निष्पन्न होते हैं तो औपनिषद सिद्धान्त के

एतदेव संकलयति

कालाग्नेर्दण्डपाण्यन्तमष्टानवतिकोटयः ।
अत ऊर्ध्वं कटाहोऽण्डे स घनः कोटियोजनम् ॥ १६५ ॥
पञ्चाशत्कोटयश्चोर्ध्वं भूपृष्ठादधरं तथा ।

तत्र अधस्ताद् भूकटाहान्तं पञ्चाशत्कोटयः सङ्कलिताः, ऊर्ध्वं तु भूपृष्ठाद्-ध्रुवान्तं पञ्चदश लक्षाणि, महान् सपञ्चाशीतिलक्षे द्वे कोटी, जनोऽष्टौ, तपो द्वादश, सत्यः षोडश, ब्राह्मं भुवनमेकं, वैष्णवं द्वे, रौद्रं सप्त, कटाह एकः,—इत्येवं पञ्चाशत्कोटयः ॥ १६५ ॥

अनुसार त्रिवृत्करण या पञ्चीकरण प्रक्रिया से सृष्टि होती है। तन्त्र व्यवस्था भी यह स्वीकार करती है कि यह विशेष और अविशेष परस्पर अवष्टम्भ पूर्वक अवस्थित होते हैं। कहीं सामान्य और कहीं विशेष अवस्थान से लोकावतरण में ये कारण बनते हैं ॥ १६३–१६४ ॥

निष्कर्षतः भू पृष्ठ से ऊपर ध्रुव पर्यन्त १५ लाख योजन, दो करोड़ पचासी लाख योजन महर्लोक, आठ करोड़ जन, बारह करोड़ तप, १६ करोड़ सत्य, ब्राह्म भुवन एक, वैष्णव भुवन, २ रौद्र सात और कटाह १ करोड़ योजन का विस्तार ५०००००००० पचास करोड़ के परिवेश में उल्लसित है। स्व० तन्त्र पटल १० का० ६१७ से ६२० तक में इसका पूर्ण उल्लेख है। इस तरह कटाह दो भागों में विभक्त होता है। आधे कटाह में भू पृष्ठ तक ५० करोड़ और ऊर्ध्व कटाह में पुनः ५० करोड़ मिलाकर सारा ऊपर और नीचे का पार्थिव विस्तार १०० करोड़ योजन का है। कालाग्नि रुद्र से दण्डपाणि भैरव स्व० १०।६१७-१८ का कुल क्षेत्र इसी के अन्तराल में आता है। यह ५० करोड़ योजन का है। इस अन्तराल में भूः भुवः स्वः, महः जनः तपः और सत्यं ये सात लोक आते हैं। इसका संकलन भूसे ध्रुव तक १५ लाख + मह २८५ लाख + जन ८०० लाख + तप १२०० लाख + सत्य १६०० लाख = १९ करोड़ योजन योग होता है। ब्राह्म, वैष्णव, रौद्र और कटाह की दूरी मिलाने पर ५० करोड़ योजन और कुल मिलाकर यह सौ करोड़ विस्तृत क्षेत्र 'भूः' तत्त्व या पार्थिव तत्त्व से व्याप्त माना जाता है।

एतदेव उपसंहरति

एवं कोटिशतं भूः स्यात् सौवर्णस्तण्डुलस्ततः ॥ १६६ ॥
शतरुद्रावधिर्हुंफट् भेदयेत्तत्तु दुःशमम् ।

तण्डुल इति वर्तुलाकारत्वात् स एवेत्यर्थः। 'तत्' इति विस्तीर्णः, अत एव शतरुद्रावधिरित्युक्तम्। दुःशममिति, वज्रसाराधिकसारत्वात् देवैरपि दुर्भेद्यमित्यर्थः। तदुक्तम्

'एवं कोटिशतं ज्ञेयं पार्थिवं तत्त्वमुच्यते ।
शतरुद्रावधि ज्ञेयं सौवर्णं परिवर्तुलम् ॥
वज्रसाराधिकसारं दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
हुंफट्कारप्रयोगेण भेदयेत्तु वरानने ॥'

(स्व० १०।६२१) इति ॥१६६॥

ननु शतरुद्राः कुत्रावस्थिता, यदवधिकत्वमपि अस्योच्यते,—इत्याशङ्क्याह

प्रतिदिक्कं दश दशेत्येवं रुद्रशतं बहिः ॥ १६७ ॥
ब्रह्माण्डाधारकं तच्च स्वभावेनैव सर्वतः ।

यदुक्तम्

'दश दश क्रमेणैव दशदिक्षु समन्ततः ।
पूर्वादिक्रमयोगेन कथयाम्यनुपूर्वशः ॥

इसके बाद शतरुद्रों के परिवेश के विस्तार को सौवर्ण परिमण्डल मानते हैं। इस सौवर्ण परिवेश का आकार तण्डुल के समान गोलाई और चौड़ाई वाला है। इन स्थानों का कठिन-स्थूल भूतत्त्व में प्रवेश दुर्लभ है। इसका सूक्ष्म रूप शरीर में पैर के अंगूठे से हृदय (नाभि) तक माना जाता है। इसमें प्रवेश का बीज मन्त्र 'हुं फट्' है। योगी लोग इसी बीज मन्त्र के प्रभाव से इस शरीराण्ड में प्रवेश पा लेते हैं ॥ १६५-१६६ ॥

शतरुद्र प्रतिदिशा में दश-दश की संख्या में हैं। इसीलिये १० × १० = १०० रुद्र शतरुद्र कहलाते हैं। उनके नाम दिशाओं के क्रम से इस प्रकार हैं—

कपालोशो ह्यजो बुध्नो वज्रदेहः प्रमर्दनः।
विभूतिरव्ययः शास्ता पिनाको त्रिदशाधिप ॥'
(स्व० १०।६२४) इति ।

'अग्निरुद्रो हुताशी च पिङ्गलः खादको हरः।
ज्वलनो दहनो बभ्रुर्भस्मान्तकक्षयान्तकौ ॥'
(स्व० १०।६२६) इति ।

'याम्यो मृत्युर्हरो धाता विधाता कर्तृसंज्ञकः।
संयोक्ता च वियोक्ता च धर्मो धर्मपतिस्तथा ॥'
(स्व० १०।६२८) इति ।

'नैऋंतो दारुणो हन्ता क्रूरदृष्टिर्भयानकः।
ऊर्ध्वकेशो विरूपाक्षो धूम्रो लोहितदंष्ट्रकौ ॥'
(स्व० १०।६३०) इति ।

'बलो ह्यतिबलश्चैव पाशहस्तो महाबलः।
श्वेतोऽथ जयभद्रश्च दीर्घबाहुर्जनान्तकः ॥
मेघनादी सुनादी च ... ... ।'
(स्व० १०।६३२) इति ।

१—पूर्व—कपालीश[1], अज[2], बुध्न[3], वज्रदेह[4], प्रमर्दन[5], विभूति[6], अव्यय[7], शास्ता[8], ९—पिनाकी और १०—त्रिदशाधिप

अग्नि २—अग्निरुद्र, हुताशी, पिङ्गल, खादक, हर, ज्वलन, दहन, बभ्रु, भस्मान्तक और क्षयान्तक

दक्षिण ३—याम्य, मृत्यु, हर, धाता, विधाता, कर्त्ता, संयोक्ता, वियोक्ता, धर्म और धर्मपति

नैऋत्य ४—नैऋत, दारुण, हन्ता, क्रूरदृष्टि, भयानक, ऊर्ध्वकेश, विरूपाक्ष धूम्र, लोहित, और दंष्ट्रक ।

पश्चिम ५—बल, अतिबल, पाशहस्त, महाबल, श्वेत, जयभद्र, दीर्घबाहु, जनान्तक, मेघनादी और सुनादी

शीघ्रो लघुर्वायुवेगः सूक्ष्मस्तीक्ष्णो भयानकः ।
पञ्चान्तकः पञ्चशिखी कपर्दी मेघवाहनः ॥'

(स्व० १०।६३४) इति ।

'निधीशो रूपवान्धन्यः सौम्यदेहो जटाधरः ।
लक्ष्मीरत्नधरो कामी प्रसादश्च प्रभासकः ॥'

(स्व० १०।६३६) इति ।

'विद्याधिपोऽथ सर्वज्ञो ज्ञानदृग्वेदपारगः ।
शर्वः सुरेशो ज्येष्ठश्च भूतपालो बलिः प्रियः ॥'

(स्व० १०।६३८) इति ।

'वृषो वृषधरोऽनन्तोऽक्रोधनो मारुताशनः ।
ग्रसनो डम्बरेशो च फणीन्द्रो वज्रदंष्ट्रकः ॥'

(स्व० १०।६४०) इति ।

'शम्भुर्विभुर्गणाध्यक्षस्त्र्यक्षस्तु त्रिदशेश्वरः ।
संवाहश्च विवाहश्च नभो लिप्सुस्त्रिलोचनः ॥'

(स्व० १०।६४२) इति ।

'शतरुद्राः इति ख्याता ब्रह्माण्डं व्याप्य संस्थिताः ।'

(स्व० १०।६४४) इति ।

'स्वप्रभावेण' इति स्ववीर्यमानात्म्यादित्यर्थः ॥

वायव्य ६—शीघ्र, लघु, वायुवेग, सूक्ष्म, तीक्ष्ण, भयानक, पञ्चान्तक, पञ्चशिखी, कपर्दी और मेघवाहन

उत्तर ७—निधीश, रूपवान्, धन्य, सौम्यदेह, जटाधर, लक्ष्मो, रत्नधर, कामी, प्रसाद और प्रभासक

ईशान ८—विद्यापति, सर्वज्ञ, ज्ञानदृक्, वेदपारग, शर्व, सुरेश, ज्येष्ठ, भूतपाल, बलि और प्रिय

ऊर्ध्व ९—वृष, वृषधर, अनन्त, अक्रोधन, मारुताशन, ग्रसन, डम्बरेश, फणीन्द्र और वज्रदंष्ट्रक

अधः १०—शम्भु, विभु, गणाध्यक्ष, अक्ष, त्रिदशेश्वर, संवाह, विवाह, नभ, लिप्सु और त्रिलोचन। स्वच्छन्द तन्त्र १०।६२३ से ६४४ तक इनका वर्णन किया गया है ॥ १६७ ॥

ननु अण्डं नाम किमुच्यते यद्यपि ब्रह्मसम्बन्धि स्यात् ? इत्याशङ्क्याह तद्ग्रन्थमेव पठति

अण्डस्वरूप गुरुभिश्चोक्तं श्रीरौरवादिषु ॥ १६८ ॥
व्यक्तेरभिमुखीभूतः प्रच्युतः शक्तिरूपतः ।
आवापवाननिर्भक्तो वस्तुपिण्डोऽण्ड उच्यते ॥ १६९ ॥
तमोलेशानुविद्धस्य कपालं सत्त्वमुत्तरम् ।
रजोऽनुविद्धं निर्मृष्टं सत्त्वमस्याधरं तमः ॥ १७० ॥

तथाद्यं श्लोकं विषमत्वात्स्वयमेव व्याचष्टे

वस्तुपिण्ड इति प्रोक्तं शिवशक्तिसमूहभाक् ।
अण्डः स्यादिति तद्व्यक्तौ संमुखीभाव उच्यते ॥ १७१ ॥
तथापि शिवमग्नानां शक्तीनामण्डता भवेत् ।
तदर्थं वाक्यमपरं ता हि न च्युतशक्तितः ॥ १७२ ॥
तन्वक्षादौ मा प्रसाङ्क्षीदण्डतेति पदान्तरम् ।
तन्वक्षादिषु नैवास्ते कस्याप्यावापनं यतः ॥ १७३ ॥
तन्वक्षसमुदायत्वे कथमेकत्वमित्यतः ।
अनिर्भक्त इति प्रोक्तं साजात्यपरिदर्शकम् ॥ १७४ ॥

अण्डो हि नाम 'वस्तूनां' तन्वक्षादीनां 'पिण्डः' समुदाय उच्यते, तदस्य लक्षणमित्यर्थः । एवमुक्ते हि शिवस्यापि

अण्ड के स्वरूप के सन्दर्भ में पहले अण्ड की परिभाषा का उल्लेख कर रहे हैं—रौरव आदि शास्त्रों में 'अण्ड' की परिभाषा गुरुजनों द्वारा की गयी है। वस्तुतः अण्ड 'वस्तुपिण्ड' को कहते हैं। व्यक्ति के समक्ष स्थित रहना उसकी पहली शर्त्त है। शक्ति रूप से यह प्रच्युत अंश होता है। आवाप युक्त और एक अखण्ड अंश को 'अण्ड' कहते हैं। वस्तु अपना शरीर भी होता है। शरीर के अंग प्रत्यङ्ग, अष्ट धातुओं के परमाणु, जल और इन्द्रियाँ यह सभी मिलकर एक शरीर रूपी वस्तु पिण्ड का निर्माण करती हैं। यह शरीर कटाह भी वस्तु पिण्ड

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं.................. ।'

इत्याद्युक्त्या तन्वादिशक्तिसमुदायभाक्त्वात् अण्डत्वं प्रसज्यते,—इति तस्याण्डस्य व्यक्तौ संमुखीभाव इदंप्रथमतया बहिरवभासो न तु पूर्वमपि,—इति 'व्यक्तेरभिमुखीभूत' इत्यनेनोच्यते येनैवमतिव्याप्तिर्न स्यात्, स हि 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इति न्यायात् सर्वदैवावभासमानः । एवमपि शक्तिमदैकात्म्यभाजः शक्तिसमूहस्याण्डत्वं प्रसक्तं भवेत् । तासां हि शक्तीनां तत्तदर्थात्मना कादाचित्क एव बहिरभिव्यक्तौ संमुखीभावः, तन्निवृत्त्यर्थं वाक्यान्तरस्योपादानं 'प्रच्युतः शक्तिरूपत' इति । स हि व्यक्त्यभिमुखीभूतत्वादेव शक्त्यात्मनः सूक्ष्माद्रूपात् 'प्रच्युतः' स्थूलतया व्यक्तेरात्मना बहिः प्रथित इत्यर्थः। शक्तीनां तु व्यक्तावभिमुखीभावेऽपि न शक्तिरूपः प्रच्यावः स्वरूपविप्रलोपप्रसङ्गात् । एवमपि तन्वक्षादावण्डता मा प्रसक्ता भूदिति पदान्तरमुपात्तम् । 'आवापवान्' इति । आवापो वस्त्वन्तरप्रक्षेपो विद्यते यस्य स तथा, चतुर्दशविधस्य भूतजातस्य तासु तासु योनिष्वावापनात्; तन्वादौ पुनरेतन्नास्ति अन्याश्रितत्वात्, तथात्वे चान्याश्रय-

---

का एक ईश्वर निर्मित कल्पनातीत प्रकल्पन है। पर यह 'अण्ड' नहीं है। क्योंकि इसमें आवाप नहीं है। यह पराश्रित है। इसमें वस्त्वन्तर प्रक्षेप नहीं होता है। इसमें सत्त्व, रजस् और तमस् का व्यापक प्रभाव है। शुद्ध सत्त्व भी तमोलेशानुविद्ध होकर ही यहाँ आवारक बनने का काम करता है। रजोगुण से अनुविद्ध सत्त्व राजस-प्रकृति का प्रवर्त्तन करता है। श्लोक १७० में निर्दिष्ट अधर कपाल सत्त्वशून्य (निर्मृष्ट) रहता है। यह तामस प्रभाव को अण्ड में व्याप्त करता है।

इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने की बात है कि 'यह जगत् शिव की शक्ति का ही उल्लास है' यह शास्त्र का कथन है। परिणामतः यह शरीर, ये इन्द्रियाँ, यह प्रकृति का प्रकाण्ड प्रकाशन, यह २६ और ३६ तत्त्वों की राशि-राशि 'अण्ड' की परिभाषा का स्पर्श करती ही हैं। अभिव्यक्ति के अभिमुख शक्ति का इदमात्मक प्रस्फुटन, जो चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय बनता है--यही अण्ड की प्रथम परिभाषा के लक्षण को लक्षित करता है। श्लोक का 'व्यक्तेरभिमुखीभूतः' शब्द यही व्यक्त करता है। सूक्ष्म शक्ति का बाह्य उल्लास ही शक्तिमान् और शक्ति के सामरस्य का प्रच्याव है। इस अवस्था में भी शिव शक्ति का अपना रूप स्वातन्त्र्य के कारण सुरक्षित और अविकृत रहता है। उसमें अण्डत्व की परिभाषा का प्रवेश नहीं होता। शक्ति का बाह्य उल्लास यद्यपि असंख्य है, पर हम जब इसे अण्ड के रूप में देखते हैं तो यह भेद-प्रभेद का बाहुल्य अस्त हो जाता है और एक

त्वानुपपत्तेः। ननु एवमपि तन्वादीनामानैक्यात् समुदायरूपतया कथमस्यैकत्वेन निर्देशः स्यात्,—इत्युक्तम् 'अनिर्भक्त' इति, तद्विभागाप्रतिपत्तेरेकत्वानुप्राणकं साजात्यमेव परिदर्शयति येनास्य नगरादिज्ञानवदेकत्वमेव न्याय्यं स्यात् ॥१७४॥

ननु यद्येवं तत्प्रतितत्त्वमण्डत्वं स्यात्,—इत्येतद्व्यावर्तनाय वस्तुपण्डि-पदस्याप्युपादानम्, इत्याह

विनापि वस्तुपिण्डाख्यपदेनैकैकशो भवेत् ।
तत्त्वेष्वण्डस्वभावत्वं नन्वेवमपि किं न तत् ॥ १७५ ॥
गुणतन्मात्रभूतौघमये तत्त्वे प्रसज्यते ।
उच्यते वस्तुशब्देन तन्वक्षभुवनात्मकम् ॥ १७६ ॥
रूपमुक्तं यतस्तेन तत्समूहोऽण्ड उच्यते ।

वस्तुशब्देन हि तन्वादिवत् तत्त्वान्यपि उच्यन्ते, तत्तेषामपि पिण्डोऽण्डः,-इति तत्कथं स्यात्; एवं तर्हि पृथ्वीतत्त्वस्यापि एककस्याण्डत्वमनभिधानीयम्, अभिधाने वा प्रत्येकमपि तथात्वम्,—इति व्यर्थमेव वस्तुपिण्डपदोपादानम्। सत्यं, किन्तु पृथ्वीत्त्वं स्थौल्यस्य परा कोटिः, इति तत्र तत्त्वान्तराण्यपि अन्तर-वस्थितानि प्रत्यक्षमभिलक्ष्यन्ते,—इत्येकत्वेऽपि अस्य अनेकतत्त्वमयत्वमिवास्ति इत्युक्तम्। यदाहुः 'ब्रह्माण्डं च पञ्चभूतात्मकम्' इति। एवं तर्हि सर्वत्र सर्वमस्ति,—

अनिर्भक्त जगत् विमर्श का विषय बनता है। जैसे असंख्य घरों के समुदाय को पृथक्-पृथक् न ध्यान देकर नगर का ऐक्य तथा चित्र के अनन्त रंग रूपों के पार्थक्य में भावित न होकर एक चित्र का अनुदर्शन करते हैं। उसी तरह यह जगत् भी इस भूमि पर अनिर्भक्त वस्तु पिण्ड रह जाता है। इसीलिये इसे 'अण्ड' कहते हैं ॥ १६८-१७४ ॥

ऊपर यह कहा गया है कि शरीर रूप वस्तु पिण्ड अण्ड नहीं है। यह वस्तु पिण्ड शब्द बड़ा विवादास्पद है। यह शरीर और सारे तत्त्व वस्तु हैं। शरीर के पराश्रित होने के कारण इसके अण्डत्त्व का निषेध है पर पृथ्वी आदि तत्त्व तो अनादि हैं। इनमें अण्डत्व की परिभाषा चरितार्थ होती है। पृथ्वी तत्त्व में अन्य तत्त्व भी मिले हुए हैं। इसलिये इस एक में भी अनेकता विद्यमान है यह मानना पड़ता है। पञ्चभूतात्मक ब्रह्माण्ड और सर्वत्र सर्व की बात तो सभी मानते हैं।

इति पृथ्वीतत्त्वस्यापि तत्त्वान्तरेषु सद्भावः, इति पुनरपि तदवस्थ एव स दोषः। सत्यं, तथापि पृथ्व्यादीनामूर्ध्वतत्त्वान्तरेषु सूक्ष्मेण रूपेणावस्थितिः, अत्र तु तेषां स्थूलेनेति शेषः। नन्वेवमपि अनेकानि वस्तूनि संभवन्ति,—इति वस्तुशब्देन सत्त्वादयः शब्दादयो वा गुणा अपि उच्यन्ते,—इति तत्पिडात्मनि प्रकृत्यादौ तत्त्वेऽपि अण्डत्वं स्यात्,—इत्याशङ्कां दर्शयति 'नन्वेवमित्यादिना'। गुणेति प्रकृतिः। इदमत्र प्रतिसमाधानं यद्वस्तुशब्दस्य विशेषेण धर्मरूपे प्रतिनियते तन्वादावेव वाचकत्वमत्र विवक्षितं तु सामान्येन,—इति तत्समुदाय एव न तु सत्त्वादिसमुदायोऽपि अण्ड उच्यते इति ॥ १७६ ॥

अत्र च यथासंभवमाशङ्का निराकृतैव,—इत्याह

भवेच्च तत्समूहत्वं पत्युर्विश्ववपुर्भृतः ॥ १७७ ॥
तदर्थं भेदकान्यन्यान्युपात्तानीति दर्शितम्।

पत्युश्च तत्समूहत्वसद्भावे विश्ववपुर्धारित्वं हेतुः। 'भेदकानि' इति, व्यावर्तकानि ॥ १७७ ॥

अन्ये पुनरेतदन्यथा व्याचख्युरित्याह

तावन्मात्रास्ववस्थासु मायाधीनेऽध्वमण्डले ॥ १७८ ॥
मा भूदण्डत्वमित्याहुरन्ये भेदकयोजनम्।

वस्तु पिण्ड के विश्लेषण में एक-एक तत्त्वों में अण्ड को परिभाषा चरितार्थ प्रतीत होती है पर समस्त गुणों में, तन्मात्राओं में महाभूतों में वस्तु शब्द के प्रयोग से वस्तुधर्मता का सामान्य अर्थ ही गृहीत करना चाहिये। सत्त्वादि के समुदाय में नहीं। इससे यह कहा जा सकता है सत्त्वादि प्रत्येक वस्तु तो हैं, अण्ड नहीं है। उनका समूह ही 'अण्ड' है ॥ १७५-१७६ ॥

विश्वाधिपति शिव विश्व शरीर को धारण करते हैं। उनमें ही यह सारा विसर्ग अधिष्ठित है। समूह उनमें है तो समूहता भी उनमें हो। सारे पदार्थ शैव महाभाव और स्वतन्त्र्य के व्यावर्त्तक हैं। भेदक तनु अक्ष आदि, वस्तु के प्रतीक हैं। संकोच से अपने पूर्ण रूप से पृथक् खण्डित अणुत्व का आलिङ्गन कर चुके हैं। परतन्त्र हैं। अतः अन्य-अन्य पदार्थों से उन पदार्थों की और अपनी अलग पहचान बनाते हैं ॥ १७७ ॥

'तावन्मात्रासु' इति तन्वादिषु । द्वितीयस्तु सुगमत्वात् स्वयं न व्याकृतः,—इति व्याख्यायते--तस्य चाण्डस्य तमोलेशानुविद्धस्य यदुत्तरमुपरितनं कपालं तद्रजोऽनुविद्धं सत्त्वं, गुणान्तरानुवेधेऽपि तत्प्रधानमित्यर्थः । अधरं पुनः कपालं 'निर्मृष्टसत्त्वं' सत्त्वाख्यगुणशून्यं रजोऽनुविद्धं, तमः—संवेदेऽपि तत्प्रधानमेवेत्यर्थः । मध्यं तु रजःप्रधानमित्यर्थसिद्धम् । यदाहुः

'ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालस्तु मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥'

(सां० ५५ का०) इति ॥१७८॥

एवं प्रकरणादण्डस्वरूपं व्याख्याय प्रकृतमेवानुसरति

इत्थमुक्तविरिञ्चाण्डभृतो रुद्राः शतं हि यत् ॥ १७९ ॥
तेषां स्वे पतयो रुद्रा एकादश महार्चिषः ।

यह सारा अध्व मण्डल माया के अधीन है। माया के कारण निर्मित यह भूतसर्ग प्राणियों का आवास है। इसमें शरीर आधार है और इन्द्रिय शक्तियों का आकर्षण है। इसमें सत्त्व रज और तम को प्रवृत्तियाँ एक दूसरे की भेदकता को व्यक्त करती हैं। अण्ड में तमोलेशानुविद्ध कपाल का उपरितन भाग रजोलेशानुविद्ध सत्त्व भाग है। अपनी-अपनी गुण-प्रभावित प्रधानता से ये विभूषित हैं। सां० का ५५ के अनुसार "यह सर्ग मूलतः तमः प्रधान है। ऊर्ध्व भाग सत्त्व प्रधान और मध्य भाग राजस है। यह दशा ब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त ऐसा ही है" ॥ १७८ ॥

उक्त प्रकरण में ब्रह्माण्ड की परिभाषा स्पष्ट की गयी है। इसके धारणकर्त्ता शतरुद्र हैं। दिशाओं के अनुसार इनके दश अधिपति रुद्र हैं। इनका भी एक स्वामी है। इस प्रकार ये ग्यारह अधिपति हैं। स्वच्छन्द तन्त्र १०।६४६ से ६५८ के अनुसार "पूर्वाण्ड का अधिपति श्वेत नामक रुद्र है। आग्नेय का वैद्युत, दक्षिण का महाकाल, नैऋत का विकट, पश्चिम का महावीर्य, वायव्याण्ड का वायुवेग, उत्तराण्ड का सुभद्र, ईशान का विद्याधर, अधस्तात् अण्ड का कालाग्निरुद्र और ऊर्ध्व अण्ड का अधिपति वीरभद्र है। स्व० तन्त्र १०।६३६ के अनुसार यह प्रमाणित है कि, "पूर्व दिशा से दिक्पति रुद्रों का क्रम जिस प्रकार निर्धारित है, उसके अनुसार पूर्वदिशा के दिगधिपति रुद्र श्वेत हैं।"

एकादशेति, प्रतिदिशमेकः सर्वेषां चैकः, इति । तदुक्तम्

'स्थितो वै पूर्वतोऽण्डस्य श्वेत……… ।' (स्व० १०।६४६) इति ।

'आग्नेय्यामग्निसंकाशो वैद्युत…… ।' (स्व० १०।६४८) इति ।

'याम्येऽण्डस्य महाकाल…… …… …… ।' (स्व० १०।६५१) इति ।

'नैरृते विकटो नाम ………… …… ।' (स्व० १०।६५०) इति ।

'पश्चिमेऽण्डस्य यो रुद्रो महावीर्य इति स्मृतः ।'

(स्व० १०।६४९) इति ।

'वायव्यां दिशि चाण्डस्य वायुवेग…… ।' (स्व० १०।६५२) इति ।

'सुभद्रनामोत्तरत …… …… …… ••• ••• ।' (स्व० १०।६५३) इति ।

'विद्याधरो नाम रुद्र ऐशान्याम् ••• ।' (स्व० १०।६५४) इति ।

स्व० तन्त्र १०।६४८ से यह सिद्ध है कि, "आग्नेयी दिक् के दिगधिपति अग्नि के सदृश ज्वालामाल-ललित दाहकत्व पाचकत्व विशिष्ट अग्नि के सदृश वैद्युत रुद्र हैं।"

स्व० तन्त्र १०।६५१ से यह सिद्ध है कि, "याम्य अर्थात् जिस दिशा में यम का अधिष्ठान है, उस दक्षिण दिशा के दिगधिपति महाकाल रुद्र हैं।"

स्व० तन्त्र १०।६५० के अनुसार "निरृति देवता से अधिष्ठित नैरृत्य कोण के दिगधिपति विकट नामक रुद्र हैं।"

स्व० तन्त्र १०।६४९ के अनुसार "पश्चिम अण्ड के जो निर्धारित दिशा के स्वामी हैं, उनका नाम 'महावीर्य' है।"

स्व० तन्त्र १०।६५२ श्लोक से यह स्पष्ट है कि "वायव्य दिशा के स्वामी वायुवेग रुद्र हैं।"

स्व० तन्त्र १०।६५३ श्लोक यह कहता है कि, "उत्तर दिक् के अधिपति 'सुभद्र' नामक रुद्र हैं।"

स्व० तन्त्र १०।६५४ से यह स्पष्ट है कि "ईशान देव से अधिष्ठित ऐशानी दिशा में जो अधिपति रुद्र हैं, उनका नाम 'विद्याधर' है।"

'अधः कालाग्निरुद्रोऽन्य ………… ….. ।' (स्व० १०।६५६) इति ।

शतैः समावृतो रुद्रो ….. ….. ….. …. ।' (स्व० १०।६५७)

इत्युपरिष्टात्

'वीरभद्रो वृतो रुद्रैरुपर्यण्डस्य संस्थितः ।'

'एकादशो महाकायैः … …. ….. ….. ।'

(स्व० १०।६५८) इति च ।

श्रीपूर्वशास्त्रे पुनरियान्विशेषो यत् तत्रैषां प्रतिदशकं तन्मध्यादेव एक एकः पतिः, इति । वीरभद्रस्तु उभयथाप्यविशिष्टः ॥ १७९ ॥

तदाह

अनन्तोऽथ कपाल्यग्निर्यमनैर्ऋतको बलः ॥ १८० ॥

शीघ्रो निधीशो विद्येशः शम्भुः सवीरभद्रकः ।

श्रीवीरभद्रस्य सत्त्वं सर्वाधिपत्यात् । तदुक्तं तत्र

स्व० तन्त्र १०।६५६ के अनुसार, "अधः (नीचे) की नवीं दिशा के स्वामी रुद्र का अन्य नाम कालाग्नि रुद्र है ।"

स्व० तन्त्र १०।६५७ श्लोक से यह प्रमाणित होता है कि "सैकड़ों अनुगत रुद्रों से समावृत 'रुद्र' नामक रुद्र ही ऊर्ध्व दिगधिपति हैं ।"

स्व० तन्त्र १०।६५८ के अनुसार "अण्ड के ऊपर स्थित वीरभद्र एकादश महाकाय रुद्रों से घिरे रहते हैं ।" ।

श्री पूर्वशास्त्र के अनुसार प्रतिदिशा दश-दश रुद्रों में से ही कोई एक अधिपति हो जाता है । इनमें वीरभद्र के विषय में कहा गया है कि सभी रुद्र इन्हीं के परिवार के हैं । रुद्र क्रोध से उत्पन्न महाभय रुद्रों से वीरभद्र हमेशा घिरे रहते हैं ॥ १७९ ॥

अनन्त, कपालीश, अग्नि, यम, नैऋत, बल, शीघ्र, विद्येश्वर निधीश्वर, शम्भु और वीरभद्र ये ग्यारह रुद्र हैं । वीरभद्र को मुख्यता का सर्वत्र उल्लेख है । मालिनीविजयोत्तर तन्त्र ५।१३-१४ में इसी मत का समर्थन है ।

'अनन्तः प्रथमस्तेषां कपालीशस्तथा परः ।
अग्निरुद्रो यमश्चैव नैर्ऋतो बल एव च ॥
शीघ्रो निधीश्वरश्चैव सर्वविद्याधिपोऽपरः ।
शंभुश्च वीरभद्रश्च विधूमज्वलनप्रभाः ॥'
(मा० वि० ५।१४) इति ॥ १८० ॥

कथं चैषामत्रावस्थानमित्याह

मधु मधुकृतः कदम्बं केसरजालानि यद्वदावृणते ॥ १८१ ॥
तद्वत्ते शिवरुद्रा ब्रह्माण्डमसंख्यपरिवाराः ।
शराष्टनियुतं कोटिरित्येषां सन्निवेशनम् ॥ १८२ ॥
श्रीकण्ठाधिष्ठितास्ते च सृजन्ति संहरन्ति च ।
ईश्वरत्वं विविषदामिति रौरववार्तिके ॥ १८३ ॥

तदुक्तम्

'आवृत्याण्डं स्थिता ह्येते मधु यद्वन्मधुव्रताः ।
कदम्बकुसुमं यद्वत्केसरैः परिवारितम् ॥' इति ।

वहाँ लिखा गया है कि

"इन रुद्रों में 'अनन्त' नामक रुद्र ही प्रमुख हैं। उनकी गणना सर्वप्रथम की जाती है। दूसरे रुद्र 'कपालीश' कहलाते हैं। तीसरे रुद्र अग्निरुद्र हैं। ये अपने नाम के अनुसार ही अग्नि के सदृश तेजस्वी हैं। चौथे निऋति दिशा के स्वामी नैऋत हैं। पाँचवें पश्चिम दिशा के 'बल' नामक रुद्र हैं। वायव्य के 'शीघ्र' उत्तरदिशा के निधीश्वर और समस्त विद्याओं के स्वामी विद्याधर 'शम्भु' ईशान दिगधिपति हैं। जहाँ तक वीरभद्र का प्रश्न है—ये विधूम ज्वलन-प्रभ महारुद्र हैं।" ॥ १८० ॥

मधु के छत्ते को छापे हुए जैसे मधुकर निकुरम्ब (समूह) रहता है; कदम्ब के फूलों पर जैसे केशरकण आवृत रहते हैं, उसी तरह ये शिवरुद्र ब्रह्माण्ड पर छाये हुए हैं। एक करोड़ दश लाख पचासी हजार उनके प्रतिभुवन का प्रमाण है। ये श्री कण्ठ शिव से अधिष्ठित होते हैं। उन्हीं की आज्ञा से ये सृष्टि और संहार दोनों कार्य करते रहते हैं। रौरव वार्तिक में यह उल्लेख है कि,

'शराः' पञ्च, 'नियुतं' दश लक्षाणि । तेन पञ्चाशीतिः सहस्राणि दश लक्षाणि कोटिश्चैका तद्भुवनानां प्रत्येकं प्रमाणमिति । अत्र च किं प्रमाणम्,—इत्युक्तम् 'इति रौरववार्तिके' इति । तदुक्तं तत्र

'पञ्चाशीतिर्योजनानां नियुतानां तथा परा ।
कोटिश्च तन्निवेशस्य विस्तारः परिकीर्तितः ॥' इति ।
'श्रीकण्ठाधिष्ठितास्ते च देवानां मनसेप्सितम् ।
ऐश्वर्यं संप्रयच्छन्ति हरन्ति च महौजसः ॥' इति च ॥१८३॥

अत्र चेयानन्यत्र विशेषः, इत्याह

सिद्धातन्त्रे तु हेमाण्डाच्छतकोटेर्बहिः शतम् ।
अण्डानां क्रमशो द्विद्विगुणं रूप्यादियोजितम् ॥ १८४ ॥
तेषु क्रमेण ब्रह्माणः संस्युर्द्विगुणजीविताः ।
क्षीयन्ते क्रमशस्ते च तदन्ते तत्त्वमम्मयम् ॥ १८५ ॥

"ये अण्ड को आवृत कर उसी तरह अवस्थित हैं, जैसे मधुव्रत (मधुमक्खियाँ मधु के छत्ते पर लिपटी रहती हैं। कदम्ब का कुसुम जैसे केशर-कणिकाओं से आकुल-संकुल रहता है और व्याप्त रहता है। उसी तरह ये भी रहते हैं।"

इनकी संख्या के विषय में रौरव वार्त्तिक का मत है कि,

"इनके निवेश का विस्तार इस प्रकार परिकीर्त्तित है जिसकी संख्याओं में एक करोड़ है। फिर ८५ उसमें जोड़ने पर तथा दशहजार लाख जोड़ने पर जितनी हो सकती है। अर्थात् १ करोड़ दश लाख पचासी हजार है।"

उनके वैशिष्ट्य के विषय में रौरव वार्त्तिक कहता है कि,

"ये सभी रुद्र श्री कण्ठ से अधिष्ठित हैं। ये देवताओं के मनोरथ पूरा करते हैं। ये बड़े ओजस्वी होते हैं। मनोवांच्छित ऐश्वर्य देना और उसे नष्ट करने का सामर्थ्य इनमें होता है" ॥ १८१-१८३ ॥

सिद्धातन्त्र में कुछ विशेष उल्लेख है। उसके अनुसार हेमाण्ड से १०० करोड़ बाहर क्रमशः अण्ड दुगुने-दुगुने होते जाते हैं। १०० का २०० और २०० करोड़ का ४०० करोड़ द्विगुणिक क्रम होता है। हेमाण्ड के बाद रजत, ताम्र,

शतमिति, संख्योपलक्षणपरमेषामसंख्यत्वात् तदुक्तम्

'पृथग्द्वयमसंख्यातमेकैकं च पृथग्द्वयम् ।' (मा० वि० २।५०) इति ।

'द्विद्विगुणम्' इति द्विशतकोटिचतुःशतकोट्यादि । 'रूप्यादि' इत्यादिशब्दात्ताम्रादियोजितत्वम् । द्विगुणजीविता इत्याद्यब्रह्मापेक्षया । तदुक्तं तत्र

'ऊर्ध्वं कालानलं नाम ब्रह्माण्डं द्विगुणं स्थितम् ।
तावद्यावच्छतं पूर्णमण्डानां ब्रह्मणां तथा ॥
वृद्धिस्तेषु स्मृता देवि द्विगुणा वीरवन्दिते ।
द्विगुणं च भवेदायुः प्रथमात् पद्मजन्मनः ॥
अधुना संप्रवक्ष्यामि अण्डानां नामगोचरम् ।
काञ्चनं कालसंज्ञं च वेतालं च महोदरम् ॥' इत्यादि ।
'गह्वरं शतमं विद्धि सर्वेषामुपरि स्थितम् ।' इत्यन्तम् ।

लौह आदि संज्ञायें होती जाती हैं । उसी क्रम से उनके ब्रह्मा भी होते हैं । उनकी आयु भी आदि ब्रह्मा की अपेक्षा द्विगुण जीवन वाली होती है । महाकल्प में इनका विनाश होता है । देवता और ब्रह्मा आदि का भी नाश उस समय हो जाता है । सौ महाकल्पों के क्रम से एक-एक अण्ड का क्षय होता है । अन्त में सामान्य महागह्वर बच रहता है । महाप्रलय में ही उसका भी विनाश सामान्य क्रम का ही विषय है ।

सिद्धातन्त्र का उद्धरण यह स्पष्ट घोषित करता है कि,

"ऊपर कालानल नामक ब्रह्माण्ड स्थित है । वह इस ब्रह्माण्ड से द्विगुण विस्तार वाला है । यह ब्रह्माण्ड क्रम ऊपर तव तक चलता रहता है, जबतक ये १०० ब्रह्माण्ड न हो जाँय । शङ्कर कहते हैं कि, हे वीर नामक उपासकों की आराध्य भगवति पार्वति ! ये सभी ब्रह्माण्ड द्विगुणित क्रम से एक दूसरे से बड़े होते हैं । जहाँ तक इनकी आयु का प्रश्न है, वह भी एक-एक से दुगुनी दुगुनी बड़ी होती है ।

उन अण्डों के नाम की चर्चा भी वहाँ इस प्रकार की गयी है "पहले काञ्चन नामक ब्रह्माण्ड से इसकी गणना की गयी है । दूसरे स्थान के ब्रह्माण्ड का नाम काल है । तीसरे का नाम वेताल और चौथे का नाम महोदय है । इसी क्रम से उल्लेख करते हुए सौवें 'गह्वर' नामक ब्रह्माण्ड की गणना की गयी है ।

तथा

'प्रथमं काञ्चनं प्रोक्तं रौक्मं चैव द्वितीयकम् ।
ताम्रं च लोहजं चैव क्रमादेवं व्यवस्थिताः ॥
महाकल्पे क्षयं यान्ति सदेवाः सपितामहाः ।
अन्तराक्षीयते ह्येकं महाकल्पशते शते ॥
तावद्यावत्स्थितं शेषं गह्वरं तु महाण्डकम् ।
महाक्षये क्षयस्तस्य सामान्येनैव लुप्यते ॥' इति ॥१८५॥

एवं तत्त्वान्तराणामपि उत्तरोत्तरवृद्ध्या मानं समस्ति, इत्याह

धरातोऽत्र जलादि स्यादुत्तरोत्तरतः क्रमात् ।
दशधाहङ्कृतान्तं धीस्तस्याः स्याच्छतधा ततः ॥ १८६ ॥
सहस्रधा व्यक्तमतः पौंस्नं दशसहस्रधा ।
नियतिर्लक्षधा तस्मात्तस्यास्तु दशलक्षधा ॥ १८७ ॥
कलान्तं कोटिधा तस्मान्माया विद्दशकोटिधा ।
ईश्वरः शतकोटिः स्यात्तस्मात्कोटिसहस्रधा ॥ १८८ ॥

दूसरे स्थान पर लिखा गया है कि, "पहले काञ्चन, दूसरे रौक्म, तीसरे ताम्र, चौथे लौह इस क्रम से ये व्यवस्थित हैं। ये महाकल्प में क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। इनमें रहने वाले देव, इनके ब्रह्म सभी समाप्त हो जाते हैं। सौ-सौ महाकल्पों में एक-एक की विनाशलीला का ताण्डव विडम्बित होता है। अन्त में गह्वर का अन्तिम क्रम उपस्थित हो आता है। महाप्रलय में ही इसका भी विनाश हो जाता है।" ॥ १८४-१८५ ॥

तत्त्वों के मान स्वच्छन्द तन्त्र १०।६६८-६७३ में दिये गये हैं। उसी मान के अनुसार यहाँ भी बताया गया है कि पृथ्वी तत्त्व से अहङ्कार तत्त्व तक दश दश गुणित मान है। बुद्धितत्त्व अहङ्कार से शत गुणित है। प्रधान हजार गुना, पुरुष दश हजार गुना, नियति लाख गुना, दशलाख गुना कला, कला से करोड़ गुना माया, माया से दश करोड़ गुना सद्विद्या, सद्विद्या से सौकरोड़ गुणा ईश्वर, ईश्वर से एक हजार करोड़ गुणा सदा शिव और सदाशिव से एक वृन्द बड़ी

सादाख्यं व्यश्नुते तच्च शक्तिर्वृन्देन संख्यया ।
व्यापिनी सर्वमध्वानं व्याप्य देवी व्यवस्थिता ॥ १८९ ॥
अप्रमेयं ततः शुद्धं शिवतत्त्वं परं विदुः ।

उत्तरोत्तरत इति, यथा धरातो जलं दशगुणं, ततोऽपि तेजो यावदन्तेऽहङ्कारः । 'तस्या' इनि अहंक्रियायाः । 'वित्' इति विद्या । 'व्यश्नुते' व्याप्नोतीत्यर्थः । सर्वमिति, शक्त्यादिधरान्तम् । तदुक्तम्

'अथोपरिष्टात्तत्त्वानि उदकादिशिवान्तकम् ।
उत्तरोत्तरयोगेन दशधा संस्थितानि तु ॥
अहङ्कारस्तदूर्ध्वं तु बुद्धिस्तु शतधा स्थिता ।
ऊर्ध्वं सहस्रधा ज्ञेयं प्रधानं वरवर्णिनि ॥
पौरुषं दशसाहस्रं नियतिर्लक्षधा स्मृता ।
तदूर्ध्वं दश लक्षाणि कला यावत्तु सुव्रते ॥
माया तु कोटिधा व्याप्य स्थिता सर्वं चराचरम् ।
दशकोटिगुणा विद्या मायां व्याप्य व्यवस्थिता ॥

शक्ति है । व्यापिनी तो समस्त अध्वाओं को व्याप्त करने वाली शक्ति है । इसके बाद अप्रमेय शिव तत्त्व का विस्तार है । स्व० तन्त्र १०।६६८ से ६७३ तक इस विषय को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"जल तत्त्व से ऊपर शिव तत्त्व तक के ये तत्त्व उत्तरोत्तर इसी तरह योग से दश प्रकार के गुणन से विस्तृत हैं । यह क्रम अहङ्कार तक चलता है और इसी विस्तार में संस्थित हैं । अहं तत्त्व से बुद्धि तत्त्व शत गुणित परिवेश में संस्थित है । शङ्कर भगवान् कहते हैं कि हे सुन्दरियों में सर्वश्रेष्ठ वर्णनीय प्रेयसि, प्रधान तत्त्व बुद्धि से हजार गुना बड़ा है । इससे ऊपर पुरुष का क्षेत्र आता है । यह प्रधान से दस हजार गुना बड़ा है । पुरुष परिवेश से नियति का परिवेश एक लाख गुना अधिक है । इससे ऊपर कला की व्याप्ति है । यह नियति से दस लाख गुनी अधिक है । कला से माया एक करोड़ गुना परिवेश व्यापिनी तत्त्व है ।

शतकोटिगुणेनैव व्याप्तासावीश्वरेण तु ।
सादाख्यं कोटिसाहस्रं बिन्दुनादं तदूर्ध्वतः ॥
योजनानां तु वृन्दं वै शक्तिर्व्याप्य व्यवस्थिता ।
व्यापिनी सर्वमध्वानं व्याप्य देवी व्यवस्थिता ॥
अप्रमेयं ततो ज्ञेयं शिवतत्त्वं वरानने ।'
(स्व० १०।६७३) इति ॥ १८९ ॥

एतच्चान्यत्र न क्वचिदपि दृष्टम्—इत्यतः परं मोक्षस्य न कारणमित्याह

जलादेः शिवतत्त्वान्तं न दृष्टं केनचिच्छिवात् ॥ १९० ॥
ऋते ततः शिवज्ञानं परमं मोक्षकारणम् ।

यह तो सारे चराचर को ही व्याप्त कर मानो अवस्थित है। माया से भी दश करोड़ गुनी बड़ी विद्या है। यह माया को व्याप्त कर अवस्थित है। विद्या से सौ करोड़ गुना ईश्वर तत्त्व, ईश्वर से एक हजार करोड़ गुणा सदा शिव तत्त्व है। विन्दु और नाद का क्षेत्र इनके ऊपर आता है। इनके ऊपर शक्ति तत्त्व है। यह सदाशिव से एक वृन्द अधिक विस्तार वाली है। जहाँ तक व्यापिनी का प्रश्न है, यह तो समस्त अध्व मण्डल को ही व्याप्त कर अवस्थित है। इससे ऊपर शिव तत्त्व है। शिव कहते हैं कि हे सुमुखि शिवे ! शिव तत्त्व की प्रमा नहीं को जा सकती। यह अप्रमेय तत्त्व है"

श्री तन्त्रालोक में सदाशिव के बाद शक्ति और व्यापिनो का वर्णन है और व्यापिनी के बाद सीधे शिवतत्त्व का उल्लेख है। साधना के क्रम में सदा-शिव के बाद अनाश्रित शिव, अर्धचन्द्र, विन्दु, रोधिनो, नाद, नादान्त के बाद शक्ति और व्यापिनो के स्तर आते हैं। व्यापिनी के ऊपर समना और उन्मना का क्षेत्र आता है। वहीं से शिवापरमशिव का अखण्ड महायोग सिद्ध होता है। पर यहाँ परिवेश वर्णन में इन तथ्यों पर ध्यान नहीं दिया गया है। स्व० तन्त्र में सदाशिव के बाद विन्दु नाद शक्ति और व्यापिनी तथा शिव तत्त्व का उल्लेख है ॥ १८६-१८९ ॥

पृथ्वी से शिव पर्यन्त जो कुछ भी दृश्य अदृश्य है, शिव के अतिरिक्त नहीं है। शिव का इस प्रकार का बोध होना अत्यन्त आवश्यक है। यही मोक्ष

किमत्र प्रमाणम् इत्याशङ्क्याह

तथा चाह महादेवः श्रीमत्स्वच्छन्दशासने ॥ १९१ ॥

तदेव अर्थद्वारेण पठति

नान्यथा मोक्षमायाति पशुर्ज्ञानशतैरपि ।
शिवज्ञानं न भवति दीक्षामप्राप्य शाङ्करीम् ॥ १९२ ॥
प्राक्तनी पारमेशी सा पौरुषेयी च सा पुनः ।

दीक्षामप्राप्येति, यदुक्तम्

'न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे ।'

(मा० वि० ४।६) इति ।

प्राक्तनीति, तत्तज्जन्मान्तरीयाभ्यासबलाद् अनुपायरूपतामाप्तेरयर्थः । 'पारमेशी' इति विद्येश्वरादिवत् साक्षात्परमेश्वरकर्तृका । 'पौरुषेयो' इति शास्त्रक्रमेणाचार्य-कर्तृका । तदुक्तं तत्र

'यत्र दृष्टं पशुज्ञानैः कुपथभ्रान्तदृष्टिभिः ।'

(स्व० १०।६७४)

का परम कारण है । स्व० १०।६७४ से ७०६ तक इस विषय का विशद वर्णन है । अपने शब्दों में ग्रन्थकार ने उस मत का उल्लेख किया है । पशु भाव प्राप्त पुद्गल पुरुष सैकड़ों प्रकार के ज्ञान विज्ञान में भ्रान्त रह जाता है । उसे शिव ज्ञान नहीं होता । शाङ्करी दीक्षा से वह वंचित रह जाता है । मा० वि० ४।६ के अनुसार शाङ्करी दीक्षा के विना इस शास्त्र में अधिकार नहीं मिलता । प्राक्तनी अर्थात् पूर्वजन्म के संस्कार वश प्राप्त अनुपाय विज्ञान रूप दिव्यता प्राप्त साधक जीवन्मुक्त हो जाता है । परमेशी कृपा भो मुक्तिदायिनी होती है । विद्येश्वर आदि के दर्शन से भी साधक कृतार्थ हो जाता है पर पौरुषेयी दीक्षा आचार्य कर्तृक होती है । पौरुषेयी दीक्षा के क्रम में स्वच्छन्द तन्त्र १०।६७४ से ७०६ के उद्धरण महत्त्वपूर्ण हैं । उनमें लिखा हुआ है कि,

"कुपथ में भ्रान्त दृष्टि वाले पाशबद्ध पशुजन इस उत्तमोत्तम स्तर के साक्षात्कार में नितान्त असमर्थ होते हैं ।"

इत्याद्युपक्रम्य

'विना प्रसादादीशस्य ज्ञानमेतन्न लभ्यते।
न चापि भावो भवति दीक्षामप्राप्य देहिनाम् ॥
यदा तु कारणच्छक्तिर्भवेन्निर्वाणकारिका।
शिवेच्छया प्रपद्येत दीक्षां ज्ञानमयीं शुभाम् ॥
मन्त्रयोगात्मिकां दिव्यां ततो मोक्षं व्रजेत्पशुः।
नान्यथा मोक्षमाप्नोति पशुर्ज्ञानशतैरपि ॥
यस्य प्रकाशितं सर्वं शिवेनानन्तरूपिणा।
स एव मोक्षं व्रजति शिवः साक्षान्महेश्वरः ॥
तेनेद ज्ञानमुख्यं तु पुरा प्रोक्तं मया तव।'
(स्व० १०।७०६) इति ॥ १९२ ॥

इसके अतिरिक्त इसी सन्दर्भ को और भो स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि,

"विना परमेश्वर की कृपा के ऐसा उत्तम शिव-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। प्राणी यदि दीक्षा प्राप्त करने से वंचित रह गया है तो उसके हृदय में शिव ज्ञानोपलब्धि के लिये किसी प्रकार की भावना भी उत्पन्न नहीं हो पाती। यदि किसी कारण से, हेतु या उपाय (आणव-शाक्त और शाम्भव) वश उसमें निर्वाणकारिणो शक्ति का उल्लास सम्भव हो, तो उसे परमेश्वर की कृपा से ज्ञानमयी दीक्षा के अवसर भी अनायास उपलब्ध हो जाते हैं। ऐसी दिव्य मन्त्रयोगात्मिका दीक्षा से भी पशु मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। अन्यथा सैकड़ों प्रकार के ज्ञान प्राप्त करके भी वह मोक्ष नहीं पा सकता।

जिस भाग्यशाली साधक को समग्र वस्तु तथ्य और रहस्य प्रकाशित हो जाता है, वही मोक्ष के मार्ग पर आरूढ हो पाता है। यह रहस्य का प्रकाश भी अनन्त रूपों में अभिव्यक्त शिव की कृपा से ही सम्भव होता है। यह ध्रुव सत्य है कि शिव ही साक्षात् महेश्वर हैं। भगवान् शंकर कहते हैं कि, देवि, यही कारण है कि मैंने तुमसे सर्वप्रथम इसकी चर्चा की थी।"

स्वच्छन्द तन्त्र के उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि, शैव ज्ञानोपलब्धि के लिये पशु भाव गृहीत व्यक्ति को शाङ्करी दीक्षा प्राप्त करना अनिवार्य है ॥ १९०-१९२ ॥

इदानीमप्तत्त्वे भुवनानि वक्तुमुपक्रमते

शतरुद्रोर्ध्वतो भद्रकाल्या नीलप्रभं जयम् ॥ १९३ ॥

न यज्ञदानतपसा प्राप्यं काल्याः पुरं जयम् ।

तद्भक्तास्तत्र गच्छन्ति तन्मण्डलसुदीक्षिताः ॥ १९४ ॥

'नील' इति इन्द्रनीलम् । तन्मण्डलदोक्षिता इति, 'अतो भुवनभर्तरि' इत्याद्युक्त्या तद्भुवनं प्राप्तुमित्यर्थः ॥ १९४ ॥

ननु किं तत्प्राप्त्येत्याशङ्क्याह

निर्बीजदीक्षया मोक्षं ददाति परमेश्वरी ।

नन्वप्तत्त्वावस्थितैतद्भुवनमात्रप्राप्त्या कथमेवम् ? इत्याशङ्क्याह

विद्येशावरणे दीक्षां यावतीं कुरुते नृणाम् ॥ १९५ ॥

तावतीं गतिमायान्ति भुवनेऽत्र निवेशिताः ।

इयं हि भगवती

'सा देवी सर्वदेवीनां नामरूपैश्च तिष्ठति ।
योगमायाप्रतिच्छन्ना कुमारी लोकभावनी ॥
अचिन्त्या चाप्रमेया च ... ... ।'

(स्व० १०।७२७)

इत्युक्त्या सर्वोत्कृष्टा, येनैवमत्र माहात्म्यमुक्तम् ॥ १९५ ॥

अब अप्तत्त्व भुवन मण्डल में भद्रकाली आदि पुरों के वर्णन कर रहे हैं—

शतरुद्रों के ऊर्ध्व परिवेश में माँ भद्रकाली का नीलमणि प्रभा मय 'जय' नामक आयतन है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधारणतया साधकों के लिये यह नितान्त दुर्लभ है। यज्ञ द्वारा और दान या तप के सामान्य पुण्य से इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। केवल भद्रकाली के वे भक्त ही वहाँ जा सकते हैं जो उस मण्डल में जाने की शक्ति वाली भद्रकाली भुवन दीक्षा प्रक्रिया में दीक्षित होते हैं। भद्रकाली वात्सल्यमयी कुमारी शक्ति है। वह भक्त साधकों को निर्बीज दीक्षा देकर अनुगृहीत करती है। परिणामतः साक्षात् मोक्ष हो जाता है। स्व० तन्त्र १०।७११-७३४ में इसका विशद वर्णन है।

ततः कोट्या वीरभद्रो युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ १९६ ॥

विजयाख्यं पुरं चास्य ये स्मरन्तो महेश्वरम् ।

जलेषु मरुषु चाग्नौ शिरश्छेदेन वा मृताः ॥ १९७ ॥

ते यान्ति बोधमैशानं वीरभद्रं महाद्युतिम् ।

वैरभद्राघ्र्वतः कोटिर्विष्कम्भाद्विस्तृतं त्रिधा ॥ १९८ ॥

रुद्राण्डं सालिलं त्वण्डं शक्रचापाकृति स्थितम् ।

'मरुषु' इति महापथे महेश्वरं स्मरन्तो मृताः, इति सर्वत्र संबन्धः। अन्यथा हि वैद्युतं यान्ति,—इति पूर्वमुक्तम्। 'ऐश्वरं बोधं' रौद्रं तेजः, स हि रुद्रक्रोधादुद्भूत इति भावः । 'वैरभद्रोर्ध्वत' इति वीरभद्रसंबन्धिनो विजयाख्यात्पुरादूर्ध्वमित्यर्थः। 'सालिलमण्डम्' अम्मयमावरणं, तत्प्रधानं भुवनमिति यावत्। अत एवाप्तत्त्वीयानां समस्तानां भुवनानामूर्ध्वं तेजस्तत्त्वस्य चाधःस्थितं

सद्विद्या के अधिपति विद्येश्वर कहलाते हैं। उनके मण्डल में जाने वाले साधक भोगेच्छु होते हैं और वे बुभुक्षु दीक्षा दीक्षित होते हैं। भद्रकाली के इस भुवन में तो यह सामान्य दीक्षा होती है। इसके अतिरिक्त निर्बीज दीक्षा दी जाती है। स्व० तन्त्र १०।७२७ में इस विषय में कहा गया है कि,

"लोक भावनी भद्रकाली के लिये देवियों के सभी नाम रूप व्यवहृत किये जा सकते हैं। योगमाया से यह प्रतिच्छन्न रहती है। यह अचिन्त्य और अप्रमेय शक्ति है" ॥ १९३-१९५ ॥

इसके बाद कोटि योजन पर्यन्त वीरभद्र का 'विजय' नामक मण्डल है। इसमें वही पुण्यात्मा जन्म लेते हैं, जो महेश्वर के भक्त हैं और उनके स्मरण में शाश्वत निरत रहते हैं। जल में डूब कर, मरुस्थल में प्यास और चक्रवात से, आग से जलकर अथवा गला कट जाने से जिनकी मृत्यु हो जाती है और मरते समय महेश्वर की स्मृति रहती है, ऐसे लोग रुद्र स्मृति के प्रभाव से इस लोक में रहने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं। इन्हें तैजस रूप प्राप्त होता है। महातेजोमय ऊर्जस्वल वीरभद्र का इन्हें सान्निध्य प्राप्त होता है।

'विजय' नाम वीरभद्र मण्डल का ऊर्ध्व कोटि योजन भाग अप्तत्त्व के घनों से भरा हुआ है। वही विष्कम्भ कहलाता है। यह इन्द्रधनुष के समान

तच्चाण्डं 'रुद्राण्डं' तच्छब्दव्यपदेश्यम् । तत्रापि च वीरभद्राख्य एवासौ भगवान्महात्मा रुद्रः सूक्ष्मरूपेणास्ते,—इत्यभिप्रायः । तच्च विष्कम्भात्कोटिः, ऊर्ध्वमेतन्मानमित्यर्थः । विस्तृतं त्रिधेति, तिर्यक्कोटित्रयपरीमाणमित्यर्थः । एतच्च निखिलाप्तत्वापेक्षया न व्याख्येयं, तन्मानस्य धरापेक्षया दशगुणत्वे प्रागेवोक्तत्वात् । यदुक्तम्

'भुवनस्यास्य देवेशि ह्युपर्यावरणं महत् ।
अम्मयं तु घनं चाति शक्रचापाकृति स्थितम् ॥
वितानमिव तद्भूद्रमन्तरे समवस्थितम् ।
तत चास्ते महात्मासावङ्गुष्ठाग्रप्रमाणकः ॥
तत्र योजनकोटिवैं विष्कम्भादूर्ध्वमुच्यते ।
तिर्यक्त्रिगुणविस्तारमाप्यमावरणं प्रिये ॥'

(स्व० १०।७५८) इति ।

आकर्षक होता है । जय विजय दोनों के अन्तर प्रदेश में फैले हुए इस विष्कम्भ से भी एक करोड़ योजन ऊर्ध्व तिर्यक् और त्रिगुण विस्तार युक्त आप्य आवरण है । यह इन्द्रधनुषी-मण्डल बड़ा आकर्षक और सुन्दर है । ब्रह्माण्ड से दश गुना और हजार करोड़ योजन विस्तार वाला यह आप्य आवरण है । क्षेमराज के अनुसार यह तीन हजार करोड़ योजन विस्तार वाला आवरण है । स्व० १०। ७३७-७५८ तक इसका विशद विस्तार है । वहाँ लिखा गया है कि—हे देवि ! इस भुवन के ऊपर आप्य आवरण है, जो इसे शाश्वत आवृत किये हुए अवस्थित है । उसमें अत्यन्त ठोस आप्य घन हैं । वे इन्द्रधनुष की आकृति सहित इस गोल मण्डल में अवस्थित हैं । आकाश अन्तराल में वे विमान की तरह प्रतीत होते हैं । उस भुवन में अंगुष्ठाग्र प्रमाणक वे (सूक्ष्म रूप) महात्मा (रुद्र) निवास करते हैं । घनाकीर्ण इस अप्मय रुद्राण्ड रूप आप्यमण्डलात्मक विष्कम्भ का १ करोड़ योजन विस्तार मानते हैं । इसका मान तिर्यक् तीन करोड़ है । तिर्यक् शब्द तिरछी आकृति के लिये ही प्रयुक्त है । गोल आप्य मण्डल में किसी सीधी प्रमा से माप नहीं हो सकता । त्रिधा नीति के अनुसार एक हजार करोड़ तीन हजार करोड़ माना जायेगा ।

'रुद्राण्ड इति विख्यातं रुद्रलोक इति प्रिये।'

(स्व० १०।७५९) इति च।

एवमिति सिद्धम्—यदप्तत्त्वस्यारम्भ एव भद्रकाल्या भुवनम्, अत एव तत्र 'शतरुद्रोर्ध्वत' इत्युक्तं, प्रान्ते तु वीरभद्रस्य स्थूलसूक्ष्मतया पुरद्वयमिति ॥ १९८ ॥

तन्मध्ये तु भुवनान्तराणि किं स्थितानि न वा ? इत्याशङ्क्याह

आ वीरभद्रभुवनाद्भद्रकाल्यालयात्तथा ॥ १९९ ॥

त्रयोदशभिरन्यैश्च भुवनैरुपशोभितम् ।

क्षेमराज के अनुसार सौ करोड़ योजन विस्तार वाले ब्रह्माण्ड से आप्य आवरण दशगुना होना चाहिये। अतः यह १ हजार करोड़ योजन मान का होगा। 'त्रिगुणविस्तार' की नीति के अनुसार ऊपर लिखे अनुसार यह मान तीन हजार करोड़ योजन विस्तार वाला ही होना चाहिये।

इस तरह पहले विजय भुवन नामक वीरभद्र का भुवन है। उसके ऊपर घना आप्य आवरण है। यह आवरण ही एक हजार करोड़ योजन का है। इसे ही मूल श्लोक १९८ के त्रिधा के अनुसार तीन हजार करोड़ योजन मानना चाहिये। इसे स्व० तन्त्र १०७५९ के अनुसार रुद्रलोक कहते हैं। वहाँ लिखा गया है कि,

"यह रुद्राण्ड के रूप में विख्यात है। इसे ही रुद्रलोक कहते हैं।"

इसे सालिल अण्ड भी कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि इसमें अप्तत्त्व की ही प्रधानता है। यह अप्तत्त्व वाले सारे भुवनों से ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर है। यहाँ यह अर्थ भी अपने आप व्यक्त हो रहा है कि तेजस्तत्त्व के यह नीचे ही होगा। यही रुद्राण्ड है। अप् तत्त्व प्रधान इस भुवन के पहले भद्रकाली का भुवन है। इसका उल्लेख मूल श्लोक १९३ में है। इसके बाद ही वीरभद्र का 'विजय' नामक यह भुवन मण्डल है। इसके ऊर्ध्व में भद्रकाली भुवन और प्रान्त अर्थात् इस ओर स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार का घना आप्य मण्डल है जो तीन हजार करोड़ योजन विस्तार वाला है।

भद्र काली का भुवन आप्य मण्डल में पहले ही पड़ता है। उसके ऊपर वीरभद्र मण्डल है। वीरभद्र के दो मण्डल हैं।

आङ्शब्दो मर्यादायां, तेन भद्रकाल्यालयादारभ्य वीरभद्रभुवनं यावत् अर्थात् भद्रकाल्यालयेन सह त्रयोदश भुवनान्यवस्थितानीत्यर्थः। उपशोभितमिति, अर्थादप्तत्त्वम्, एवं—पाठ एव च आगम इति उद्द्योतकारव्याख्यया न भ्रमितव्यम् ॥ १९९ ॥

तान्येवाह

ततो भुवः सहाद्रेः पूर्गन्धतन्मात्रधारणात् ॥ २०० ॥
मृता गच्छन्ति तां भूमिं धरित्र्याः परमां बुधाः ।
अब्धे पुरं ततस्त्वाप्यं रसतन्मात्रधारणात् ॥ २०१ ॥
ततः श्रियः पुरं रुद्रक्रीडावतरणेष्वथ ।
प्रयागादौ श्रीगिरौ च विशेषान्मरणेन तत् ॥ २०२ ॥

१—पार्थिवाण्ड में स्थूल और दूसरा इस आप्याण्ड में सूक्ष्म मण्डल है। भद्रकाली मण्डल से वीरभद्र के सूक्ष्म मण्डल तक तेरह भुवन शोभित हो रहे हैं। इस सन्दर्भ में भी जयरथ ने क्षेमराज की आलोचना की है और यह कहा है कि 'उद्योत' नामक स्व० तन्त्र की क्षेमराजकृत बातों में नहीं आना चाहिए ॥१९६-१९९॥

पृथ्वी का पार्थिव भुवन नील, श्वेत, शृङ्गवान्, निषध आदि समस्त पर्वतों के सहित विभूषित रहता है। इसमें सबको धारण करने वाली चतुर्वक्त्रा अष्टभुजा भगवती धात्री रूपा धरित्री का आवास है। गन्ध तन्मात्र धारण करने वाले मृत पुरुष उस लोक में पहुँचते हैं। यह पृथ्वी की परा भूमि है। स्व० १०।७६१–७८८ में इसका विशद वर्णन है। इसी प्रकार अप्तत्त्व का भुवन है। इसमें रस तन्मात्र धारण करने वाले लोग वहाँ जाते हैं (स्व० तन्त्र १०।७८८–७९९)। इसके ऊपर श्रीपुर है। इसे श्रीनिकेत भी कहते हैं। इसके अपार सौन्दर्य और असीम आकर्षण हैं। इसमें तेजस्विनी माँ श्री विराजमान रहती हैं। यहाँ भुवनेश्वर रुद्रों की क्रीड़ा स्थली है। रुद्र अवतारों की प्रयाग सदृश तीर्थों की स्थली अथवा श्रीपर्वत पर मृत्यु प्राप्त पुरुष श्रीनिकेत लोक जाने के अधिकारी हैं। स्व० १०।७९९–८२७ में इसका विस्तार पूर्वक वर्णन है।

सारस्वतं पुरं तस्माच्छब्दब्रह्मविदां पदम् ।
रुद्रोचितास्ता मुख्यत्वाद्रुद्रेभ्योऽन्यास्तथा स्थिताः ।। २०३ ।।
पुरेषु बहुधा गङ्गा देवादौ श्रीः सरस्वती ।
लकुलाद्यमरेशान्ता अष्टावप्सु सुराधिपाः ।। २०४ ।।

'सह्याद्रेः' इति मेर्वादिप्रागुक्तपर्वतयुक्ताया इत्यर्थः । 'रसतन्मात्रधारणात्' इति रसतन्मात्रधारणयेत्यर्थः । मृता गच्छन्ति,—इति प्राच्येन संबन्धः । रुद्रस्य क्रीडयावतरणेषु न तु अनुजिघृक्षया, तत्र हि नैतावन्मात्रप्राप्तिर्भवेदिति भावः एतच्चाग्रत एव व्यक्तीभविष्यति,—इति नेहायस्तम् । 'तत्' श्रियः पुरं गच्छन्तीति प्राच्येन संबन्धः । 'शब्दब्रह्मविदाम्' इति गीतज्ञानां वाक्तत्त्वधारणा-निष्ठानां च । तदुक्तम्

वहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि बुभुक्षु साधक श्रीविद्या की आराधना से आणिमादिक ऐश्वर्य की प्राप्ति करते हैं। केवल यही नहीं, यह 'श्री' देवी अपने को अणिमा आदि आठ सिद्धि रूपों में विभक्त कर वहाँ के अतिरिक्त समस्त देव-लोकों में भी विराजमान रहती है। यह दैवो सिद्धियों में उत्तम सिद्धि के रूप से परिगणित है। इसी सिद्धि के लिए त्रिदशेश्वर इन्द्र आदि से तारकासुर का युद्ध हुआ था। इसकी प्राप्ति की आकांक्षा वाले लोग नितान्त घोर कर्म करने पर सदा उतारू रहा करते हैं। असंख्य संग्रामों को यही कारण बनतो है। इस दृष्टि से यह अणु पुरुषों के पाशबद्ध बनने की प्रधान कारण मानी जा सकती है ॥२००–२०२॥

इसके ऊपर सारस्वत भुवन है। इसे गांधर्व लोक भी कहते हैं। यह पद्मगर्भ पुर है। यहाँ शब्द ब्रह्म विद्या के कोविद विद्वान् रहते हैं। वहाँ रश्मि-मालाललित मनोहर मण्डप में सुषमा को शृङ्गार प्रदान करने वाली सहस्र शरच्चन्द्र ज्योत्स्ना-सौन्दर्य राशि रूप सरस्वती निवास करती हैं। ग्रामत्रय की त्रिबली, सात स्वरों मय समरस शरीर, तानमयी केशराशि, मूर्च्छनाओं के रोम, पदों के आसन, तालों के पैर और गीतों से निःसृत मातृकाओं की प्रभा से भास्वर भरतमुनि लक्षित भूषणाक्षर संघात प्रतीका सरस्वती विराजमान हैं। स्व० तन्त्र १०।८२८–८३८ तक इसका वर्णन है। स्व० तन्त्र ८४०–८५४ तक के

'हाहा　हूहूश्चित्ररथस्तुम्बुरुर्नारदस्तथा ।
विश्वावसुर्विश्वरथो　दिव्यगीतविचक्षणाः ॥
संयोज्य मनसात्मानं त्यक्त्वा कर्मफलस्पृहाम् ।
ते वै सारस्वतं स्थानं प्राप्ता वै सुरपूजिते ॥
ये च वाग्धारणां ध्यात्वा प्राणान्मुञ्चन्ति देहिनः ।
ते वै सारस्वतं लोकं प्राप्नुवन्ति नरोत्तमाः ॥'

(स्व० १०।८४३) इति ॥

'अप्सु' इत्यनेन तत्त्वयोजनाख्यमपि प्रमेयमुट्टङ्कितम्, एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । अष्टावित्यनेन भद्रकाल्या भुवोऽब्धेः श्रियः सरस्वत्याश्च भुवनानां पञ्चकेन सह त्रयोदश भवन्ति,—इति प्रागुपक्रान्तायाः संख्याया अपि संकलनं स्मारितम् । तदुक्तम्

'लकुली भारभूतिश्च दिण्ड्याषाढी च पुष्करः ।
नैमिषश्च　प्रभासश्च　अमरेशस्तथाष्टमः ॥
एतत्पत्यष्टकं प्रोक्तम्...... ....।'

(मा० वि० ५।१७) इति ॥

श्लोकों में कहा गया है कि, शब्द ब्रह्म विद् हाहा, हूहू, चित्ररथ, तुम्बरु, नारद, विश्वावसु, विश्वरथ सदृश दिव्य गीतों के विचक्षण कर्मफल की इच्छा का परित्याग कर इस सारस्वत धाम में निवास करते हैं। वाक्तत्त्व की धारणा में सिद्ध, परमविज्ञ मृत प्राणी इसी लोक में निवास करते हैं।"

भद्रकाली, भूः, अब्धि श्री और सारस्वत नामक ५ भुवनों के अतिरिक्त लाकुल, भारभूति, दिण्डि, आषाढि, पुष्कर, नैमिष, प्रभास, और अमरेश ये आठ भुवन और भी हैं। इन्हीं नामों के इनके भुवनेश्वर भी हैं। इस प्रकार ५+८=१३ भुवन होते हैं। इस सन्दर्भ में मालिनी विजय तथा स्वच्छन्द तन्त्रों के लेख में अन्तर की ओर भी जयरथ ने ध्यान आकृष्ट किया है। ग्रन्थकार ने लाकुल से अमरेशान्त आठ भुवनेश्वरों का उल्लेख कर मालिनी विजय को ही प्रमुखता दी है। स्वच्छन्द तन्त्र में अमरेश से लाकुल का क्रम मान्य है। तत्त्वदर्शी योगियों की दिव्य दृष्टि से दृष्ट, एवं स्वयं शंकर द्वारा भूषित होने के कारण

श्रीस्वच्छन्दशास्त्रे पुनरेषाम्

'अमरेशं प्रभासं च नैमिषं पुष्करं तथा।
आषाढि दिण्डिमुण्डं च भारभूतिं च लाकुलम् ॥
गुह्याष्टकमिति ख्यातं जलावरणगं प्रिये।'

(स्व० १०।८५४)

इत्यादिनान्यथा पाठः। इह श्रीस्वच्छन्दशास्त्रानुसारं प्रक्रमेऽपि सर्वत्र पूर्वशास्त्र-प्रक्रिययैषां पाठेऽयमाशयो—यदेतदेव भुवनेशाष्टकमप्तत्त्वे सर्वागमेषु प्रधान-तयोक्तम्,—इत्यत एव प्रतिष्ठायामेतदाद्यष्टकसप्तकस्वीकारेणैव सर्वत्र भुवनानां संकलनम् ॥ २०४ ॥

ततस्तु तैजसं तत्त्वं शिवाग्नेरत्र संस्थितिः।
ते चैनं वह्निमायान्ति वाह्नीं ये धारणां श्रिताः ॥ २०५ ॥
भैरवादिहरीन्द्वन्त तैजसे नायकाष्टकम्।
प्राणस्य भुवनं वायोर्दशधा दशधा तु तत् ॥ २०६ ॥
ध्यात्वा त्यक्त्वाथ वा प्राणान् कृत्वा तत्रैव धारणाम्।
तं विशन्ति महात्मानो वायुभूताः खमूर्तयः ॥ २०७ ॥
भीमादिगयपर्यन्तमष्टकं वायुतत्त्वगम्।
खतत्त्वे भुवनं व्योम्नः प्राप्य तदव्योमधारणात् ॥ २०८ ॥
वस्त्रापदान्तं स्थाण्वादि व्योमतत्त्वे सुराष्टकम्।

'तत्' इत्यप्तत्त्वात्। तदुक्तम्

'तत्र भैरवकेदारमहाकालाः समध्यमाः।
आम्रातकेशजल्पेशश्रीशैलाः सहरीन्दवः ॥'

(मा० वि० ५।१८) इति।

इन आर्ष प्रयोगों का समन्वय आवश्यक है। स्व० तन्त्र १०।८५३-८५४ में आठ गुह्याष्टकों के नाम दिये हुए हैं। इन श्लोकों को राजानक जयरथ ने उद्धृत भी किया है किन्तु सर्वत्रश्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र की प्रक्रिया का ही अनुसरण किया गया है। तदनुसार उनके नाम निम्नलिखित हैं—

"अमरेश, प्रभास, पुष्कर, नैमिष, आषाढ़ि, दिण्डिमुण्डि, भारभूत और लाकुल। ये जलावरण परिवेश के निवासी हैं।" ॥२००–२०४॥

श्रीस्वच्छन्दे तु

> 'हरिश्चन्द्रं च श्रीशैलं जल्पमाम्रातकेश्वरम् ।
> महाकालं मध्यमं च केदारं भैरवं तथा ॥
> अतिगुह्यं समाख्यातम् ··· ····· ····· ··· ····· ।'
>
> (स्व० १०।८७२) इति ।

'वायौ' इति वायुतत्त्वे । दशधेति, प्राणादिनागादिभेदात् । ध्यानाद्यप्येवमिति पुनर्दशधेति । भीमादीति, तदुक्तम्

> 'भीमेश्वरमहेन्द्राट्टहासाः सविमलेश्वराः ।
> कनखलं नाखलं च कुरुक्षेत्रं गया तथा ॥'
>
> (मा० वि० ५।१९) इति ।

इसके बाद तैजस तत्त्व का विस्तार है । शिवाग्नि यहाँ शाश्वत विराजमान हैं। वह्नि की धारणा वाले मरकर इसी लोक में आते हैं। भैरव, केदार, महाकाल, मध्यम, अम्रातकेश्वर श्रीशैल, जल्पेश और हरिश्चन्द्र ये आठ तैजस भुवनों के नायक हैं। यहाँ भी भैरवादिहरीन्द्वन्त प्रयोग में मालिनी वि० ५।१८ का क्रम अपनाया गया है। स्व० तन्त्र १०।८७२ का नहीं । वहाँ स्व० तन्त्र १०।८७२ में मालिनी विजय क्रम के अतिरिक्त क्रम अपनाया गया है। वह इस प्रकार हैं—

"हरिश्चन्द्र, श्रीशैल, जल्पेश, आम्रातकेश, महाकाल, मध्यम और केदार तथा भैरव इन आठ भुवनाधिपों से यह आग्नेय भुवन अधिष्ठित है। ये भुवनाधिप पहले कहे गये गुह्याष्टकों से अतिशय रूप से श्रेष्ठ हैं। अतः इन्हें अतिगुह्य कहा गया है।"

इसके बाद प्राण का भुवन आता है। इस वायु के आवरण में स्थित वायु भुवन में अव्यय भाव से वायु का निवास है। सौ करोड़ महाबली मारुत उस दिव्य वायुदेव की रक्षा में लगे हुए हैं। वहीं वायुदेव सामान्य प्राण रूप से और प्राणापानोदानव्यान समान भेद से ५ रूपों में शरीर को व्याप्त कर अवस्थित है। पाँच नामों को सम्मिलित कर इन्हें दशधा कहा गया है। प्राण धारण में लगे लोग मरने पर इसी वायुदेव के शरण में आते हैं। उनका स्वरूप भी वायुमय ही रहता है और आकाश मूर्त्ति ही रहते हैं । भीमेश्वर, महेन्द्र अट्टहास, विमलेश्वर, कनखल, नाखल कुरुक्षेत्र और गया के मा० वि० ५।१९

श्रीस्वच्छन्दे तु

> **'गयां चैव कुरुक्षेत्रं नाखलं कनखलं तथा ।**
> **विमलं चाट्टहासं च माहेन्द्रं भीममष्टमम् ॥**
> **गुह्याद्गुह्यतरं ह्येतत् .... — ....।'**
>
> (स्व० १०।८८४) इति ॥

'व्योम्न' इत्याकाशस्य । तदुक्तम्

> **'स्थाणुस्वर्णाक्षकावाद्यौ रुद्रगोकर्णकौ परौ ।**
> **महालयाविमुक्तेशरुद्रकोटयम्बरापदा ॥'**
>
> (मा० वि० ५।२०) इति ॥

श्रीस्वच्छन्दे तु

> **वस्त्रापदं रुद्रकोटिमविमुक्तं महालयम् ।**
> **गोकर्णं भद्रवर्णं च स्वर्णाक्षं स्थाणुमष्टमम् ॥**
> **पवित्राष्टकमेतत् ....।'**
>
> (स्व० १०।८८७) इति ॥२०८॥

के क्रम से आठ लोक और इसी नाम के नायक यहाँ हैं । स्व० तन्त्र १०।८८४ का क्रम नहीं अपनाया गया है ।

स्वच्छन्द तन्त्र १०।८८४ के अनुसार, "गया, कुरुक्षेत्र, नाखल, कनखल, विमल, अट्टहास, माहेन्द्र और भीम यह क्रम है । ये गुह्यों से भी गुह्यतर माने जाते हैं । दीक्षाक्रम में शिष्य के शरीर में रहने वाले इन तत्त्वों का शोधन उत्तम गुरु करता है । शिष्य वर्ग को इनका पता न होने से ये अत्यन्त गुह्य माने जाते हैं ।"

इसके ऊपर आकाश तत्व का विस्तार है । यह ख तत्त्व में अवस्थित है । व्योम की ध्यान धारण वाले मृत्यु के उपरान्त यहीं आते हैं । स्थाणु, स्वर्णाक्ष, रुद्र गोकर्ण, महालय, अविमुक्तेश, रुद्रकोटि, वस्त्रापद ये ८ नायक अपने इसी नाम के लोकों में अधिष्ठित हैं । ये व्योम तत्त्व के देव हैं । यहाँ भी मा० वि० ५।२० का क्रम अपनाया गया है । स्व० तन्त्र १०।८८७ को मान्यता नहीं दी गयी है ।

स्व० तन्त्र १०।८८७ का क्रम इस प्रकार का है—"वस्त्रापद, रुद्रकोटि, अविमुक्त, महालय, गोकर्ण भद्रकर्ण, स्वर्णाक्ष और स्थाणु ।" ये आठ अत्यन्त पवित्र सुराष्टक व्योमतत्त्व के हैं ॥२०५–२०८॥

ननु

'न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे ।'

(मा० वि० ४।६)

इत्याद्युक्तयुक्त्या दीक्षामन्तरेणाधिकार एव शाङ्करे योगे नास्ति,—इति का कथा तदभ्यासादेर्वृत्तायां च दीक्षायां निर्व्यूढे च योगाभ्यासे जीवत एव मुक्तिर्भवेत्,—इति कस्तत्र शरीरान्ते सन्देहः । गन्धतन्मात्रधारणाद्यभ्यस्यन्तो योगिनः शरीरान्ते धरादिभुवनान्यासादयन्ति,—इति कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अदोक्षिता ये भूतेषु शिवतत्त्वाभिमानिनः ॥ २०९ ॥

ज्ञानहीना अपि प्रौढधारणास्तेऽण्डतो बहिः ।

धराब्धितेजोऽनिलखपुरगा दीक्षिताश्च वा ॥ २१० ॥

तावत्संस्कारयोगार्थं न परं पदमोहितुम् ।

तथाविधावतारेषु मृताश्चायतनेषु ये ॥ २११ ॥

तत्पदं ते समासाद्य क्रमाद्यान्ति शिवात्मताम् ।

भूतेष्विति, पृथिव्या एव प्राधान्याद् बहुवचनेन निर्देशः । यद्वा तन्मध्यात् 'प्रौढधारणा' इति पातञ्जलादिपाशवयोगाभ्यास दीक्षिता इति,

---

मा० वि० ४।६ के अनुसार शाङ्कर मार्ग में दीक्षा के विना अधिकार नहीं मिलता । जिन लोगों को दीक्षा दे दी जाती है। वे भी अभ्यास के बल पर जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे लोगों को मृत्यु के उपरान्त मुक्ति अवश्यम्भाविनी है । इसमें सन्देह के लिये अवकाश नहीं है । यहाँ गन्ध तन्मात्र अप्तन्मात्र, तेजतन्मात्र आदि की धारणा से उन लोकों को प्राप्ति की चर्चा की गयी है ।

ग्रन्थकार का कहना है कि जो साधक दीक्षा से वंचित रह जाते हैं, शिवतत्त्व के अभिमान से ग्रस्त होते हैं, वास्तविक बोध से रहित हैं किन्तु उनकी धारणा में प्रौढ़ता है, तो वे उस पाशव योगाभ्यास आदि की धारणा के बल से धरा, अप, तेज वायु और आकाश के उन भुवनों में पहुँचते ही हैं ।

'यो यत्राभिलषेद्भोगान्स तत्रैव नियोजितः ।
सिद्धिभाक् .... ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या धरादिपदाप्तये एव कृतलोकधर्मिसाधकदीक्षा इत्यर्थः । तदाह 'तावत् संस्कारेत्यादि' । तथाविधावतारेष्विति, भूमण्डलगतेष्वमरेशाद्यायतनेषु ॥ २११ ॥

किमत्र प्रमाणमित्याशङ्क्याह

पुनः पुनरिदं चोक्तं श्रीमद्देव्याख्ययामले ॥ २१२ ।

पुनः पुनरिति, प्रत्यष्टकम् । तदुक्तं तत्र

'ये मृता जन्तवस्तत्र ते व्रजन्तीह तत्पदम् ।' इति ।

एतेष्वपि मृताः सम्यग्घित्वा लोकानशेषतः ।

दीप्यमानास्तु गच्छन्ति स्थानेष्वेतेषु ते प्रिये ॥' इति ।।२१२॥

न केवलमेतदत्रैवोक्तं यावदन्यत्रापि,—इत्याह

श्रीकामिकायां कश्मीरवर्णने चोक्तवान्विभुः ।

तद्ग्रन्थमेव पठति

सुरेश्वरीमहाधाम्नि ये म्रियन्ते च तत्पुरे ।। २१३ ।।

कुछ दीक्षित साधक भी जिन्हें परम पद की समोहा नहीं हैं, साथ ही उन-उन धारणाओं का आनन्द लेना चाहते हैं वे भो वहाँ पहुंचते हैं। ऐसे लोग जो अमरेश आदि लोकों में हैं वहाँ से भी मृत्यु के उपरान्त वे भी इन लोकों में आते हैं और क्रमशः शैव महाभाव को प्राप्त कर लेते हैं ॥२०९–२११॥

श्रीदेवीयामल में यह बात बार-बार कही गयी है कि, भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, हे प्रिये ! समस्त लोक लोकान्तरों के भोगों को भोगने के बाद, उन्हें छोड़कर मरने पर दीप्तिमान् होकर उन लोगों में आते हैं। श्री कामिका नामक शास्त्र में भी इसे स्पष्ट किया गया है। आकाश तत्त्व के आवरण के ऊपर और अहंकार आवरण के नीचे तन्मात्रा से लेकर मन के भुवन हैं। भगवान् शिव ने यह भी कहा है कि ब्राह्मण से लेकर वर्ण शंकर पर्यन्त सभी प्राणी रुद्र जातीय ही हैं। ये सभी अपनी धारणाओं के अनुसार मरने पर तदनुरूप लोकों में जाने को विवश हैं। स्वच्छन्द तन्त्र में १०।८९६ से ९३३

ब्राह्मणाद्याः शङ्करान्ताः पशवः स्थावरान्तगाः ।
रुद्रजातय एवैते इत्याह भगवाञ्छिवः ॥ २१४ ॥

आकाशावरणादूर्ध्वमहङ्कारादधः प्रिये ।
तन्मात्रादिमनोऽन्तानां पुराणि शिवशासने ॥ २१५ ॥

शिवशासने इति, उक्तानीति शेषः। तदुक्तम्

आकाशावरणादूर्ध्वमहङ्कारादधः प्रिये ।
भुवनानि प्रवक्ष्यामि ··· ···· ··· ···· ··· ···· ॥'

(स्व० १०।८९५) इति ॥ २१५ ॥

तान्येवाह

पञ्चवर्णयुतं गन्धतन्मात्रमण्डलं महत् ।
आच्छाद्य योजनानेककोटिभिः स्थितमन्तरा ॥ २१६ ॥

एवं रसादिमात्राणां मण्डलानि स्ववर्णतः ।
शर्वो भवः पशुपतिरीशो भीम इति क्रमात् ॥ २१७ ॥

में तन्मात्राओं से मन तक के भुवनों का विशद वर्णन है। श्रीकामिका में ये सन्दर्भ सूक्ष्म रूप से दिये गये हैं। कश्मीर वर्णन प्रसङ्ग में सुरेश्वरी धाम में रहने वालों की गति का निर्देश भी यहाँ हैं ॥२१२-२१५॥

मूल श्लोक २१५ में गन्धतन्मात्र से मन तक के मण्डलों की चर्चा है। उनका क्रमिक वर्णन यहाँ कर रहे हैं।

१– **गन्ध तन्मात्र मण्डल**—५ वर्णों शुक्ल, पीत, श्वेत, रक्त, हरित वर्ण स्फटिक के समान पारदर्शी हैं। परस्पर मेलन में इन्द्रधनुष के समान आकर्षक होते हैं। वितान की तरह सारे आकाश के अन्तर्गर्भ में व्याप्त हैं। इसके विस्तार की सीमा नहीं है। अनेक कोटि विस्तृत कहने से निश्चित संख्या का निरास हो गया है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि एक करोड़ योजन अहंकार के आवरण के अन्तर्गत आने वाले ये तन्मात्र भी उसमें व्याप्ति के कारण उतने ही योजन विस्तृत हैं। शर्व इसके अधिपति हैं। पृथ्वी तत्त्वों की उत्स है क्योंकि यह गन्धवती है।

तन्मात्रेशा यदिच्छातः शब्दाद्याः खादिकारिणः ।
ततः सूर्येन्दुवेदानां मण्डलानि विभुर्महान् ॥ २१८ ॥
उग्रश्चेत्येषु पतयस्तेभ्योऽर्केन्दू सयाजकौ ।
इत्यष्टौ तनवः शंभोर्याः पराः परिकीर्तिताः ॥ २१९ ॥
अपरा ब्रह्मणोऽण्डे ता व्याप्य सर्वं व्यवस्थिताः ।
कल्पे कल्पे प्रसूयन्ते धराद्यास्ताभ्य एव तु ॥ २२० ॥

२—**रस तन्मात्र मण्डल**—हरित, मरकत द्युति, चाष पक्षी की पाँखों की तरह आकर्षक, अधिपति 'भव' हैं इसी से आप्तत्त्व की सृष्टि होती है।

३—**रूपतन्मात्र मण्डल**—उदीयमान दिवाकर के समान मृदुल दीप्ति से देदीप्यमान और पद्मराग मणिप्रभा से भासमान है। पशुपति रुरु देवता हैं। इसी से तेज तत्त्व की निष्पत्ति होतो है।

४ - **स्पर्श तन्मात्र मण्डल**—सन्ध्या की लाली के समान मनोहर है। इसे वायव्य मण्डल भी कहते हैं। ईशान ही अधिपति हैं। इसी से वायु तत्त्व की उत्पत्ति होती है। पाँच प्राणों का स्पन्दन इसी परिवेश में अनुभूत होता है।

५—**शब्द तन्मात्र मण्डल**—नीलोत्पल दल श्यामल, स्वच्छजल समान निर्मल है। भीम अधिपति हैं। यह आकाश तत्त्व का उत्स है इनके ऊपर सर्व-व्यापक सूर्य इन्दु और वेदों के मण्डल हैं। सूर्य के विभु रुद्र हैं। इन्दु के अधिष्ठाता महादेव हैं। वेद मण्डल के अधिष्ठाता उग्र नामक रुद्र हैं। ५ तन्मात्र + ३ सूर्येन्दु-वेद = ८ मण्डल हैं।

ये शम्भु के आठ शरीर हैं। इन्हें शिव का 'पर' शरीर कहते हैं। 'अपर' शरीर ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त हैं। कल्पों-कल्पों में धरा आदि रूपों में वे प्रसूत होते हैं। इसके बाद 'करण मण्डल' है। इनमें पाँच कर्म इन्द्रियाँ वाक् पाणि, पाद, गुदा और मेढ़ हैं। अग्नि, इन्द्र, विष्णु मित्र और ब्रह्मा इनके अधिपति हैं। इसके बाद प्रकाश मण्डल है। इसमें ५ ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। श्रोत्र, त्वक् चक्षु रसना और घ्राण के दिक् विद्युत्, सूर्य, वरुण और भूः ये अधिष्ठाता देवता हैं।

ततो वागादिकर्माक्षयुक्तं करणमण्डलम् ।
अग्नीन्द्रविष्णुमित्राः सब्रह्माणस्तेषु नायकाः ॥ २२१ ॥
प्रकाशमण्डलं तस्माच्छुतं बुद्ध्यक्षपञ्चकम् ।
दिग्विद्युदर्कवरुणभुवः श्रोत्रादिदेवताः ॥ २२२ ॥
प्रकाशमण्डलादूर्ध्वं स्थितं पञ्चार्थमण्डलम् ।
मनोमण्डलमेतस्मात् सोमेनाधिष्ठितं यतः ॥ २२३ ॥
बाह्यदेवेष्वधिष्ठाता साम्यैश्वर्यसुखात्मकः ।
मनोदेवस्ततो दिव्यः सोमो विभुरुदीरितः ॥ २२४ ॥

पञ्चवर्णयुतमिति, तदुक्तम्

'शुक्लपीतसितरक्तहरितं स्फटिकप्रभम् ।
पञ्चवर्णसमायुक्तशक्रचापसमप्रभम् ॥' (स्व० १०।८९७)

इति । 'अन्तराच्छाद्य' इति वितानवदाकाशादि सर्वमन्तर्गर्भीकृत्येत्यर्थः । तदुक्तम्

प्रकाश मण्डल के ऊपर पञ्चार्थ मण्डल है । इसमें शब्द, स्पर्श रूप रस और गन्ध के अर्थ अधिष्ठित हैं । इसके ऊपर मनोमण्डल है । यह सोम से अधिष्ठित हे । मन ही इन अर्थों के आधार पर इन्द्रियों को विषय में प्रवृत्त करता है । सामान्यतया ऐश्वर्य का चमत्कार मन में दृष्टिगोचर होता है । बाह्यदेव रूपी इन्द्रियों को संकल्पात्मक व्यवहार में मनोदेव ही प्रवृत्त करते हैं । इसलिये मन ही अधिष्ठाता अधिपति रूप है । यह दिव्य है और सोम का विभुत्व यहाँ मान्य है ॥ स्व० १०।८९६ से १०।९२५ तक इस विषय का विशद वर्णन है ।

श्लोक २१६ में प्रयुक्त पञ्चवर्ण युत शब्द के प्रमाण में स्व० तन्त्र १०।८९७ का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि,

"शुक्ल, पीत, सित (श्वेत) रक्त (लाल) हरित, स्फटिक के समान दीप्तिमन्त रङ्ग (अभ्रकचूर्ण) ये पाँचों वर्णों से मिश्रित (मिला जुला) इनका रूप है । यह मिश्रित रंग ही इन्द्रचाप (इन्द्रधनुष) का भी होता है ।"

'आदौ तु गन्धतन्मात्रं विस्तीर्णं मण्डलं महत् ।
स्थितं वितानवद्देवि योजनानेककोटयः ॥'

(स्व० १०।८९६) इति ॥

'शर्वो ह्यधिपतिस्तत्र एक एव वरानने ।
तस्मात्तु जायते पृथ्वी शर्वेशेन प्रचोदिता ॥'

(स्व० १०।८९८) इति ।

यदिच्छात इति, अन्यथा कथमेषां जडानां कारणता भवेदिति भावः । एवमिति, गन्धतन्मात्रमण्डलवदिति भावः । तदुक्तम्

'तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं रसतन्मात्रमण्डलम् ।
हरितं मरकतश्यामं चाषपक्षनिभं प्रिये ॥
भवो ह्यधिपतिस्तत्र एक एव वरानने ।
तस्मादापो विनिष्क्रान्ता भवेशेन प्रचोदिताः ॥
तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं रूपतन्मात्रमण्डलम ।
स्फुरत्सूर्यांशुदीप्ताभं पद्मरागसमप्रभम् ॥
रुद्रः पशुपतिस्तत्र एक एवावतिष्ठते ।
तस्मात्तेजो विनिष्क्रान्तं तद्वै पशुपतीच्छया ॥'

(स्व० १०।९०२) इति ।

यहाँ इसी श्लोक में अन्तराच्छाद्य का अर्थ है—जैसे वितान तानने पर उसमें आनेवाला आकाश भी आच्छादित हो जाता है। इसके प्रमाण में भी स्व० तन्त्र १०।८९८ का उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

"हे देवि ! पहले गन्धतन्मात्र का अत्यन्त विस्तार वाला महामण्डल है। अनेक करोड़ योजनों में यह मण्डल वितान की तरह तना हुआ है ।"

मूल श्लोक २१८ में प्रयुक्त शब्द 'यदिच्छातः' के सन्दर्भ में जयरथ का कहना है कि जड़ पदार्थों में क्रियाशीलता नहीं होती। मूल श्लोक में इन्हें आकाश आदि के कर्तृत्व से सम्पन्न माना गया है। यह कर्त्तापन विना पारमेशी इच्छा के सम्भव नहीं है।

जैसे गन्धतन्मात्र मण्डल है । उसी तरह रस-स्पर्शादि मण्डलों का विस्तार भी उनके वर्णों के अनुसार ही नियति नियन्त्रित ढङ्ग से भुवन संस्थान के अन्तर्गत निर्मित हैं। मूल श्लोक २१७ में एवम् प्रमाण रूप स्व० तन्त्र के १०।८९९-९०२ के उद्धरण में कहा गया है कि,

'तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं स्पर्शतन्मात्रमण्डलम् ।
सन्ध्यारुणसमच्छायं............................... ॥'

(स्व० १०।९०४) इति ।

'तत्रैव मण्डले देवि ईशानः संव्यवस्थितः ।
तस्माद्वायुर्विनिष्क्रान्त ईशेच्छाप्रेरितः प्रिये ॥'

(स्व० १०।९०५) इति ।

"गन्धतन्मात्र मण्डल के ऊपर रसतन्मात्र मण्डल है। यह हरित वर्ण का मरकतश्यामल मण्डल 'चाष' पक्षी के सदृश बड़ा सुहावना है। चाष 'नीलकण्ठ' को कहते हैं। विजय दशमी के दिन इसका दर्शन पुण्य दायक माना जाता है। भगवान् भव कहते हैं कि हे प्रिये पार्वति ! इस मण्डल के अधिपति भगवान् भव ही हैं। इसी रस गन्धतन्मात्र से अप् (जल) तत्त्व की निष्पत्ति होती है। इस प्रक्रिया के प्रेरक परमेश्वर शिव ही हैं।

इस रस मण्डल से ऊपर रूपतन्मात्र मण्डल है। उदय कालीन सहस्रांशु की आकर्षक रश्मियों से फूट पड़ने वाली स्वर्णिमरक्तवर्णमयी आभा से भासमान और पद्मराग मणिप्रभा से भास्वर यह रूप तन्मात्र मण्डल बड़ा ही मनोज्ञ है। इसके एक मात्र स्वामी पशुपति भगवान् रुद्र हैं। इन्हीं की इच्छाशक्ति का यह चमत्कार है कि इस रूप तन्मात्र मण्डल में ऐसी भव्य आभा का प्रसार निखिल सृष्टि उल्लास में हो रहा है।" स्व० तन्त्र १०।९०४ में स्पर्श तन्मात्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि,

"इस रूप तन्मात्र मण्डल से ऊपर स्पर्श तन्मात्र मण्डल है। इसकी कान्ति अस्तमन वेला में समुल्लसित सान्ध्य अरुण आभा के समान अतिशय भव्य है। डूबते सूरज के समय सारा आसमान लाल किरणों की लाली से नहा उठता है। जिस निकाई का निखार देखने वालों की आँखों में एक अनोखे पन के साथ खेलता सा लगता है—वैसा ही है आकर्षण इस स्पर्शतन्मात्र मण्डल का है।"

स्व० तन्त्र के १०।९०५ में स्पर्शतन्मात्र मण्डल के अधिपति का उल्लेख है, जो यहाँ उद्धृत है वहाँ लिखा है कि,

"इस मण्डल के अधिपति 'ईशान' हैं। इस तन्मात्र से ही ईशान की इच्छा से प्रेरित होकर वायु रूप महाभूत की सृष्टि हो जाती है।"

'तस्मात्त मण्डलादूर्ध्वं शब्दतन्मात्रमण्डलम् ।
नीलोत्पलदश्यामं स्वच्छोदकसमप्रभम् ॥'

(स्व० १०।९०७) इति ।

'भीमस्तत्राधिपत्येन एक एवावतिष्ठते ।
तस्मान्नभो विनिष्क्रान्तं भीमेच्छाचोदितं महत् ॥

(स्व० १० ९०९) इति ।

'तत' इति तत्तन्मात्रमण्डलमाश्रित्येत्यर्थः । तेन च शब्दतन्मात्रस्योपरितने भागे मण्डलत्रयमेतद्वर्तते, इति । 'विभुः' इति रुद्रः । 'महान्' इति महादेवः । 'तेभ्यः' इति निजनिजरुद्राधिपतिचोदितेभ्यः सूर्यादिमण्डलेभ्यः । यदुक्तम्

'तत ऊर्ध्वं सूर्यसंज्ञं यत्र रुद्रो विभुः स्थितः ।
तत ऊर्ध्वं सोमसंज्ञं महादेवश्च तत्पतिः ॥
उग्रेशाधिष्ठितं तस्मादूर्ध्वं वै वेदमण्डलम् ।
एभ्यः सूर्यस्तथा सोमो यजमानो विनिर्गताः ॥
कल्पे कल्पे ह्यसंख्याताः...................... .... ।' इति ।

शब्द तन्मात्र मण्डल के सम्बन्ध में स्व० तन्त्र १०।९०७ का उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

"इस स्पर्शतन्मात्र मण्डल से ऊपर शब्द तन्मात्र मण्डल है । नील कमल पत्र की कान्ति के समान आकर्षक सलोनापन इस मण्डल में सर्वत्र व्याप्त है । साफ पानी में जो स्वाभाविक चमक होती है उसी प्रकार की चिकनाई भरी कान्ति इस मण्डल की विशेषता है स्व० तन्त्र १०।९०९ के अनुसार इस मण्डल के अधिपति भगवान् 'भीम' हैं । इनकी इच्छा से प्रेरित होकर ही शब्द तन्मात्र से आकाश का प्रजनन हो जाता है ।"

मूल श्लोक २१८ में प्रयुक्त 'ततः' शब्द का भाव यह है कि इन तन्मात्र मण्डलों के ऊपर सूर्य, इन्दु और वेद के तीन मण्डल और भी हैं । स्व० तन्त्र में १०।९१० से ९१९ तक इन तीनों का वर्णन है । यहाँ पर जयरथ ने जो उद्धरण दिया है, उसका परिचय नहीं दिया है । इसके अनुसार,

"इन मण्डलों के ऊपर सूर्य मण्डल है । उसके अधिपति विभु-रुद्र हैं । इस के ऊपर सोम मण्डल है । महादेव इसके स्वामो हैं । इसके ऊपर वेद मण्डल है । इसके अधिपति उग्रेश हैं । इन्हीं मण्डलों से परमेश्वर की इच्छा से क्रमशः सूर्य, सोम और यजमानों की उत्पत्ति हाती है ।"

'परा' इति तन्मात्रादीनां सूक्ष्मरूपत्वात्। 'ताभ्य' इति पराभ्यस्तनुभ्यः। 'तत' इति तन्मात्रभ्योऽनन्तरं' करणमण्डलम्' इति, तत्तच्छब्दोदीरणादिव्यापारात्मकत्वात् करणप्रधानं पञ्चानां तत्त्वानां मण्डलं समूह इत्यर्थः। तच्च वागादिभिः कर्मेन्द्रियैः संबद्धं न तु बुद्धीन्द्रियैरित्युक्तं 'वागादिकर्माक्षयुक्तम्' इति। तदुक्तम्

'एभ्यः परतरं चापि मण्डलं करणात्मकम्।' (स्व० १०।९१९)

इत्युपक्रम्य

'कर्मदेवाः प्रवर्तन्ते तस्माद्वै सर्वदेहिनाम्।
वाक्पाणिपादपायुश्च उपस्थश्चेति पञ्चमः॥'

(स्व० १०।९२१) इति।

'तेषु' इति वागादिषु पञ्चसु तत्त्वेषु। तेन वाक्तत्त्वे वह्निर्नायको यावदुपस्थतत्त्वे ब्रह्मा। तदुक्तम्

'कर्मेन्द्रियाणां पतयो वह्नीन्द्रहरिवेधसः।
मित्रश्च..॥' इति।

तस्मात्करणमण्डलदूर्ध्वं तत्तच्छब्दाद्यर्थप्रकाशत्वात् प्रकाशप्रधानं तत्त्वानां मण्डलं बुद्ध्यक्षपञ्चकं 'श्रुतं' तत्त्वेन विख्यातमित्यर्थः। तदुक्तम्

तेभ्यः प्रकाशकं नाम परितः सूर्यसन्निभम्।
तस्माद्वै संप्रवर्तन्ते पञ्च बुद्धीन्द्रियेषु ते॥
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका च यथाक्रमम्।'

(स्व० १०।९२३) इति।

मूल श्लोक २२१ में करण मण्डल की चर्चा है। स्व० तन्त्र १०।९१९-९२१ में इसका वर्णन है। वह इस प्रकार है—

"तन्मात्र मण्डलों से उनके ऊपर तीन मण्डलों के रहते हुए भी इन्द्रियों के मण्डलों की उत्पत्ति होती है। इनसे कर्म देव प्रवर्तित होते हैं। इन देवों से सभी प्राणधारियों में वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।"

"इन कर्मेन्द्रियों के क्रमशः अग्नि, इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा और मित्र ही अधिपति देव हैं"

श्रोत्रादीति, तेन श्रोत्रे दिशां देवतात्वं यावद्घ्राणे पृथिव्या इति। तदुक्तम्

'घ्राणादिश्रोत्रपर्यन्ता पृथिवी च अपां पतिः।
रविर्विद्युद्दिशो ह्येवं स्थिता बुद्धीन्द्रियेषु ते ॥' इति।

प्रकाशमण्डलादूर्ध्वमिति, मनस्तत्त्वे तत्रैव पञ्चानामपि शब्दादीनामर्थानामव-स्थानमुचितं, यत्तद्विषयत्वेनैव मनस्तानि तानीन्द्रियाणि प्रवर्तयतीति। तदत्रैषां परेण रूपेणैतद्भुवनमिति भावः। यदुक्तम्

'एभ्यः परतरं चास्ति चन्द्रमण्डलसन्निभम्।
विस्तारात्परिणाहाच्च सर्वतो रश्मिमण्डलम्।
तस्माद्धि संप्रवर्तन्ते पञ्चार्थाः सर्वदेहिनाम् ॥'

(स्व० तन्त्र १०।९२५) इति।

मनोमण्डलमिति, मनसः प्रधानं भुवनमित्यर्थः। एतस्मादिति प्रकाश-मण्डलादप्यूर्ध्वम्। अत्र च सोमस्याधिष्ठातृत्वे किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह 'यतः' इत्यादि। यतः साम्येनाविशेषेण सर्वेन्द्रियाणां तत्तद्विषयौन्मुख्येन प्रवर्तकत्वात्मकं यत् 'ऐश्वर्यसुखं' स्वातन्त्र्यचमत्कारस्तदात्मकः संस्तत्तत्स-ङ्कल्पात्मव्यवहाररूपत्वात् मन एव देवो 'बाह्यदेवेषु' बहीरूपतया द्योतमानेषु बुद्धीन्द्रियादिष्वधिष्ठाता, ततोऽस्य 'दिव्यः' सर्वदेवानामाप्यायकारितया दिवे हितः सोमो विभुरुक्त इत्यर्थः॥ २२४ ॥

"इसके शब्दादि अर्थों के प्रकाशक प्रकाश प्रधान ज्ञानेन्द्रियों की रचना हो जाती है। ये इन्द्रियाँ सूर्य को तरह तत्त्वों को प्रकाश में ले आने का काम करतो हैं। इनके नाम श्रोत्र, त्वक्, आँखें, जीभ और नासिका हैं। स्व० तन्त्र १०।९२३ से इसका समर्थन किया गया है। इनमें घ्राण की देवता पृथ्वी है। रसना के देव श्रो वरुण, चक्षु के सूर्य, त्वक् की देवता विद्युत् और श्रोत्र की देवता दिशायें हैं।"

प्रकाश मण्डल रूप ज्ञानेन्द्रियों के उपरान्त पञ्चार्थ मण्डल की चर्चा है। इनके माध्यम से मन इन्द्रियों को विषयों में विनियोजित करता है। स्व० तन्त्र १०।९२५ में कहा गया है कि,

"इन सभी मण्डलों से उत्कृष्ट विस्तार में और रूप में भी चन्द्र मण्डल सदृश मनोमण्डल है। इसी से सभी प्राणियों को विषय प्रवृत्ति होती है।" विषय के आलोचन को ही वृत्ति कहते हैं। कहा गया है कि "विषयालोचनं वृत्तिः। मनोमण्डल के देवता स्वयं विभु सोम हैं ॥२१६-२२४॥

ततोऽपि सकलाक्षाणां योनेर्बुद्ध्यक्षजन्मनः ।
स्थूलादिच्छगलान्ताष्टयुक्तं चाहंकृतेः पुरम् ॥ २२५ ॥
बुद्धितत्त्वं ततो देवयोन्यष्टकपुराधिपम् ।
पैशाचप्रभृतिब्राह्मपर्यन्तं तच्च कीर्तितम् ॥ २२६ ॥
एतानि देवयोनीनां स्थानान्येव पुराण्यतः ।
अवतीर्यात्मजन्मानं ध्यायन्तः संभवन्ति ते ॥ २२७ ॥

'ततोऽपि' इति मनसोऽप्यनन्तरम् । 'अहङ्कृतेः' इति अहङ्कारस्य । ननु किमिति नामास्य मनस ऊर्ध्वं बुद्धेश्चाधोऽवस्थानम् ? इत्याशङ्क्योक्तं 'सकलाक्षाणां योनेर्बुद्ध्यक्षजन्मनः' इति । 'स्थूल' इति स्थूलेश्वरः । 'छगल' इति छगलाण्डः । तदुक्तम्

'स्थूलस्थलेश्वरौ शङ्कुकर्णकालञ्जरावपि ।
मण्डलेश्वरमाकोटदुरण्डच्छगलाण्डकाः ॥'

(मा०वि० ५।२१) इति ।

श्रीस्वच्छन्दे च

'छगलाण्डं दुरदण्डं च माकोटं मण्डलेश्वरम् ।
कालञ्जरं शङ्कुकर्णं स्थूलेश्वरस्थलेश्वरौ ॥
स्थाण्वष्टकं समाख्यातं ....।'

(स्व० १०।८८१) इति ।

देवयोन्यष्टकमेव 'पुराधिपं' भुवनेश्वरं यत्र तत्तथा 'तत' इति देवयोन्यष्टकम् । तदुक्तम्

आकाश आवरण के बाहर 'अहंकार मण्डल' है । यह सबको व्याप्त कर स्थित रहने वाला तत्त्व है । तन्मात्र और इन्द्रियात्मक षोडश विकार इसी आवरण में हैं । यहाँ के रुद्रों के नाम—१—छगलाण्ड, २—दुरण्ड, ३—माकोट, मण्डलेश्वर, कालञ्जर, शङ्कुकर्ण, स्थूलेश्वर और स्थलेश्वर है । इन्हें स्थाण्वष्टक भी कहते हैं । ये पूर्व से लेकर ईशान कोण तक के अधीश्वर रुद्र हैं । इनके मध्य में अहंकारेश्वर भगवान रुद्र अधिष्ठित हैं । मा० वि० ५।२१ में स्थूल से छगलाण्ड का क्रम है । यही क्रम यहाँ गृहीत है । स्व० १०।८८९ में छगलाण्ड से स्थलेश्वर का क्रम है । अहङ्कार ही कर्म और ज्ञानेन्द्रियों का उत्स है ।

'पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वं त्वैन्द्रमेव च।
सौम्यं तथा च प्राजेशं ब्राह्ममष्टममुच्यते ॥'

(मा०वि० ५।२३) इति।

एतान्येव बुद्धिगतानि ककुभादीनि पुराणि आसां देवयोनीनां 'स्थानानि' मुख्यानि अवस्थितेर्धामानीत्यर्थः। अधः पञ्चाष्टकादिरूपतयावस्थितानां पुनरासाममुख्यानि भुवनानीति भावः। 'अवतीर्य' इत्यर्थादधो ब्रह्माण्डादौ, 'संभवन्ति' इति पुनः पुनः सृष्टिमासादयन्तीत्यर्थः ॥ २२७ ॥

परमेशनियोगाच्च चोद्यमानाश्च मायया।
नियामिता नियत्या च ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ॥ २२८ ॥
व्यज्यन्ते तेन सर्गादौ नामरूपैरनेकधा।

ब्रह्मणः सर्गादौ 'व्यज्यन्ते' तथा तथा स्थूलेन रूपेण व्यक्तीभवन्तीऽत्यर्थः। अनेकधेति; तारतम्यादिभेदात् ॥ २२८ ॥

न चैवमपि आसां बुद्धाववस्थितेभ्यो भुवनेभ्यः प्रच्यावः,—इत्याह

स्वांशेनैव महात्मानो न त्यजन्ति स्वकेतनम् ॥ २२९ ॥

इस आवरण मण्डल के बाद बुद्धि मण्डल है। यहीं आठ देव योनियों के भी भुवन हैं। मा० वि ५।२३ के अनुसार इनके नाम पैशाच, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, ऐन्द्र, सौम्य, प्राजेश और ब्राह्म हैं। ये इन योनियों के प्रधान भुवन हैं। स्वनन्द विक्रात, कराल, सुभद्र, सुरूप, महेन्द्र, अमृत, प्रजेश विश्वरूप और पितामह इन आठों भुवनों के भुवनेश्वर हैं। इनका वर्णन स्वच्छन्द तन्त्र के १०।९३८ से ९६९ तक के श्लोकों में विशद रूप से किया गया है ॥२२५-२२७॥

परमेश्वर शिव के नियोग और नियति नियन्त्रित ये सभी माया के द्वारा प्रेरित होकर ब्रह्मा के द्वारा सर्ग के आदिम प्रवर्तन के समय अनेक नामों और रूपों में स्थूलतया व्यक्त होते हैं। स्व० १०।९३४ से ९७४ तक इस विषय का स्पष्टीकरण है ॥ २२८ ॥

फिर भी इन देवयोनियों का अपने निकेत से प्रच्याव नहीं होता क्योंकि ये अपने अंश रूप से अन्यत्र व्यक्त होती हैं। यह रहस्य आचार्य प्रवर वृहस्पति ने अपने शिवतनु नामक ग्रन्थ में व्यक्त किया है। वे इसके तत्त्व द्रष्टा अधिकारी

एवच्च बृहस्पतिपादैरेवं स्वग्रन्थे व्याकृतमित्याह

उक्तं च शिवतनाविदमधिकारपदस्थितेन गुरुणा नः ।
अष्टानां देवानां शक्त्याविर्भावयोनयोह्येताः ॥ २३० ॥

'देवानां' पिशाचादीनाम् 'आविर्भावो' व्यक्तिस्तेन शक्तिव्यक्तिरूपाद् विविधा योनय इत्यर्थः। तत्र बुद्धौ शक्त्यात्मना आसामवस्थितिरधस्तु व्यक्त्यात्मनेति ॥ २३० ॥

तदाह

तनुभोगाः पुनरेषामधः प्रभूतात्मकाः प्रोक्ताः ।

'प्रभूतात्मकाः' स्थूलरूपाः ॥

तदेव दर्शयति

चत्वारिंशत्तुल्योपभोगदेशाधिकानि भुवनानि ॥ २३१ ॥

चत्वारिंशदिति, लकुल्यादिभेदात् ॥ २३१ ॥

ननु यद्येषां तुल्योपभोगादित्वमस्ति तत्कथं गुह्याश्रकाद्यष्टकपञ्चकतया भेदः ? इत्याशङ्क्याह

विज्ञवर्य गुरु हैं। उनके अनुसार यह सारी अभिव्यक्ति शक्ति प्रेरित है। बुद्धि में शक्तिरूप और अधः तत्त्वों में व्यक्तिरूप इनकी स्थिति मानी जाती है। यहाँ देव शब्द से पिशाच आदि योनियों की गणना भी की जाती है। आविर्भाव का अर्थ भी शक्ति और व्यक्तिरूप योनियों में उत्पन्न होने से है ॥ २२९-२३० ॥

अधो लोकों में इनकी अभिव्यक्ति शरीर भोगवाद पर आधारित है। अपने सूक्ष्म जगत् से ये योनियाँ स्थूल रूप में अभिव्यक्त होती है। इनके लगभग चालिस भुवनों में यह तनुभोगवाद की क्रिया परिचालित होती है। साधन भेद के आधार पर केवल पञ्चाष्टक भुवन का ही शास्त्रों में उल्लेख है। भुवनों का शोध करते-करते जब साधक तन्मात्राओं के आगे मन का, मन से आगे अहंकार और पुनः बुद्धि का शोधन करता है तो उसे पहले इस पुर्यष्टक का बोध होता है। इसमें आत्मा बाह्य कर्मेन्द्रियों के साथ रहता है। शेष चार अष्टकों, जल से व्योम तत्त्व पर्यन्त शर्वादि अष्ट मूर्ति, स्थाण्वष्टक, देवयोन्यष्टक

साधनभेदात्केवलमष्टकपञ्चकतयोक्तानि ।

साधनभेदमेवाह

एतानि भक्तियोगप्राणत्यागादिगम्यानि ॥ २३२ ॥

तेषूमापतिरेव प्रभुः स्वतन्त्रेन्द्रियो विकरणात्मा ।

तरतमयोगेन ततोऽपि देवयोन्यष्टकं लक्ष्यं तु ॥ २३३ ॥

प्राणत्याग एतत्क्षेत्रादौ, आदिशब्दाल्लोकधर्मिसाधकदीक्षादि। एषां चैवं व्यक्तीभावः किं स्वयमुत कस्यापि अधिष्ठानेन ? इत्याशङ्क्याह 'तेष्वित्यादि' पिशाचादिषु। स्वतन्त्रेन्द्रियत्वादेव 'विकरणात्मा' स्वेच्छाधीनेन्द्रियवृत्तिरित्यर्थः। तदुक्तं तत्रैव

'**इच्छाधीनानि पुर्नविकरणसंज्ञानि** ।' इति ।

नन्वासामविशेषेणैव किं सर्वत्रावस्थानं न वा ? इत्याशङ्क्याह 'तरतमेत्यादि'। 'तत' इति वृद्धेः। अपिर्भिन्नक्रमः, तेन अष्टावपीति योज्यम् ॥ २३३ ॥

और क्रोधेश्वराष्टक का संशोधन आवश्यक है। यही पञ्चाष्टक योजना है। भक्ति से विभोर साधक उसी अनन्य भावना के आवेश में प्राण त्याग करता है और उन दैवी धारणाओं से उन लोकों में पहुंचता है। 'शिवतनु' शास्त्र की मान्यता के अनुसार उमापति महादेव ही कारण प्रभु रूप से समर्थ होते हैं। अपनी स्वात्म विकास की ऊर्जा से प्रभावित साधक स्वतन्त्र प्रयोग प्रक्रिया, साधना या उपासना से इन स्थानों को प्राप्त करता है। उस अवस्था में वह करणों (इन्द्रियों) से अतीत स्थिति प्राप्त कर लेता है। अर्थात् इन्द्रियातीत अनुभूतियों में रमण करने लगता है। शिवतनु शास्त्र में इसे "स्वेच्छाधीन इन्द्रियवृत्ति" का परिणाम मानते हैं। परिणामतः कभी एक स्थिति से कुछ अच्छी दूसरी स्थिति (तर) और फिर सर्वोत्तम 'तमप्' की स्थिति प्राप्त करता है। सब तरह विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि देवयोनियों के इन अष्टकों को लक्ष्य कर बहुत सारे साधनों का उपयोग अतीत में आगमिक लोग करते रहे हैं ॥ २३१-२३३ ॥

न केवलमासामेव तरतमभावो यावदक्षाणामपि, इत्याह

लोकानामक्षाणि च विषयपरिच्छित्तिकरणानि ।

पिशाचादयो हि व्यवहितमपि चक्षुषा पश्यन्तीत्याशयः ।

न केवलमासां प्रतितत्त्वमेव तरतमभावो यावदन्योन्यमपीत्याह

गन्धादेर्महदन्तादेकाधिक्येन जातमैश्वर्यम् ॥ २३४ ॥
अणिमाद्यात्मकमस्मिन्पैशाचाद्ये विरिञ्चान्ते ।

गन्धशब्देनात्र पृथ्व्या अभिधानं, कार्यकारणयोरभेदोपचारात् । एकाधिक्येन इति, तत्पैशाचे यादृशमैश्वर्यं ततोऽपि द्विगुणं राक्षसे, यावद्ब्राह्मेऽष्टगुणमित्यर्थः ॥ २३४ ॥

अत एव च दीक्षायामेतच्छुद्धौ यतितव्यमित्याह

ज्ञात्वैव शोधयेद्बुद्धिं सार्धं पुर्यष्टकेन्द्रियैः ॥ २३५ ॥

एवमिति, बुद्धेरेवेदं निखिलं जगद्विजृम्भितम्, – इत्यत एवोक्तं 'पुर्यष्टकेन्द्रियैः सार्धम्' इति ॥ २३५ ॥

केवल इन योनियों में ही तरप् तमप् भाव नहीं होते वरन् इन्द्रियों में भी होते हैं । जैसे मानव की चर्म चक्षु व्यवहित वस्तुओं को नहीं देख पाती, किन्तु पिशाच व्यवहित वस्तुओं को भी देख लेते हैं । यही बात इन्द्रियों में भी दृष्टिगोचर होती हैं । गन्ध से लेकर महान तक की सारी सृष्टि में यह वैशिष्ट्य है । पृथ्वी के जीवों से अधिक बल यदि पिशाच में है तो पिशाचों से अधिक राक्षसों और राक्षसों से भी अधिक यक्षों आदि में शक्त्याधिक्य है । अणिमा महिमा आदि सिद्धियाँ भी उन्हें अनायास उपलब्ध हैं । बाह्य सृष्टि में अष्टागुणित (आठगुनी) अधिक शक्ति होती है । इन सब बातों का ज्ञान हो जाने पर साधना में निष्ठा आती है । पुर्यष्टक और इन्द्रियों द्वारा इनका शोधन सरल हो जाता है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सारा जगत् बुद्धि का विलास है और इसमें उत्तरोत्तर विकास भी स्वाभाविक है । अतः साधक का कर्त्तव्य है कि वह अनवरत अपनी इन्द्रियों, पुर्यष्टकों और बुद्धि के विकास में संलग्न रहे । ॥ २३४–२३५ ॥

न केवलमत्र देवयोन्यष्टकमेवास्ति यावदन्यदपि, इत्याह

क्रोधेशाष्टकमानोलं संवर्ताद्यं ततो विदुः ।
तेजोष्टकं बलाध्यक्षप्रभृतिक्रोधनाष्टकात् ॥ २३६ ॥
अक्रूतादि ततो बुद्धौ योगाष्टकमुदाहृतम् ।
स्वच्छन्दशासने तत्तु मूले श्रीपूर्वशासने ॥ २३७ ॥
योगाष्टकपदे यत्तु सोमे श्रैकण्ठमेव च ।
ततो मायापुरं भूयः श्रीकण्ठस्य च कथ्यते ॥ २३८ ॥
तेन द्वितीयं भुवनं तयोः प्रत्येकमुच्यते ।
यत्र मायापुरं देव्या यया विश्वमधिष्ठितम् ॥ २३९ ॥
प्रतिकल्पं नामभेदैर्भण्यते सा महेश्वरी ।
उमापतेः पुरं पश्चान्मातृभिः परिवारितम् ॥ २४० ॥
श्रीकण्ठ एव परया मूर्त्योमापतिरुच्यते ।

'आनीलम्' इति नीलोत्पलाभम् । तदुक्तम्

'संवर्तस्त्वेकवीरश्च कृतान्तो जननाशनः ।
मृत्युहर्ता च रक्ताक्षो महाक्रोधश्च दुर्जयः ॥
नीलोत्पलदलाभानि तेषां वै भुवनानि तु ।' (स्व०१०।९७६)इति ।

क्रोधनाष्टकादिति, तदूर्ध्वमित्यर्थः । तदुक्तम्

क्रोधेश्वराष्टकादूर्ध्वं स्थितं तेजोऽष्टकं महत् ।
बलाध्यक्षो गणाध्यक्षस्त्रिदशस्त्रिपुरान्तकः ॥
सर्वरूपश्च शान्तश्च निमेषोन्मेष एव च ।' (स्व०१०।९७८) इति ।

इन देवयोन्यष्टकों के अतिरिक्त क्रोधेश्वराष्टक आदि ऐसे अष्टक हैं जिनका शोधन साधक के लिए आवश्यक है । ये भी बुद्धितत्त्व के अन्तर्गत हैं। स्व० तन्त्र १०।९७६ के अनुसार यह स्पष्ट है कि,

"संवर्त्त, एकवीर, कृतान्त, जननाशक, मृत्युहन्ता, रक्ताक्ष, महाक्रोध और दुर्जय ये क्रोधेश्वराष्टक हैं।" रुरु संग्रह में इनके दूसरे नाम भी दिये गये हैं । स्व० तन्त्र १०।९७८ में स्पष्ट किया गया है कि,

'तत' तेजोष्टकादनन्तरम् । तदुक्तम्

अकृतं च कृतं चैव वैभवं ब्राह्ममेव च ।
वैष्णवं त्वथ कौमारमौमं श्रैकण्ठमेव च ।। (स्व०१०।९८१ इति ।

तुशब्दो व्यतिरेके 'मूल' इति प्रकृतौ । यदुक्तं तत्र

'योगाष्टकं प्रधानं च .... ।'

'योगाष्टकपद' इत्यपरेण रूपेणोक्तं, भूय इति परेण रूपेण, तयोरिति उमापति-श्रीकण्ठयोः, तत्रेति द्वयनिर्धारणे । पुरमिति, अर्थाद् द्वितीयम् । एवं विश्वाधिष्ठाने हेतुर्भण्यते 'सा महेश्वरी' इति । तदुक्तम्

'ततः साक्षाद्भगवती जगन्माता व्यवस्थिता ।
उमा त्वमेया विश्वस्य विश्वयोनिः स्वयंभवा ।।

(स्व० १०।९८३) इत्यादि ।

"क्रोधेश्वराष्टक के ऊपर तेजोष्टक नामक बड़ा विशाल भुवन है । बलाध्यक्ष, गणाध्यक्ष, त्रिदश, त्रिपुरान्तक, सर्वरूप, शान्त, निमेष और उन्मेष ये आठ भुवन हैं । इन्हें अग्निरुद्र भी कहते हैं ।" स्व० तन्त्र १०।९८१ के अनुसार,

इसके ऊपर योगाष्टक का क्षेत्र है । अकृत, कृत, रैभव ब्रह्म, वैष्णव, कौमार, औम और श्रैकण्ठ ये आठ योगाष्टक कहलाते हैं ।" मा० वि० तन्त्र के अनुसार ये आठों प्रधान तत्त्व के ही अधीन हैं । स्व० तन्त्र के अनुसार और श्री पूर्वशास्त्र के अनुसार भी ये दोनों प्रधान के ही अधीन हैं ।

योगाष्टक [1]पद श्रीकण्ठ के उस रूप के साथ भी प्रयुक्त होता है, जब वे रुद्रलोक में ज्योतिष्क शिखर पर भगवती उमा के साथ शर्व आदि से आवृत रहकर अपने सूक्ष्म अस्तित्व में विराजमान रहते हैं । सोमे से 'उपचार सहिते' योगाष्टकपदे का अर्थ ही यहाँ अभिप्रेत है । वही ज्योतिष्क शिखर पर श्रैकण्ठ रूप आठ शरीरों में भी विराजमान है । माहेश्वर योगी उस लोक के अधिकारी हैं । आठ सृष्टियों से संवलित एक सोम शरीर भी होता है ।

---

१. स्व० तन्त्र ।।१०।१०३२–३३।।

'कल्पे पूर्वे जगन्माता जगद्योनिर्द्वितीयके ।
तृतीये शाम्भवी नाम चतुर्थे विश्वरूपिणी ॥
(स्व० १०।९९२) इत्यादि ।

मध्ये

'कात्यायनीति दुर्गेति विविधैर्नामपर्ययैः ।
मानुषाणां तु भक्तानां वरदा भक्तवत्सला ॥
पूर्वमेवावतीर्णासि विन्ध्यपर्वतमूर्धनि ।'
(स्व० १०।१००३) इत्यन्तम् ।

'पश्चात्' इत्युमापुरानन्तरम् । ननु श्रीकण्ठस्य 'भूयः पुरं कथ्यते' इत्युपक्रम्य कथमुमापतेरित्युक्तम् ? इत्याशङ्कयाह 'श्रीकण्ठ एव' इत्यादि ॥२४०॥

कास्ता मातरः ? इत्याशङ्कयाह

ब्राह्म्यैशी स्कन्दजा हारी वाराह्यैन्द्री
सविच्चका [चर्चिका] ॥ २४१ ॥

पीता शुक्ला पीतनीले नीला शुक्लारुणा क्रमात् ।
अग्नीशसौम्ययाम्याप्यपूर्वनैर्ऋतगास्तु ताः ॥ २४२ ॥
अंशेन मानुषे लोके धात्रा ता ह्यवतारिताः ।

इसके बाद श्रीकण्ठ से अधिष्ठित माया भुवन है। यह उमापति और श्रीकण्ठ प्रत्येक के अधिकार से द्विधा गृहीत होता है। स्व० १०।९८३ के अनुसार "साक्षात् जगन्माता उमा यहाँ अपने अमेय स्वयं भू स्वातन्त्र्य भाव से विराजमान रहती हैं"। स्व० तन्त्र १०।९९२ के श्लोकों से स्पष्ट है कि,

"कल्पों के अनुसार इसके नामों में अन्तर हो जाया करता है। किसी कल्प में जगन्माता, किसी में 'जगद्योनि' किसी में 'शाम्भवी' और विश्वरूपिणी नामों से विश्रुत होती हैं।" मायापुर उमापुर हो है। उमापति ही श्रीकण्ठ हैं। इनका पुर अलग है। वही श्रैकण्ठपुर है। उमापुर देवियों से समावृत पृथग् महत्त्वपूर्ण भुवन है। इसमें अग्निकोण में ब्राह्मी ईशान में माहेश्वरी, (ऐशी) उत्तर में कौमारी (स्कन्दजा) दक्षिण में वैष्णवी (हारी) वारुणी में वाराही, पूर्व में इन्द्राणी, निऋति में चामुण्डा (चर्चिका) नामक सात

तदुक्तम्

'ब्राह्मी कमलपत्राभा दिव्याभरणभूषिता ।
आग्नेय्यां दिशि··· ··· ··· ··· ······ ··· ··· ॥'

(स्व० १०।१०१७) इति ।

'शंखगोक्षीरसकाशा त्वैशान्यां तु वरानने ।
माहेश्वरी ···· ····· ··· ···· ····· ··· ··· ····· ···· ॥'

(स्व० १०।१०१८) इति ।

'कौमारी पद्मगर्भाभा हारकेयूरभूषिता ।
दिश्युत्तरस्यां ····· ····· ····· ····· ··· ···· ····· ····· ॥'

(स्व० १०।१०१९) इति ।

'स्निग्धनीलोत्पलनिभा हारकुण्डलमण्डिता ।
दक्षिणस्यां दिशि तु सा उपास्ते परमेश्वरम् ॥
वैष्णवीति च विख्याता ····· ··· ····· ··· ··· ।'

(स्व० १०।१०२०) इति ।

मातायें समन्तात् पर्यवस्थित हैं । पोत, शुक्ल पीत, नोल, नोल शुक्ल, गौरवर्ण को देवियाँ निर्धारित दिशाओं में विराजती हैं । युगानुसार ब्रह्माअंशावतार रूप से इन्हें मनुष्य लोग में अवतरित होने की व्यवस्था करते हैं ।

स्व० तन्त्र १०।१०१७ के अनुसार 'ब्राह्मी' शक्ति रक्त कमल किसलय सुकुमार है । उसकी आभा का आरुण्य अत्यन्त आकर्षक है । वह दिव्य आभरणों से शाश्वत आभूषित है । पृथ्वी से अग्निकोण पर उसका आवास है ।"

स्व० तन्त्र १०।१०१८ के अनुसार "महेश्वर की शक्ति जिसे माहेश्वरी कहते हैं, यह ईशान कोण में विराजमान है । वह शङ्ख और गोदुग्ध के समान श्वेताभ सौन्दर्य की अधीश्वरी है" ।

स्व० तन्त्र १०।१०२० के अनुसार "वैष्णवी शक्ति नाम रूप से प्रसिद्ध विष्णु तत्त्व की शक्ति वैष्णवी कहलाती है । यह अत्यन्त चिकने और स्नेहतत्त्व समन्वित नील उत्पल के लालित्य से पुलकित देवी है । इसका निवास दक्षिण दिशा में है । वहाँ वह शाश्वत परमेश्वर की उपासना में संलग्न है ।"

'नीलजीमूतसंकाशा सर्वाभरणभूषिता ।
वारुण्यां दिशि वाराही ... . ॥'
(स्व० १०।१०२१) इति ।

'शङ्खकुन्देन्दुधवला हारकुण्डलमण्डिता ।
ऐन्द्रयां दिशि तु चैन्द्राणी .... ॥'
(स्व० १०।१०२२) इति ।

'करालवदना दीप्ता सर्वाभरणभूषिता ।
नैर्ऋत्यां दिशि चामुण्डा .... ॥'
(स्व० १०।१०२३) इति च ।

अंशेनेति, न तु सर्वसर्विकया । तदुक्तम्

स्व० तन्त्र १०।१०२१ के अनुसार "वराह भगवान् की शक्ति वाराही देवी वरुण के नाम से प्रसिद्ध वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा में विराजमान हैं। नीले गभुआरे बादल में जो आकर्षण भरी रमणीयता होती है, वैसा ही सौन्दर्य इस नीलवर्ण देवरमणी में है। जितने आभरण इन्हें प्रिय हैं—उन सभी आभूषणों से ये भूषित हैं।"

स्व० तन्त्र १०।१०२२ के अनुसार इन्द्राणी वर्णन प्रसङ्ग में कहा गया है कि "एक ऐसी देवी जिसका धवल सौन्दर्य, शङ्ख, कुन्द इन्दु की धवलिमा को भी अतिक्रान्त करता रहता है—उसका नाम 'इन्द्राणी' है। यह पूर्व दिशाकी अधीश्वरी है। हार से इसका हृदय देश देदीप्यमान है। उसके कान कुण्डलों की कमनीयता से सौन्दर्य के प्रतीक लगते हैं।

स्व० तन्त्र १०।१०२३ के अनुसार "अत्यन्त विकराल बदन वाली, अत्यन्त देदीप्यमान और समस्त शृङ्गार साधक आभूषणों से सुशोभित देवी चामुण्डा नैऋत्य दिग्विभाग में भासमान हैं।

मूल श्लोक २४२ के नीचे वाली २४३वें श्लोक की अर्धाली में प्रयुक्त 'अंशेन' शब्द यह सिद्ध करता है कि ये देवियाँ विश्वविधाता के द्वारा अवतार के लिए प्रेरित की जाती हैं। ये जहाँ भी अवतरित होती हैं, सर्व सर्विकया नहीं अपितु अंशमात्र से ही उत्पन्न होती हैं। स्व० तन्त्र १०।१०।२५ में लिखा हुआ है कि,

'न त्यजन्ति हिता देवं सर्वभावसमन्वितम् ।
अंशेन मानुषं लोकं ब्रह्मणा चावतारिताः ॥
असुराणां वधार्थाय मानुषाणां हिताय च ।'
(स्व० १०।१०२५) इति ॥ २४२ ॥

न चेयदन्तमेवासां व्याप्तिरित्याह

स्वच्छन्दास्ताःपराश्चान्याः परे व्योम्नि व्यवस्थिताः ॥ २४३ ॥
स्वच्छन्दं ता निषेवन्ते सप्तधेयमुमा यतः ।

'परे व्योम्नि' इति उन्मनाधाम्नि । 'उमा' इति परशिवाभिन्ना परा पारमेश्वरी शक्तिः । तदुक्तम्

'स्वच्छन्दाश्च पराश्चान्याः परे व्योम्नि व्यवस्थिताः ।
स्वच्छन्दं पर्युपासीनाः परापरविभागतः ॥
उमा वै सप्तधा भूत्वा नामरूपविपर्ययैः ।'
(स्व १०।१०२७) इति ॥ २४३ ॥

"वे शक्ति देवियाँ सर्वभाव समन्वित स्वामीरूप परमेश्वर का सर्वथा परित्याग नहीं कर पातीं । ब्रह्मा के द्वारा वे मनुष्य लोक में अंशरूप से ही अवतरित होती हैं । ये असुरों के वध के उद्देश्य से जन्म लेती हैं। उनके अवतरण का दूसरा उद्देश्य मनुष्यों का कल्याण है । इनसे हमेशा जन-जन का हित सम्पादित होता है" ॥ २३६–२४२ ॥

योग की भाषा में परम व्योम उन्मना धाम को कहते हैं । वहाँ के दिव्य स्पन्दनोदरसुन्दर चक्र में उमा देवी पराशक्ति रूपा परशिवाऽभिन्ना पारमेश्वरी शक्ति का उल्लास होता है । यही सात रूपों में साधकों द्वारा उपास्य होती है ।

ये सातों रूप उसके अन्य रूप हैं । इनमें ही विभक्त होकर उमादेवी परम व्योम में व्याप्त हैं । खगाल की दृष्टि से परम व्योम पूरा शैवाण्ड है । यह परामृत बीज के चतुर्दश धाम से भी ऊपर है । यही ब्रह्म विसर्ग की शून्यता है, जिसके अन्तराल में अनन्त अनन्त ब्रह्माण्डों का विलास-उल्लास चल रहा है । इन सभी अवस्थाओं के काल और दिक् को व्याप्त कर भगवती उमा व्याप्त हैं । उनकी ये सातों शक्तियाँ परम स्वतन्त्र हैं । यहाँ स्वतन्त्र का तात्पर्य उच्छृङ्खलता नहीं, अपितु उमा-तन्त्र लगाया जाता है ।

उमापतिपुरस्योर्ध्वं स्थितं मूर्त्यष्टकं परम् ॥ २४४ ॥
शर्वादिकं यस्य सृष्टिर्धराद्या याजकान्ततः ।
ताभ्य ईशानमूर्तिर्या सा मेरौ संप्रतिष्ठिता ॥ २४५ ॥
श्रीकण्ठः स्फटिकाद्रौ सा व्याप्ता तन्वष्टकैर्जगत् ।

स्वच्छन्द तन्त्र १०।१०२७ में स्पष्ट लिखा गया है कि,

"अन्य सारी सातों शक्तियाँ भी स्वच्छन्द हैं । ये परम व्योम में व्यवस्थित हैं । ये स्वतन्त्र शक्तियाँ पर, अपर और परापर रूप से पर्युपासीन हैं । साधक वर्ग इनकी स्वतन्त्र उपासना की प्रक्रिया अपना कर साध्य की सिद्धि में प्रयत्नशील रहता है । ये सातों रूप उमा से अतिरिक्त नहीं हैं, अपितु उसी के नाम और रूप के विपर्यय मात्र हैं, जो सदा अनुभवनोय है ॥ २४३ ॥

उमापति पुर के ऊर्ध्व विस्तार मे मूर्त्यष्टक धारी पर शिव विराजमान हैं । भूमि, आप, अनल, अनिल, आकाश, सूर्य सोम और याजमानी रूपा आठ सृष्टि प्रतीकों से समन्वित शिव ही मूर्त्यष्टकधारी शिव हैं । इन आठ मूर्तियों में शिव की ईशानमूर्त्ति मेरु पर प्रतिष्ठित है । स्फटिक ज्योतिष्क शिखर पर श्रीकण्ठ यहाँ विराजमान हैं । शक्तियों का उमारूप ईशान भाव से आठ शरीरों से समन्वित वहाँ व्यापक रूप से अपने प्रभाव का विस्तार करता है ।

जो उपासक सत्त्वादि वृत्तिप्रधान शिव की संयमपूर्ण सगुण उपासना करते हैं, वे वहाँ जाने के अधिकारी हैं ।

इस मण्डल में साधना के द्वारा प्रवेश पा लेने वाला भाग्यशाली साधक तत्क्षण गलत अवधारणाओं से प्राप्त द्वैत भाव से मुक्त हो जाता है । दर्शनमात्र से भी त्रिगुण ताप का निराकरण वहाँ हो जाता है ।

इस सन्दर्भ में कुछ मुख्य शब्द विशेषतः विचारणीय हैं—

१. मूर्त्यष्टक—श्लोक २४४ में मूर्त्यष्टक शब्द का प्रयोग किया गया है । उसकी परिभाषा धरादि याजकान्त के संकेत से श्लोक २५५ में दी गयी है । उनका उल्लेख किया जा चुका है । इन मूर्त्तियों के अधिष्ठाता परमशिव हैं । वे 'पर' अर्थात् अनुत्तर तत्त्व हैं । स्वच्छन्द तन्त्र के १०।१०२७ और मूल श्लोक २४३ में परापर रूपों का उल्लेख किया जा चुका है। अतः यहाँ 'पर' शब्द से अनुत्तर तत्त्व ही अभीष्ट है, यह मानना चाहिए ।

ये योगं सगुणं शम्भोः संयताः पर्युपासते ॥ २४६ ॥
तन्मण्डलं वा दृष्ट्वैव मुक्तद्वैता हृतत्रयाः ।

मूर्त्यष्टकमिति, तदधिष्ठातृ परमिति, अपरस्य परापरस्य च पूर्वमुक्तत्वात् । 'यस्य' इति मूर्त्यष्टकाधिष्ठातुः शर्वादिः । 'ताभ्य' इति अष्टाभ्यो मूर्तिभ्यो मध्यात् 'सगुणम्' इति सत्वादिवृत्तिप्रधानं न तु पराद्वयरूपकम् । तन्मण्डलमिति, श्रीश्रीकण्ठाद्युक्तम् । 'मुक्तद्वैता' इति सांख्यादिक्रमेण लब्धकैवल्याः ॥ २४६ ॥

ननु यदि नाम योगस्येयदन्तं प्राप्तौ सामर्थ्यमस्ति तत्कथमस्य अधराधरतत्त्वप्राप्तिरप्युक्ता ? इत्याशङ्कयाह

गुणानामाधरौत्तर्याच्छुद्धाशुद्धत्वसंस्थितेः ॥ २४७ ॥
तारतम्याच्च योगस्य वेदात्फलविचित्रता ।
ततो भोगफलावाप्तिभेदाद्भेदोऽयमुच्यते ॥ २४८ ॥

---

२. यस्य—श्लोक २४५ यस्य यत् (जो) शब्द का षष्ठ्यन्त प्रयोग है । इसका अर्थ 'जिसकी सृष्टि' होता है । इसमें अभी आमर्श करना पड़ता है कि किसकी सृष्टि ? इसी आमर्श का उत्तर है—इन शर्वाष्टकात्मक आठों मूर्त्तियों के अधिष्ठाता की यह समग्र सृष्टि । इन्हें मूर्त्तीश्वराष्टक भी कहते हैं । अधिष्ठातृ वर्ग का संकेत 'शर्वादिकम्' शब्द द्वारा श्लोक २४५ में ही दे दिया गया है । स्व० तन्त्र १०।१०३१–३२ के अनुसार "शर्व, भव, रुद्र, पशुपति, ईशान, भीम, महादेव और उग्र ये शर्वादि ८ हैं ।

३. सगुणम् (श्लो० २४६)—शास्त्रों में सृष्टि त्रिगुणात्मिका मानी जाती है । सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से समन्वित परमात्मा का रूप ही सगुण माना जाता है । उक्त शर्व आदि रूप भी त्रिगुणात्मक ही हैं । शब्दतः उल्लेख कर यह स्पष्ट किया गया है कि उनका पराद्वय रूप नहीं होता ।

४. मुक्त द्वैताः (श्लो० २४७) द्वैत से मुक्त उपासक मुक्तद्वैत कहलाते हैं । द्वैतमुक्त होने को विविध शास्त्रीय पद्धतियाँ और परम्परायें हैं । सांख्य आदि अपनी-अपनी परम्परा का प्रदर्शन करते हैं । हर दृष्टि से वही व्यक्ति मुक्त द्वैत माना जाता है, जो कैवल्य प्राप्त कर लेता है ॥ २४४–२४६ ॥

'आधरौत्तर्यात्' इति गुणप्रधानभावात् । शुद्धत्वं, निर्बीजत्वात् । अशुद्धत्वं, सबीजत्वात् । 'तारतम्यात्' इति मृदुमध्याधिमात्ररूपत्वात् । फलविचित्रतेति, तत्तत्त्वप्राप्तिरूपा येनायं भेदः । कस्यचिद्योगस्योर्ध्वोर्ध्वं तत्त्वेषु प्राप्तिनिमित्तत्वम्, अन्यस्य च अधराधरेष्विति ॥ २४८ ॥

मूर्त्यष्टकोपरिष्टात्तु सुशिवा द्वादशोदिताः ।
वामाद्येकशिवान्तास्ते कुङ्कुमाभाः सुतेजसः ॥ २४९ ॥
तदूर्ध्वं वीरभद्राख्यो मण्डलाधिपतिः स्थितः ।
यत्त [स्त]त्सायुज्यमापन्नः स तेन सह मोदते ॥ २५० ॥
ततोऽप्यङ्गुष्ठमात्रान्तं महादेवाष्टकं भवेत् ।

गुणों के स्तर यदि अधम कोटि को होंगे तो फल विपरीत और यदि उत्तम होंगे तो बहुत ही उत्तम कोटि के फल होते हैं। यही बात योग और शुद्धता में भी होती है । उत्तम योग के बल पर साधक उत्तम से उत्तम गति प्राप्त करता है । यदि यही योग अधम द्वैत साधना में प्रवृत्त करता है, तो साधक निम्न कोटि की अधम गति का भागी बनता है । शैव योग से हृतत्रय और मुक्त होने की बात लिखी गयी है । यह सत्य है । साधक जितना ही शुद्ध निर्मल और सुसंस्कृत होगा, उसी के तारतम्य से अधरौत्तर्यं स्थिति की प्राप्ति भी होगी—यह अवश्यम्भावी है। स्व० १०।१०३६–१०३८ में फलोद्देश का वर्णन है । फल की विचित्रता का कारण शैवेतर शास्त्र हैं तथा त्रिगुणात्मकता में आसक्त करने वाले उपदेश हैं। वेद भी त्रैगुण्य विषय हैं—यह श्रीकृष्ण कहते हैं। द्वैत में जीने वाला द्वैत बलवान् होगा ही। उससे भोग वाद का विस्तार होता है। विकल्प बढ़ते हैं और भेदवाद से भेद भिन्न जीवन का सारा वैषम्य जीव को पशु बना देने का ही कारण बनता है । शुद्धता को निर्बीज दशा तथा अशुद्धता को सबीज अवस्था कहते हैं । इन दोनों दशाओं में अवस्थित साधक स्तरानुकूल फल प्राप्त करते हैं। यही दशा योग के मृदु मध्य और अधिमात्र स्थितियों की भी है ॥ २४७–२४८ ॥

'सुतेजस' इति सूर्यकोटिसमप्रभाः। यदुक्तम्

'वामो भीमस्तथोग्रश्च शिवः शर्वस्तथैव च।
विद्यानामधिपश्चैव एकवीरः प्रचण्डधृत्॥
ईशानश्चाप्युमाभर्ता अजेशोऽनन्त एव च।
तथा एकशिवश्चैव सुशिवा द्वादश स्मृताः॥
सर्वे कुङ्कुमसङ्काशाः सूर्यकोटिसमप्रभाः।'

(स्व० १०।१०३८) इति।

तदूर्ध्वमिति, तच्छब्देन सुशिवपरामर्शः। 'तत' इति वीरभद्रमण्डलादप्यनन्तरम्। तदुक्तम्

महादेवो महातेजा वामदेवभवोद्भवौ।
एकपिङ्गेक्षणेशानभुवनेशपुरःसरा॥
अङ्गुष्ठमात्रसहिता महादेवाष्टके शिवाः।'

(स्व० १०।१०४२) इति॥२५०॥

एतदेवोपसंहरति

बुद्धितत्त्वमिदं प्रोक्तं देवयोन्यष्टकादितः॥ २५१॥

मूर्त्यष्टक के ऊपर बारह सुशिवों का पावन परिवेश मण्डल है। स्व०-तन्त्र में वाम, भीम, ईश, शिव, शर्व, विद्येश, एकवीर, ईशान, उमापति, अजेश, अनन्त और एक शिव ये सुशिवों के १२ नाम हैं। सभी कुङ्कुमवर्णी और तेजस्वी हैं। करोड़ों सूर्यों की प्रकाश रश्मियों को तिरस्कृत करती इनकी ऊर्जा अप्रतिम है। ये सभी शङ्ख के सदृश आकृति वाले यानों में रहते हैं। स्व०तन्त्र १०।१०३९-४१ द्वारा इसका समर्थन किया गया है।

इनके ऊपर वीरभद्र प्रभु का धाम है। ये स्वयं मण्डलाधिपति हैं। सायुज्य प्राप्त करने वाला साधक उनके सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त कर प्रसन्न होता है। इसके ऊपर आठ महादेवों का परिवेश है। "महादेव, महातेज, वामदेव भव, उद्भव, एक पिङ्गेक्षण, ईशान, और अंगुष्ठमात्रक ये आठ महादेव कहलाते हैं। ये सर्वथा माया के प्रभाव से मुक्त और परम ईशान सदृश हैं। इन्हें महादेवाष्टक भी कहते हैं। इसका उल्लेख स्व०तन्त्र १०।१०४४ में किया गया। उसी का उद्धरण यहाँ दिया गया है।

महादेवाष्टकान्ते तद् योगाष्टकमिहोदितम् ।
तत्र श्रैकण्ठमुक्तं यत् तस्यैवोमापतिस्तथा ॥ २५२ ॥
मूर्तयः सुशिवा वीरो महादेवाष्टकं वपुः ।

एवंविधे च बुद्धितत्त्वे योगाष्टकमध्ये यमष्टमं श्रैकण्ठं भुवनमुक्तं तदधिष्ठाता च यः श्रीकण्ठनाथ उक्तः, तस्यैवायमुमापतेरारभ्य सर्वः प्रपञ्चः,— इत्युक्तं 'तस्यैवेत्यादि' । 'वीरो' वीरभद्रः । तदुक्तम्

'सर्वेश्वरानधिष्ठाय श्रीकण्ठः कारणेच्छया ।
एकः स बहुभी रूपैरास्ते प्रतिनिकेतनम् ॥' इति ॥ २५२ ॥

उपरिष्टाद्धियोऽधश्च प्रकृतेर्गुणसंज्ञितम् ॥ २५३ ॥
तत्त्वं तत्र तु संक्षुब्धा गुणाः प्रसुवते धियम् ।

'गुणसंज्ञितं तत्त्वं' गुणतत्त्वमित्यर्थः । ननु 'प्रकृतेर्महान्' (सां० का० २२) इत्युक्त्या प्रकृत्यनन्तरं तत्कार्यभूतं बुद्धितत्त्वमन्यैरुक्तम्,—इति कथमिहान्तरा गुणतत्त्वमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह 'तत्र तु' इत्यादि । तुशब्दो हेतौ । 'संक्षुब्धा' इति परस्पराङ्गाङ्गिभावेन वैषम्यापत्त्या कार्यजननोन्मुखा इत्यर्थः । प्रकृतौ हि तेषामविशेषेणावस्थानम् । यदाहुः

देवयोनि अष्टक से लेकर महादेवाष्टक तक ये अष्टक बुद्धितत्त्व के अन्तर्गत आते हैं । इनमें श्रैकण्ठ भुवन ही आठवाँ भुवन है । श्रीकण्ठ ही इनके अधिष्ठाता हैं । इन्हें ही उमापति भी कहते हैं । उनकी मूत्तियाँ ही सुशिव कहलाती हैं । वही एक वीर हैं । वही स्वातन्त्र्य के कारण प्रति निकेतनों में अनन्त रूपों में अभिव्यक्त होते हैं । इन अष्टकों के अन्तर्गत ही योगाष्टक की चर्चा भी की गयी है । बुद्धितत्त्व में योगाष्टक के बीच में ही आठवाँ श्रैकण्ठ भुवन है ॥ २४९–२५२ ॥

इस तरह देवयोन्यष्टक, क्रोधेश्वराष्टक, तेजोष्टक, योगाष्टक और मूर्त्यष्टक ये ५ अष्टक मिलकर ४० तत्त्वों के प्रतीक देवेश्वर होते हैं । योगाष्टक के ऊपर औम और श्रैकण्ठ भुवन हैं । इसके बाद बारह सुशिवों का परिवेश आता है । इसके साथ महादेवाष्टक के आठ महादेवों का परिगणन करने पर ४० + २ + १५ + ८ = बासठ देवेश्वरों के भुवनों का विवरण स्पष्ट हो जाता है । भुवन दीक्षा के प्रसङ्ग में इनके शोधन की आवश्यकता होती है ।

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ॥"

(सा० सू० १।६१) इति ।

न च वैषम्यमनापन्नं कारणं कार्यं जनयेत्, बीजं हि जलादिसंपर्का-दुच्छूनतापन्नं सत् अङ्कुरादि उत्पादयेत् नान्यथा, तथात्वे हि मूलादपि तदुत्पादः स्यात्, तदाह

न वैषम्यमनापन्नं कारणं कार्यसूतये ॥ २५४ ॥

अत एव वैषम्यमनापन्ना प्रकृतिः कथं बुद्धिजन्मनि कारणं स्यात् ? इत्याह

बुद्धि प्रकृति की कार्य मानी जाती है । उसके बाद प्रकृति के त्रिगुणात्मक रूप का वर्णन यहाँ अभिप्राय पूर्वक ही किया गया है । संक्षुब्ध गुण ही बुद्धि को उत्पन्न करते हैं । बुद्धितत्त्व के ऊपर और नीचे प्रकृति के गुण व्याप्त हैं । यहाँ प्रश्न होता है कि शास्त्रीय नियम "सा० का० २२ के अनुसार प्रकृति से महान् की उत्पत्ति होती है ।" प्रकृति कारण है । बुद्धितत्त्व कार्य है । मूल श्लोक में गुण तत्त्व को पृथक् निर्दिष्ट किया गया हैं । इस प्रश्न का समाधान दूसरी अर्धाली में किया है । प्रकृति की दो अवस्थायें स्वाभाविक हैं । १—शान्त और क्षुब्ध । शान्त प्रकृति के विषय में सांख्यसूत्र १।६१ में स्पष्ट कहा गया है कि "सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है ।" इस अवस्था में भी तत्त्व का पूर्ण अस्तित्त्व प्रकृति से व्याप्त है । जब क्षुब्ध अवस्था आती है तो गुण भी संक्षुब्ध होते हैं । वे क्षोभ के कारण सात्त्विक, राजस और तामसिक बुद्धि का प्रसवन करते हैं । वहाँ कार्य कारण भाव की प्रधानता होती है । इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि वैषम्य को न प्राप्त करने वाला कारण कार्योत्पत्ति नहीं कर सकता । जैसे बीज है । वह खाद, पानी और हवा के सम्पर्क से क्षुब्ध हो कर ही अंकुर उत्पन्न करता है । अन्यथा नहीं करता ।

बीज और अंकुर के उदाहरण से एक नयी समस्या आ खड़ी होती है । वैषम्यापन्न बीज ने जैसे अंकुर को जन्म दिया, उसी तरह मूल प्रकृति के वैषम्य से बुद्धि तत्त्व की उत्पत्ति स्वाभाविक है । इस अवस्था में गुणतत्त्व से नहीं, अपितु मूल प्रकृति से भी बुद्धि का उद्गम सिद्ध होता है । इसलिये

गुणसाम्यात्मिका तेन प्रकृतिः कारणं भवेत् ।

'तेन' इति वैषम्यापत्तिभावेन। तदवश्यं प्रकृतिकार्यं तत्क्षोभरूपं गुण-तत्त्वमन्तराङ्गीकार्यं येन बुद्धिजन्म स्यात्।

ननु यद्येवं तद्गुणतत्त्वमपि प्रकृतिः किं क्षोभं विना जनयेन्न वा ? तत्राद्ये पक्षे बुद्धितत्त्वमेव तथा जनयतु किमन्तराकल्पितेन गुणत्त्वेन। अथ सति क्षोभे तत् सोऽपि क्षोभः किं क्षोभान्तरे सत्यसति वा ? इत्यनवस्था स्यात्, येन न गुणानां नापि बुद्धेर्जन्म सिद्धयेत्; तदाह

नन्वेवं सापि संक्षोभं विना तान्विषमान्गुणान् ॥ २५५ ॥
कथं सुवीत तत्राद्ये क्षोभे स्यादनवस्थितिः ।

ननु भवेदयं दोषः किन्तु सांख्यस्य न पुनरस्माकं, न हि नाम जडं कारणं क्षोभं विना कार्यमेव जनयितुमलं लोके बीजाङ्कुरादौ तथा दर्शनात्, तदाह

गुणसाम्यात्मिका प्रकृति भी बुद्धि तत्त्व के प्रसव में कारण है, यह मानना न्यायोचित है। इसी आधार पर कुछ मनीषी विचारक यह मानते हैं कि, साम्यात्मिका प्रकृति में सत्त्वगुण का उल्लास ही बुद्धि तत्त्व है। यों बुद्धि राजस और तामस भी होती है।

जहाँ तक गुण तत्त्वों की उत्पत्ति का प्रश्न है, विना संक्षोभ के प्रकृति से उनकी उत्पत्ति नहीं होती। प्रधान शब्द का विग्रह वाक्य है—'प्रधीयते अत्र गुणान्तं विश्वमिति—प्रधानम्'। कहा गया है कि 'गुणानां या पराकाष्ठा, तत् प्रधानम्'। पराकाष्ठा तो अविभागावस्था ही होती है। वास्तविकता तो यह है कि गुणतत्त्व प्रकृति से अभिन्न ही होते हैं। इस भुवन प्रकरण में भेद भिन्न गुण तत्त्व प्रदर्शित करना शास्त्र की विवशता है। यह भी सोचने की बात है कि पहले क्षोभ की बात यदि मानी जाय तो इससे अनवस्था दोष ही उत्पन्न होगा। प्रकृति जड है। विना क्षोभ के यह कोई कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती। इसलिये साम्यावस्था वाली प्रकृति में पहले प्रधान की उत्पत्ति बीजाङ्कुर के समान और पुनः स्वतः क्षुब्ध गुणों से अव्यक्त की उत्पत्ति का क्रम मान लेने पर विना किसी को दोष दिये और साथ साथ सां० का० ११ के अनुसार प्रसवधर्मिता मान लेने पर कार्योत्पाद की बात स्पष्ट हो जाती है॥ २५३-२५५॥

सांख्यस्य दोष एवायं

एवकारो भिन्नक्रमः। तेन सांख्यस्यैवेति। यद्वा तस्यापि नायं दोषो यत्तेन स्वत एव क्षुब्धास्ते गुणा अव्यक्तस्य रूपमिष्टम्, अन्यथा कथं तत्कार्योत्पादः स्यात्; अत एव 'प्रसवधर्मि' (सां० का० ११) इत्युक्तम्।

तदाह—

यदि वा तेन ते गुणाः ॥ २५६ ॥

अव्यक्तमिष्टाः—

ननु यद्येवं तत्तस्य 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' इति कथं संगच्छेत ? इत्याशङ्कयाह

साम्यं तु

सङ्गमात्रं न चेतरत् ।

साम्यं पुनरत्र गुणानां सङ्गमात्रत्वं, क्षुब्धत्वेऽपि समस्पर्धितया समुदितत्वमेव केवलं विवक्षितं न त्वितरत् अक्षुब्धत्वात् अविशेषेणावस्थानं, तथात्वे हि यथोक्तदोषावकाशात्मा बाधः स्यात् ॥

सांख्य शास्त्र का अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण है। किसी शास्त्र के दृष्टिकोण को उसका दोष नहीं कहा जा सकता। बीजाङ्कुरवत् स्वतः क्षुब्ध गुण अव्यक्त प्रकृति के इष्ट रूप हैं। सां० का० ११ की प्रसवधर्मिता की उक्ति इसी आधार पर चरितार्थ मानी जाती है और कार्य का कारण से उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता है।

क्षोभ के इस दृष्टिकोण और 'सत्त्व, रजस् तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है' इस दृष्टिकोण में कोई अन्तर्विरोध भी नहीं आ सकता है। साम्य का अर्थ यहाँ सङ्गमात्र है। क्षोभ होने पर भी समस्पर्शी भाव से गुणों का उच्छलन एक नये साम्य को जन्म देता है। अक्षोभ दशा की साम्यावस्था वहाँ अभिप्रेत नही है।

तन्न सांख्यानां कश्चिद्दोष उक्तः किन्तु गुणतत्त्ववादिनामेव ? इत्याशङ्क्याह

अस्माकं तु स्वतन्त्रेशतथेच्छाक्षोभसङ्गतम् ॥ २५७ ॥
अव्यक्तं बुद्धितत्त्वस्य कारणं क्षोभिता गुणाः ।

इह तावज्जडं कारणं क्षुब्धतामनापन्नं सत् कार्यं जनयितुमेव नालमित्युक्तं न चास्य क्षुब्धतापत्तावपि क्षोभान्तरमपेक्षणीयम् ईश्वरेच्छातस्तथाभावात्, न च तामन्तरेण कार्यकारणभाव एव स्यात्,—इत्यग्रे भविष्यति,—इति नेहायस्तम् । अतश्च अस्मद्दर्शने प्रकृतितत्त्वाधिष्ठातुः स्वतन्त्रस्येश्वरस्य तथा स्वतन्त्रैवेयमिच्छा, तया क्षुब्धमव्यक्तं क्षोभिता गुणात्मतत्त्वात्मतां यातं सत् बुद्धितत्त्वस्य 'कारणं' तत्प्रसवसमर्थमित्यर्थः ॥ २५७ ॥

ननु यद्येवं तदीश्वरेच्छातः क्षुब्धं सदव्यक्तं बुद्धितत्त्वमेव जनयतु किमन्तरापरिकल्पितेन प्रतिपत्तिगौरवकारिणा गुणतत्त्वेन? इत्याह

ननु तत्त्वेश्वरेच्छातो यः क्षोभः प्रकृतेः पुरा ॥ २५८ ॥
तदेव बुद्धितत्त्वं स्यात् किमन्यैः कल्पितैर्गुणैः ।

कोई जड कारण जिसमें क्षोभ नहीं है, कभी कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता । क्षोभ क्षुब्धता की दशा है । एक क्षोभ से पुनः क्षोभ किसी के वश की बात नहीं । यह परमेश्वर की इच्छा पर आधारित है । इच्छा उसका स्वातन्त्र्य है । स्वतन्त्र शिव की इच्छा से ही कभी भी क्षोभ हो सकता है । नहीं भी हो सकता है । प्रकृति तत्त्व के अधिष्ठाता परमेश्वर हैं । उसकी इच्छा से अव्यक्त क्षुब्ध होता है । क्षोभित गुण होते हैं । गुणात्मिका अव्यक्त प्रकृति ही बुद्धितत्त्व की भी कारण है । यहाँ बुद्धितत्त्व की प्रसव धर्मिता भी सिद्ध हो जाती हैं ॥ २५७ ॥

प्रकृति में ईश्वर की इच्छा से क्षोभ होता है । प्रकृति बुद्धितत्त्व को उत्पन्न करे । अन्य कल्पित गुणों से क्या ? यह अन्तरा परिकल्पित और प्रतिपत्ति गौरवकारी गुणतत्त्व की मान्यता समाप्त कर देनी चाहिए । इस प्रश्न को पूर्वपक्ष के रूप से प्रस्तुत कर उसका स्वयं प्रतिविधान कर रहे हैं—

एतदेव प्रतिविधत्ते

नैतत्कारणतारूपपरामर्शावरोधि यत् ॥ २५९ ॥
क्षोभान्तरं ततः कार्यं बीजोच्छूनाङ्कुरादिवत् ।

तद्धि नाम कारणमुच्यते यत्क्षोभापत्तावपि तद्रूपतापरामर्शमेव अवरुन्ध्यात्, उच्छूनमपि हि बीजं बीजमेवोच्यते, तेन तत्क्षोभरूपमपि गुणतत्त्वं कारणत्वपरामर्शमवरोद्धुमुत्सहते, तथात्वेऽपि कथंचित् प्रकृत्यैक्यानपायात्; अतश्च गुणतत्त्वं नाम न प्रकृतितत्त्वातिरिक्तं तत्त्वान्तरं किन्तु तस्यैव कार्यजननोन्मुखं क्षुब्धं रूपान्तरमिति । तस्य हि तत्त्वान्तरत्वे सप्तत्रिंशत्तत्त्वानि स्युरिति ।

'षट्त्रिंशत्तत्त्वमुख्यानि यथा शोध्यानि पार्वति ।
पृथिव्यादिशिवान्तानि ....॥ स्व० ५।२)

इत्यादि दुष्येत् ।

'चतुर्विंशतितत्त्वानि ब्रह्मा व्याप्य व्यवस्थितः ।
प्रधानान्तं ....॥ (स्व० ११।४६) इति ।

कारण वह तत्त्व है जो क्षुब्धता की स्थिति में भी तद्रूपतापरामर्श में अवरोध उपस्थित करे । जैसे मिट्टी से घट । घट मृत्तिका रूप परामर्श का अवरोधक हो जाता है । दूसरा उदाहरण बीज का है । बीज जब पानी, हवा और खाद से फूलता है, तो उसमें से अंकुर निकलता है । इस अवस्था में भी बीज-बीज ही कहलाता है । यहाँ तीन अवस्थायें एक साथ हैं । १. बीज, २. आश्यानत्वप्राप्त बीज और ३. अंकुर ।

अव्यक्त, बुद्धितत्त्व और गुण को इसी सन्दर्भ में समझना है । अव्यक्त का क्षोभरूप गुण है । इसका कारण अव्यक्त है । अव्यक्त के कारणत्व के परामर्श का अवरोध सा यहाँ प्रतीत होता है । पर बात ऐसी नहीं है । गुण तत्त्व के नये रूप में उदित उच्छलित होने पर भी प्रकृत्यैक्य का अपाय नहीं होता । इसलिए यह कहा जा सकता है कि गुणतत्त्व प्रकृतितत्त्व के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व नहीं है । अपितु प्रकृति का ही कार्यजननोन्मुख एक क्षुब्ध रूपान्तर मात्र है ।

तथा

.................................पुरुषः पञ्चविंशकः ।'

इत्याद्यपि निरुद्धयेत, एवं हि प्रधानं पञ्चविंशं स्यात् पुरुषश्च षड्विंशकः इति । तस्मात् यथा मायाया ग्रन्थितत्त्वात्मना द्वैविध्यं तथा प्रकृतेरपि क्षुब्धाक्षुधरूपतया,—इत्यवगन्तव्यं येन सर्वं समञ्जसं स्यात् । बुद्धितत्त्वं तु सर्वस्यैवोद्रेकादत्यन्तमेव ततो विलक्षणं बीजादिवाङ्कुरः,—इति तत्कार्यमेव न तु कारणमपि,—इत्यवश्यमन्तरा बुद्धिकारणं गुणत्त्वमङ्गीकार्यम् । एवं 'स्वतः क्षुब्धा एव गुणाः प्रकृतिः ?—इत्यभिदधतोऽपि सांख्यस्य न दोषावकाशः,—इति प्रकाशितम् । तथात्वे हि गुणानामक्षुब्धमपि रूपं पूर्वं वक्तव्यम् अन्यथा क्षुब्धत्वं किमपेक्षं अत एवात्र 'बीजोच्छूनाङ्कुरादिवत्' इत्यवस्थात्रयमेव दर्शितम् ॥ २५९ ॥

एवं गुणतत्त्वं साधयित्वा तदन्तर्वर्ति भुवनजातमपि दर्शयति

क्रमात्तमोरजः सत्त्वे गुरूणां षङ्क्तयः स्थिताः ।: २६० ॥

स्व० तन्त्र ५।२ के अनुसार ३६ तत्त्व होते हैं । गुण तत्त्व को तत्वान्तर मानने पर ३७ तत्त्व होने लगेंगे और शास्त्रविरोध अनुचित माना जाता है । स्व० ११।४६ के अनुसार पृथ्वी से प्रधान तक के २४ तत्त्वों तक ब्रह्मा व्याप्त हैं । तथा '२५वाँ तत्त्व पुरुष है' इस कथन में भो अन्तर आने लगेगा । गुणों के तत्त्वान्तर मानने पर प्रधान २५वाँ और पुरुष २६वाँ तत्त्व होने लगेगा और शास्त्र विरोध उपस्थित हो जायेगा ।

अतः निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि, जैसे माया 'ग्रन्थिरूपा, और तत्त्वात्मिका दो तरह की होती है, उसी तरह प्रकृति के भी क्षुब्ध और अक्षुब्ध दो रूप मान्य हैं । इस तरह सारे ऊहापोह शान्त हो जाते हैं ।

जहाँ तक बुद्धितत्त्व का प्रश्न है, यह एक प्रकार का उद्रेक है। बीज से पृथक् विलक्षण अंकुर के समान इसका भी अव्यक्त से पृथक् अस्तित्व है। अतः यह कार्य है, कारण नहीं । गुण के भी दो रूप मानने होंगे । १—क्षुब्ध और २—अक्षुब्ध । अक्षुब्ध से क्षोभ की कल्पना को आधार मिलता है । अक्षुब्धगुणा प्रकृति, क्षुब्ध गुणा प्रकृति और कार्यरूप क्षोभान्तरत्वप्राप्ता प्रकृति की तीन अवस्थाओं में दो प्रकृति और तीसरी बुद्धि को अनुभूति ठीक लगती है । कार्य का यही स्वरूप संगत है ॥ २५८–२५९ ॥

तिस्रो द्वात्रिंशदेकातस्त्रिंशदप्येकविंशतिः ।
स्वज्ञानयोगबलतः क्रीडन्तो दैशिकोत्तमाः ॥ २६१ ॥
त्रिनेत्राः पाशनिर्मुक्तास्तेऽत्रानुग्रहकारिणः ।

'तमोरजःसत्त्वे' इति समाहारः । तदुक्तम्

'प्रथमा तमसः पङ्क्तिरुपरिष्टाद्व्यवस्थिता ।
तेषां नामानि कथ्यन्ते यथावदनुपूर्वशः ॥
शिवः प्रभुर्वामदेवश्चण्डश्चैवं प्रतापवान् ।
प्रह्लादश्चोत्तमो भीमः करालः पिङ्गलस्तथा ॥
महेन्द्रो दिनकृच्चैव प्रतोदो दक्ष एव च ।
कडेवरश्च विख्यातस्तथैव च कटङ्कटः ॥
अम्बुहर्ता च नारीशः श्वेत ऋग्वेद एव च ।
यजुर्वेदः सामवेदस्त्वथर्वा सुशिवस्तथा ॥

क्रमशः तामस, राजस और सात्त्विक गुणों के परिवेश में गुरुओं की पंक्तियाँ अवस्थित हैं । पंक्तियों की संख्या ३२, ३० और २१ है । अपने ज्ञान योग के प्रभाव से ये दैशिकोत्तम पुण्य पुरुष उनमें निवास करते हैं । ये शिव के सदृश त्रिनेत्र हैं और पाशमुक्त हैं ।

अनुग्रह करने का इन्हें अधिकार है । पहली तामस पंक्ति है । इसमें आने वालों के ३२ नाम स्पष्ट हैं । दूसरी पंक्ति राजस है । शिव आदि नाम वाले इसमें ३० रुद्र हैं । तीसरी सात्त्विक पंक्ति में २१ नाम हैं । तीनों पंक्तियों के गुरुजनों के नाम स्व॰ तन्त्र १०।१०४७ से लेकर १०६१ तक को कारिकाओं में स्पष्ट दिये गये हैं । इनका उद्धरण जयरथ ने दिया है ।

स्वच्छन्द तन्त्र १०।१०४७ से १०६१ तक के श्लोकों के अनुसार तामस, राजस और सात्त्विक नामक तीन पंक्तियों का उल्लेख है । उनमें रहने वाले देवों का क्रमिक वर्णन इस प्रकार है—

१—"प्रथमा तमसः पंक्तिः—[३२ रुद्र]

तमस् की यह पहली पंक्ति सबसे ऊपर अवस्थित है । इसमें दैशिकोत्तम अनुग्रह समर्थ ३२ रुद्र निवास करते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—

विरूपाक्षस्तथा ज्येष्ठो विप्रो नारायणस्तथा ।
गण्डोदरो यमो माली गहनेशश्च पीडनः ॥
प्रथमा पङ्क्तिरुद्दिष्टा रुद्रैर्द्वात्रिंशता वृता ।
रजसश्चोपरिष्टात्तु द्वितीया पङ्क्तिरुच्यते ॥
शुक्लो दासः सुदासश्च लोकाक्षः सूर्य एव च ।
सुहोत्र एकपादश्च गृद्ध्रश्चैव शिवेश्वरः ॥
गौतमश्चैव योगीशो दधिबाहुस्तथापरः ।
ऋषभश्चैव गोकर्णो देवश्चैव गुहेश्वरः ॥
गुहेशानः शिखण्डी च जटी माली तथोग्रकः ।
भृगुः शिखी तथा शूली सुगतिश्च सुपालनः ॥
अट्टहासो दारुकश्च लाङ्गुलिश्च त्रिदण्डकः ।
भावनश्च तथा भाव्यो लकुलेशस्तथा परः ॥
त्रिंशद्रुद्राः समाख्याता द्वितीया पङ्क्तिरुत्तमा ।
सत्त्वस्य चोपरिष्टात्तु तृतीया पङ्क्तिरुच्यते ॥

१-शिव, २-वामदेव, ३-चण्ड, ४-प्रह्लाद, ५-उत्तम, ६-भीम, ७-कराल, ८-पिङ्गल, ९-महेन्द्र, १०-दिनकर, ११-प्रतोद, १२-दक्ष, १३-कडेवर, १४-विख्यात, १५-कटङ्कट, १६-अम्बुहर्त्ता, १७-नारीश, १८-श्वेत, १९-ऋग्वेद, २०-यजुर्वेद, २१-अथर्वा, २२-साम, २३-सुशिव, २४-विरूपाक्ष, २५-ज्येष्ठ, २६-विप्र, २७-नारायण, २८-गण्डोदर, २९-यम, ३०-माली, ३१-गहनेश और ३२-पीडन ।"

२—द्वितीया रजसः पंक्तिः—[३० रुद्र]

१-"शुक्ल, २-दास, ३-सुदास, ४-लोकाक्ष सूर्य, ५-सुहोत्र एकपाद, ६-गृद्ध्र, ७-शिवेश्वर, ८-गौतम, ९-योगीश्वर, १०-दधिबाहु, ११-ऋषभ, १२-गोकर्ण, १३-गुहेश्वर, १४-गुहेशान, १५-शिखण्डी, १६-जटी, १७-माली, १८-उग्र, १९-भृगु, २०-शिखी, २१-शूली, २२-सुगति, २३-सुपालन, २४-अट्टहास, २५-दारुक, २६-लाङ्गुलि, २७-त्रिदण्डक, २८-भवन, २९-भव्य और ३०-लकुलेश ।"

देवारुणो दीर्घबाहुररिर्भूतिश्च स्थाणुकः ।
सद्योजातस्तथा शण्ठी षण्मुखश्चतुराननः ॥
चक्रपाणिश्च कूर्माक्षस्त्वर्धनारीश एव च ।
संवर्तकश्च भस्मीशः कामनाशन एव च ॥
कपाली भूर्भुवश्चैव वषट्कारस्तथैव च ।
वौषट्कारस्तथा स्वाहा सुधा च परिकीर्तिता ॥
एकविंशतिरुद्रास्तु पङ्क्तिरेषा तृतीयका ।
(स्व० १०।१०४७-६१) इति ॥ २६१ ॥

इयदन्तं भुवनानि संकलयति

बुद्धेश्च गुणपर्यन्तमुभे सप्ताधिके शते ॥ २६२ ॥
रुद्राणां भुवनानां च मुख्यतोऽन्ये तदन्तरे ।

बुद्धेरिति, कार्यप्रपञ्चरूपायाः । ते पृथ्वीतत्त्वादारभ्य गुणतत्त्वपर्यन्तं मुख्यतोऽन्यथा संख्याया आनन्त्यात् भुवनानां सप्ताधिकं शतद्वयं भवेत् । तथा हि पृथिव्यामधस्तादनन्तस्यैकं भुवनम्, अन्तः कालाग्निकूष्माण्डहाटकब्रह्मविष्णु-

---

३—तृतीया सात्त्विकी उपरिष्टात् पंक्तिः [२१ रुद्र]

१-देवारुण, २-दीर्घबाहु ३-भूति, ४-स्थाणु, ५-सद्योजात, ६-शण्ठी, ७-षण्मुख, ८-चतुरानन, ९-चक्रपाणि, १०-कूर्माक्ष, ११-अर्धनारीश्वर १२-संवर्त्तक, १३-भस्मेश, १४-कामनाशन, १५-कपाली, १६-भूः, १७-भुवः, १८-वषट्कार, १९-वौषट्, २०-स्वाहा और २१-स्वधा ।"

इस तरह ३२+३०+२१=८३ तिरासी रुद्र तीनों पंक्तियों में माने गये हैं ।" ॥२६०-२६१॥

संकलित रूप से बुद्धि से गुण पर्यन्त दो सौ सात मुख्य रुद्र भुवन हैं । यों तो इनकी संख्याओं की कोई गणना नहीं है । २०७ संख्या इस प्रकार है—

१—पृथ्वी तत्त्व में अधोभाग १, अन्तर्भाग में कालाग्नि, कुष्माण्ड, हाटक, ब्रह्म, विष्णु रुद्र ६ और बाह्य भाग में शतरुद्रों के १०० तथा इनके अधिष्ठाता वीरभद्र का १ कुल मिलाकर १+६+१=१०८ भुवन हैं ।

२—अप्तत्त्व में अधिष्ठाता वीरभद्र का १ भुवन तथा गुह्याष्टकों के ८ भुवन कुल मिलाकर ९ भुवन होते हैं ।

रुद्राणां षट्, बहिः शतरुद्राणां शतं, तदधिष्ठातुर्वीरभद्रस्य चैकम्,—इत्यष्टोत्तरं शतम्। अप्तत्त्वे तदधिष्ठातुर्वीरभद्रस्य गुह्याष्टकस्य च—इति नव भुवनानि। तेजस्तत्त्वे शिवाग्नेरतिगुह्याष्टकस्य च,—इति नव। वायुतत्त्वे प्राणस्य गुह्याद्गुह्यतराष्टकस्य च,—इति नव। आकाशतत्त्वे आकाशस्य पवित्राष्टकस्य चेति नव। तन्मात्रेषु मूर्तीनामष्टौ, कर्मेन्द्रियाधिपानां पञ्च, ज्ञानेन्द्रियाधिपानां पञ्च, मनसि सोमस्यैकम्, अहङ्कारेऽहङ्कारेशस्य स्थाण्वष्टकस्य चेति नव, बुद्धौ देवयोनिक्रोधतेजोयोगाख्यानि चत्वार्यष्टकानि, इति द्वात्रिंशत्, गुणतत्त्वे च पङ्क्तित्रयमिति ॥ २६२ ॥

अन्यत्र पुनरियान्विशेषः, इत्याह

योगाष्टकं गुणस्कन्धे प्रोक्तं शिवतनौ पुनः ॥ २६३ ॥

'गुणस्कन्धे' गुणतत्त्वे ॥ २६३ ॥

३—तेजस्तत्त्व में शिवाग्नि भुवन १ + अतिगुह्याष्टक ८ = ९ भुवन है।

४—वायुतत्त्व में प्राणभुवन १ + गुह्यातिगुह्याष्टक ८ = ९ भुवन हैं।

५—आकाश तत्त्व में आकाश १ + पवित्राष्टक ८ = ९ भुवन हैं।

६—तन्मात्र तत्त्व में मूर्तियों के ८ भुवन होते हैं।

७—कर्मेन्द्रियों में इनके अधिष्ठाता देवों के ५ भुवन होते हैं।

८—ज्ञानेन्द्रियों में इनके अधिष्ठाता के ५ भुवन होते हैं।

९—मनस्तत्त्व में सोम अधिष्ठातादेव है। इसका १ ही भुवन है।

१०—अहंकार तत्त्व में अहंकारेश का १ और स्थाण्वष्टकों के ८ = ९ भुवन हैं।

११—बुद्धितत्त्व में देवयोनि, क्रोध, तेज और योग के चार अष्टक अर्थात् ४ × ८ = ३२ भुवन हैं।

गुण तत्त्व की तामस, राजस् और सात्त्विक की तीन पंक्तियाँ हैं। कुल १०८ + ९ + ९ + ९ + ९ + ८ + ५ + ५ + १ + ९ + ३२ + ३ मिलाकर २०७ भुवनों की संख्या मुख्य संख्या है। यों तो अनगिनत भुवनों के अस्तित्व हैं ॥ २६३ ॥

तद्ग्रन्थमेव पठति

योनीरतीत्य गौणे स्कन्धे स्युर्योगदातारः ।
अकृतकृतविभुविरिञ्चा हरिर्गुहः क्रमवशात्ततो देवी ॥ २६४ ॥
करणान्यणिमादिगुणाः कार्याणि प्रत्ययप्रपञ्चश्च ।
अव्यक्तादुत्पन्ना गुणाश्च सत्त्वादयोऽमीषाम् ॥ २६५ ॥
धर्मज्ञानविरागानैश्वर्यं तत्फलानि विविधानि ।
यच्छन्ति गुणेभ्योऽमो पुरुषेभ्यो योगदातारः ॥ २६६ ॥

शिवतनु शास्त्र में गुणतत्त्व में भी योगाष्टकों की स्थिति का उल्लेख है। उनके अनुसार अकृत, कृत, विभु, विरिञ्च, हरि, ओम (श्रीकण्ठ और) गुहदेव हैं। गुण अव्यक्त से उत्पन्न हैं। योगप्रद इनके आठों अधिष्ठातृ देव धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि फल, प्रदान करते हैं।

अन्य आगमिक प्रामाण्य के विशेष दृष्टिकोण के विशेष सन्दर्भ को व्यक्त करने के लिए शिव तनु शास्त्र की चर्चा करते हुए विशेष निर्देश कर रहे हैं—

योगाष्टक का खगोल अवस्थान, शिवतनु-शास्त्र गुण स्कन्ध के परिवेश में स्वीकार करता है। गुण स्कन्ध का तात्पर्य गुण तत्त्वों का क्षेत्र है॥

शिवतनु शास्त्र के वचनों को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर रहे हैं—

विभिन्न योनियों के कर्म भोग क्षय के अनन्तर पुनः योगाष्टक में सन्निवेश प्रदान करने वाले अकृत, कृत, विभु, विरिञ्च, हरि और गुह क्रमिक रूप से गुणतत्त्व के स्कन्ध में स्थान देने की व्यवस्था करते हैं। तत्पश्चात् देवी भगवती उमा भी इस व्यवस्था को अन्तिम रूप प्रदान करती हैं।

करण (इन्द्रिय वर्ग) अणिमादि सिद्धियाँ सत्त्व, रजस और तमस् स्वभाव, विविध जागतिक प्रत्यय प्रपञ्च रूप कार्यों का सन्निधान, अव्यक्त से उत्पन्न गुणात्मक संस्कार, धार्मिक प्रवृत्तियाँ, ज्ञान के स्तरीय स्वरूप, राग विराग की प्रवृत्तियाँ, विविध ऐश्वर्य और इनके तदनुरूप फल आदि सब कुछ उन पुरुषों को जो गुण स्कन्ध में समाविष्ट हो चुके होते हैं—उन्हें प्रदान करते

तेभ्यः परतो भुवनं सत्त्वादिगुणासनस्य देवस्य ।
सकलजगदेकमातुर्भर्तुः श्रीकण्ठनाथस्य ॥ २६७ ॥

'प्रत्ययप्रपञ्च' इति विपर्ययादिः पञ्चाशदाद्यः । 'अमीषाम्' अकृतादीनां योगदातॄणाम् । एतच्चैषां दातृत्वं यत्परेभ्योऽपि धर्मादि प्रयच्छन्तीति । 'परत' इत्यूर्ध्वम् ॥ २६७ ॥

ननु एभ्योऽप्यूर्ध्वमवस्थानेन अस्य किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

येनोमागुहनीलब्रह्मऋभुक्षकृतादिभुवनेषु ।
ग्रहरूपिण्या शक्त्या प्राभव्याधिष्ठानि भूतानि ॥ २६८ ॥

'नीलो' विष्णुः, ग्रहरूपिण्येति, अवष्टम्भात्मिकयेत्यर्थः । 'अधिष्ठानि' अधिष्ठितानि ॥ २६८ ॥

हैं । इसीलिये इन्हें योग दाता कहते हैं । यह ध्यान देने की बात है कि जितने ये अकृत आदि योग दाता हैं, ये ही करणों प्रत्यय (५०) प्रपञ्चों और सत्त्वादि अव्यक्तज गुणों के अधिकारी हैं । इसी से ये सारे फल प्रदान करने में समर्थ होते हैं ।

इनके बाद सत्त्वादि गुणों के अधिष्ठाता, सारे संसार के एक मात्र वात्सल्यप्रद प्रभु श्रीकण्ठनाथ का भुवन है । इन भुवनों की अवष्टम्भात्मिका प्राभ्वी शक्ति इनमें रहने वाले जीवों को धारण करती है ॥ २६३–२६७ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि इन योगप्रद देव प्रतीक रुद्रों के ऊपर श्रीकण्ठ भुवन होने से श्रीकण्ठ के वैशिष्ट्य में कोई नई बात क्या होती है, जिससे यहाँ ऊर्ध्व स्थान की चर्चा की गयी है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

ऊर्ध्व अवस्थान श्रीकण्ठ की सर्वोत्तम और सर्व नियन्त्रक शक्ति की ओर संकेत करता है । उनके द्वारा गुह (देव सेनाध्यक्ष) नील (विष्णु) ब्रह्मा ऋभुक्ष, कृत और अकृत आदि भुवनों में सर्वग्राहिणी शक्ति के माध्यम से सभी प्राणिमात्र अधिष्ठित होते हैं । अर्थात् अन्य सभी योग दाता शक्तिमन्तों के भी ये शक्तिस्रोत हैं । यही इनकी सबसे बड़ी विशेषता है ॥ २६८ ॥

तत्तदधिष्ठानमेव व्याचष्टे

उपसंजिहीर्षुरिह यश्चतुराननपङ्कजं समाविश्य ।

दग्ध्वा चतुरो लोकाञ्जनलोकान्निर्मिमीते पुनः ॥ २६९ ॥

यस्येच्छातःसत्त्वादिगुणशरीरा विसृजति रुद्राणी ।

अनुकल्पो रुद्राण्या वेदी तत्रेज्यतेऽनुकल्पेन ॥ २७० ॥

पशुपतिरिन्द्रोपेन्द्रविरिञ्चैरथ तदुपलम्भतो देवैः ।

गन्धर्वयक्षराक्षसपितृमुनिभिश्चित्रितास्तथा यागाः ॥ २७१ ॥

'समाविश्य' इति अधिष्ठाय 'दग्ध्वा' इति अर्थात्कालाग्निरूपतया । 'रुद्राणी' उमादेवी । 'अनुकल्पो' गौणी मूर्तिः 'वेदी' क्रियाशक्त्यात्मा पीठिका । तत्रेति वेद्यां । पशुपतिरिति अर्थाद् बाह्यलिङ्गरूपः ॥ २७१ ॥

गुणानां यत्परं साम्यं तदव्यक्तं गुणोर्ध्वतः ।

क्रोधेशचण्डसंवर्ता ज्योतिः पिङ्गलसूरकौ ॥ २७२ ॥

पञ्चान्तकैकवीरौ च शिखोदश्चाष्ट तत्र ते ।

यह उमा शक्ति ब्रह्मा के उद्गमस्थल कमल की कर्णिका में प्रवेश कर लोक संहार के लक्ष्य से चारों लोकों को दग्ध कर जन आदि लोकों का निर्माण करती है । जिसकी स्वात्म स्पन्दित इच्छा से रुद्राणी देवी (उमादेवी) सत्त्वादि गुणों का शरीर धारण कर प्रत्येक कल्प में पुनः इनका विसर्जन करती है । उपसंहार और विसर्ग की यह लीला प्रतिकल्पों में क्रिया शक्त्यात्मिका वेदी पर सम्पन्न होती है । इस वेदिका पर सम्पन्न यह अद्भुत याग भगवान पशुपति पूरा करते हैं । इसमें इन्द्र, उपेन्द्र और ब्रह्मा साधन उपलब्ध कराते हैं। गन्धर्व, यक्ष राक्षस, पितर मुनि आदि से चित्र विचित्र यह क्रतु क्रियात्मिका शक्ति के परिवेश का एक शाश्वत अनुष्ठान है ॥ २६९–२७१ ॥

गुणों की अक्षुब्धवस्था में प्राप्त साम्य ही अव्यक्त है। गुणों के परे क्रोधेश, चण्ड, संवर्त्त, ज्योतिः पिङ्गल, पञ्चान्तक, एक वीरेश, और शिखोद ये आठ भुवनपाल होते हैं । इनकी चर्चा श्रीरुरु और श्री नन्दिशिखा शास्त्रों में भी

'परं साम्यम्' इति अक्षुब्धतयावस्थानम्, अत एव 'अव्यक्तम्' इत्युक्तम्। इह सर्वत्र भुवनेश्वराणामादिग्रहणेनैव प्रक्रान्तेऽपि संग्रहे स्वकण्ठेनैव पाठेऽयमाशयो—यदत्र बहूनि शास्त्रातन्त्रेष्वसमञ्जसानि पाठान्तराणि संभवन्ति,—इति श्रोतॄणां मा भूत्संमोहः—इति। तदुक्तं श्रीरुरौ

'क्रोधेशचण्डसंवर्तज्योतिःपिङ्गलसूरकाः ।
पञ्चान्तकैकवीरेशशिखोदाख्या महेश्वराः ॥' इति।

श्रीनन्दिशिखायामपि

'अष्टौ भुवनपाला ये क्रोधेशश्चण्डसंज्ञकः ।
संवर्तः पिङ्गलो ज्योतिस्तथा पञ्चान्तको विभुः ॥
एकवीरः शिखोदश्च गुणानां परतः स्थिताः ।' इति ॥ २७२ ॥

अत्रापि शिवतनावुक्तं विशेषं दर्शयति

गहनं पुरुषनिधानं प्रकृतिर्मूलं प्रधानमव्यक्तम् ॥ २७३ ॥
गुणकारणमित्येते मायाप्रभवस्य पर्यायाः ।

नन्वेवमभिधानामत्र प्रवृत्तौ किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

यावन्तः क्षेत्रज्ञाः सहजागन्तुकमलोपदिग्धचितः ॥ २७४ ॥
ते सर्वेऽत्र विनिहिता रुद्राश्च तदुत्थभोगभुजः ।
मूढविवृत्तविलीनैः करणैः केचित्तु विकरणकाः ॥ २७५ ॥

की गयी है। श्री रुरु शास्त्र में कहा गया है कि, "क्रोधेश चण्ड, संवर्त्त, ज्योतिः पिङ्गल, पञ्चान्तक एक वीरेश और शिखोद नामक महेश्वर भुवनों को रक्षा करने वाले भुवनपाल हैं।"

श्री नन्दिशिखा में कहा गया है कि—"आठ भुवनपाल प्रसिद्ध हैं। क्रोधेश, चण्ड संवर्त्त, पिङ्गल, ज्योति, पञ्चान्तक, एक वीर और शिखोद उनके नाम हैं।"

शिवतनु शास्त्र में कहा गया है कि माया से उत्सृष्ट तत्त्वों के पर्याय ही—'गहन ही पुरुष' प्रकृति ही मूल, प्रधान ही अव्यक्त आदि हैं। ये त्रिगुण के कारण हैं। ये सभी माया से उत्पन्न प्रतीक तत्त्वों के पर्याय हैं। यह पुरुष प्रधान निर्मिति है। इसमें जितने क्षेत्रज्ञ हैं—वे आणव, कार्म और मायीय मलों से

यतोऽत्र सर्व एव क्षेत्रज्ञा रुद्रा वा विनिहिताः सन्तः केचिन्मूढादिरूपैः करणैस्तदुत्थं भोगं भुञ्जते, केचित्तु विकरणा एव,—इति । 'सहज' आणवः । 'आगन्तुकौ' कार्ममायीयौ ॥ २७५ ॥

मूढादिरूपत्वमेव व्याचष्टे

अकृताधिष्ठानतया कृत्याशक्तानि मूढानि ।
प्रतिनियतविषयभाञ्जि स्फुटानि शास्त्रे विवृत्तानि ॥ २७६ ॥
भग्नानि महाप्रलये सृष्टौ नोत्पादितानि लीनानि ।
इच्छाधीनानि पुर्नविकरणसंज्ञानि कार्यमप्येवम् ॥ २७७ ॥

'कृत्यं' शब्दाद्यालोचनम्; अत एव बाधिर्यादिविशिष्टवृत्तित्वे हेतुः 'प्रतिनियतविषयभाञ्जि' इति । सृष्टावनुत्पाद एव लीनत्वे हेतुः । 'इच्छाधीनानि' इति स्वात्मायत्तानीत्यर्थः । अत एव श्रीकण्ठादीनां स्वतन्त्रेन्द्रियत्वम् । यदुक्तमत्रैव

'तेषूमापतिरेव प्रभुः स्वतन्त्रेन्द्रियो विकरणात्मा ।' (त० ८।२२९)

एवमिति, मूढादिभेदाच्चतुर्धा ॥ २७७ ॥

सहज और आगन्तुक मलों से प्रभावित हैं। उनकी चेतना प्रायः दग्ध हो चुकी होती है। इससे प्रभावित रुद्र भी गुण से उत्पन्न भोगवाद में प्रवृत्त होकर करणों द्वारा भोगों का उपभोग करते हैं। कुछ रुद्र विकरणक हो रह जाते हैं॥ २७२-२७५ ॥

विकरण अवस्था के विपरीत करण द्वारा भोग-रत मूढ पुरुष एक प्रकार से अधिष्ठान रहित और पुण्य हीन होते हैं। कोई समय बद्ध प्रक्रिया ये प्रारम्भ नहीं कर सकते। प्रतिनियत विषय ग्रस्त और शास्त्रीय परम्पराओं से शून्य रहते हैं। महाप्रलय में सर्वनाश के बाद उत्तर सृष्टि में पुनः इनको स्थान नहीं मिलता। इनकी यह चार प्रकार की दशा इनकी मूढता का ही परिणाम हैं। जो विकरण स्तरीय महापुरुष हैं, उनका सर्जन उनकी इच्छा पर निर्भर करता है। उनके कार्य भी संस्कार सम्पन्न ही होते हैं। जो विकरणात्मक हैं जैसे श्रीकण्ठ आदि, ये सभी स्वात्मायत्त सृजन के अधिकारी होते हैं श्रीत० ८।२३३ में कहा गया है कि, "उनमें उमापति ही सर्व समर्थ प्रभु हैं। स्वातन्त्र्य सम्पन्न जितेन्द्रिय और करण जन्य दुष्प्रभाव मुक्त महेश्वर यही हैं॥२७६-२७७॥

पुंस्तत्त्वे तुष्टिनवकं सिद्धयोऽष्टौ च तत्पुरः ।
तावत्य एवाणिमादिभुवनाष्टकमेव च ।। २७८ ।।

तावत्यो, नवाष्टौ च । तदुक्तम्

'अम्बा च सलिला ओघा वृष्टिः सार्धं च तारया ।
सुतारा च सुनेत्रा च कुमारी च ततः परम् ।।
उत्तमाम्भसिका चैव तुष्टयो नव कीर्तिताः ।
तारा चैव सुतारा च तारयन्ती प्रमोदिका ।।
प्रमुदिता मोदमाना रम्यका च ततः परम् ।
सदाप्रमुदिका चैव सिद्धयष्टकमुदाहृतम् ।।

पुरुष तत्त्व में ९ प्रकार की तुष्टि और आठ प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं। उनके भुवन भी अणिमादिक ८ ही होते हैं। अम्बा, सलिला, ओघा, दृष्टि, तारा, सुतारा सुनेत्रा कुमारी, उत्तमाम्भसिका ये नव तुष्टियाँ है। तारा, सुतारा तारयन्ती, प्रमोदिका, प्रमुदिता मोदमाना रम्यका और सदा प्रमुदिका ये आठ सिद्धियाँ हैं। अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये ऐश्वर्य सिद्धियाँ हैं। इन्हीं नामवाले देवताओं से ये अधिष्ठित भी हैं। तुष्टियों और सिद्धियों के वर्णन सांख्य में बुद्धि के धर्म के रूप से उपलब्ध हैं। इस दर्शन में जिनकी चित् शक्ति संकुचित हो गयी है, कला आदि कञ्चुकों से संकुचित होने के कारण जिनके विवेक कुण्ठित हो गये हैं, ऐसे भोग रागरक्त पुरुषों के लिये ये तुष्टियाँ और सिद्धियाँ आवरण रूप ही होती हैं।

स्व० तन्त्र १०।१०६९ से १०७२ तक के श्लोकों में उल्लेख है कि,

"प्रकृति के ऊर्ध्व परिवेश में पुरुष तत्त्व का विस्तार है। पुरुष तत्त्व पारमेश्वर-स्वरूप गोपन क्रम में संकुचित चिदाभास तत्त्व है। यह गुणों की अविभाग अवस्था रूप प्रधान तत्त्व से ऊपर अवस्थित है। इसमें तुष्टियों, सिद्धियों और ऐश्वर्य सिद्धियों का आवास है। उक्त तन्त्र के १०।१०७० के अनुसार, तुष्टियों के नाम इस प्रकार हैं। अम्बा, सलिला, ओघा, वृष्टि, तारा, सुतारा, सुनेत्रा कुमारी और उत्तमाम्भसिका ये नव तुष्टियाँ हैं। इसी तरह १०।१०७१ के अनुसार तारा, सुतारा, तारयन्ती, प्रमोदिका प्रमोदिता, मोदमाना, रम्यका और सदाप्रमुदिका ये आठ सिद्धियाँ भी पुरुष क्षेत्र में हैं। (सांख्य दर्शन में तुष्टियाँ और सिद्धियाँ

अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च।
प्राकाम्यं च तथेशित्वं वशित्वं यदुदाहृतम् ॥
यत्र कामावसायित्वमणिमाद्यष्टकं स्मृतम् ।'
(स्व० १०।१०६९-१०७३) इति ॥ २७८ ॥

तुष्टयादीनां च किं रूपम् ? इत्याशङ्क्याह

अतत्त्वे तत्त्वबुद्ध्या यः सन्तोषस्तुष्टिरत्र सा ।
हेयेऽप्यादेयधीः सिद्धिः

न चैतदस्मदुपज्ञमेवेत्याह

तथाचोक्तं हि कापिलैः ॥ २७९ ॥

बुद्धिकी धर्म रूप मानी गयी हैं। यहाँ संकुचित चित् स्वभाववान् कलादि-कंचुकांचित अविवेकी पुरुष की आवारक मात्र रूप से मान्य हैं) ये सभी अधि-देवता रूप होती हैं। यहो स्थिति अणिमा आदि ऐश्वर्य सिद्धियों की है। ये भी अणिमा आदि परमेश्वर योग क्रम साध्य ऐश्वर्य हैं। इन आठों से ये आठ ऐश्वर्य अधिष्ठित हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

१. अणिमा—शरीर को अत्यन्त सूक्ष्म बना लेने का सामर्थ्य।
२. लघिमा—रूई की तरह अत्यन्त हल्का होने का सामर्थ्य।
३. महिमा—अपने रूप को अत्यन्त विशाल बना लेने की क्षमता।
४. प्राप्ति—संकल्प मात्र से जिस देश में जाने की इच्छा हो वहाँ उपस्थिति को क्षमता।
५. प्राकाम्य—एक शरोर को एक ही क्षण में अनन्त बना लेने की शक्ति।
६. ईशित्व—ऐश्वर्य युक्त हो जाने की तत्कालीन क्षमता।
७. वशित्व—समस्त प्राणियों को वश में कर लेने की क्षमता।
८. कामावसायित्व—संकल्प मात्र से ही देशकाल स्वभाव वस्तु निश्चय सामर्थ्य।

कुछ लोग गरिमा को भी अलग मानते हैं। पर उसका अन्तर्भाव महिमा में हो जाता है ॥ २७८ ॥

तदाह

आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
पञ्च विषयोपरमतोऽर्जनरक्षासङ्गसक्षयविघातैः ।। २८० ।।
ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ।। २८१ ।।

तुष्टि एक परिभाषिक शब्द है। स्वमान्यतया अतत्त्व में तत्व बुद्धि हो जाने पर एक प्रकार का भौतिक सन्तोष प्राप्त होता है। वही तुष्टि है। हेय में भी उपादेय बुद्धि का नाम ही सिद्धि है। यह विषय कपिल सांख्य शास्त्र में अपने ढङ्ग से विवेचित है ।। २७९ ।।

कपिल के सांख्य दर्शन में कहा गया है कि आध्यात्मिक तुष्टियाँ चार प्रकार की होती हैं। ये चारों अनात्म रूप प्रकृति आदि में होती हैं। जैसे— प्रधान (मूल प्रकृति) और महान आदि भेदों से प्रकृति आठ प्रकार की मानी जाती है। यही विश्व की उत्पत्ति की निमित्त हैं। इसमें सङ्ग और द्वेष आदि दोष होते हैं। योगी लोग इनको हटाने का अभ्यास करते हैं। अभ्यास के इस अध्यवसाय में प्रकृति नामक एक तुष्टि होती है।

इसी तरह सामान्यतया हमेशा 'सबसे सब की उत्पत्ति होती है' इस नियम के अनुसार भावों (पदार्थों) के उत्पादक उपादान योगी की इच्छा के अनुरूप हों, ऐसे अध्यवसाय में रत साधक उपादानाख्या तुष्टि प्राप्त करता है। भावों की उत्पत्ति काल क्रम से होती है। अतः काल भी विश्व का कारण है। इसमें ही भोक्तृत्व का अध्यवसाय करने वाला योगी 'काल' नामक तुष्टि प्राप्त करता है। इसी तरह भाग्य विशेष से फलविशेष की दृष्टि से भाग्य भी विश्वोत्पादक माना जा सकता है। इसमें अध्यवसाय निष्ठ योगी को 'भाग्या' तुष्टि होती है।

विषयों के अर्जन में कष्ट ही कष्ट है, यह सोचकर विषयों से उपराम होने लगता है। दोष दर्शन से ताटस्थ्य प्राप्त योगी को अर्जन, रक्षण, संग, संचय और विघात ये पाँचों मिलाकर ९ तुष्टियाँ होती हैं। ऊह, शब्द, अध्ययन दुःख विघात के तीन, सुहृत्प्राप्ति और दान ये आठ सिद्धियाँ भी योगी के अध्यवसाय की परिणाम ही होती है। विपर्यय, अशक्ति और अतुष्टि नामक अङ्कुशों के कारण सामान्यतया सिद्धियों में सबकी प्रवृत्ति नहीं होती है।

'आध्यात्मिका' इति अनात्मरूपे प्रकृत्यादौ भवन्तीत्यर्थः। तत्र प्रधानमहदादिरूपतयाष्टविधा प्रकृतिरेव विश्वोत्पत्तिनिमित्तं नान्यत्,—इति तत्रैव सङ्गद्वेषादिनिवृत्तिनिमित्तं भोक्तृत्वाद्यध्यवस्यतो योगिनः प्रकृत्याख्या तुष्टिः। एवं च प्रकृतेरविशेषात् सर्वदा सर्वस्माच्च सर्वस्योत्पत्तिः स्यात्,—इति यथास्वोपादानं

इसकी तालिका इस तरह बनाई जा सकती है ।
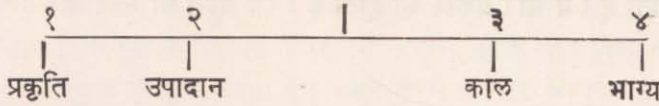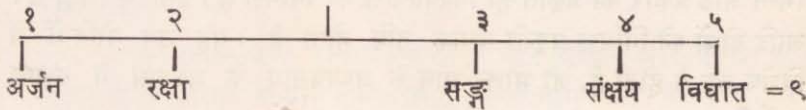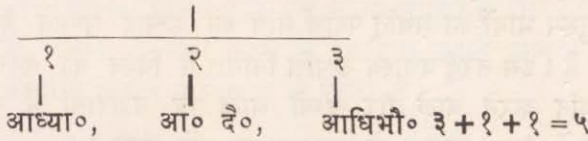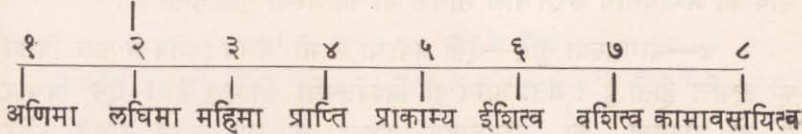
ये सभी पारिभाषिक शब्द हैं। यहाँ इनकी परिभाषा का विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है—

भावानामुत्पादो न्याय्यः,—इति । तदेव विश्वकारणम्,—इति पृथिव्यादावुपादान एव भोक्तृत्वाद्यध्यवस्यत उपादानाख्या । एवमपि कालमपेक्ष्य भावानामुत्पत्तिरिति स एव विश्वकारणम्—इति तत्रैव भोक्तृत्वाद्यध्यवस्यतः कालाख्या । एवमपि भाग्यविशेषात्फलविशेषः,—इति तेषामेव विश्वकारणत्वमिति तत्रैव भोक्तृत्वाद्यध्यवस्यतो भाग्याख्येति चतस्रः । पञ्चेति, बाह्यविषयोपरमस्य पञ्चहेतुत्वात्,

---

१. आध्यात्मिक—वह स्तर जहाँ अनात्म रूप प्रकृति आदि में तुष्टि को अनुभूति होती है । ये चार प्रकार की होती है । इन चारों का स्तर आध्यात्मिक होता है—

१—प्रकृति तुष्टि—यह स्पष्ट है कि प्रधान और महत् आदि भेदों से भिन्न आठ प्रकार की प्रकृति हो विश्वोत्पत्ति की निमित्त है । इसी में सङ्ग द्वेष आदि दोषों की निमित्त प्रकृति नामक तुष्टि होतो है । यह उन योगियों में विशेष रूप से होती है, जो भोक्ता भाव के अध्यवसाय के अभ्यास में संलग्न रहते हैं ।

२—उपादान तुष्टि—सामान्यतया प्रकृति के परिवेश में ही विना किसी विशेष की अनुसन्धानात्मक स्थिति में कभी साधक में यह अनुभूति स्पन्दित होने लगती हैं कि 'यह शाश्वत नियम है कि सबसे सबकी उत्पत्ति सम्भाव्य है' अतः यथानुरूप भावों का अर्थात् पदार्थ मात्र का उत्पाद सम्भव है और यह उचित भी है । इस तरह यथास्व उत्पत्ति निमित्त में विश्व की कारणात्मकता का परिदर्शन करने वाले और पृथ्वो आदि सब उपादानों में भोक्तृत्व के अध्यवसाय में संलग्न साधक को उपादानाख्या तुष्टि होती है ।

३—काल नामक तुष्टि—काल की अपेक्षा से हो पदार्थों की उत्पत्ति होती है । अतः काल ही विश्वोत्पत्ति का निमित्त है । इस विमर्श में वहीं भोक्ता भाव का अध्यवसाय करने वाले साधक को कालाख्या तुष्टि होती है ।

४—भाग्याख्या तुष्टि—ऐसी अवस्था में भी 'भाग्य विशेष से फल विशेष की उत्पत्ति होती है' । अतः भाग्य ही विश्वोत्पत्ति निमित्त है । ऐसे विचार में जो भोक्तृत्व का अध्यवसाय करता है, उसे भाग्य नामक तुष्टि होती है ।

२. बाह्यविषयगत तुष्टियाँ ५ प्रकार की होती हैं—

ते चार्जनादयः, सर्वस्य सुखार्थं विषयेषु प्रवृत्तिः न च तेभ्यः कदाचिदपि तद्भवेत् यद्विषयाणामर्जनादौ त्रितये यतमानस्य पुंसः कष्टमेव, एवमपि एषामाकस्मिकः स्वयमेव संक्षयः,—इति महत्कष्टम् न चैतत्परोपघातं विना सिद्धयेत्—इति कष्टात्कष्टतरम्। तदेषामेवं दोषदर्शनान्माध्यस्थ्यमवलम्बमानस्य योगिनः पञ्चेति नवाम्बाद्यास्तुष्टयः क्रमेण उक्ताः। अनेन च पाठेनैवमीश्वरकृष्णः

१—अर्जन—बाह्य विषयों में उपरति रूप तुष्टि का यह पहला रूप होता है। इसमें नाम के अनुकूल ही उपलब्ध्यात्मक तुष्टि होती है। कहते यह हैं कि सामाजिक सुख के लिए ही विषयों में प्रवृत्ति होती है। किन्तु इनमें क्रमिक रूप से कष्ट ही हाथ लगता है। अर्जन करने में घोर अध्यवसाय को सुख तो मानते हैं पर वास्तव में चित्स्वाभाव्य के संकोच का इन्द्रजाल ही वहाँ काम करता है।

२—रक्षा—वस्तु को प्राप्त करने के घोर परिश्रम और प्राप्त वस्तु के रक्षण से अध्यवसाय में योग क्षेमात्मक तुष्टि का नाम रक्षा है। किन्तु वास्तविकता यह है कि न अर्जन और न रक्षा ही अपने वश की बात है। अपने वश में तो कष्ट ही कष्ट है। अर्जन से कष्ट रक्षा में कष्ट ! यह दशा सङ्ग नामक तुष्टि की है।

३—संग—संकुचित पुरुष क्या करना चाहता है और क्या होता है ? और नहीं तो मन के ऊपर जागतिक इन्द्रजाल अपने आकर्षण के व्यामोह से उसे आसक्ति के गर्त में गिराता हो रहता है।

४—संक्षय—सब कुछ सक्रियता के नाम लग जाता है। शेष शून्य बच रहता है। विवशता की बयार सब कुछ उड़ा ले जाती है। अन्त में सारा किया-धिया टॉय-टाँय फिस हो जाता है। उस समय जो कष्ट होता है, वह हर एक पुद्गल पुरुष की अनुभूति का विषय है।

५—अपने स्वार्थ की पूर्त्ति रूप तुष्टि के लिए परोपघात का अनर्थकारी आश्रय ! यह तो जीवन का हारा हुआ जुआ बन जाता है। दुर्भाग्य तो यह कि पुद्गल पुरुष को इनमें तुष्टि का अनुभव होता है।

इनमें दोष दर्शन करने वाले भाग्यशाली साधक वर्ग की कुछ दूसरी ही अवस्था होती है । ऐसे पुरुष माध्यस्थ्य का अवलम्बन करते हैं। उनके लिए

शिक्षितो—यदन्यथा नवानां तुष्टीनां स्वकण्ठेनैवोपादानं स्यादिति । ऊहः प्रत्यक्षा-दिप्रमाणव्यतिरेकेण स्वयमेव तत्तदर्थविषयः प्रत्ययः, शब्दः स्वयमेवमप्रतिपत्तौ तद्विषयः सकृद्गुरूपदेशः, अध्ययनमेवमप्रतिपत्तौ तत्रैव पौनःपुन्येनाभ्यासः एषां पञ्च प्रत्यनीका दुःखत्रयं सन्देहो दौर्भाग्यं चेति । तत्र दुःखत्रस्य शास्त्रान्तर-

---

पूर्वोक्त अम्बा आदि तुष्टियाँ ही उनके जीवन की दिशा का निर्धारण करती हैं। इस सन्दर्भ में ईश्वर कृष्ण पर कटाक्ष करते हुए जयरथ ने नौ तुष्टियों की ओर संकेत किया है।

सिद्धियों सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द निम्नलिखित हैं—

१. 'ऊह'—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के व्यतिरिक्त स्वयम् एव उन विषयों में विशिष्ट विश्वास उत्पन्न होना ऊह कहलाता है। यह भी एक प्रकार की सिद्धि है।

२. 'शब्द'—उपदेश । स्वयम् किसी विषय का प्रत्यय न होने पर गुरु के शब्दों द्वारा विश्वास ही 'शब्द' रूप सिद्धि है।

३. अध्ययन—किसी प्रकार प्रत्यय न होने पर स्वयम् शास्त्रों का अनवरत स्वाध्याय उस साधक को एक विनिश्चय के विन्दु पर ला बिठाता है। यही अध्ययन रूप स्वाध्याय सिद्धि है।

सिद्धियों के प्रत्यनोक—[४, ५, ६] तीन दुःख—

४. आध्यात्मिक दुःख— बात, पित्त और कफ आदि दोषों से उत्पन्न शारीरिक कष्ट तथा काम क्रोध आदि से उत्पन्न मानसिक दुःख आध्यात्मिक कहलाते हैं।

५. आधिदैविक—यक्षों, राक्षसों और ग्रहादिकों से उत्पन्न दुःख आधि-दैविक होते हैं।

६. आधिभौतिक—सर्प, व्याघ्र और अन्य प्राणियों से उत्पन्न दुःख आधिभौतिक दुःख कहलाते हैं। कुछ लोग १६ प्रकार के दुःख मानते हैं।

७. सन्देह—अनवधारणात्मक ज्ञान हो सन्देह होता है। यह उभय कोटिक होता है।

दृष्टैरुपायैर्विघातं कृत्वा कल्याणमित्रपरिचयाच्च सन्देहं व्युदस्य, दानेन च दौर्भाग्यमपाकृत्य पूर्वेषां त्रयाणामन्यतमेन साधयन्ति,—इत्यष्टौ सिद्धयस्ताराद्याः क्रमेण उक्ताः। ननु सर्वेषामविशेषेणैताः सिद्धयः किं न स्युरित्याशङ्क्योक्तम् 'सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः' इति पूर्वो विपर्ययाशक्त्यतुष्टिलक्षणोऽङ्कुशो निरोध-कारित्वात्, तेनाविशेषेण सर्वप्राणिषु सिद्धीनामप्रवृत्तिरिति ॥ २८१ ॥

अणिमाद्यूर्ध्वतस्तिस्रः पङ्क्तयो गुरुशिष्यगाः ।
तत्रापि त्रिगुणच्छायायोगात् त्रित्वमुदाहृतम् ॥ २८२ ॥
नाडीविद्याष्टकं चोर्ध्वं पङ्क्तीनां स्यादिडादिकम् ।

तत्रापीति, अपिशब्देन न केवलं गुणतत्त्वे गुरूणां गुणत्रययोगितया त्रित्वमुक्तं यावदिहापि,—इत्यभिहितम् । तदुक्तम्

---

८. दौर्भाग्य-भाग्य की वैपरीत्यात्मक स्थिति । इन तीनों से तीनों दुःखों के विघात शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट उपायों से होता है । सुहृत्प्राप्ति और कल्याण-कारी मित्रों द्वारा सन्देह का नाश होता है । दान के द्वारा दौर्भाग्य का ध्रुव रूप से ध्वंस हो जाता है । इस प्रकार से इनमें अधिष्ठित तारा आदि सिद्धियों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है ।

अङ्कुश—

१. विपर्यय – उल्टी बातों के संस्कार । सिद्धि के लिए उद्यत साधक में यह सबसे पहले जन्म लेता है ।

२. अशक्ति—नाम के अर्थ से व्यक्त ।

३. अतुष्टि—अन्वर्थ, तुष्टि का अभाव ।

ये तीनों सिद्धियों के निरोधक हैं । इनके कारण ही प्राणियों में सिद्धियों के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है । सिद्धि के चाहने वालों को सर्वप्रथम इनका उपाय कर ही आगे कदम बढ़ाना चाहिए । ऐश्वर्य सिद्धियों की परिभाषा पहले ही दी जा चुकी है ॥ २७९–२८१ ॥

अणिमा आदि अष्टकों के ऊपर गुरु शिष्यों की तीन पंक्तियाँ हैं । इनमें २२ गुरुजनों की पहली पंक्ति है । मस्करी से भदन्त तक के ये गुरुजन दृष्टादृष्ट मान्यताओं के उपासनात्मक और स्वतः प्रत्ययात्मक दोनों पक्षों पर विश्वास करने

अथोर्ध्वं गुरुशिष्याणां पङ्क्तित्रयमतः शृणु ।
मस्करी पूरणः कृत्स्नः कपिलः काश एव च ॥

सनत्कुमारगौतमवसिष्ठाद्यांशकास्तथा ।
काश्यपो नासिकेतुश्च गालवो भौतिकस्तथा ॥

शाकल्यस्तु समाख्यातो दुर्वासाः परमो मुनिः ।
वाल्मीकिश्च गुरुश्रेष्ठः सपराशरगालवः ॥

पिप्पलादश्च सौमित्रो वायुपुत्रो भदन्तकः ।
मस्कर्यादिभदन्तान्ता दृष्टादृष्टस्य वादिनः ॥

द्वाविंशतिर्गुरुवराः प्रथमा पङ्क्तिरिष्यते ।
जह्नुश्च तृणविन्दुश्च मुनिस्ताक्ष्यर्स्तथैव च ॥

ध्यानाश्रयोऽथ दीर्घश्च होताजगर एव च ।
अगस्त्यो वसुभौमश्च उपाध्याश्च कीर्तितः ॥

शुक्रो भृग्वङ्गिरा रामो जमदग्निसुतोर्ध्वगः ।
स्थूलगिरा बालखिल्यो मनुजश्चेति कीर्तितः ॥

वज्रात्रेयो विशुद्धश्च शिवश्चारुरथानुगः ।
जह्न्वादिचारुपर्यन्ता द्वितीया पङ्क्तिरिष्यते ॥

हरो जण्ठी प्रतोदश्च अमरेशश्चतुर्थकः ।
कृष्णपिङ्गेशरुद्रश्च इन्द्रजिद्वृषभः शिवः ॥

वाले विचारक लोग होते हैं । इनके नाम क्रमशः मस्करी, पूरण, कृत्स्न, कपिल, काश, सनत्कुमार, गौतम, वशिष्ठ, आद्यांशक, गालव (भौतिक) कश्यप, नासिकेतु, गालव, शाकल्य, दुर्वासाः, वाल्मीकि पराशर, पिप्पलाद, सौमित्रि, वायुपुत्र और भदन्त हैं ।

इसके ऊपर रजः स्पर्श प्रधान शिष्यरूपी ऋषिवृन्द रहते हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं—जह्नु, तृणबिन्दु, मुनि, ताक्ष्र्य, ध्यानाश्रय, दीर्घ, होता अजगर, आगस्त्य, वसुभौम, उपाध्याय, शुक्र, भृगु, अंगिरा, परशुराम, ऊर्ध्वग, स्थूलशिरा बालखिल्य, मनुज, बज्र, आत्रेय विशुद्ध, शिव और चारु । जह्नु से चारु पर्यन्त २५ ऋषियों की यह दूसरी पंक्ति है ।

यमः क्रूरश्च विख्यातो गङ्गाधर उमापतिः ।
भूतेश्वरः कपालीशः शङ्करश्च तथैव च ॥
अर्धनारीश्वरश्चैव पिङ्गलश्च तथा परः ।
महाकालश्च संवर्तो मण्डली त्वेकवीरकः ॥
तथा चान्यश्च विख्यातो भारभूतेश्वरो ध्रुवः ।
जह्न्वाविचारुपर्यन्ता ऋषयः पञ्चविंशतिः ॥
हरादयो ध्रुवान्ताश्च गुरवो विंशतिः स्मृताः ।'

(स्व० १०।१०७४-१०८६) इति ।

सत्त्व संस्पर्श भूमि की तीसरी पंक्ति के क्रम में हर जण्ठी, प्रतोद, अमरेश, कृष्णरुद्र, पिङ्गेशरुद्र, इन्द्रजित् वृषभ, शिव, यम, गङ्गाधर, उमापति, कपालीश, शङ्कर अर्धनारीश्वर, पिङ्गल, महाकाल, संवर्त्त, एकवीरक, भारभूतेश्वर और ध्रुव, ये २० ऋषि आते हैं।

ऋषियों की ये तीनों पंक्तियाँ त्रिगुणच्छाया से प्रभावित पंक्तियाँ हैं। गुणों के त्रित्व की तरह पंक्तियों में भी त्रित्व स्वाभाविक है। इन तीनों के ऊपर नाडोविद्याष्टक मण्डल है। ये नाडियाँ पुर्यष्टकों से सम्बन्धित हैं। इनके नाम चूड़ा, चन्द्रिणी, गौरी, शान्ति, माला, मालिनी, स्वाहा और स्वधा हैं। स्व० तन्त्र १०।१०७४ से १०८५ तक इस विषय का विशद वर्णन है।

वहाँ गुरु शिष्यों की तीनों पंक्तियों का उनके निवासो गुरुजनों, शिष्यों और ऋषियों के नाम स्पष्ट रूप से दिये गये हैं। श्रीतन्त्रालोक में आचार्य ने मात्र तीन पंक्तियों का उल्लेख कर यह निर्देश किया है कि यह त्रित्व त्रिगुण की छाया के योग के प्रभाव से विकसित है। इन पंक्तियों के ऊपर भी नाड़ी विद्याष्टक का संकेत किया गया है। राजानक जयरथ ने योग्य व्याख्याकार के ही अनुरूप स्वच्छन्द तन्त्र से उन उद्धरणों को यहाँ उद्धृत कर अध्येता वर्ग का महान् उपकार किया है। स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार सारे नाम हिन्दी भाष्य में दे दिये गये हैं। प्रथम पंक्ति में २२ नाम मस्करी से लेकर भदन्त पर्यन्त होते हैं। इनमें आद्यांशक शब्द से सनक और सनन्दन की गणना अभिप्रेत है। गालव दो हैं। एक भौतिकवादी और दूसरे पराशर के सहचारी। इस तरह २२ नाम पूरे होते हैं।

अत्र च पङ्क्तिद्वये गुरुशब्दोपादानान्मध्यमायां पङ्क्तौ शिष्या एव,—इत्यर्थ-सिद्धम् । नाडीरूपाश्च ता विद्यास्तदधिष्ठातृदेवता इत्यर्थः । तदुक्तम्

'इडा च चन्द्रिणी चैव शान्तिः शान्तिकरीतथा ।
माला च मालिनी चैव स्वाहा चैव सुधा तथा ॥'

(स्व० १०।१०८५) इति ॥ २८२ ॥

ननु नाड्यधिष्ठातृदेवतानां पुंस्तत्त्वावस्थाने किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

पुंसि नादमयी शक्तिः प्रसराख्या च यत्स्थिता ॥ २८३ ॥

चोऽवधारणे । यद्यस्मात्पुंस्तत्त्वाधिष्ठातरि संकुचितरूपत्वात् अणुशब्दादि-व्यपदेश्ये पुंस्येव, नदति स्वात्माभेदेन विश्वं परामृशति इति 'नादः' स्वातन्त्र्या-त्मपरकर्तृत्वलक्षणो विमर्शः, तन्मयी शक्तिर्बहीरूपतया प्रसरणशीलत्वात् प्रसराख्या स्थिता, क्रियाशक्तिपर्यन्तेन स्थूलरूपेण स्फुरतीत्यर्थः । इदमुक्तं भवति, चिच्छक्तिरेव हि स्वस्वातन्त्र्यात् संकुचितात्मरूपतामाभास्य देहाद्यात्मतामपि जिघृक्षुः प्रथमं नाडीरूपतामियादिति । यदुक्तं प्राक्

दूसरी पंक्ति शिष्यों की पंक्ति है क्योंकि ऊपर और नीचे की पंक्तियों के लिए गुरु पंक्ति का स्पष्ट निर्देशन है। शिष्यों की इस पंक्ति में २५ शिष्यों की गणना है। तीसरी गुरु पंक्ति में देवश्रेणी के गुरुवर्य हैं। इनकी संख्या २० मानी गयी है।

नाडियों के नाम से हो नाडी नामक विद्याओं की अधिष्ठात्री देवियों के भी नाम हैं। इनका संकुचित पुंस्तत्त्व में हो अवस्थान अनिवार्य है। ये सभी नादमयी शक्तियाँ हैं। 'नाद' स्वात्म से अभेदभाव से विश्व के परामर्श को कहते हैं। इसे स्वातन्त्र्य सम्पन्न विमर्श भी कहते हैं। चूँकि विमर्शमयी यह चित्शक्ति बाहर को ओर प्रसरण शील है। इसलिए इसे 'प्रसरा' शक्ति भी कहते हैं। स्वात्मस्वातन्त्र्य के प्रभाव से संकुचित चिति देह आदि आकृति ग्रहण की इच्छा करती है और पहले पहल नाडी रूप में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। श्री० तन्त्रा० ७।६६ में की इसकी चर्चा है। वहाँ प्राण की प्रतिष्ठा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि,

'चित्स्पन्दप्राणवृत्तीनामन्त्या या स्थूलता सुषिः ।
सा नाडीरूपतामेत्य देहं सन्तानयेदिदम् ॥'

(तं० ७।६६) इति ॥ २८३ ॥

ननु भवेदेवं यदि पुंसः कर्तृत्वं सिद्धयेत्, तदेव पुनरतिदुर्लभं यत् तथात्वेऽस्य क्षीरादिवदचैतन्यं स्यात्, – इत्याशङ्क्याह

न ह्यकर्ता पुमान्कर्तुः कारणत्वं च संस्थितम् ।

एवं हि भुजिक्रियाकर्तृत्वायोगात् भोक्तृत्वमपि अस्य न स्यात् । ननु भवद्भिर्जगतां कार्यत्वं साधयितुं पुंसः कर्तृत्वमभ्युपेयते, तच्च अस्माकं प्रकृतिरेव उद्वोढुमुत्सहते, – इति किं तेन अचैतन्याधायिना, – इत्याशङ्क्योक्तं 'कर्तुः कारणत्वं च संस्थितम्' इति । कर्तुरिति न तु जडस्य प्रकृत्यादेः । एतच्च समनन्तराह्निक एव साधयिष्यते तत एवावधार्यम् ॥

"प्राण में काल प्रतिष्ठित है । शरीर प्राण से आविष्ट है । देह में प्रतिष्ठित प्राण के पहले ही निरूपित कई स्वरूप हैं । पहली 'चित्' है । पहले 'संवित्' ही प्राणरूप में परिणत हुई थी । दूसरा स्वरूप उसका स्पन्द है । 'स्पन्द' एक पारिभाषिक शब्द है । महार्थ मञ्जरीकार इसे परामर्शात्मिक चमत्कार[1] कहते हैं । तीसरी है प्राणवृत्ति । इन तीनों वृत्तियों में कार्य जननौन्मुख्य व्यापार होता है । इन वृत्तियों में अन्तिम अवस्था को 'सुषि' कहते हैं । 'सुषि' अन्तिम स्थूलता में रूपायित होती है । यह 'सुषि' ही नाडीरूपता को प्राप्त कर देह को पूरा आयाम प्रदान करती हैं । 'सुषि' रूप स्थूलता का अर्थ बाह्य की ओर विस्तार की स्थिति का एक रूप है । पैर के अंगुष्ठ में व्यक्त होकर यह नाभि और हृदय देश होती हुई सुषुम्ना रूप से स्फुरित होती है । प्राणियों के प्राणसंचार की यह मुख्य कारण है । सारी अन्य नाड़ियाँ शरीर को पूर्णता प्रदान करने में विशेष सहायक हैं" ॥२८२–२८३॥

यह नादमयी शक्ति पुंस्तत्त्व में स्थिर है । यह ध्यान देने की बात है कि जगत् रूपी कार्य की साधिका यद्यपि प्रकृति है परन्तु पुमान् अकर्त्ता नहीं है । कर्त्तृत्व जड प्रकृति में नहीं रह सकता । दूध से दही की तरह यह जगत् मात्र जड़मयी उत्पत्ति की परम्परा नहीं अपि तु नादमयी प्रसराख्या चित् शक्ति का उल्लास है । अचैतन्य पुरुष के कर्त्तृत्व की कल्पना नहीं की जा सकती । कर्त्तृत्व का कार्य कारण भाव भी विशेष रूप से विचारणीय है ।

१. म० मञ्जरी का० ३४ पृ० ८०

ननु यद्यचैतन्यात्पुंसः कर्तृत्वं नाभ्युपेयेत तत्तथात्वेऽपि तन्नोपरमेत्, इत्याह

अकर्तर्यपि वा पुंसि सहकारितया स्थिते ॥ २८४ ।
शेषकार्यात्मतैष्टव्यान्यथा सत्कार्यहानितः ।

इह तावद्विश्वोत्पत्तौ प्रकृतिः कारणं सा च पुरुषमनपेक्ष्य न किंचिदाधातुं शक्नुयात् तत्संयोगेनैव विश्वोत्पादस्योक्तत्वात् । यदाहुः

पुरुषस्य दर्शनार्थः कैवल्यार्थस्तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संसर्गस्तत्कृतः सर्गः ॥
(सां २१ का०) इति ।

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् पुमानपि विश्वोत्पत्तौ कारणं, तच्च विश्वस्य तद्रूपानुवृत्त्यसंभवात् नोपादानरूपं किन्तु सहकारिरूपं तथात्वे च अस्योपादेयातिरिक्तसहकार्यात्मतावश्यमेषितव्यान्यथा सत्कार्यवादो हीयते,....इत्येवमपि अस्य विश्वात्मतापरिणामादचैतन्यमेवापतेत् ॥ २८४ ॥

प्रकृति विश्वोत्पत्ति में कारण है किन्तु पुरुष की अपेक्षा से ही वह सारे व्यापार कर सकती है । उसके संयोग को अनिवार्यता कार्योत्पत्ति का हेतु है । पङ्गु और अन्ध के संयोग से जैसे सदृष्टि गतिशीलता का कार्य सम्पन्न होता है, वैसे ही यहाँ भी प्रकृति पुरुष संयोग की अपेक्षा स्वीकार्य है । सांख्य का० २१ में कहा गया है कि,

"पुरुष का प्रधान संसर्ग दो उद्देश्यों को पूर्ण करता है—यह सम्बन्ध संसर्ग दर्शन और कैवल्यधाम की गतिशीलता है। इसी से सर्ग की संभूति होती है ।"

अन्वय व्यतिरेक पद्धति से पुमान् और प्रकृति दोनों विश्वोत्पत्ति में कारण हैं ऐसा सभी लोग मानते हैं । हाँ यह कारणता उपादान रूपा नहीं होती क्योंकि विश्व का तद्रूपानुवर्त्तन असम्भव है । स्वर्ण से स्वर्ण का आभूषण बनता है । स्वर्णकार उसे पुनः स्वर्ण रूप में बदल देता है । घड़े का निर्माण मिट्टी से होता है । पर उसमें दण्ड चोवर आदि भी कारण हैं । ये सहकारी निमित्त कारण हैं । उसी तरह पुरुष में भी सहकारी भाव से यह कारणता स्थिर है । यह उपादेयातिरिक्त स्थिति है ।

तदेवं विश्वोत्पत्तौ पुंस एव कर्तृत्वमेष्टव्यं येनास्य तत्तद्रूपोपग्रहेऽपि स्वस्वरूपाप्रच्युतेरचैतन्यं न स्यात्, तदाह

तस्मात्तथाविधे कार्ये या शक्तिः पुरुषस्य सा ॥ २८५ ॥
तावन्ति रूपाण्यादाय पूर्णतामधिगच्छति ।

'तथाविध' इति क्रियाशक्त्यात्मनि स्थूलरूपे। तावन्तीति, नाडीविद्यादिरूपाणि। पूर्णतामित्येवमपि स्वात्ममात्रविश्रान्तत्वात् ॥ २८५ ॥

इदानीं प्रकृतमेवानुसरति

नाड्यष्टकोर्ध्वे कथितं विग्रहाष्टकमुच्यते ॥ २८६ ॥

कथितमिति, सर्वशास्त्रे ॥ २८६ ॥

ऐसा न मानने पर सत्कार्यवाद की मान्यता में दोष होने लगेगा। पेरने से तिलों से तिल निकल आता है और दूहने पर गायों से दूध निकलता है, तिलों में तेल और गायों में दूध पहले से हैं, केवल पेरने और दूहने की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। यह अभिव्यंजक प्रक्रिया कारण रूपा है पर कार्य तो पहले ही विद्यमान है। इसलिए कहते हैं कि कारण व्यापार से पहले कार्य का अस्तित्व रहता ही है। उसी सत् पदार्थ से उसी की अभिव्यक्ति होती है। असत् वस्तु के कारण का अस्तित्व होता नहीं। सांख्यवादी तो सत्कार्यवादी होते ही हैं। कारण कार्य को दो तरह से उत्पन्न करता है। १–उससे संबद्ध होकर या २–उससे असंबद्ध होकर। पहला पक्ष सत्कार्यवादी का है। दूसरे पक्ष में बड़ी कठिनाई है। दूध से ग्वाला असंबद्ध है पर निमित्त होने से संबद्ध भी है। मिट्टी घट से सम्बद्ध है। पट से असम्बद्ध है पर मिट्टी से ही बिनौला अंकुर देता है और परम्परा से पट मिलता है। इसलिए असंबद्ध कारण कार्य को उत्पन्न नहीं करता यही मानते हैं। यहाँ प्रकृति पुमान् से असंबद्ध रहकर सर्ग का कारण नहीं बन सकती। कार्यकारण में अभेद सम्बन्ध भी माना जाता है। इसलिए कारण से पृथक् कार्य की सत्ता भी नहीं मानी जा सकती है। इन सम्बद्ध दृष्टियों से विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि विश्वोत्पत्ति में पुरुष का कर्तृत्व भी मान्य है। ऐसा मानने से अनन्त रूपों में अभिव्यक्त होने पर भी स्वातन्त्र्य के कारण स्वरूप से उसका प्रच्याव नहीं होता। इसलिए ऐसे कार्य में जो शक्ति कारण है, वह पुरुष की ही शक्ति

तदाह

कार्यं हेतुर्दुःखं सुखं च विज्ञानसाध्यकरणानि ।
साधनमिति विग्रहतायुगष्टकं भवति पुंस्तत्त्वे ।। २८७ ।।

कार्यं तन्मात्रं हेतुरिति, वागादीन्द्रियदशकात्मकारणम् । 'विज्ञान-साध्य' इत्यनेन बुद्धिकर्मेन्द्रियाभिव्यङ्ग्य ज्ञानमात्रं व्यापारमात्रं चोक्तम् । करणेति, अन्तःकरणत्रयम् । साधनमिति, सर्वकारणं प्रधानमित्यर्थः । विग्रहतायुगिति, सूक्ष्मशरीरारम्भकत्वात्, भवति—इति सूक्ष्मेण रूपेण, स्थूलेन रूपेणैषामुक्तत्वात्, परेण च रूपेण मायाया वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २८७ ॥

भुवनं देहधर्माणां दशानां विग्रहाष्टकात् ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्माकल्काक्रुधो गुरोः ।। २८८ ।।
शुश्रूषाशौचसन्तोषा ऋजुतेति दशोदिताः ।
पुंस्तत्त्व एव गन्धान्तं स्थितं षोडशकं पुनः ।। २८९ ।।

है यह सिद्ध हो जाता है। अनन्त रूपों और आकृतियों को ग्रहण करने वाली शक्ति का आनन्त्य सदा पूर्णता से ओत-प्रोत रहता ही है। फलितार्थ यह हुआ कि नाड्यष्टक में अधिष्ठात्री शक्तियाँ ही आकृति ग्रहण की ओर उन्मुख होती हैं ॥ २८५-२८६ ॥

कार्यात्मक सूक्ष्मदेह के आरम्भ में हेतु तन्मात्र को जागृत करने वाले पुंस्तत्त्व के आवरण को 'कार्य' कहते हैं। सूक्ष्मदेह स्थित अनभिव्यक्तप्राय बाह्येन्द्रिय के उत्थापक आवरण को 'करण' कहते हैं। ये दश इन्द्रियों की संज्ञा धारण करते हैं। सुख और दुःख के भोग सम्पादक दोनों के नाम क्रमशः सुख और दुःख हैं। अनभिव्यक्त ५ ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा ज्ञान मात्र और व्यापार मात्र के अधिष्ठाता एतन्नामक देव ही 'ज्ञान' और 'साध्य' हैं।

कारण रूप प्रधान तत्त्व का उत्थापक देवतामय आवारक तत्त्व 'कारण' हैं। अन्तः करण में व्याप्त तीन देव 'साधन' कहलाते हैं। ये सूक्ष्म और स्थूल दोनों शरीरों में रहते हैं। शरीर विग्रह है। इसलिए इन्हें विग्रहयुगाष्टक कहते हैं। अथवा सूक्ष्म स्थूल और परात्मक माया में रहने के कारण भी इनका यही नाम है ॥ २८७॥

आरभ्यदेहपाशाख्यं पुरं बुद्धिगुणास्ततः ।
तत्रैवाष्टावहंकारस्त्रिधा कामादिकास्तथा ॥ २९० ॥
पाशा आगन्तुकगाणेशवैद्येश्वरभेदिताः ।
त्रिविधास्ते स्थिताः पुंसि मोक्षमार्गोपरोधकाः ॥ २९१ ॥

विग्रहाष्टकादिति ऊर्ध्वम् । पुंस्तत्त्व एवेत्यर्थात्, दशविधस्यापि धर्मस्योर्ध्वम् । देहपाशेत्याद्यावृत्यापि एतदनन्तरं देहपाशानां सूक्ष्मदेहारम्भिणां विषयशब्दवाच्यानां शब्दादीनां पञ्चानामपि पुरं व्याख्येयम् । तदुक्तम्

'शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
विषयास्तु समाख्याताः शोधनीयाः प्रयत्नतः ॥'

(स्व० १०।१०९६) इति ।

एतच्च यद्यपि श्रीस्वच्छन्दे त्रिविधादहङ्कारादनन्तरमुक्तं तथापि इह विकारषोडशकसाजात्येनैवं व्याख्यातम् । शब्दादीनामेव च सर्वतोमुखं परं बन्धकत्वं समस्ति, – इति परसूक्ष्मस्थूलतयैषां तत्र तत्र पौनःपुन्येन शोध्यत्वेनाभिधानम्,— इति न कश्चिद्दोषः । कामादिकाः पाशास्त्रिविधा उदिता इति सम्बन्धः । एषां चात्र अवस्थाने हेतुर्मोक्षमार्गोपरोधका इति । तदुक्तम्

विग्रहाष्टकों से ऊपर, पुंस्तत्त्व के अन्दर देह पाशों (जिनसे स्थूल देह धारण होता है) की स्थिति उत्पन्न होती है। ये देह धर्म भी कहलाते हैं। वे निम्नलिखित हैं—१–अहिंसा, २–सत्य, ३–अस्तेय, ४–ब्रह्मचर्य, ५–अकल्कता, ६–अक्रोध, ७-गुरुशुश्रूषा, ८–शौच, ९–सन्तोष, १०–आर्जव। इनके व्यवहार से ही पुरुष धर्मकर्त्ता कहलाते हैं। स्व० १०।१०९० में भी यह प्रकरण यथावत् उपवर्णित है। वहाँ यह भी कहा गया है कि "शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये ५ विषय हैं। प्रयत्न पूर्वक इनका शोधन जीवन के उत्कर्ष के लिये आवश्यक है।"

अहंतत्त्व में ही १६ विकार होते हैं, जिनमें देह पाश प्रधान हैं। देशपाश १६ होते हैं 'जैसे ५ तन्मात्र' १० इन्द्रियाँ और १—मन। इसी में बुद्धि तत्त्व के गुण भी आते हैं। ये भो सूक्ष्म देहपाश रूप ही हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, राजस, तामस और सात्त्विक अहंकार, ऐ ग्यारह भी सूक्ष्म रूप से बाँधने वाले धर्म हैं।

'कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहः पैशुन्यमेव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिक्षुत्तृट्तृष्णास्तथैव च ॥
विषादश्च भयं चैव मदो हर्षणमेव च ।
रागो द्वेषश्च वैचित्यं कुपितानृतद्रोहिता ॥
माया मात्सर्यं धर्मश्च अधर्मश्चास्वतन्त्रता ।
आगन्तुकाश्च बोद्धव्या गणपाशान्निबोध मे ॥
देवी नन्दिमहाकालौ गणेशौ वृषभस्तथा ।
भृङ्गी चण्डेश्वरश्चैव कार्तिकेयोऽष्टमः स्मृतः ॥
अनन्तस्त्रितनुः सूक्ष्मः श्रीकण्ठश्च शिवोत्तमः ।
शिखण्डी चैकनेत्रश्च एकरुद्रस्तथा परः ॥
विद्येश्वराष्टकान्पाशान्दीक्षाकाले विशोधयेत् ।'
(स्व० १०।१०९९-११०४) इति ॥ २९१ ॥

नन्विह त्रिविधाः पाशाः—आणवः कार्मो मायीयश्चेति । तत्र विकार-षोडशकादेः पाशत्वं यद्यभिधीयते तदास्तां, स हि मायीयस्येव पाशस्य प्रपञ्चः, यत्पुनरिदं गणानां विद्येशानां च पाशत्वमुच्यते तदपूर्वमिव नः प्रतिभासते,—इत्याहशङ्क्याह

काम, क्रोध, लोभ, मोह पैशुन्य, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, क्षुधा, प्यास, तृष्ण, विवाद, भय, मद, हर्ष राग, द्वेष, वैचित्य, कुपितानृत द्रोहिता, मात्सर्य धर्म, अधर्म और पारतन्त्र्य ये सभी भोक्ता पुरुष में सूक्ष्म रूप में भोग्य रूप से स्थित आगन्तुक पाश हैं। साधक को इनके शोधन में सदा सावधान रहना चाहिये। इनमें आगन्तुक, गणेश और वैद्येश्वर पाशों के संयोजन से ये २७ होते हैं। ये सभी पाश मोक्षमार्ग के अवरोधक हैं। पाशबद्ध पशु, पशुपति के हाथ में रहता है। उन्हीं की कृपा से इस अपरम्पार ऊर्मिल पारावार मयी पार्थक्य प्रथा से मुक्ति मिल सकती है। स्व० तन्त्र १०।१०९९ से ११०४ तक की कारिकाओं में आगन्तुक मोक्षमार्गोपरोधक पाशों के उपरान्त गण और विद्येश्वर पाशों की चर्चा भी की गयी है। वे १६ हैं—देवी, नन्दी, महाकाल, गणेश, वृषभ, भृङ्गी, चण्डेश्वर और कार्त्तिकेय के अतिरिक्त अनन्त, त्रितनु, सूक्ष्म, श्रीकण्ठ, शिखण्डी, एकनेत्र, एकरुद्र और विद्येश्वर नामक दूसरा अष्टक भी वहाँ परिगणित है। दीक्षा में इनका शोधन आवश्यक है॥ २८८-२९१ ॥

यत्किंचित्परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात् ।
पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत्पाश उच्यते ॥ २९२ ॥

इह खलु पूर्वमुक्तस्वरूपात्प्रकाशैकमात्रवपुषः 'परात्' पूर्णाच्छिवात् यत्किंचित् न तु नियतमेव 'अन्यत्' अतिरिक्तं तन्निखिलमेव पाश उच्यते—बन्धकतयैव अभिमतमित्यर्थः। ननु परस्मात्प्रकाशादन्यन्नाम न किंचिदेव संभवेत् तदतिरेकेणास्य भानायोगात्, तथात्वे वा तदेकमात्ररूपत्वाद् तत्कस्य पाशत्वेन अभिधानम्? इत्याशङ्क्योक्तं 'परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात्' इति। स हि परः शिवः परमाद्वैतसंविद्रूपत्वेऽपि स्वातन्त्र्यसुन्दरो येन स्वं स्वरूपं गोपायित्वा तेन तेन संकुचितेन रूपेण प्रस्फुरेत्, यतोऽयं भेदप्रथात्मा मायीय एव मलः प्रबलतामियात् ॥ २९२ ॥

आणव, कार्म और मायीय पाशों की चर्चा पहले की जा चुकी है। सांख्योक्त षोडश विकारों को भी पाश कहा गया है। सम्भवतः ये सब मायीय पाश के ही प्रपञ्च प्रतीत होते हैं। आगन्तुक पाशों के साथ गणेश और विद्येश्वर सम्बन्धी पाश भी बन्धन प्रद होते हैं। ये पुंस्तत्त्व में ही उल्लसित हैं और मोक्ष मार्ग के अवरोधक हैं। इन पाशों का शोधन साधक वृन्द के लिये अनिवार्य है। दीक्षा के सन्दर्भ में इन के सबन्ध में विशेष जागरूक रहना चाहिये।

पाश मुख्यतः आणव, कार्म और मायीय ये तीन प्रकार के ही माने गये हैं। इनके अतिरिक्त गाणपत्य-वैद्येश्वर पाशों की बात समझ से परे लगती है। इस प्रकार की जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि इस सृष्टि के उल्लास में एक मात्र ललित ललितेश्वर, परमाद्वैत संविद्रूप, स्वातन्त्र्य सुन्दर परम शिव ही हंसः सोहं सत्त्व में अधिष्ठित परम तत्त्व है। उसके अतिरिक्त जो कुछ भी है, सभी पाश ही है। इसमें आश्चर्य का कोई कारण नहीं। प्रश्न है कि इस परम प्रकाश के अतिरिक्त इस विश्व में कुछ दूसरा बचता ही नहीं। अप्रकाश का भान तो असंभव ही है। ऐसी अवस्था में किसे पाश कहा जाय, इसका उतर स्वातन्त्र्य सुन्दर शब्द में है। स्वातन्त्र्य वश ही वह अपना गोपन कर संकुचित रूप से प्रस्फुरित होता है। परिणामतः भेद-प्रथा रूप मायीयमल प्रबल बनकर विश्व को पाश बद्ध बना देता है ॥ २९२ ॥

नन्वेवं वेदकैकस्वरूपात् पराच्छिवादन्ये वेद्यैकरूपास्तनुकरणादयो जडा यदि पाशत्वेनेष्यन्ते तदास्तां कथं पुनः वेदकैकस्वभावाः पररूपाः प्रमातारोऽपि ? इत्याशङ्क्याह

तदेवं पुंस्त्वमापन्ने पूर्णेऽपि परमेश्वरे ।
तत्स्वरूपापरिज्ञानं चित्रं हि पुरुषास्ततः ॥ २९३ ॥

इह खलु पारमेश्वराद्रूपात् भेदेन प्रथनं नाम बन्धो यदख्यातिरिति सर्वत्रोद्घोष्यते, तच्च वेदकानां वेद्यानां चाविशिष्टम्,—इति सर्वेषामपि पाशरूपतायां समानः पन्थाः। एवमपि तत्स्वरूपापरिज्ञाने पुंसामन्योन्यमतिशयः संभवेत् येनैषामपि वैचित्र्यम्। तथा हि—कस्यचिदेक एव मलः कस्यचित् द्वौ, कस्यचित्त्रयोऽपीति । एवमपि पाशरूपतायामेषां न कश्चिद्विशेषः, पारमेश्वरस्य स्वरूपापरिज्ञानस्य तादवस्थ्यात्। एवं च विद्येशत्वं त्वपरा मुक्तिः,—इत्यादि युक्तमेव। अत एव

वेदकैक पर रूप प्रमाताओं की पाशरूपता में संदेह की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि पूर्ण परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य के कारण स्वरूप गोपन कर जब जब इस रूप में व्यक्त होते हैं तो अपने ही 'स्व' रूप का परिज्ञान नहीं रह जाता। यही वैचित्र्य है। परमेश्वर के पर रूप से पार्थक्य प्रथा में प्रथित होना ही बन्धन है, यही अख्याति है। इस सन्दर्भ में तनु करण आदि वेद्य और गणपति विद्येश्वर प्रभृति वेदक सभी सामान्यतः पाश-सिद्ध हो जाते हैं। स्वात्म के परिज्ञान में श्रेणीगत आतिशय्य की स्थिति के कारण प्रभाव प्रमिति में अन्तर से विचित्रता का व्यामोह सबको विमुग्ध करता है। एक से दो या तीन और अन्य अधिक मलों से मलिन कोई भी हो पाशबद्ध तो उसे कहना ही पड़ेगा क्योंकि पारमेश्वर पर रूप का परिज्ञान उसे नहीं रह गया होता है। इसमें भी 'स्व' रूप के अपरिज्ञान के कारण विचित्र विचित्र अन्तर, अनुभूति के विषय हैं। किसी पाशबद्ध संकुचित पुरुष में एकमल, किसी में दो और किसी में तीनों मलों का प्राबल्य होता ही है। पाशबद्धता की दृष्टि से सभी समान हैं। इस अवस्था में पारमेश्वर पर 'स्व' रूप का अपरिज्ञान तो हो ही जाता है।

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।' (स्व० ४।४२९)

इत्याद्युक्तम् ॥ २९३ ॥

एवमिहापि अनुक्तं यत्किंचित्पराच्छिवादन्यत् तत्सर्वं पाशतयैव ज्ञेयमित्याह

उक्तानुक्तास्तु ये पाशाः परतन्त्रोक्तलक्षणाः ।
ते पुंसि सर्वे तांस्तत्र शोधयन्मुच्यते भवात् ॥ २९४ ॥
पुंस ऊर्ध्वं तु नियतिस्तत्रस्थाः शंकरा दश ।
हेमाभाः सुसिताः कालतत्त्वे तु दश ते शिवाः ॥ २९५ ॥
कोटिः षोडशसाहस्रं प्रत्येकं परिवारिणः ।
रागे वीरेशभुवनं गुर्वन्तेवासिनां पुरम् ॥ २९६ ॥
पुरं चाशुद्धविद्यायां स्याच्छक्तिनवकोज्ज्वलम् ।
मनोन्मन्यन्तगास्ताश्च वामाद्याः परिकीर्तिताः ॥ २९७ ॥
कलायां स्यान्महादेवत्रयस्य पुरमुत्तमम् ।

गणपत्यष्टक से उत्कृष्ट वैद्येश्वर अष्टक है। वह अपरा मुक्ति रूप ही है। स्व० ४।४२९ के अनुसार 'समना' पर्यन्त अनन्त पाश-राशि की कलना की जाती है। विद्येश्वर को अवस्था को अपरा मुक्ति ही मानते हैं, परा नहीं। इस तरह स्वात्म संज्ञान के अभाव का परिवेश पाश का परिवेश बन जाता है—यह स्वाभाविक है ॥ २९३ ॥

निष्कर्षतः महामाहेश्वर परमाचार्य का यह उद्घोष और निर्देश है कि उक्त और अनुक्त जितने भी पाश हैं, सभो पारतन्त्र्य परिलक्षक हैं। पुंस्तत्त्व में इनका उल्लास होता है। इनके परिशोधन से ही भवबन्धन से छुटकारा मिल सकता है।

'शंकरा' इत्येतत्संज्ञाः।

> **'वामदेवस्तथा शर्वस्तथा चैव भवोद्भवौ।**
> **वज्रदेह प्रभुश्चैव दाता च क्रमविक्रमौ॥**
> **सुप्रभेदश्च दशमो नियत्यां शंकरा स्मृताः।'**
> (स्व० १०।११०४) इति।

हेमाभा इति, शंकराः। सुसिता इति, शिवाः। तदुक्तम्

> **'हेमाभाः शंकराः प्रोक्ताः शिवाः स्फटिकसंनिभाः।'**
> (स्व० १०।११०८) इति।

> **'शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धश्च प्रशान्तः परमाक्षरः।**
> **शिवश्च सुशिवश्चैव ध्रुवश्चाक्षरशम्भुराट्॥**
> **दशैते कालतत्त्वे तु शिवा ज्ञेया वरानने।'**
> (स्व० १०।११०७) इति च।

वीरेशभुवनमिति, अर्थादष्टसंख्यावच्छिन्नम्। 'पुरम्' इति अन्यत् दशसंख्यावच्छिन्नम्। तदुक्तम्

> **'अत ऊर्ध्वं हरिहरौ रागतत्त्वे निबोध मे।**
> **संहृष्टः सुप्रहृष्टश्च सुरूपो रूपवर्धनः॥**
> **मनोन्मनो महावीरो वीरेशाः परिकीर्तिताः।'**
> (स्व० १०।१११२) इति।

पुरुषतत्त्व के ऊपर नियति मण्डल है। उसमें स्व० तन्त्र १०।११०४ के अनुसार वामदेव, शर्व, भव, उद्भव, वज्रदेह, प्रभु, दाता, क्रम, विक्रम और सुप्रभेद दश शंकर हैं। स्वर्ण के समान सौवर्णिक रमणीयता के वे आधार हैं। श्वैत्य से विभूषित हैं। काल तत्त्व में भी दश शिवों की कलना की गयी है।

स्व० तन्त्र १०।११०७ के अनुसार

"शुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध, प्रशान्त, परमाक्षर, शिव, सुशिव, ध्रुव, अक्षर और शम्भु ये इनके नाम हैं।"

इनमें प्रत्येक शिव के परिवार हैं। इनकी संख्या १ करोड़ १६ हजार आकलित की गयी है। रागतत्त्व में ८ वीरेश्वरों के भुवन हैं। स्व० तन्त्र १०।१११२ के अनुसार उनके नाम हरि, हर, संदृष्ट, सुप्रदृष्ट, सुरूप, रूपवर्धन, मनोन्मन और महावीर हैं। उनमें भुवनों में गुरु और शिष्य भाव से भी ये

कल्याणः पिङ्गलो बभ्रुर्वीरश्च प्रभवस्तथा ।
मेघातिथिश्छेवकश्च दाहकः शास्त्रकारिणः ॥
पञ्च शिष्यास्तथाचार्या वर्शते संव्यवस्थिताः ।'
(स्व० १०।११४) इति च ।

'ता' इति शक्तयः । तदुक्तम्

'वामा ज्येष्ठा च रौद्री च काली विकरणी तथा ।
बलविकरणी चैव बलप्रमथनी तथा ॥
सर्वभूतदमनी च तथा चैव मनोन्मनी ।'
(स्व० १०।११४४) इति च ।

अत्र च स्त्रीपाठ एव साधुर्महाजनैः परिगृहीतत्वात् । उत्तममिति, विश्वस्य परायां काष्ठायामधिरोहात् । तदुक्तम्

'महादेवो महातेजा महाज्योति..............।' इति ॥ २९७ ॥

इदानीं ग्रन्थितत्त्वशक्त्यात्मना त्रिप्रकारं मायायाः स्वरूपं निरूपयति

ततो माया त्रिपुटिका मुख्यतोऽनन्तकोटिभिः ॥ २९८ ॥
आक्रान्ता सा भगबिलैः प्रोक्तं शैव्यां तनौ पुनः ।
अङ्गुष्ठमात्रपर्यन्तं महादेवाष्टकं निशि ॥ २९९ ॥

विशिष्ट रूप धारण कर निवास करते हैं। इनमें ५ शिष्य और ५ शास्त्र प्रवर्त्तक गुरु भी हैं। कल्याण, पिङ्गल, बभ्रु, वीर और प्रभु नामक ५ शिष्यों के अतिरिक्त मेधा, अतिथि, छन्दक, दाहक और शास्त्रकर ये ५ गुरु हैं।

स्व० तन्त्र १०।११४४ के अनुसार अशुद्ध विद्या में नव शक्तियों के भुवन हैं इनके नाम वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, विकरणी, बलविकरणी बल प्रमथनी, सर्वभूत दमनी और मनोन्मनी हैं। स्व० तन्त्र १०।१११८ के अनुसार कलातत्त्व में तीन शैव भुवन हैं। महादेव, महातेजा और महाज्योति नामक ये तीन शिव विश्व की परा काष्ठा में अधिरोहण कर अधिष्ठित हैं ॥ २९४-२९७ ॥

इस उत्तम पराकाष्ठा के उपरान्त माया का परिवेश सर्ग को अपने अन्तराल में लिये हुए सुशोभित है। माया त्रिपुटिका शक्ति है। यों तो यह अनन्त अनन्त कोटि भग-विलों से (ऐश्वर्यात्मक आकर्षक काम त्रिकोण

चक्राष्टकाधिपत्येन तथा श्रीमालिनीमते ।

मुख्यत इति, अन्यथा हि अस्या वक्ष्यमाणदृशा पुटानामानैक्यम् । 'महादेवाष्टकं निशि' इत्यत्रापि 'शैव्यां तनौ' इति योज्यम् । तदुक्तं तत्र

'भगविलसहस्रकलितं गुहाशिरो यत्रपञ्चसर्वगतम् ।' इति ।

'तत्रानघप्रभावः प्रथमश्चक्राधिपो महातेजाः ।
वामो नाम्ना बलवान् द्वितीयचक्राधिपो रुद्रः ॥
चक्रं भवोद्भवाख्यस्तृतीयमधितिष्ठति स्ववीर्येण ।
प्रभुरेकपिङ्गचक्षुश्चक्रस्य पतिश्चतुर्थस्य ॥
ईशान इति प्रथितो यञ्चक्रं पञ्चमं प्रवर्तयति ।
षष्ठस्याधिष्ठाता भुवनेशो भुवनचक्रस्य ॥
प्रथितः पुरःसराख्यो यः सप्तमचक्रनायको देवः ।
अङ्गुष्ठमात्रनामा पतिरष्टमभुवनचक्रस्य ॥' इति च ।

न केवलमत्रैवैतदुक्तं यावदन्यत्रापि,—इत्याह 'तथा श्रीमालिनीमते' इति । यदुक्तं तत्र

'महातेजःप्रभृतयो मण्डलेशानसंज्ञकाः ।
मायातत्त्वे स्थितास्तत्र वामदेवभवोद्भवौ ॥
एकपिङ्गेक्षणेशानभुवनेशपुरःसराः ।
अङ्गुष्ठमात्रसहिताः कालानलसमत्विषः ॥'

(मा० वि० ५।२९) इति ॥ २९९ ॥

कुण्डों से) परिवेष्टित है किन्तु ग्रन्थि, तत्त्व और शक्तिरूप के ऐश्वर्यों से त्रिपुटित शक्ति ही मानी जाती है। माया की एक शैवी तनु रूपा शक्ति है। इसमें महादेवों के आठ चक्र हैं। उन चक्रों के आठ नाम के अधीश्वर भी हैं। मालिनी विजयोत्तर तन्त्र ५।२९ के सन्दर्भ में भी इसकी चर्चा है।

पहला चक्रेश अनघ प्रभाव है। यह चक्राधिप और महातेज हैं। द्वितीय चक्रेश वाम है। यही चक्राधिप रुद्र है। तृतीय मनोभव है। वही उसके अधिष्ठाता भी हैं। एक पिङ्गचक्षु चतुर्थ चक्र के अधिपति हैं। पाँचवें चक्र के ईशान, छठें के भुवनेश्वर, सातवें के पुरःसर और आठवें भुवनचक्र के अधीश्वर अंगुष्ठ मात्र शिव हैं॥ २९८-२९९ ॥

अत्र च श्रीपूर्वशास्त्रादपि विशेषान्तरमस्ति,—इत्याह

वामाद्याः पुरुषादौ ये प्रोक्ताः श्रीपूर्वशासने ॥ ३०० ॥
ते मायातत्त्व एवोक्तास्तनौ शैव्यामनन्ततः ।

पुरुषादाविति, आदिशब्दाद्रागतत्त्वम् । यदुक्तं तत्र

'पुरुषे वामभीमोग्रभवेशानैकवीरकाः ।
प्रचण्डो माधवोऽजश्च अनन्तैकशिवावथ ॥'

(मा० वि० ५।२६) इति ।

'अनन्तत' इति अनन्तपर्यन्तमित्यर्थः । यदुक्तं तत्र

'वामस्य ततो भुवनं तस्माद्भीमं ततोऽपि चोग्रस्य ।
तस्माद्भवस्य भुवनं तदुपरि शर्वस्य देवस्य ॥' इति ।
'तस्माद्गुणैर्विचित्रैर्भुवनवरं चक्रवीरस्य ।' इति ।
'अपरिमितगुणनिधानं भुवनवरं तदुपरि प्रचण्डस्य ।
यत्र प्रचण्डनामा स्थितोऽनुशास्त्येकवीरादीन् ॥'

इति च ॥ ३०० ॥

अत्र चैषामुपदेशेन कोऽर्थः ? इत्याशङ्क्याह

कपालव्रतिनः स्वाङ्गहोतारः कष्टतापसाः ॥ ३०१ ॥
सर्वाभयाः खड्गधाराव्रतास्तत्तत्त्ववेदिनः ।

'तत्तत्त्ववेदिन' इति वामादिसायुज्यभाज इत्यर्थः । तदुक्तम्

'ज्ञातज्ञेया विप्राः कपालव्रतभृतो विगतसङ्गाः ।
भस्मोपलेपनिष्ठा व्रजन्ति वामस्य सायुज्यम् ॥

श्री पूर्व शास्त्र में कुछ विशेष कथन है । पुरुष तत्त्व में वाम, भीम, उग्र, भव, ईशान एकवीर प्रचण्ड, माधव, अज, अनन्त और एक शिव इतने शिव कहे गये हैं । महामाहेश्वर इनको स्थिति शैवी तनु रूपा माया के परिवेश में ही मानते हैं ॥ ३०० ॥

उक्त विवरण का लाभ यह है कि इन्हें जानकर साधक सावधान रह कर अपने पथ का निर्धारण करता है । कपालव्रती सम्प्रदाय साधक अपने अङ्गों के हवन करने वाले, कष्ट साध्य तप करने वाले, सर्वत्र अभय भाव से अघोर

उपलब्धवेदनीया अतिभीमपदेप्सवो निजशिरोभिः ।
स्वयमुल्लूनैरिष्ट्वा भैमं गच्छन्ति तद्धाम ॥
विहितोग्रप्रयोगविधयो ये धीरा दुष्करे तपस्युग्रे ।
ध्यायन्त्युग्रमजस्रं तेऽपि लभन्ते गुणानौग्रान् ॥
विज्ञाय भवं देवं भीतानामभयदानसंसिद्धाः ।
भवपदमारोहन्तो ध्यानाहितचेतसो विप्राः ॥
स्रग्वस्त्रालङ्कारैरभिरामं रूपमात्मनः कृत्वा ।
असिधाराव्रतनिष्ठाः पूर्वपदं ध्यायिनो यान्ति ॥' इति ॥ ३०१ ॥

नन्वेषामपि सृष्ट्यादिकारी प्रभुरनन्तोऽस्ति,—इति किमेतावत्पद-प्राप्तया,—इत्याशङ्क्याह

क्रमात्तत्तत्त्वमायान्ति यत्रेशोऽनन्त उच्यते ॥ ३०२ ॥

'तत्तत्त्वम्' इति मायीयं प्रधानं भुवनमित्यर्थः। ईश इति, अर्थादियदन्त-स्याध्वनः ॥ ३०२ ॥

किमत्र प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

उक्तं च तस्य परतः स्थानमनन्ताधिपस्य देवस्य ।
स्थितिविलयसर्गकर्तुर्गुहाभगद्वारपालस्य ॥ ३०३ ॥

उक्तमिति, शिवतनावेव । 'परत' इत्यूर्ध्वम् । 'गुहा' इति माया ॥ ३०३ ॥

व्रत पालन करने वाले होते हैं। खड्ग धाराव्रती साधक उपासना दीक्षा के अनुसार उन-उन तत्त्वों में ज्ञान के आधार पर अनुप्रवेश करते हैं। इनमें से पहले साधक वामदेव, दूसरे 'भीम' तीसरे साधक 'उग्र' चौथे 'भव' और पाँचवें भी अपने उपास्य से सायुज्य प्राप्त करते हैं। क्रमशः इस प्रकार उन उन उपास्य तत्त्वों को आत्मसात् करते हैं। ये सभी भुवन मायीय प्रधान भुवन हैं। इनके स्वामी अनन्तेश हैं। अनन्तेश स्थिति, विलय और सर्ग के करने वाले देव हैं। ये माया तत्त्व के सिंहद्वार के स्वामी है, जहाँ से शिवत्व की ओर अग्रसर होने वाले साधक पहले शुद्धविद्या के क्षेत्र में अनुप्रवेश करते हैं॥ ३०१–३०३ ॥

स्थित्यादिकारित्वमेवास्य दर्शयति

धर्मानणिमादिगुणाञ्ज्ञानानि तपःसुखानि योगांश्च ।
मायाबिलात्प्रदत्ते पुंसां निष्कृष्य निष्कृष्य ॥ ३०४ ॥
तच्छक्त्तीद्धस्वबला गुहाधिकारान्धकारगुणदीपाः ।
सर्वेऽनन्तप्रमुखा दीप्यन्ते शतभवप्रमुखान्ताः ॥ ३०५ ॥
सोऽव्यक्तमधिष्ठाय प्रकरोति जगन्नियोगतः शम्भोः ।
शुद्धाशुद्धस्रोतोऽधिकारहेतुः शिवो यस्मात् ॥ ३०६ ॥

तच्छक्तीति, तच्छब्देन अनन्तपरामर्शः। अनेन च न केवलमयं क्षेत्रज्ञानामेव स्थितिं विधत्ते यावद्रुद्राणामपीत्युक्तम् । 'गुणाः' सर्वज्ञत्वादयः । अनन्तप्रमुखा इति, अनन्तस्वामिका इत्यर्थः । जगदिति, कार्यकारणात्मनियोगतः शम्भोरिति, न तु स्वेच्छामात्रात् । अत्र हेतुः 'शुद्धेत्यादिना' । तदुक्तं तत्र

'अव्यक्तमधिष्ठाय प्रकरोति जगद्यतः स देवेशः ।
संसारमहाविवरे पर्यस्तांस्त्रायते च यतः ॥
शिवयोगबलोपेतस्तस्मात्पत्युर्नियोग आसीनः ।
शुद्धाशुद्धस्रोतोऽधिकारहेतुः शिवो ज्ञेयः ॥' इति ॥ ३०६ ॥

धर्म, अणिमादि गुण, ज्ञान, तप, सुख और योग इनकी चर्चा पहले आ चुकी है। माया के ऊर्ध्व पुट में ६ रुद्रों का प्रभाव है। इनमें छठें अनन्तेश हैं। ये ही जगत् के उद्भव का उद्भावन करते हैं। जीव जगत् के कर्म-परिपाक के आधार पर स्थावर जंगम आदि का, शिवेच्छा से विचार करते हैं। जिसको जो उचित है, उसी का आवंटन उसके नाम से करते हैं। किसी को अणिमादि सिद्धि, किसी को ज्ञान, किसी को तपस्या को सुख और किन्हीं को योग आदि प्रदान करते हैं। ये सारी चीजें माया के अधोपुट में रखी रहती हैं। उसी में से निकाल निकाल कर पुरुषों को कर्म-विपाकानुसार क्षेत्रज्ञों और रुद्रों की भी स्थिति का आदिम विधान करते हैं।

अनन्तेश के अधिकार क्षेत्र में उल्लसित और उन्हीं की शक्ति से एधमान सिद्धि वाले ये रुद्र, मायान्धकार में दीपस्तम्भ के समान देदीप्यमान शतरुद्र

ननु को नाम शुद्धाशुद्धयोः स्रोतसोरधिकार ? इत्याशङ्क्याह

शिवगुणयोगे तस्मिन् महति पदे ये प्रतिष्ठिताः प्रथमम् ।
तेऽनन्तादेर्जगतः सर्गस्थितिविलयकर्तारः ॥ ३०७ ॥
मायाबिलमिदमुक्तं परतस्तु गुहा जगद्योनिः ।

'महति पदे' इति शुद्धे स्रोतसि । तस्य विशेषणं 'शिवगुणयोगे' इति, सर्वज्ञत्वादिसंभवात् । अनन्तादेरिति 'अनन्तो' मायातत्त्वाधिष्ठाता । माया-बिलमिति, ग्रन्थिरूपा माया, गुहेति, तत्त्वरूपा । 'परत' इति अशुद्धे स्रोतसीत्यर्थः । तेन ग्रन्थितत्त्वरूपतया द्विविधापि माया जगद्योनिरिति सम्बन्धः । उक्तं च तत्र

'परतो गुहा भगवती जगतामुत्पत्तिकारणं माया ।
यस्यां स्थितिमनुभूय प्रविलीयन्ते पुनर्लोकाः ॥' इति ॥ ३०७ ॥

प्रमुख रुद्र पर्यन्त प्रकाशमान हैं । अनन्त अव्यक्त में अधिष्ठित रहकर शम्भु के कार्यकारणात्म नियोग-योजना के अनुसार जगत् की प्रक्रिया का श्रीगणेश करते हैं । यह जगत् शुद्ध और अशुद्ध संभूतियों का मिश्रित उद्भावन है । इसमें सर्वाधिकार हेतु शिव ही हैं । वे संसार महाविवर में संस्कारवशात् जीवों की रक्षा करते हैं ॥ ३०४–३०६ ॥

शिव से गुणों के नियोग से महत् के पद पर (शुद्ध स्रोत के पद पर) प्रथमतः जो प्रतिष्ठित हैं, वे अनन्त से लेकर जगत् पर्यन्त जगत् के सर्ग, स्थिति और विलय के कर्ता हैं । वे शुद्ध और अशुद्ध स्रोत का प्रवर्त्तन करते हैं । इस प्रक्रिया के मूल कारण शिव ही हैं । शुद्ध स्रोत में माया तत्त्व के अधिष्ठाता अनन्त हैं । माया के ग्रन्थि रूप को माया बिल और अशुद्ध स्रोत में माया तत्त्व कहते हैं । माया का यह दोनों स्वरूप जगत् का कारण माना जाता है । पर अर्थात् अशुद्ध स्रोत में भगवती माया गुहा रूपा होती है । जगत् जन्तु जाल के जन्म की जननी गुहा रूपा माया ही है । इसी में स्थिति का जागतिक आनन्द लेते हुए जीव अन्त में संसृति धारा में विलीन हो जाते हैं ॥ ३०७ ॥

अत्र च भगसंज्ञायां प्रवृत्तौ किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

उत्पत्त्या तेष्वस्याः पतिशक्तिक्षोभमनुविधोयमानेषु ॥ ३०८ ॥

योनिविवरेषु नानाकामसमृद्धेषु भगसंज्ञा ।

कामयते पतिरेनामिच्छानुविधायिनीं यदा देवीम् ॥ ३०९ ॥

प्रतिभगमव्यक्ताः प्रजास्तदास्याः प्रजायन्ते ।

'तेषु' इति सृष्ट्यादिलाभरूपेष्वित्यर्थः । 'अस्या' इति ग्रन्थिरूपाया मायाः । 'एनाम्' इति ग्रन्थिरूपामेव मायाम् । 'प्रतिभगम्' इति भगे भगे इत्यर्थः । अत एव प्रकृत्यण्डादेरसंख्यातत्वम् । एतत्साम्यनिमित्त एव चात्र लौकिकः स्त्रीपुंसवृतान्तोऽपि कटाक्षितः ॥ ३०९ ॥

एते चानवच्छिन्ना इत्याह

तेषामतिसूक्ष्माणामेतावत्त्व न वर्ण्यते विधिषु ॥ ३१० ॥

'विधिषु' शास्त्रेषु ॥ ३१० ॥

एतदेव दृष्टान्तोपदर्शनेन द्रढयति

अववरकाण्येकस्मिन्यद्वत्साले बहूनि बद्धानि ।

योनिबिलान्येकस्मिंस्तद्वन्मायाशिरःसाले ॥ ३११ ॥

भग ऐश्वर्य की संज्ञा है। इसे योनि भी कहते हैं। जगत् की योनि ग्रन्थि रूपा माया है। पति शक्ति के सम्पर्क से क्षोभ का अनुविधान स्वाभाविक है। माया बिल से काम की समृद्धि सहज संभाव्य है। इस आदि क्षोभ में पति की इच्छा के अनुकूल आचरण करने वाली इस माया के सभी विवरों की, जिनसे जन्म होता है—उनकी भग संज्ञा हो जाती है। 'भ' का अर्थ स्वामी या पति 'भव' भी होता 'भ' के प्रति 'ग' गमन करने वाली मायाबिल ही भग है। इसलिये इसे भगवती कहते हैं। प्रत्येक भग से पति शिव की इच्छा के अनुसार प्रजाओं की सृष्टि होने लगती है और जगत् की जनन परम्परा का प्रादुर्भाव हो जाता है। चर्याक्रम में योनि द्वारा स्त्रीपुरुष के सम्पर्क से जनन को हेतु बनती है। शास्त्रों में अत्यन्त सूक्ष्म रहस्य रूप जगत् प्रवर्त्तन की प्रक्रिया का चित्रण कूट और संक्षेप रूप से ही किया गया है। यह सब साधक की अनुभूति का विषय है ॥ ३०८-३१० ॥

मायापटलैः सूक्ष्मैः कुड्यैः पिहिताः परस्परमदृश्याः ।
निवसन्ति तत्र रुद्राः सुखिनः प्रतिबिलमसंख्याताः ॥ ३१२ ॥

स्थाने सायुज्यगताः सामीप्यगताः परे सलोकस्थाः ।

'तत्र स्थाने' इति ग्रन्थिरूपायां मायायाम् । असंख्यातत्वे निमित्तमाह 'सायुज्य' इत्यादि ॥ ३१२ ॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति

प्रतिभुवनमेवमयं निवासिनां गुरुभिरुद्दिष्टः ॥ ३१३ ॥

एषां चाधिष्ठातृभिः सममियत्ताकलने निमित्ताभावं दर्शयति

अपि सर्वसिद्धवाचः क्षीयेरन्दीर्घकालमुद्गीर्णाः ।
न पुनर्योन्यानन्त्यादुच्यन्ते स्रोतसां संख्याः ॥ ३१४ ॥

इस तथ्य का दृष्टान्त के माध्यम से समर्थन कर रहे हैं—उनका कहना है कि, मान लीजिये कि एक घर है। उसमें बहुत सारे झरोखे, खिड़कियाँ वातायन या छिद्रजाल लगाये गये हैं। घरों में बहुधा मध्य मध्य में दीवाल एक होती है। उसमें गवाक्ष अनेक लगते हैं। कुछ प्राकार तो जालियों से ही निर्मित होते हैं। उसी तरह माया तत्त्व की जो सूक्ष्म भित्तियाँ हैं, वे अनन्त योनिबिलों से भरी हुई हैं। माया पटल सूक्ष्म कुड्यों (दीवालों) से पटा हुआ और बँटा हुआ है। सभी दीवालें परस्पर अदृश्य हैं। इन कल्पनातीत अनन्त योनि बिलों में अनन्त असंख्यात रुद्र जागतिक सुख संभूति उपभोग में संलग्न हैं। ग्रन्थि रूपा माया में सायुज्य भाव से भरे हुए ये रुद्र भौंरों के समान मधु कोश जाल में संचित मधुपान कर रहे हैं। कुछ सामीप्य गत और दूसरे कुछ विभिन्न स्वनामी लोकों में निवास करते ह। यह केवल किसी एक भुवन की बात नहीं अपि तु प्रति भुवन में यही स्थिति है, ऐसी गुरुजनों की मान्यता है ॥ ३११-३१३ ॥

भुवनों भुवनों के निवासी रुद्र पुरुषों की और उनके अधिष्ठाताओं की इयत्ता का आकलन असम्भव है। अनन्त स्रोतों के और इनके भेद प्रभेदों के वर्णन में सिद्धवाक् पुरुषों की वाणी भी असमर्थ है ॥ ३१४ ॥

नन्वस्मात्स्रोतसः किं स्रोतोन्तराणि विलक्षणानि न वा ? इत्याशङ्क्याह

तस्मान्निरयाद्येकं यत्प्रोक्तं द्वारपालपर्यन्तम् ।
स्रोतस्तेनान्यान्यपि तुल्यविधानानि वेद्यानि ॥ ३१५ ॥
अव्यक्तकलेगुहया प्रकृतिकलाभ्यां विकारआत्मीयः ।
ओतः प्रोतो व्याप्तः कलितः पूर्णः परिक्षिप्तः ॥ ३१६ ॥

गुहाया हि अव्यक्तं कला च विकारः, अतश्च तयाव्यक्तकलयोरोतत्वादि न्याय्यम् । करणेन हि स्वकार्यापूरकेण भाव्यम् । यदाहुः

'**कारणमापूरकं च तस्यैव** ।' इति ।

श्लोक ३०३ में गुहा भग द्वारपाल देव का वर्णन है। गुहा माया तत्त्व है और जगत् की योनि है। यह अशुद्ध स्रोतस् पन्था है। यह श्लोक ३०८ में कहा गया है। अशुद्ध स्रोतस् में अनन्त के स्वामित्व क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य स्रोत भी हैं। उन्हें निरय आदि कहते हैं। ये सभी अन्य निरयादि स्रोत तुल्य विधान वाले हैं। सभी वेद्य हैं। गुहा रूप माया तत्त्व से अव्यक्त और कला कंचुक का विकार उत्पन्न होता है। प्रकृति और कला के विकार परिवेश में महदादि और अविद्यादि प्रधान जीव जगत् का विस्तार आता है। विकार कार्य होता है। कार्य कारण से ओत प्रोत होता है। महत् तत्त्व से लेकर समस्त विकार भूमि गुहा से ओत प्रोत है। गुहा में अव्यक्त और कला दोनो ही विकार रूप से स्वीकृत हैं। इस आधार पर यह मानना सर्वथा उचित है कि माया से अव्यक्त और कला तक का सम्पूर्ण अस्तित्व वैकारिकता से ओत प्रोत है। यह सिद्धान्त है कि 'कारण कार्य का आपूरक होता है।' कहा भी गया है कि,

"कारण हमेशा कार्य का आपूरक होता है"। यह स्पष्ट है कि आपूरण शब्द से दो ही अर्थ निकलते हैं। पहला अर्थ व्याप्त होता है। दूसरा अर्थ ओत-प्रोत होता है। अर्थात् प्रकृति के कण कण अणु में माया रूपी कारण ओत प्रोत है। 'कला' कंचुक की भी यही दशा है। वह भी माया तत्त्व से भरी हुई है। अब प्रकृति और कलायें जब कारण की अवस्था में आएँगी तो उनसे

आपूरणमेव च 'ओतः प्रोत' इत्यादिना विभक्तम् । 'आत्मीय' इति महदादिर विद्यादिश्च ।' ३१६ ॥

एवमस्याः शास्त्रान्तरेभ्यो विशेषं दर्शयित्वा प्रकृतमेवाह

मध्ये पुटत्रयं तस्या रुद्राः षडधरेऽन्तरे ।
एक ऊर्ध्वे च पञ्चेति द्वादशैते निरूपिताः ॥ ३१७ ॥

'अधरे' इति पुटे । एवमन्यत्र ॥ ३१७ ॥

तान्येव पठति

गहनासाध्यौहरिहरदशेश्वरौत्रिकलगोपतीषडिमे ।
मध्येऽनन्तः क्षेमो द्विजेशविद्येशविश्वशिवाः ॥ ३१८ ॥
इति पञ्च तेषु पञ्चसु षट्सु च पुटगेषु तत्परावृत्त्या ।
परिवर्त्तते स्थितिः किल देवोऽनन्तस्तु सर्वथामध्ये ॥ ३१९ ॥

भी कार्य रूपी महत् आदि बिकार उत्पन्न होंगे ही । उन्हें ही 'आत्मीय' शब्द से व्यक्त किया गया है । यह आत्मीय शब्द घोषित करता है कि विकार भी अपना स्वरूप ही होता है । महत् और अविद्या क्या हैं ? स्पष्ट है कि ये दोनो प्रकृति और कला के विकार हैं, और विकार रूप कार्य कारण से ओतप्रोत रहेगा ही, यह भी निश्चित है ॥ ३१५-३१६ ॥

श्लोक २९८ के अनुसार माया त्रिपुटिका है । उसके निचले पुट में ६ रुद्र हैं । इनके नाम हैं—१-गहन, २-असाध्य ३—हरिहर, ४—दशेश्वर, ५—त्रिकल और ६वें गोपति । उपरले पुट में ६ शिव हैं । १ – क्षेमेश, २—द्विजेश ३—विद्येश्वर ४—विश्वेश, ५—शिव और ६—अनन्तेश । इनमें अनन्तेश्वर मध्यस्थ शिव हैं । निचले और उपरले पुटों के रुद्रों की परावृत्ति क्रम से स्थति बदलती रहती है जबकि अनन्तेश सर्वदा मध्य में ही अवस्थित रहते हैं । वहाँ कहा गया है कि,

"माया के अधः पुट और ऊर्ध्व पुट के मध्य में जगत्पति भगवान् अनन्तेश्वर विराजमान हैं ।"

तदुक्तम्

गहनश्च असाध्यश्च तथा हरिहरः प्रभुः ।
दशेशानश्च देवेशि त्रिकलो गोपतिस्तथा ॥
अधःपुटे तु विज्ञेया मायातत्त्वे वरानने ।
क्षेमेशो ब्राह्मणस्वामी विद्येशानस्तथैव च ॥
विश्वेशश्च शिवश्चैव अनन्तः षष्ठ उच्यते ।
ऊर्ध्वं मायापुटस्थास्तु रुद्रा एते प्रकीर्तिताः ॥
एषां मध्ये तु भगवाननन्तेशो जगत्पतिः ।

(स्व० १०।११२५) इति ।

अत्र चैषां परेण रूपेणान्यथावस्थानेऽपि अनन्तस्य न कश्चिद्विशेषः,—इत्याह 'तेषु' इत्यादि । पुटगेष्विति, अर्थादूर्ध्वाधः । तत्परावृत्त्येति, तच्छब्देन रुद्राणां परामर्शः तेन अधःपुटे ऊर्ध्वपुट एव च उपर्युपरिभावस्य व्यत्ययादेषां स्थितिः परिवर्तते,—इति यावत् । तदुक्तम्

प्रथमेन तु भेदेन रुद्रा द्वादश कीर्तिताः ।
अस्मिस्तु ये महारुद्रा मायातत्त्वे व्यवस्थिताः ॥
तानहं संप्रवक्ष्यामि भेदत्रयविभागशः ।
गोपेतिश्च ततो देवि अधोग्रन्थौ व्यवस्थितः ॥

अधः पुट में मूल श्लोक ३१७-३१८ के अनुसार हो नामों की गणना की गयी है । मूल श्लोक में गहन, असाध्य और हरिहर के बाद दशेश्वर शब्द का प्रयोग है । स्वच्छन्द तन्त्र में 'दशेशान' का उल्लेख है । ऊर्ध्व माया पुट में क्षेमेश के बाद मूल श्लोक में द्विजेश शब्द का प्रयोग है । पर स्वच्छन्द तन्त्र में उसे ब्राह्मग-स्वामो कहा गया है ।

जहाँ तक माया का प्रश्न है, यह पारमेश्वरी शक्ति मानी गयी है । यह दो प्रकार की होती है । १—तत्त्वरूपा और २—ग्रन्थि रूपा । तत्त्वरूपा माया समस्त चराचर को व्याप्त कर अवस्थित है । ग्रन्थिरूपा माया में ही ऊर्ध्वाधर रूपात्मिका स्थिति की यहाँ चर्चा है । इसमें भी तत्त्वात्मिका माया का अस्तित्व उल्लसित रहता है । इन दोनो ऊर्ध्वाधर पुटों में स्थित रुद्र वास्तव में तत्त्वरूपा माया के ही परिवेश के रुद्र हैं । इन्हीं की ५+१+६=१२ संख्या परिगणित

ग्रन्थ्यूर्ध्वं संस्थितो विश्वस्त्रिकलः क्षेम एव च ।
ब्रह्मणोऽधिपतिश्चैव शिवश्चैव स पञ्चमः ॥
अध ऊर्ध्वमनन्तस्तु.......................................।'
(स्व० १०।११३०) इति ।

एवमत्र अधःपुटे परापररूपतया सप्त भुवनानि, ऊर्ध्वपुटे च दश, मध्यपुटे च पुनरेकमेव,—इत्यष्टादश ॥ ३१९ ॥

अन्यत्र पुनरियान्विशेषः, इत्याह—

ऊर्ध्वाधरगकपालकपुटषट्कयुगेन तत्परावृत्त्या ।
मध्यतोऽष्टाभिर्दिक्स्थैर्व्याप्तोग्रन्थिर्मतङ्गशास्त्रोक्तः ॥ ३२० ॥

षट्कयुगेनेति, रुद्राणां, तेनोर्ध्वकपालेऽवस्थितैः षड्भिरनन्ताद्यै रुद्रैरधश्च गोपत्यादिभिर्मध्ये च विग्रहेशाद्यैरष्टभिः,—इति विंशत्या रुद्राणां मायाग्रन्थिरधिष्ठित इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र

'ग्रन्थेरूर्ध्वं कपालानि षट्संख्यातानि सुव्रत ।
तावन्त्यधस्ताद्रम्याणि रचितानीह धातुभिः ॥' (मतं० ८।६७ (

है । यह माया का परिवेश कला तत्त्व के प्रसङ्ग में प्रतिपादित रुद्र भुवनों के ऊपर है। इसमें मायीय अधोग्रन्थि में गोपति अवस्थित है । यह बात स्व० तन्त्र के श्लोक १०।११३० से प्रमाणित है। वहीं ग्रन्थि के ऊर्ध्व भाग में विश्व, त्रिकल और क्षेम नामक रुद्र अवस्थित हैं। वहीं ऊर्ध्व भाग में ब्राह्मण स्वामी और शिव भी विराजमान होते हैं। यह व्यत्यय का एक चित्र है। इसी आधार पर इनकी परावृत्ति से इनकी स्थिति में परिवर्त्तन की चर्चा मूल श्लोक ३१९ में है। परावृत्ति अधः पुट स्थित ६ रुद्रों और ऊर्ध्वपुट स्थित ५ रुद्रों में ही होती है। अनन्तेश्वर तो मध्य पुट में शाश्वत विराजमान हैं। अधःपुट में परापर रूप से ७ भुवन, ऊर्ध्वपुट में १० भुवन और मध्यपुट में अनन्त का १ भुवन मिलकर मायापुटत्रय में १८ भुवन होते हैं ॥ ३१७–३१९ ॥

स्व० तन्त्र १०।११२४–११३१ श्लोकों में इसका स्पष्टीकरण है। मतङ्ग शास्त्र में इस सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें कही गयी हैं। इसके अनुसार माया ग्रन्थि २० रुद्रों से अधिष्ठित है। ६ ऊर्ध्व कपाल में ६ अधः कपाल में और आठ मध्य कपाल में। उस तरह ६+६+८=२० रुद्र होते हैं। मतङ्ग तन्त्र ८।६७ से

इत्याद्युपक्रम्य

'अनन्तोऽनन्तवीर्यात्मा सर्वेषां मूर्ध्नि संस्थितः ।
ततोऽधस्ताच्छिवो नाम रुद्रो भुवनकृत् प्रभुः ॥
विश्वेशश्च महातेजा विद्येशानः परस्ततः ।
ततोऽन्यो ब्राह्मणस्वामी क्षेमेशश्चाप्यनन्तरम् ॥
एते षट् भुवनेशाना………………………।'

(मतं० ८।८२) इति ।

'एभ्योऽधः संस्थितो ग्रन्थिर्दुर्भेद्यश्चातिविस्तृतः ।
यत्रासौ विग्रहेशान………–………………॥'

(मतङ्ग० ८।८४) इति ।

'यत्र शर्वो भवश्चैव उग्रो भीमश्च वीर्यवान् ।
भस्मान्तको दुन्दुभिश्च श्रीवत्सश्च महाबलः ॥
तस्माद्ग्रन्थेरधश्चक्रं षट्कपालमयं महत् ।'

(मतङ्ग० ८।८६) इति ।

'गोपतेर्भुवनं दिव्यं त्रिकलस्याप्यनन्तरम् ।
तदधस्ताद्दशेशस्य भुवनं चारु निर्मलम् ॥
हरेर्हरस्य देवस्य तथा हरिहरस्य च ।'

(मतङ्ग० ८।८८) इति च ॥ ३२० ॥

८।८८ तक इस दृष्टिकोण का समर्थन किया गया है। मतङ्ग क्रम में ऊपरले पुट में "अनन्त, शिव, विद्येश, विद्येशान ब्राह्मण स्वामी और क्षेमेश हैं। अनन्त अनन्त वीर्यात्मा हैं। ये सबके शिरोभाग में अवस्थित हैं। शिव भुवनकर्त्ता रुद्र हैं। ये सभी अनन्त से क्षेमेश तक भुवनेश्वर रुद्र हैं।"

निचले पुट में जो अत्यन्त दुर्भेद्य ग्रन्थि है और अनन्त विस्तृत है, उसमें "शर्व, भव, उग्र, भीम, भस्मान्तक-दुन्दुभि, श्रीवत्स ये छः रुद्र हैं।

मतङ्ग तन्त्र ८।८७-८८ में कहा गया है कि, "गोपति का भुवन अत्यन्त दिव्य है। उसके बाद त्रिकल रुद्र का भुवन है। उसके नीचे दशेश्वर का अत्यन्त रमणीय और विमल-निर्मल भुवन विद्यमान है। इसके बाद ही हरि, हर और हरिहर नामक रुद्रों के भुवन आते हैं॥" ३२० ॥

अन्यत्र पुनर्विशेषान्तरमप्यस्ति,--इत्याह

श्रीसारशासने पुनरेषा षट्पुटतया विनिर्दिष्टा ।

यदुक्तं तत्र

'तस्याधस्तान्महामाया षट्पुटा संव्यवस्थिता ।' इति ।

एवं मायाया ग्रन्थिरूपतामुपसंहरंस्तत्त्वरूपतां वक्तुमुपक्रमते

ग्रन्थ्याख्यमिदं तत्त्वं मायाकार्यं ततो माया ॥ ३२१ ॥

मायाकार्यमिति, जननौन्मुख्यात् मायातत्त्वमेव वैषम्यमापन्नमित्यर्थः ॥ तस्य पुनरक्षुब्धमेव रूपम् ॥ ३२१ ॥

अत आह

मायातत्त्वं विभु किल गहनमरूपं समस्तविलयपदम् ।

'विभु' व्यापकम्, अत एव गहनम् । अरूपमिति, सूक्ष्मत्वात् । समस्तविलयपदमिति, सूक्ष्मेण क्रमेणात्र विश्वस्यावस्थानात् ॥

अत एव न चात्र कश्चिद्भुवनविभागः,—इत्याह

तत्र न भुवनविभागो युक्तो ग्रन्थावसौ तस्मात् ॥ ३२२ ॥

ग्रन्थाविति, तस्यैव स्थूले रूपे इत्यर्थः ॥ ३२२ ॥

नन्वेवमपि अस्या जाड्यात् कथमेवं कार्याविर्भावने सामर्थ्यम् ? इत्याशङ्क्याह

श्री सार शासन में "माया ग्रन्थि षट्पुटा" कही गयी है। वास्तव में माया ग्रन्थि का विस्तार बड़ा ही विचित्र है। विश्व की उत्पत्ति की ओर उन्मुखता की यह मुख्य स्रोत है। माया तत्त्व की यह वैषम्यापन्न कार्य रूपा माया ग्रन्थि है। इसके अतिरिक्त अक्षुब्ध माया का दिव्य क्षेत्र अलग है। यह बड़ा व्यापक तत्त्व है। इसलिये इसे गहन तत्त्व भी कहते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः यह रूपातीत है। सर्ग का विलय इसी में होता है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में इसमें अन्तर्निहित रहता है। इसमें किसी प्रकार का भुवन विभाग नहीं होता ॥३२०–३२२॥

मायातत्त्वाधिपतिः सोऽनन्तः समुदितान्विचार्याणून् ।
युगपत्क्षोभयति निशां सा सूते संपुटैरनन्तैः स्वैः ॥ ३२३ ॥

क्षोभयतीति, कार्यप्रसवयोग्यां करोतीत्यर्थः । संपुटैरिति, भगाकारैः । एषां चानन्त्यं शिवतनुग्रन्थेनैव उक्तम् ॥ ३२३ ॥

अत एव कार्यस्यापि आनन्त्यमित्याह

तेन कलादिधरान्तं यदुक्तमावरणजालमखिलं तत् ।
निःसंख्य च विचित्रं मायैवैका त्वभिन्नेयम् ॥ ३२४ ॥

ननु कारणस्यैक्येऽपि कार्यमनन्तमित्यत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

उक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे च धराव्यक्तात्मकं द्वयम् ।
असंख्यातं निशाशक्तिसंज्ञं त्वेकस्वरूपकम् ॥ ३२५ ॥

तदुक्तं तत्र

'पृथग्द्वयमसंख्यातमेकैकं च पृथग्द्वयम् ।'
(मा० वि० २।५०) इति ॥ ३२५ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, कुछ भी हो माया तो जड़ तत्त्व है । उससे कार्योत्पत्ति कैसे ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

यह विलय निलया है इसमें जड़ता के कारण कार्योत्पत्ति क्षमता नहीं है । समस्त कार्यों के आविर्भाविन का प्रवर्त्तन माया तत्त्व के अधिपति अनन्तेश ही करते हैं । अणुओं के समुदय का विचार कर वह एक हो समय और एक ही साथ माया को क्षुब्ध कर देते हैं । फलतः यह अपने अन्त हीन भगात्मक संपुटों से सृजन का सूत्रपात करती है और कला से धरा पर्यन्त आवरण जाल का जटिल और जीवन्त उज्जृम्भण हो जाता है । यह विस्मय जनक, कल्पनातीत और दिव्य उद्भव माया का ही शरीर है । शिवतनु शास्त्र से यह प्रमाणित है । माया से यह नितान्त अभिन्न है ।

श्री पूर्व शास्त्र में इसे धरा और अव्यक्त का एकात्मक उद्भव कहा गया है । यद्यपि यह असंख्यात है पर माया (निशा) शक्ति संज्ञक इसका एक ही रूप है ।

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवावतारयति

पाशाः पुरोक्ताः प्रणवाः पञ्च मानाष्टकं मुनेः ।
कुलं योनिश्च वागीशी यस्यां जातो न जायते ॥ ३२६ ॥

पुरेति पुंस्तत्त्वप्रकरणे । मुनेः कुलमिति गुरुशिष्यादिरूपतया प्रागेव उक्तम् । योनिरिति,

'**वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे** ।' इति ।

स्थित्वा विश्वकारणम् । जात इति मन्त्रादिबलेन । न जायते इति, परशिवे योजितत्वात् ॥ ३२६ ॥

मा० वि० २।५० में "दोनों को पृथक् मानते हुए भी द्वैत का एक एक रूप हो कहा गया है। इसे असंख्यात भी कहा गया है" ॥ ३२३–३२५ ॥

माया की त्रिपुटी में ही सारे पाश अवस्थित हैं। पुरुष तत्त्व के प्रसङ्ग में में पाशों की चर्चा की गयी है। तुष्टि और सिद्धि आदि से विद्येश्वर पर्यन्त पाश माया में है। माया ही पाशों की उत्पत्ति भूमि है।

पाँच साध्य, धाता, दमनेश, ध्यान और भस्मेश्वर ये प्रणव नाम रुद्र भी इसी परिवेश में हैं। प्रमाण नामक आठ रुद्र प्रणव रुद्रों के आवरण के ऊपर स्थित हैं। ये आठों पञ्चार्थ आदि प्रमाण रुद्र अपने नाम के शास्त्रों की अवतारण भी करते हैं।

पाशों के ऊपर ही गुरु शिष्यात्मक तीन पंक्तियों में ऋषि कुल की चर्चा की गयी है। इसके साथ ही योनि का कथन है। वागीश्वरी देवी को ही योनि मानते हैं। श्रुतिवचन "वाक् ही विश्व की जनयित्री है" के अनुसार वाक् तत्त्व जगत् की योनि माना जाता है। यह सर्जन स्थूल, सूक्ष्म और पर इन तीन भागों में प्रकल्पित है किन्तु परमेश्वर शक्त्यात्मक है। इन तीनों के तीन परिवेश हैं। स्थूल परिवेश को उपासना से, सूक्ष्म परिवेश को मन्त्र संस्कार से तोड़कर तीसरे परिवेश में पहुँचने वाला साधक वागीश्वरी के पर रूप में प्रवेश करने का सौभाग्य प्राप्त करता है। वहाँ सभी पाशों की शुद्धि हो जाती है। शिवैक्य का अनुसंधान करने वाला सिद्ध साधक मुक्त हो जाता है। इसीलिये कहते हैं कि उसमें पहुँचने वाला पुरुष बन्धन विमुक्त हो जाता है ॥ ३२६ ॥

किं बहुना यत्किंचित्कलादावधराध्वन्युक्तं तत्सर्वमत्रैव स्थितमित्याह

दीक्षाकालेऽधराध्वस्थशुद्धौ यच्चाधराध्वगम् ।
अनन्तस्य समीपे तु तत्सर्वं परिनिष्ठितम् ॥ ३२७ ॥

कारणे हि कार्यस्य सूक्ष्मेण रूपेणावस्थानमुचितमिति भावः ॥ ३२७ ॥

ननु भवतु नामैतत्प्रणवादि पुनः किमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

साध्यो दाता दमनो ध्यानो भस्मेति बिन्दवः पञ्च ।
पञ्चार्थगुह्यरुद्राङ्कुशहृदयलक्षणं च सव्यूहम् ॥ ३२८ ॥
आकर्षादर्शौ चेत्यष्टकमेतत्प्रमाणानाम् ।

'बिन्दवः' प्रणवाः ॥ ३२८ ॥

एषां च सर्वेषामेव यथासंभवं स्वरूपमभिधातुमाह

अलुप्तविभवाः सर्वे मायातत्त्वाधिकारिणः ॥ ३२९ ॥
मायामयशरीरास्ते भोगं स्व परिभुञ्जते ।

स्वमिति, स्वाधिकारोचितमित्यर्थः ॥ ३२९ ॥

दीक्षाकाल में कलादि अधम अध्वा की शुद्धि हो जाती है। जो कुछ कल्मष शेष रह जाता है वह अनन्त के सामीप्य से संस्कार सम्पन्न होता है। अनन्तेश कारण तत्त्व हैं। उनसे सम्भूत कार्यों का सूक्ष्म रूप से उनमें ही परिनिष्ठित रहना सत्कार्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार अत्यन्त स्वाभाविक है ॥ ३२७ ॥

३२६ वें श्लोक में प्रणव और मानाष्टक की कर्चा कर दी गयी है। इसमें वर्णित सभी माया तत्त्व के अधिकारी हैं। इनके ऐश्वर्य स्पष्टतः व्यक्त हैं। इनके शरीर की रचना भी माया मय ही है। अपने अधिकारोचित भोग उन्हें उपलब्ध हैं। उनका यथोचित उपभोग वे करते हैं। प्रमाणों के अष्टक का और प्रणव पञ्चक का शास्त्रकार ने यहाँ स्पष्ट उल्लेख किया है। पहले जो चर्चा श्लोक ३२६ में आयी है, वह संकेत मात्र है। स्वच्छन्द तन्त्र १०।११३४–३५ में भी इनके नामों का उल्लेख है। प्रस्तुत श्लोक के अनुसार इनके नाम इस प्रकार हैं—

मायामयशरीरत्वमेव व्याचष्टे

प्रलयान्ते ह्यनन्तेन संहृतास्ते त्वहर्मुखे ॥ ३३० ॥
अन्यानन्तप्रसादेन विबुधा अपि तं परम् ।
सुप्तबुद्धं मन्यमानाः स्वतन्त्रम्मन्यताजडाः ॥ ३३१ ॥
स्वात्मानमेव जानन्ति हेतुं मायान्तरालगाः ।

'अहर्मुखे' पुनःसृष्टौ । अन्यानन्तेति, अन्यशब्दो मायाधिकार्यपेक्षया । तं परमनन्तं हेतुं न जानन्ति, अपि तु स्वात्मानमेव,—इति सम्बन्धः । अत्र च एवकारसामर्थ्यान्निषेधावगमः, तदपरिज्ञाने च हेतुद्वयं सुप्तबुद्धं मन्यमानाः स्वतन्त्रं मन्यताजडाश्चेति । स्वात्मनि च तथापरिज्ञाने हेतुः 'मायान्तरालगा' इति । इदमुक्तं भवति यद्यपि एषां

१—पञ्चार्थ, २—गुह्य, ३—रुद्राङ्कुश, ४—हृदय, ५—लक्षण ६—व्यूह, ७--आकर्ष और ८ वें आदर्श । ये रुद्र इन्हीं नामों के पाशुपत शास्त्रों के अवतारक भी हैं । प्रणव नाम ५ रुद्रों के नाम तो श्लोक ३२८ में पहले ही दिये गये हैं । वे इस प्रकार हैं--

"१--साध्य, २-दाता, ३-दमन, ४-ध्यान और ५-भस्मेश ।"-ये सभी ओङ्कार नामक रुद्र हैं ॥ ३२८-३२९ ॥

प्रलय के अन्त में और सृष्टिचक्र की प्रातः की अहर्मुखीन वेला में मायाधिकारी अनन्त द्वारा ही ये सभी मायामय शरीर वाले रुद्र संहृत होते हैं । इनका दुर्भाग्य ही होता है कि वे परात्म अनन्तेश को विस्मृत कर जाते हैं, जब कि उन्हीं की कृपा से मुक्ति सम्भाव्य है । स्वात्म के मायामय अभिमान से ये ग्रस्त रहते हैं। यद्यपि इनकी दिव्यता स्वयं सिद्ध है क्योंकि ये विबुध हैं फिर भो इन्हें उस परम ईशान अनन्त के कारणरूप का अपरिज्ञान ही रहता है । इसके दो कारण हैं। १—उसको सुप्तबुद्ध मानना और २—स्वन्तन्त्रं मन्यता का जाड्य । इनमें अपने को ही (परतन्त्र होते हुए भी) स्वतन्त्र और कारणरूप मानने का अभिनिवेश होता है। ये अपनी सुषुप्ति को जागृति मानने का झूठा हठ पाले हुए होने के कारण माया के अन्तराल के ऐश्वर्याधोश बने बैठे रह जाते हैं। माया जनित मोह के ऐश्वर्यमद का यह एक कुत्सित रूप है, जिससे वे अपने को ही सृष्टि संहार का कारण मानने लगते हैं ।

'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः ।'

इत्याद्युक्त्या अनन्तादीनामेव सृष्टि संहाराः, तथाप्येते मायामोहितत्वात् ऐश्वर्यमदेनैतन्न जानते, प्रत्युत वयमेव जगतां सृष्टिसंहारकारिणो न पुनरस्मदप्यधिकः कश्चिदस्ति,—इति; यत एते स्वात्मनि पारतन्त्र्येऽपि स्वातन्त्र्याभिनिवेशात् सुप्तप्रबुद्धन्यायेन सृष्टि प्रलयं च स्वात्माधीनमेव मन्यते इति । तदुक्तम्

'ऐश्वर्यमदमाविश्य मन्यमाना महोदयाः ।
मत्तः श्रेष्ठतरं नान्यत्कारणं जगतां परम् ॥
अहमेव समस्तस्य जगतोऽस्य जगत्पतिः ।'

(मतङ्ग० ८।७३) इति ।

यतोऽधोदृष्टयः सर्वे स्वसृष्टिमदमोहिताः ।
तस्मिन्नभिरताः सन्तः क्रीडाभोगेष्वनिन्दिताः ॥
स्वकार्यकरणैः सम्यक्संहारे स्वापमागताः ।
ततः क्षोभिकयाविष्टाः संप्रबुद्धाः परस्परम् ॥
तद्विधामेव पश्यन्ति स्वां सृष्टि रचनोज्ज्वलाम् ।
सुप्तोत्थिता वयं किं नु स्वनिद्रावशवर्तिनः ॥
क्रीडामो विगतक्लेशाः स्वार्जितेषु बुभुक्षवः ।
सूक्ष्मपाशावृताः सर्वे न च स्थूलैस्तिरस्कृताः ॥'

(मतङ्ग० ८।८०) इति ॥ ३३१ ॥

स्वात्म पारतन्त्र्य के बावजूद अपने को स्वतन्त्र मानने का अभिनिवेश इनमें होता है । जैसे सोने में जागृति की बीमारी सी इनमें हो जाती है । मतङ्ग शास्त्र ८।७३ में यह स्पष्ट कहा गया है कि "वे अपने को ही जगदीश्वर मानने लगते हैं । ऐश्वर्यमद के आवेश में मिथ्यागर्वीले ये अपने को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर अपने को सब कुछ स्वीकार करते हैं ।"

अपनी सृष्टि के मद से मुग्ध ऐसे कर्त्ता अधोदृष्टि अर्थात् अवर विचारवाले हो जाते हैं । अपने कृत्यों और करण संस्कारों के माध्यम से आजीवन मायामय भोगों में निरत रहते हैं । संहार में इन्हें स्वाप और पुनः क्षोभिका माया से आविष्ट जागृति मिलती है । स्वार्जित सूक्ष्म और स्थूल भोगों के प्रभाव से ये मुक्त नहीं हो पाते ॥ ३३०–३३१ ॥

एवं मायाया ग्रन्थितत्त्वरूपतया द्वैविध्यं निरूप्य शक्तिरूपतामपि आख्यातुमाह

अतः परं स्थिता माया देवी जन्तुविमोहिनी ॥ ३३२ ॥
देवदेवस्य सा शक्तिरतिदुर्घटकारिता ।
निर्वैरपरिपन्थिन्या तया भ्रमितबुद्धयः ॥ ३३३ ॥
इदं तत्त्वमिदं नेति विवदन्तीह वादिनः ।
गुरुदेवाग्निशास्त्रेषु ये न भक्ता नराधमाः ॥ ३३४ ॥
सत्पथं तान्परित्याज्य सोत्पथं नयति ध्रुवम् ।
असद्युक्तिविचारज्ञाञ्छुष्कतर्कावलम्बिनः ॥ ३३५ ॥
भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।

माया ग्रन्थि रूपा और तत्त्व रूपा दोनो भेदों में अपने द्वैत दायित्व का दाक्षिण्य भाव से निर्वाह करती है। उसका तीसरा शक्तिशाली रूप भी विलक्षण है। जीव जगत् को व्यामोह-मुग्ध बनाने वाली महनीया माया महेश्वर को अघटित घटना पटीयसी महीयसी शक्ति है। अकारण परिपन्थिनी प्रेयसी शक्ति द्वारा साधकों की बुद्धि में भ्रान्ति का भीषण विष घोल दिया जाता है।

परिणामतः 'यह तत्त्व है और यह नहीं है' इस प्रकार के वितण्डा जाल में पड़कर वे परस्पर वादी प्रतिवादी बनकर विवाद ग्रस्त बने रहते हैं। इनकी श्रद्धा न गुरु में होती है न देव में! न अग्नि में और न शास्त्र में ही इनका विश्वास-होता है और न ही भक्ति होती है। ये मनुष्यों में अधम श्रेणी के माने जाते हैं। माया शक्ति ऐसे अवसरों पर अपना करिश्मा अवश्य दिखाती है। इन जैसे पण्डितम्मन्यों को सत्पथ से हटवाकर उत्पथ में डाल देती है।

ये लोग कभी शास्त्रीय विचार को सत्य के निकष (कसौटी) पर निकषायित नहीं करते अपितु असत् युक्तियों से अपने ही पक्ष को पुष्ट करने की हठवादिता का आश्रय लेते हैं। विमर्श-पूर्ण उत्तम योगाङ्गरूप सत्तर्क को छोड़ सूखा तर्क देकर अपनी बात की प्रमुखता देते हैं। ऐसे लोगों को माया

देवीति, देवाभिन्नत्वात् । अतिदुर्घटकारितेति, स्वातन्त्र्यरूपत्वात्, 'विवदन्ति, इति विमति कुर्वन्तीत्यर्थः । शुष्केति, वस्तुशून्यत्वात् ॥ ३३५ ॥

नन्वेवंविधाया अस्याः कथ समुच्छेदः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

शिवदीक्षासिना च्छिन्ना शिवज्ञानासिना तथा ॥ ३३६ ॥

न प्ररोहेत्पुनर्नान्यो हेतुस्तच्छेदनं प्रति ।

दीक्षेति, क्रिया । नान्यो हेतुरिति, शास्त्रान्तरोदितः ॥ ३३६ ॥

महामायोर्ध्वतः शुद्धा महाविद्याऽथ मातृका ॥ ३३७ ॥

वागीश्वरी च तत्रस्थं वामादिनवसत्पुरम् ।

शुद्धत्वादेव च अस्या महत्त्वमित्युक्तं 'महाविद्या' इति ॥ ३३७ ॥

देवी भ्रम मे ही पड़े रहने देती है। ये मोक्ष की लिप्सा तो रखते हैं ? माया के कारण वे अमोक्ष का ही वरण करने के लिये विवश हो जाते हैं ॥३३३-३३५॥

माया शक्ति का समुच्छेद बड़ा ही दूभर कार्य है, शैवी दीक्षा की तलवार से यह छिन्न भिन्न हो जाती है। शैवी दीक्षा से उत्पन्न स्वात्मसंविद् संज्ञान की कृपाणी इसका सफाया कर देती है। फिर यह कभी पनप भी नहीं पाती । परिणामतः इसका नष्ट करने के लिये किसी दूसरे शास्त्रादि स्वाध्याय रूप कारण की आवश्यकता नहीं होती ॥ ३३६ ॥

यह महामाया का त्रैध महाप्रभाव है। इसके आवरण के ऊपर शुद्ध महाविद्या मातृका का महिमा मण्डित मनोज्ञ मण्डल विराजमान है। शुद्ध विद्या वागीश्वरी शक्ति है । इसका क्षेत्र माया से दश करोड़ गुना बड़ा माना जाता है। माया भेद प्रथा का प्रथन करती है और यह अभेद प्रथा का उन्मीलन करती है। इसलिये यह शुद्ध महाविद्या कहलाती है। वागीश परमेश्वर शिव पर-परामर्शक हैं। उन्हीं की यह शक्ति है। अतः यह वागीशी शक्ति कहलाती है। इसकी कृपा से साधक सर्व प्रथम आध्यात्मिक परामर्श की ओर प्रवृत्त होता है। अष्टवर्ग विभिन्ना यही मातृका शक्ति भी है। इसमें वामा आदि देवियों के ९ भुवन हैं ॥ ३३६-३६७ ॥

वामाद्या एव पठति

वामा ज्येष्ठा रौद्री काली कलविकरणीबलविकारिके तथा ॥ ३३८ ॥

मथनी दमनी मनोन्मनी च त्रिदृशः पीताः समस्तास्ताः ।
सप्तकोटचो मुख्यमन्त्रा विद्यातत्त्वेऽत्र संस्थिताः ॥ ३३९ ॥

एकैकार्बुदलक्षांशाः पद्माकारपुरा इह ।
विद्याराज्यस्त्रिगुण्याद्याः सप्त सप्तार्बुदेश्वराः ॥ ३४० ॥

'अंशा' इति परिवाराः 'सप्तार्बुदेश्वरा' इति, अर्बुदशब्देनात्र कोटिर्लक्ष्यते, तेन सप्तकोटिसंख्याकानां मन्त्राणामीश्वर्य इत्यर्थः । तदुक्तम्

'त्रिगुणी ब्रह्मवेताली स्थाणुमत्यम्बिका परा ।
रूपिणी मर्दिनी ज्वाला सप्तसंख्यास्तदीश्वराः ॥
विद्याराज्ञ्यस्तथा ख्याता .... ।'

(स्व० १०।११४९) इति ॥ ३४० ॥

उनके नाम निम्नवत् हैं—

१—वामा, २—ज्येष्ठा, ३—रौद्री, ४—काली, ५—कल विकरणी ६—बलविकरणी, ७—बल प्रमथनी ८—दमनी और ९—मनोन्मनी । वामा वमन (विराग) करती है । ज्येष्ठा पालिका शक्ति है, रौद्री रुद्र की आज्ञा से विश्व का उपसंहार करती है । काली प्राणियों का आकलन करती है । विकरणी कला का विकीर्णन करती है । बल प्रमथनी बल का मन्थन करने वाली शक्ति है । दमनी मन के संकल्पों का दमन करती है और मनोन्मनी मन को अमन स्थिति में लाने की कृपा करती है ।

ये सभी तप्त दिव्य काञ्चन कमनीया, पञ्चानना और त्रिलोचन ललामा ललिता देवियाँ हैं । ये अमोघवीर्य, तेजोमयी और सर्वज्ञ हैं । शक्तिमान् से शाश्वत अधिष्ठित उन देवियों की संख्या तो मात्र ९ है पर ये ७ करोड़ मन्त्रों की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं । ये सभी शुद्ध विद्या तत्त्व में अवस्थित है । इनमें से एक एक के एक एक अरब परिवार हैं । ये निरन्तर अरविन्द कोष कमनीय दिव्य भुवनों के भवनों में निवास करती हैं ।

विद्यातत्त्वोर्ध्वमैशं तु तत्त्वं तत्र क्रमोर्ध्वगम् ।
शिखण्ड्याद्यमनन्तान्तं पुराष्टकयुतं पुरम् ॥ ३४१ ॥
शिखण्डी श्रीगलो मूर्तिरेकनेत्रैकरुद्रकौ ।
शिवोत्तमः सूक्ष्मरुद्रोऽनन्तो विद्येश्वराष्टकम् ॥ ३४२ ॥
क्रमादूर्ध्वोर्ध्वसंस्थानं सप्तानां नायको विभुः ।
अनन्त एव ध्येयश्च पूज्यश्चाप्युत्तरोत्तरः ॥ ३४३ ॥

'ऐशं तत्त्वम्' ईश्वरतत्त्वं तत्र पुरमप्यैशमित्यार्थाद्योज्यं, यत्र भगवानीश्वरः साक्षादस्ति । तदुक्तम्

'बाह्ये तस्यैश्वरं तत्त्वं भुवनान्यत्र मे शृणु । (स्व० १०।११४९)

स्वच्छद तन्त्र १०।११४९ के अनुसार इन मन्त्रों और विद्याओं की सात स्वामिनियाँ हैं १—त्रिगुणी, २—ब्रह्मवेताली, ३—स्थाणुमती, ४—अम्बिका, ५—रूपिणी, ६—मर्दिनी और ७—ज्वाला इनके ७ नाम हैं। दीक्षा के समय इनका शोधन करने से समस्त विद्याओं और मन्त्रों का शोधन हो जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि शुद्ध विद्या मायान्त सम्पूर्ण विश्व को भेद-वादिता का इदन्ता के रूप में विमर्श करती है। इसलिये यह सर्वज्ञ है और मन्त्रों की आश्रय रूपा देवी है। यह ईश्वर फलक में अहन्ता और इदन्ता के सामान्या-धिकरण्य को आभासित करती है। शुद्धविद्या का यह पहला विमर्श है, जिसमें अहम् अहम् अस्मि और इदम् इदम् अस्ति की अनुभूति होती है। शुद्ध विद्या शुद्ध अध्वा का प्रथम सोपान है॥ ३३८–३४० ॥

विद्यातत्त्व के ऊपर ईश्वर तत्त्व के भुवन हैं। शिखण्डी से अनन्त पर्यन्त आठ पुर हैं। इन्हें विद्येश्वर कहते हैं। इन आठों के नाम शिखण्डी, श्रीकण्ठ, त्रिनेत्र, एक रुद्र, एकनेत्र, शिवोत्तम, सूक्ष्म और अनन्त हैं। इनका क्रमशः ऊपर ऊपर निवेश है। प्रथम सात विद्येश्वरों के नायक अनन्त है। अनन्त महाप्रभु सदा सर्वोपरि ध्यातव्य और पूज्य नायक हैं। स्व० तन्त्र १०।११६१ के अनुसार ये क्रमशः आठों दिशाओं के अधीश्वर भी हैं। ऐश तत्त्व ही ईश्वर तत्त्व कहलाता है। उसके भुवन का नाम भी ऐश भुवन रूप से वर्णित है। वहीं भगवान् ईश्वर साक्षात् विराजमान रहते हैं। स्व० तन्त्र १०।११४९ में कहा गया है कि,

इत्याद्युपक्रम्य

'तत्रस्थ ईश्वरो देवो वरदः सर्वतोमुखः ।'

(स्व० १०।११५२) इति ।

पुराष्टकस्य च वृतिच्छन्नत्वेऽपि विशेषणं 'शिखण्ड्याद्यमनन्तान्तम्' इति, यथा 'क्रमोर्ध्वगम्' इति । तत्त्वं चैषां यथायथं गुणाधिक्यात् । शिखण्डिनो हि सृष्ट्यादिकारित्वे श्रीकण्ठोऽधिकस्तस्माच्च त्रिमूर्त्यादिरपीति । यदाहुः 'ततश्चानन्तात्सूक्ष्मस्य कलया न्यूनं कर्तृत्वं ततः शिवोत्तमस्य' इत्यादि सर्वेषामत्र सिद्धमिति दोषतः पुनरेतन्न व्याख्येयम् । एषां पूर्वादिदिगष्टकक्रमेण संस्थानस्य श्रूयमाणत्वात् । यदुक्तम्

'विद्येश्वरानतो वक्ष्ये पूर्वादीशान्तगान्क्रमात् ।'

(स्व० १०।११५९) इति ।

एवं क्रमादूर्ध्वोर्ध्वसंस्थानमित्यपि व्याख्येयम् ॥ ३४३ ॥

"इसके बाहर ऐश्वर तत्त्व है । उनके भुवनों के नाम इस प्रकार हैं ।" इस कथन से लेकर—

"वहाँ के देवाधिदेव ईश्वर हैं । वे उपासकों को अनुकूल वर प्रदान करते हैं और उनका प्रभाव सर्वतो मुखीन है ।" स्व० तन्त्र १०।११५२ तक इनका वर्णन है । श्लोक ३४१ में शिखण्ड्याद्यमनन्तान्त शब्द पुराष्टक का विशेषण है फिर भी ये नाम आठ भुवनेश्वरों के भी निर्धारित हैं । इनमें क्रमिक रूप से गुणाधिक्य होता है । शिखण्डो से उत्तम सृष्टिकर्त्ता श्रीकण्ठ माने जाते हैं । इनसे त्रिमूर्त्ति भी उत्तम सृष्टिकर्त्ता हैं । कहा गया कि,

"इसके बाद अनन्त सूक्ष्म और शिवोत्तम के कर्त्तृत्व के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि अनन्त से सूक्ष्म का और सूक्ष्म से भी शिवोत्तम आदि के सृष्टि कर्त्तृत्व में कलात्मक न्यूनता आती जातो है ।" पर इन रुद्रों के क्रमशः पूर्वादि दिगधिपतित्व के कारण कलात्मक न्यूनत्व रूपी दोष पर विचार करना उचित नहीं । स्व० तन्त्र १०।११५९ में कहा गया है कि, "इन शिखण्ड्याद्य अनन्तान्त विद्येश्वरों के सम्बन्ध में, जो क्रमशः पूर्व से ईशान कोण तक की आठों दिशाओं के अधीश्वर हैं—यहाँ चर्चा करूँगा ।"

यहाँ यह ध्यान देना भी आवश्यक है कि, इनके अवस्थान ऊर्ध्वोर्ध्व हो मान्य हैं ॥ ३४१–३४३ ॥

एषां च विद्येश्वरत्वाभिधाने किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

मुख्यमन्त्रेश्वराणां यत् सार्धं कोटित्रयं स्थितम् ।
तन्नायका इमे तेन विद्येशाश्चक्रवर्तिनः ॥ ३४४ ॥

सार्धं कोटित्रयमित्यन्यस्य सार्धस्य कोटित्रयस्य तत्कालमेव अपवृक्तत्वात् ।

'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते जातमात्रे जगत्यलम् ।
मन्त्राणां कोटयस्तिस्रः सार्धाः शिवनियोजिताः ॥
अनुगृह्याणुसंघातं याताः पदमनामयम् ।

(मा० वि० १।४०) इति ॥ ३४४ ॥

नन्वनन्तस्यैव प्राधान्ये किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

उक्तं च गुरुभिरित्थ शिवतन्वाद्येषु शासनेष्वेतत् ।

आदिशब्दाद्रुरुवार्तिकादि ॥

तदेवाह

भगबिलशतकलितगुहामूर्धासनगोऽष्टशक्तियुग्देवः ॥ ३४५ ॥
गहनाद्यं निरयान्तं सृजति च रुद्रांश्च विनियुङ्क्ते ।

सात करोड़ मन्त्रों की चर्चा पहले की गयो है । उनमें से मुख्य साढ़े तीन करोड़ मन्त्रेश्वर हैं । इन मन्त्रेश्वरों के नायक विद्येश्वर होते हैं । इसलिये इन्हें चक्रवर्त्ती भी कहते हैं । श्री पूर्व शास्त्र (१-४०) में मुख्य मन्त्रेश्वरों के साढ़े तीन करोड़ मन्त्रों की अपवृक्ति (पूर्णता) के सम्बन्ध में कहा गया है कि,

"ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त जगत् के निष्पन्न हो जाने पर शिव द्वारा नियोजित साढ़े तीन करोड़ मन्त्र अणुओं के संघात (समूह) को अनुगृहीत कर अनामय शैव पद में समाहित हो गये ।"

इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि वस्तुतः मन्त्र सात करोड़ ही हैं । इनके नायक होने के नाते रुद्रों को विद्येश्वर कहना पड़ता है ॥ ३४४ ॥

अनन्त की प्रधानता को प्रमाणित करने के लिये शिवतनु शास्त्र का उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं—'आदि' शब्द के प्रयोग से रुरुवार्त्तिक ग्रन्थ द्वारा भी अनन्त को प्रधानता सिद्ध होती है—यह प्रतीत होता है ।

उद्धरति मनोन्मन्या पुंसस्तेष्वेव भवति मध्यस्थः ॥ ३४६ ॥
ते तेनोदस्तचितः परतत्त्वालोचनेऽभिनिविशन्ते ।
स पुनरधः पथवर्तिष्वधिकृत एवाणुषु शिवेन ॥ ३४७ ॥
अवसितपतिविनियोगः सार्धमनेकात्ममन्त्रकोटिभिः ।
निर्वात्यनन्तनाथस्तद्धामाविशति सूक्ष्मरुद्रस्तु ॥ ३४८ ॥
अनुगृह्याणुमपूर्वं स्थापयति पतिः शिखण्डिनः स्थाने ।
इत्यष्टौ परिपाटया यावद्धामानि याति गुरुरेकः ॥ ३४९ ॥
तावदसंख्यातानां जन्तूनां निर्वृतिं कुरुते ।
तेऽष्टावपि शक्त्यष्टकयोगामलजलरुहासनासीनाः ॥ ३५० ॥
आलोकयन्ति देवं हृदयस्थं कारणं परमम् ।
तं भगवन्तमनन्तं ध्यायन्तः स्वहृदि कारणं शान्तम् ॥ ३५१ ॥
सप्तानुध्यायन्त्यपि मन्त्राणां कोटयः शुद्धाः ।

गुहामूर्धेति, मायोपरिवर्तिनी शुद्धविद्या । अष्टौ शक्तयो वामाद्याः । देवोऽनन्तः, रुद्रान्सूक्ष्मादीन्, विनियुङ्क्ते इति, सृष्ट्यादौ । मनोन्मन्येति, नवम्या । आसां हि नवानामपि शक्तीनां भिन्न एव नियोगः,—इत्यभिप्रायः । तदुक्तम्

स्वच्छन्द तन्त्र में अनन्ताद्य शिखण्डयन्त रुद्रों का (स्व० १०।११६१-११६२) वर्णन है जब कि प्रस्तुत ग्रन्थ में शिखण्डाद्य अनन्तान्त वर्णन (८।३४१) है । पहले शिवतनु शास्त्र का ही उद्धरण दे रहे हैं—

सैकड़ों ग्रन्थियों से युक्ता माया के मूर्द्धा-स्थान अर्थात् शिरोभाग में विराजमान शुद्ध विद्या के दिव्य आसन पर विभु अनन्त सुशोभित हैं । वे आठ वामा आदि विद्याओं से भी समन्वित हैं । गहन से लेकर निरय पर्यन्त सारे सर्ग के सर्जन का उत्तर दायित्व यही निर्वाह करते हैं और शिखण्डी तथा सूक्ष्म आदि रुद्रों को सृष्टि प्रक्रिया में विनियुक्त करते हैं । सर्ग के आवागमन के चक्र से अनन्तेश की व्यवस्था के अनुसार मनोन्मनी शक्ति ही उद्धार कर पाती है । यह नवीं शक्ति है । सभी शक्तियों के विभिन्न कार्य हैं । साधकों का उद्धार

'नयते परमं स्थानमुन्मन्या परमेश्वरः ।' इति ।

'मध्यस्थ' इति तटस्थः, अत एव सर्वेषामेषां यथोचितमेव सृष्ट्यादि विदध्यात् । उदस्तेति उत्तेजिताः । एवकारो भिन्नक्रमः, तेन अधःपथवर्तिष्वेवेति । यदुक्तम्

'..............................**प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः ।'** इति ।

अनेकात्मेति, मन्त्रकोटीनां विशेषणम् । तदुक्तं तत्रैव

'तस्मिन्नुचितमुदारं शाङ्करमारोहति प्रभौ धाम ।
निर्वान्ति मन्त्रकोट्योऽनेकाः परिहार्य कार्यत्वम् ॥' इति ।

निर्वातीति, कृतकृत्यत्वाद् अधिकारेच्छाया अप्युपरमात् निर्वाणमेतीत्यर्थः । न हि भगवाननिच्छोर्बलादधिकारं विधत्त इत्याशयः । 'तद्धाम' इत्यनन्तस्थानम् । सूक्ष्मरुद्रो द्वितीयः । 'अणुं' विज्ञानाकलम् । शिखण्डिन इति, अष्टमस्य । स हि तदानीं श्रीकण्ठं पदमधितिष्ठतीति भावः । तदुक्तं तत्रैव

'तत्रोपरतेऽनन्ते परिपाट्या नायकास्तदधिकारम् ।
कुर्वन्ति संचरन्तः पदात्पदं शासनात्पत्युः ॥

करने वाली माध्यम मनोन्मनी शक्ति हो है । रुद्र को अपने अपने कार्य कलाप में विनियुक्त कर अनन्तेश स्वयं (मध्यस्थ) रहते हैं । चूँकि 'अनन्तेश' असित मार्ग के अधोश्वर हैं ।' अतः इस मार्ग के पथिक साधक उनकी कृपा दृष्टि से चिन्मयानुभूति की ओर आकर्षित और प्रेरित होते हैं । उनमें साधना का अभिनिवेश बढ़ जाता है । वे परतत्त्व का आमर्श करने में प्रवृत्त हो जाते हैं । इस प्रकार अणु साधकों के कल्याण का श्रीगणेश हो जाता है । गहन से लेकर अनन्त तक इन लोगों के अधिकार के नियन्त्रक शिव हैं । इसकी चर्चा श्लोक ३०६ में की जा चुकी है ।

शिव के विनियोग के अवसित (निश्चित, समाप्त) हो जाने पर अनेक करोड़ मन्त्रों के साथ अनन्तनाथ निर्वाण प्राप्त करते हैं । इसके बाद सूक्ष्मरुद्र अणुओं पर (विज्ञानाकल रूप अणुओं पर) अनुग्रह करते हैं । सूक्ष्म रुद्र अनन्त के धाम में प्रवेश कर जाते हैं । शिखण्डी आठवें रुद्र हैं । वे उस समय श्रीकण्ठ के पद पर आसीन होते हैं ।

इस प्रकार अपने उत्तर दायित्व को पूर्णकर निर्वाण प्राप्त करने की परिपाटी रुद्र मण्डल को विशिष्ट प्रक्रिया है । इसे परावृत्ति (श्लोक २१९) भी कहते हैं । परिपाटो के अनुसार ही अनन्त भी उपरत हो जाते हैं । शेष

उपरमति पतिरनन्तस्तत्पदमधितिष्ठति प्रभुः सूक्ष्मः ।
सूक्ष्मपदमपि शिवोत्तम एष विधिः[1] सर्वमन्त्राणाम् ।
वामाद्यान्नव विभवान्भगवान्निजतेजसः समुद्योत्य ।
अनुगृह्याणुमपूर्वं स्थापयति पतिः शिखण्डिनः स्थाने ॥' इति ।

नायक उपरत नायकों के अधिकार का उपयोग करते हैं। एक पद से उत्तरोत्तर शासन पर इनकी मानो पदोन्नति होती जाती है। आगे वाले के अवकाश प्राप्त करने पर क्रमोन्नति का अधिकार परिपाटी के अनुसार नियत हो जाता है। सूक्ष्म के उपरत होने पर शिवोत्तम अधिकृत होते हैं—यह उत्तरदायित्व निर्वाह की विधि है। इसकी आज्ञा पञ्चमन्त्र विग्रह शिव प्रदान करते हैं। फलतः इस मायात्मक अधश्चक्र का संचालन 'सूक्ष्म' करने लगते हैं। फिर 'शिवोत्तम' इसे उसी तरह सम्भालते हैं। इस तरह क्रम प्राप्त पद से ऊर्ध्व पद पर उन्नत होते हुए, एक एक के उपरत होने पर उनके कार्यों का निर्वहन करते हुए अन्तिम परमा काष्ठा आ जाती है। इस आवागमन चक्र की वह कारण–अवस्था होती है। तब तक असंख्यात अणुओं का उद्धार हो चुका होता है।

ये आठों आठ शक्तियों के उत्फुल्ल अरविन्द सुकुमार आसन[2] पर आसीन होने वाले रुद्र हैं। ये परम कारण परम शिव को शाश्वत अपने हृदय देश में विराजमान देखते हैं। उस परम कारण अनन्तेश्वर-भगवान् का हृदय में ध्यान करते हुए ये सभी चक्रवर्त्ती रुद्र अपना अधिकार समाप्त कर उस परम पद को प्राप्त कर लेते हैं। ये सात कोटि मन्त्र भी शुद्ध रूप से स्वात्मशैव संविद् में विलीन हो जाते हैं।

मूल श्लोक ३४५ में प्रयुक्त 'गुहामूर्धा' शब्द से गुहा (माया) की चोटी पर विराजमान वह शक्ति जिसे शुद्ध विद्या कहते हैं का अर्थ लेना चाहिये। मूर्धा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—मुह्यत्यस्मिन् आहते इति मूर्धा (मुह + कन्) उपधादीर्घे, घोऽन्तादेशो रमागमे च निष्पत्तिः।

श्लोक ३४५ में ही अष्टशक्ति युक्त देव की चर्चा है। अष्ट शक्तियाँ वामा रौद्री आदि हैं। इनका वर्णन पहले आ चुका है। इन शक्तियों से सदा संयुक्त रहने वाले 'अनन्त' ही हैं।

---

१. स्व० १०।१२०१-१२०२

२. शिवेच्छैव सर्वं विधत्ते इति विधिः।

श्रीमतङ्गेऽपि

'निर्वाति कृतकृत्यत्वादनन्तोऽनन्तवीर्यवान् ।
ततस्तस्मिन्समारूढे पञ्चमन्त्रतनुः शिवः ॥
ददात्यनुज्ञां सूक्ष्मस्य विद्येशस्य महात्मनः ।
स च प्राप्तवरः श्रीमान्भर्तुराज्ञानुवर्तकः ॥

श्लोक ३४६ में रुद्रों के विनियोग की बात कही गयी है। वहाँ यह आकलन करना चाहिये कि जब अनन्त रुद्रों को कहीं विनियुक्त करेंगे तो वह ऐसा कार्य होगा जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो। वे कार्य सृष्टि विधान सम्बन्धी ही हो सकते हैं।

श्लोक ३४६ में ही प्रयुक्त शब्द मनोन्मनो भी विचारणीय है। साधना के क्षेत्र में समना के ऊपर उन्मना का परिवेश आता है उसे यहाँ मनोन्मनो शब्द से अभिहित किया गया है। श्लोक ३३८-३३९ में 'मनोन्मनी' नवीं शक्ति रूप से परिगणित है। इस शक्ति का उपयोग अणुवर्ग के पुरुषों में होता है। कहा गया है कि,

"परमेश्वर अनन्त उन्मनी के द्वारा परम पद प्रदान करते हैं।" श्लोक ३४७ में उदस्तचित् शब्द महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। साधना के उच्च स्तर पर अणु साधक सौभाग्य से अनन्त देव का सम्पर्क प्राप्त करता है। वहाँ उसकी चिति-शक्ति उत्तेजित हो जाती है। एक प्रकार का महा प्रकाश उतरता प्रतीत होता है और परमतत्त्व प्राप्ति की लालसा अभिनिवेश के स्तर पर पहुँच जाती है। ऐसे ही अणु साधकों का उद्धार 'अनन्त' इसी उन्मनी शक्ति के द्वारा करते हैं। वस्तुतः अधः पथ में वर्त्तन करने वाले अणु गण असित क्षेत्र के ही उपासक हैं। सित पक्ष या क्षेत्र शुद्ध अध्वा कहलाता है। अशुद्ध अध्वा से कोई बिरला अणु, परमतत्त्व प्राप्ति के अभिनिवेश के माध्यम से उद्धार की ओर अग्रसर होता है। अनन्त ही उसका उद्धार करते हैं। इसी आधार पर एक जगह लिखा हुआ है कि,

"अनन्त असित (अशुद्ध अध्वा) के ही प्रभु हैं।"

जहाँ तक श्लोक ३४८ में आये हुए अनेकात्मकोटि शब्द का सम्बन्ध है—यह मन्त्रकोटि शब्द का विशेषण है। इस विषय पर शिवतनु शास्त्र में कहा गया है कि,

तत्तन्त्रः पदमानन्तमधिष्ठाय महायशाः ।
निर्वर्त्तयत्यधश्चक्रं यत्तन्मायात्मकं महत् ॥
एवं शिवोत्तमस्यापि सूक्ष्मस्योपरमे शिवः ।
प्रददातीशसंघस्य कारणत्वमनिन्दितम् ॥
पदात्पदं विचरतो ह्येकैकस्य महात्मनः ।
यावत्सा परमा काष्ठा तावच्चक्रस्य कारणम् ॥

"अनन्त प्रभु के सद्यः समुदित एवम् अव्यक्त उदार शाङ्कर धाम में आरोहण करते समय करोड़ों मन्त्र कार्यत्व का परिहार कर निर्वाण का वरण कर लेते हैं।"

उसी समय अनन्त नाथ भी स्वयं निर्वाण में आरोहण करते हैं। क्योंकि भगवान् अनचाही जिम्मेदारी किसी पर लादते नहीं। श्री अनन्तेश्वर के निर्वाण के वरण के अनन्तर उनके धाम में द्वितीय रुद्र 'सूक्ष्म का प्रवेश हो जाता है।

अब 'सूक्ष्म' रुद्र का उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे अणुओं का उद्धार करें। उस स्तर पर अणु 'विज्ञानाकल' स्तर पर पहुँच जाता है। विज्ञानाकल भी शुद्ध विद्या के नीचे का स्तर है। इसलिये असित अध्वा में रहने के कारण उसे अणु (श्लोक ३४९) कहा गया है। उस समय वहाँ सूक्ष्म रुद्र का अधिकार रहता है। ये अपने अधिकार के अनुसार 'अणु' को शिखण्डी नाम अष्टम रुद्र के यहाँ स्थापित कर देते हैं। उस समय शिखण्डो श्रीकण्ठ के पद को अलङ्कृत कर रहे होते हैं। शिवतनु शास्त्र में कहा गया है कि,

"उस समय परिपाटी के अनुसार अनन्त के उपरत हो जाने पर शेष चक्रवर्त्ती नायक उस अधिकार का प्रयोग करते हैं। एक पद से दूसरे पद पर जाते हुए शिव शासन से नियन्त्रित ये रुद्र वहाँ के अधिकारो हो जाते हैं। जैसे अनन्त के उपरत हो जाने पर उस पद पर सूक्ष्मरुद्र अधिष्ठित होते हैं। फिर सूक्ष्म के पद पर 'शिवोत्तम' रुद्र आते हैं। यह सब मन्त्रों की विधि है। विधि का तात्पर्य शिव की इच्छा की अनुशासन-परिपाटी है।

अपने तेज और ऊर्जा से भगवान् सूक्ष्म वाम आदि नव विभावों को विद्योतित कर साक्षात् व्यक्त कर देते हैं। इन्हीं की सक्रियता के माध्यम से विज्ञानाकल स्तरीय अणु को शिखण्डी नामक रुद्र के तत्कालीन श्रीकण्ठ धाम में अवस्थापित कर देते हैं।"

अव्युच्छेदाय रुद्राणुं कृत्वा शक्तिबलान्वितम् ।
नियुनक्ति पदे तस्मिन्यवीयसि शिखण्डिनम् ॥'

(मतङ्ग ५।६२) इति ।

यत्पुनः

'अनन्तोपरमे तेषां महतां चक्रवर्तिनाम् ।
विहितं सर्वकर्तृत्वकारणं परमं पदम् ॥' (रौरवे)

श्री मतङ्ग शास्त्र में भी इस विषय पर विपुल प्रकाश डाला गया है । मतङ्ग ५।६२ में लिखा है कि,

"अनन्त वीर्यवान् अनन्तेश्वर भगवान् कृतकृत्य हो जाने पर निर्वाण का वरण करते हैं। उसके इस समारोहण पर्व की समाप्ति पर पञ्चमन्त्रतनु भगवान् 'शिव' विद्येश्वर 'सूक्ष्म' को अनन्तेश्वर के उत्तरदायित्व वहन का आदेश देते हैं । उनसे यह वरदानवत् आदेश ग्रहण कर सूक्ष्म शिवशासन की परिपाटी का पालन करने में संलग्न हो जाते हैं । इस शैव तन्त्र में अनुशिष्ट महायशस्वी 'सूक्ष्म' आनन्त पद पर अधिष्ठित होकर साधिकार अधश्चक्र का नियमन करने लगते हैं । यह अधः चक्र माया के अपने महत्त्व के विस्तार का साक्षी है ।

इस प्रकार शिवोत्तम रुद्र सूक्ष्म के भी उपरत हो जाने पर क्रमशः भगवान् शिव रुद्र संघ को कारण की चरम अवस्था में अधिष्ठित कर देते हैं । एक पद से दूसरे पद पर क्रमशः अधिष्ठित और उपरत होते हुए इन रुद्रों के समाप्त (निर्वाण में अधिरूढ) होने पर एक ऐसी अवस्था आती है, जो अन्तिम होती है । उसे मतङ्ग 'परमा काष्ठा' कहते हैं । इस काष्ठा तक कार्यरूपी अधश्चक्र का कारणत्व उनमें ही रहता है ।

विज्ञानाकल माया के ऊर्ध्व स्तर का किन्तु शुद्ध विद्या के नीचे का 'अणु' रूप शिवोपम उपासक होता है । यदि उसे उत्तम अवसर न मिले, तो उसका व्युच्छेद (पूर्ण विनाश) सम्भव है । इसी उद्देश्य के लिये अर्थात् उस रुद्राणु के अव्युच्छेद के लिये ही, शक्तियों का बल प्रदान कर सूक्ष्म के यवीयान् (पहले की अपेक्षा छोटे) पद पर शिखण्डी नामक रुद्र को भगवान् शिव अधिष्ठित कर देते हैं ।"

फिररौरव नाम 'रुरुशास्त्र' जो यह कहा कहा गया है कि,

"अनन्त के उपशम के अनन्तर उन अवशेष चक्रवर्त्ती विद्येश्वर रुद्रों में रहने वाला विहित सर्व कर्तृत्व कारणत्व रूप परमपद में पर्यवसित हो जाता है ।"

इत्याद्युक्तं तन्महाप्रलयविषयत्वेन योज्यम्। तत्र हि युगपदेव सर्वेषामुपरमः, इत्युक्तं प्राक्। श्रीमतङ्गेऽपि

'शुद्धाध्वपतयो देवा महान्तश्चक्रवर्तिनः ।
समाप्य स्वाधिकारं ते प्रयान्ति पदमुत्तमम् ॥' इति।

'एक' इति एक एक इत्यर्थः। 'परमं देवं' परमशिवम्। अपिशब्दो भिन्नक्रमः, तेन सप्तापि मन्त्राणां कोटय इति ॥ ३४५-३५१ ॥

नन्वधर एवाध्वन्यनन्तोऽधिकृतः,—इत्युक्तं, तत्कोऽसावधरोऽन्यो वाध्वा ? इत्याशङ्क्याह

मायादिरवीच्यन्तो भवस्त्वनन्तादिरुच्यतेऽप्यभवः ॥ ३५२ ॥
शिवशुद्धगुणाधोकारान्तः सोऽप्येष हेयश्च ।

अनाश्रितानन्ताद्यधिकारपर्यन्त इत्यर्थः ॥ ३५२ ॥

यह तथ्य महाप्रलय से सम्बन्धित है। यह अन्तिम अवस्था में ही विनियोज्य है। महा प्रलय में तो एक साथ ही सब की उपरति निश्चित है।

मतङ्ग में भी लिखा है कि,

"शुद्धाध्वाधिकारी महान् चक्रवर्त्ती रुद्र अपना अधिकार समाप्त कर परम पद में समाहित हो जाते हैं।"

इस तरह रुद्रों के विनियोजन के प्रसङ्ग में अनन्त की महत्ता और विद्येश्वरता पर प्रकाश डाला गया है ॥ ३४५-३५१ ॥

माया तत्त्वात्मक (विश्व ब्रह्माण्ड व्यापक तत्त्व), ग्रन्थ्यात्मक और शाक्त (स्वन्तन्त्र शक्तिसार) इन तोन रूपों में सक्रिय है। यह ज्ञाता और कर्त्ता का अहंकार करने वाले स्वात्मबोध-विस्मृत अणु पुरुषों को स्थूल पाशों से पाशित कर एक योनि से योन्यन्तरों में प्रक्षिप्त करती है। माया के ऊर्ध्व-आवरण के नीचे अधरान्त अवीचि रूपा निरयावस्था है। वह स्पन्दन शून्य, वीचि रहित, निस्तरङ्ग, जडशून्य दशा है, जिसे श्रुति 'असूर्या नाम ते लोका, अन्धेन तमसा वृताः' कहती है। यह ऊर्ध्वाधर अन्तराल 'भव' है। अनन्त से आगे की सृष्टि योनेर्योन्यन्तर सृष्टि नहीं है। इसलिये इसे 'अभव' सर्ग कहते है। यह अभव सर्ग अनन्त से अनाश्रित शिव पर्यन्त उल्लसित है। सारे तत्त्व एक दूसरे की भित्ति हैं। सदाशिव तत्त्व की आश्रय भित्ति शक्ति तत्त्व है। शक्ति

हेयत्वे चात्र किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अत्रापि यतो दृष्टानुग्राह्याणां नियोज्यता शैवी ॥ ३५३ ॥
इष्टा च तन्निवृत्तिर्ह्यभवस्त्वधरे न भूयते यस्मात् ।

ननु यद्येवं तत्कथमत्राभवशब्दस्य प्रवृत्तिरित्याशङ्क्योक्तं 'ह्यभवस्त्वधरे न भूयते यस्मात्' इति ॥ ३५३ ॥

तन्निवृत्तिमेव व्याचष्टे

पत्युरपसर्पति यतः कारणता कार्यता च सिद्धेभ्यः ॥ ३५४ ॥
कञ्चुकवच्छिवसिद्धौ तावतिभवसंज्ञयातिमध्यस्थौ ।

तत्त्व के आश्रय शिव हैं। शिव अनाश्रित रूप हैं। इनका इनके सिवा कोई आश्रय नहीं। परिणामतः इन्हें अनाश्रित कहते हैं ।[1] शिव ही पराकाष्ठा में अनाश्रित रूप ग्रहण करते हैं। उसकी पराशक्ति भी उस समय अनाश्रित रूपा ही उल्लसित होती है। इस पद के नीचे माया तक का सारा पद हेय माना जाता है ॥ ३५२ ॥

इसे हेय कहने का कारण है। यहाँ अनुग्राह्य साधकों और दिव्य अधिकारियों की शैवी नियोज्यता स्पष्ट ही दृष्टि गोचर होती है। अशेष विश्व के सर्जन का आसूत्रण शिव ही करते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूप पञ्चकृत्य की प्रक्रिया का प्रवर्त्तन वही करते हैं।[2] क्रमशः एक एक की निवृत्ति सदा अपेक्षित होती है। प्रवृत्ति पक्ष की उपेक्षा करते हुए उत्तरोत्तर आगे बढ़ने के लिये निवृत्ति अपनानी पड़ती है। इसलिये निवृत्ति ही इष्ट होती है। इसी क्रम में 'अभव' का साभिप्राय प्रयोग होता है। इस अन्तराल से अधररूप माया के परिवेश में कभी प्रक्षेप नहीं होता। इसलिये 'अभव' शब्द प्रयोग सार्थक हो जाता है ॥ ३५३ ॥

कारण तत्त्व नियोक्ता होता है। वह नियोजन करता है। नियोजन का कारण वही है। इसलिये उसमें कारणता विद्यमान रहती है। नियोज्य कार्य

---

१. स्व० त० (१२४६, १२५४, १२६१)
२. स्व० त० १०।१२५८-१२५९

'कारणता' नियोक्तृत्वं, 'कार्यता' नियोज्यत्वं, 'सिद्धेभ्य' इति मुक्ताणुभ्यः, 'कञ्चुकवत्' इति मायीयावरणवत्। तदपि हि तथा निवर्तत एवेति भावः। यतस्तौ शिवसिद्धौ अतिभवरूपत्वात् 'अतिमध्यस्थौ' अत्युदासीनौ नियोज्यनियोक्तृतादिक्षोभशून्यौ भवतः इत्यर्थः॥ ३५४॥

इदानीं प्रकृतमेवाह

धर्मज्ञानविरागैश्यचतुष्टयपुरं तु यत् ॥ ३५५ ॥
रूपावरणसंज्ञं तत्तत्त्वेऽस्मिन्नैश्वरे विदुः ।
वामा ज्येष्ठा च रौद्रीति भुवनत्रयशोभितम् ॥ ३५६ ॥
सूक्ष्मावरणमाख्यातमोशतत्त्वे गुरूत्तमैः ।

होता है। नियोज्य में कार्यता होती है। पति[1] की इच्छा से मुक्ताणु रूप जो सिद्ध परमानन्द घन परमेश्वर के तादात्म्य का विस्मरण कर माया के नियोज्य बन गये थे—अब उनसे नियोज्यत्व का अवसर्पण हो गया है। जैसे कंञ्चुक रूप केंचुल का अपसारण हो जाता है। उसी तरह विज्ञानकल सिद्धों से कञ्चुकों का अपसारण होता है। अणुओं से कारणता का निराकरण भी होता है। यह भी कञ्चुकों के आवरण के कारण ही होता है। कञ्चुकों का आवरण हटा और अणु मुक्ताणु हुआ। मुक्ताणु सिद्ध होता है। वह शिव रूप ही हो जाता है। सामानाधिकरण्य में प्रतिष्ठित होता है। द्वन्द्व समास का आश्रय लेकर आचार्य ने उन्हें एक आसन पर बिठला दिया है। ये दोनों शिव और सिद्ध। अब न भव और न अभव। अब ये अतिभव हो गये हैं। उन्हें अति मध्यस्थ कहना ही युक्ति युक्त है। अब नियोज्यत्व और नियोक्तृत्व दोनों प्रकार के क्षोभों से ये रहित हैं। यह निवृत्ति का महाफल है। इस दशा को प्राप्त कर साधक शिव सिद्ध हो जाता है॥ ३५४॥

श्लोक ३४१ में ऐश तत्त्व का प्रकरण आया हुआ है। स्व० त० १०।-११४९ से ११५९ तक इसका विशद निरूपण है। उसी प्रकृत विषय का निरूपण यहाँ प्रारम्भ कर रहे हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये ४ रुद्र हैं। ये ईश्वर परिवार के सदस्य हैं। इनके इसी नाम के पुर भी ईश्वर भुवन में हैं। विद्येश्वर भुवन के ऊर्ध्व 'रूप' आवरण में इन चारों रुद्रों के भुवन हैं। इनके ऊपर सूक्ष्म आवरण है। इससे तीन प्रधान शक्तियाँ वामा, ज्येष्ठा और

१. स्व० त० १०।११३६

'तत्त्वेऽस्मिन्नैश्वरे' इति, तथा 'ईशतत्त्वे' इत्यनेनेदमुक्तं—यदियदेव भुवनजातमीश्वरतत्त्वे शोधनीयमिति । तदुक्तम्

'दश पञ्च च शोध्यानि भुवनान्यैश्वरे क्रमात् ।' इति ।

तत्र विद्येशानामष्टौ भुवनानि, रूपावरणे चत्वारि, सूक्ष्मावरणे त्रीणीति पञ्चदश । अत एवेयतैवोपसंहारगर्भीकारेण श्रीस्वच्छन्द शास्त्रे

'व्रतं पाशुपतं दिव्यं ये चरन्ति जितेन्द्रियाः ।
भस्मनिष्ठाजपध्यानात्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् ॥
तत्रेश्वरस्तु भगवान् देवदेवो निरञ्जनः ।
अधिकारं प्रकुरुते शिवेच्छाविधिचोदितः ॥'

(स्व० १०।११६९) इत्याद्युक्तम् ।

श्रीनन्दिशिखायामपि

अत्राधिकारवानेवमीश्वरः शिवचोदितः ।
तज्जपध्याननिष्ठा ये ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् । इति ॥३५६ ॥

ऐशात्सादाशिवं ज्ञानक्रियायुगलमण्डितम् ॥ ३५७ ॥
शुद्धावरणमित्याहुरुक्ता शुद्धावृतेः परम् ।
विद्यावृतिस्ततो भावाभावशक्तिद्वयोज्ज्वला ॥ ३५८ ॥

रौद्री उल्लसित होती हैं। इनके भी तीन भुवन हैं। इस प्रकार ईश्वर तत्त्व में विद्येशों के ८, रूपावरण के रुद्रों के ४ और सूक्ष्मावरण की शक्तियों के ३ भुवन हैं। कुल मिलाकर ८+४+३ = १५ पन्द्रह भुवन ऐश तत्त्व में हैं—यह गुरुजनों का आप्त वचन है।

स्व० तन्त्र १०।११४९–११७० में कहा गया है कि, "जो जितेन्द्रिय साधक पाशुपत व्रत का आचरण करते हैं, वे समयाचार भस्म, जप, ध्यान के पालन से ईश्वर का ऐसा पद पा लेते हैं। वहाँ निरञ्जन देवदेव भगवान् शिवेच्छा विधि से प्रेरित होकर अधिकार का सदुपयोग करते हैं।"

नन्दि शिखा में कहा गया है कि, "यहाँ शिव प्रेरित ईश्वर ही अधिकारवान् हैं। इसके जप ध्यान आदि में निष्ठ पुरुष साधक पद पर अधिष्ठित होते हैं॥ ३५५-३५६ ॥

शक्त्यावृतिः प्रमाणाख्या ततः शास्त्रे निरूपिता ।
शक्त्यावृतेस्तु तेजस्विध्रुवेशाभ्यामलङ्कृतम् ॥ ३५९ ॥
तेजस्व्यावरणं वेदपुरा मानावृतिस्ततः ।
मानावृतेः सुशुद्धावृत्पुरत्रितयशोभिता ॥ ३६० ॥
सुशुद्धावरणादूर्ध्वं शैवमेकपुरं भवेत् ।
शिवावृतेरूर्ध्वमाहुर्मोक्षावरणसंज्ञितम् ॥ ३६१ ॥
अस्यां मोक्षावृतौ रुद्रा एकादश निरूपिताः ।
मोक्षावरणतस्त्वेकपुरमावरणं ध्रुवम् ॥ ३६२ ॥
ऊर्ध्वं ध्रुवावृतेरिच्छावरणं तत्र ते शिवाः ।
ईश्वरेच्छागृहान्तस्थास्तत्पुरं चैकमुच्यते ॥ ३६३ ॥
इच्छावृतेः प्रबुद्धाख्यं दिग्रुद्राष्टकचर्चितम् ।
प्रबुद्धावरणादूर्ध्वं समयावरणं महत् ॥ ३६४ ॥
भुवनैः पञ्चभिर्गर्भीकृतानन्तसमावृति ।
सामयात्सौशिवं तत्र सादाख्यं भुवनं महत् ॥ ३६५ ॥
तस्मिन्सदाशिवो देवस्तस्य सव्यापसव्ययोः ।
ज्ञानक्रिये परेच्छा तु शक्तिरुत्सङ्गगामिनी ॥ ३६६ ॥
सृष्टयादिपञ्चकृत्यानि कुरुते स तयेच्छया ।
पञ्च ब्रह्माण्यङ्गषट्कं सकलाद्यष्टकं शिवाः ॥ ३६७ ॥
दशाष्टादश रुद्राश्च तैरेव सुशिवो वृतः ।

सादाशिवमिति तत्त्वम्, अर्थात्तत्र शुद्धावरणमाहुरिति सम्बन्धः । 'शुद्धावृतेः परम्' इति सुद्धावरणादूर्ध्वमित्यर्थः । 'विद्यावृतिः' विद्यावरणमित्यर्थः । तदुक्तम्

ऐश भुवन के ऊपर सादशिव भुवन है। यह शुद्धावरण परिमण्डल है। इसमें ज्ञान और क्रिया शक्ति के दो भुवन हैं। इस शुद्ध आवरण के ऊपर भाव और अभाव नामक वेदना की उत्स रूपा शक्ति द्वयोज्वला विद्या शक्ति

'भावसंज्ञा त्वभावाख्या तस्मिञ्छक्तिद्वयं स्थितम् ।' इति ।
'तत' इति विद्यावरणात्, तेन तदूर्ध्वं शक्त्यावृतिस्तदूर्ध्वमपि प्रमाणावृतिरिति । शास्त्र इति, विशेषानुपादानात् सर्वत्र । तत्र शक्त्यावृतौ रुद्रद्वयम् । तदुक्तम्

'तेजस्वीशो ध्रुवेशश्च प्रमाणानां परं पदम् ।'

(स्व० १०।११७२) इति ।

शक्त्यावरणमूर्ध्वं चेति प्रमाणावरणं चोर्ध्वमित्युद्द्योतकारदृष्टः पाठः पुनरसाधुर्महाजनैरपरिगृहीतत्वात् । श्रीनन्दिशिखायामपि

'तेजेश्वरो ध्रुवेशश्च शाक्त्यावरणसंस्थितौ ।'

उल्लसित है । यह विद्यावरण इदन्ता की बोधकता से विभूषित है । जहाँ इदन्ता की स्फुटता होती है—वहाँ भाव वेदन शक्ति और जहाँ अख्याति रूपा इदन्ता के उच्छलन की आधार भूमि है, अभाव रूपा वेदन शक्ति मानो जाती है । इसे भावाभाव शक्ति द्वयोज्वला वेदनिका विद्यावृत्ति कहते हैं । भाव कहने के साथ ही अभाव का भी आकलन स्वाभाविक है । इसी आधार पर विद्या के आवरण में इन दोनों शक्तियों की सत्ता स्वीकृत है ।

विद्यावरण के ऊपर प्रमाणावरण है । इसे शक्त्यावरण भी कहते हैं । इसमें तेजस्वी (तेजेश) और ध्रुवेश दो भुवन हैं । इसका समर्थन स्व० तन्त्र १०।११७२ कारिका से किसा गया है । वहाँ तेजेश और ध्रुवेश को प्रमाणों का परमपद कहा गया है ।"

श्लोक ३६९ में विद्यावरण के ऊपर शक्ति के आवरण की चर्चा को गयी है । शक्ति का आवरण ही प्रमाण के आवरण के रूप से जाना जाता है । यहाँ आचार्य जयरथ ने स्वच्छन्द तन्त्र के व्याख्याकार उद्योतकार क्षेमराज के मत का खण्डन किया है । महा माहेश्वर ने स्पष्ट कहा है कि 'शक्त्यावृतिः प्रमाणाख्या" अर्थात् शक्त्यावरण ही प्रमाणावरण है । उद्योत कार शक्त्यावरण को भी ऊर्ध्व मानते हैं और साथ ही प्रमाणावरण को भी ऊर्ध्व मानते हैं । श्री नन्दि शिखा नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा गया है कि,

तेजेश्वर और ध्रुवेश ये दोनों शक्त्यावरण में अवस्थित रुद्र हैं ।"

अतः आचार्य राजानक जयरथ पाठकों को सावधान कर रहे हैं कि उद्योतकार की मान्यता महाजनों द्वारा परिगृहीत नहीं है । अतः अमान्य है ।

इत्यादिरास्माक एव पाठः। प्रमाणावरणशब्दस्य चात्र प्रवृत्तौ किं निमित्त-मित्याशङ्क्योक्तं 'तेजस्व्यावरणाम्' इति। तेजेशध्रुवेशौ हि मायातत्त्वावस्थि-तस्य प्रमाणाष्टकस्य परं पदं, तयोरपीदं द्वितीयं परमावरणमिति। 'वेदपुरा' चतुर्भुवना। तदुक्तम्

'ब्रह्मा रुद्रः प्रतोदश्च अनन्तश्च चतुर्थकः।' (स्व० १०।११७३) इति।

श्रीनन्दिशिखायामपि

'ब्रह्मा रुद्रः प्रमाणाख्यः प्रतोदोऽनन्तसंज्ञकः।
प्रमाणावरणे ह्येते चत्वारः परिकीर्तिताः॥' इति।

'सुशुद्धावृत्' इति सुशुद्धावरणमित्यर्थः। तदुक्तम्

'सुशुद्धावरणं चोर्ध्वं तत्र रुद्रत्रयं विदुः।
एकाक्षः पिङ्गलो हंसः कथितं तु समासतः॥'
(स्व० १०।११७४) इति।

'शैवं पुरं' शिवावरणमित्यर्थः। तदुक्तम्

शिवावरणमूर्ध्वं तु तत्रैको ध्रुवसंज्ञकः। (स्व० १०।११७४) इति।

यह पूछा जा सकता है कि शक्त्यावरण के लिये प्रमाणवरण शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है ? उसका उत्तर मूल के श्लोक ३६० में तेजस्व्या-वरण' शब्द के प्रयोग द्वारा दे दिया गया है। तेजेश और ध्रुवेश में दोनों मायातत्त्व में अवस्थित प्रमाणाष्टक के परम पद रूप से स्वीकृत रुद्र हैं। उन दोनों के प्रमाणाष्टक के अधिकारी होने के कारण ही शक्त्यावरण को प्रमाणा-वरण भी कहते हैं।

प्रमाणावरण के ऊपर 'मान' नामक वेदपुर आवरण हैं 'वेद' अर्थात् चार पुरों की व्युत्पत्ति के अनुसार इसमें ब्रह्मा रुद्र, प्रतोद और अनन्त रुद्रों के चार भुवन हैं। यह स्व० तन्त्र १०।११७३ से प्रमाणित है। श्री नन्दिशिखा में भी स्पष्ट उल्लेख है कि, "ब्रह्मा, रुद्र (प्रमाण रूप) प्रतोद और अनन्त ये चारों प्रमाणावरण के रुद्र हैं।"

मानावरण के ऊपर सुशुद्धावरण में तीन रुद्रों के भुवन हैं। एकाक्ष, पिङ्गल और 'हंस' नामक इन रुद्रों के असंख्य परिवार इन भुवनों रहते हैं। स्व० तन्त्र १०।११७४ के द्वारा यह कथन समर्थित है। सुशुद्धावरण के ऊपर

एकादशेति, ब्रह्मादयः । तदुक्तम्

> ब्रह्मदन्किदण्डिमुण्डाः सौरभश्च तथैव च ।
> जन्ममृत्युहरश्चैव प्रणीतः सुखदुःखदः ॥
> विजृम्भितः समाख्याताः ।'..... ... . ।
>
> (स्व० १०।११७७) इति ।

'आवरणं ध्रुवावरणमित्यर्थः । 'ते' इति इतः प्रभृति पृथिवीपर्यन्तमुक्ता सर्व एवेत्यर्थः । ईश्वरेच्छागृहान्तःस्था इति, तदेकरूपा इति यावत् । यदभिप्रायेणैव

> 'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।
> अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ॥' (ई० प्र० १।५।१०)

'शिवावरण' है । इसमें केवल एक ध्रुव नामक भुवन है । यह स्व० तन्त्र १०। ११७४ से प्रमाणित है । शिवावरण के ऊपर मोक्षावरण है । इसमें स्व० तन्त्र १०।११७७ के अनुसार ग्यारह रुद्र—"ब्रह्म, दन्कि, दिण्डि, मुण्ड, सौरभ, जन्महर, मृत्युहर, प्रणीत, सुखद, दुःखद" नामक हैं । मोक्षावरण के ऊपर ध्रुवावरण है । यह निरञ्जन पद माना जाता है ।

धुवावरण के ऊपर इच्छाशक्ति का आवरण है । इसमें वामा, ज्येष्ठा रौद्री शक्तियों के अधिष्ठाता तीन शिव हैं । इनके भो तीन भुवन होने चाहिये पर ईश के इच्छानुरूप एक भुवन ही इच्छावरण में हैं । श्लोक ३६३ में ईश्वरेच्छागृहान्तस्थाः शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण और साभिप्राय किया गया है । ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में अध्याय १ के आह्निक ५ की १० वीं कारिका में इच्छामर्श के मूल स्वरूप की चर्चा की गयी है । वहाँ प्रश्न अन्तः स्थित रहकर बाह्य प्रकाशन के सम्बन्ध में है । बाह्य रूप के आभासन में अन्तारूपता में अन्तर नहीं आता । कहा गया है कि प्रमात्रैक्य ही आन्तर्थ है । आन्तर अर्थ बाह्याभास में भी प्रकाश रूप ही रहता है । इसीलिये अवभास के स्वभाव को ही विमर्श कहते हैं । विमर्श परमेश्वर की इच्छा शक्ति का ही पर्याय है । इसी निष्कर्ष को इस कारिका में व्यक्त किया गया है—

"अन्तः स्थित पर प्रमाता की भावराशि का बाह्य रूप से आभासन, विना उसकी इच्छा शक्ति के नहीं हो सकता । इसीलिये इच्छामर्श का प्रवर्त्तन होता है ।"

इत्याद्यन्यत्रोक्ताम् । एकमिति, इच्छाशक्त्यैवाधिष्ठेयत्वात् । प्रबुद्धाख्यमित्यावरणम् । तदुक्तम्

'प्रबुद्धावरणं चोर्ध्वं कथयामि समासतः ।
प्रीतः प्रमुदितश्चैव प्रमोदश्च प्रलम्बनः ॥
विष्णुर्मदन एवाथ गहनः प्रथितस्तथा ।
रुद्राष्टकं समाख्यातं विज्ञेयं प्राग्दिशः क्रमात् ॥'

(स्व० १०।११८०) इति ।

पञ्चभिर्भुवनैर्युक्तमिति शेषः । तदुक्तम्

प्रभवः समयः क्षुद्रो विमलश्च शिवस्तथा ।
ततो घनः समाख्यातो निरञ्जन इतः परम् ॥
रुद्रोङ्कारास्तु पञ्चैते'.....................................।

(स्व० १०।११८२) इति ।

'ईश्वरेच्छा से ही वे शिव गृहान्तःस्थ रहते हैं अर्थात् आन्तर रूप से एक हैं। इसीलिये उनके आवास का एक मात्र आवासीय पुर 'गृहान्तर' अर्थात् 'हृदय' है, यह माना जाता है ।

इच्छावरण के ऊपर प्रबुद्धावरण है । स्व० तन्त्र १०।११८२ के अनुसार "इसमें ८ रुद्र रहते हैं। प्रीत, प्रमुदित, प्रमोद, प्रलम्बक, विष्णु, मदन, गहन और प्रथित उनके नाम हैं । ये ८ दिशाओं के रुद्र भी कहलाते हैं ।"

प्रबुद्धावरण के ऊपर समयावरण है। इसमें ५ भुवन हैं। प्रभव (क्षुद्र) विमल, घन, निरञ्जन, और ओङ्कार रुद्र इनके भुवनेश्वर हैं। गर्भीकृतानन्त-समावृति समयावरण का विशेषण है। यह नियम है कि जो ऊपर रहता है, वह समस्त नीचे स्थित तत्त्वों को अपने गर्भ में अर्थात् अन्तर में समाहित कर स्थित रहता है । यह समयावरण नीचे के भुवनों को अपने अन्तर में रखने का वर्चस्व रखता है। यहाँ तक ५९ भुवनों से सम्पन्न ईश्वर तत्त्व का वर्णन किया गया है । ईश्वर १, विद्येश ८, रूपावृति ४, सूक्ष्मावृति ३, शुद्धावृति में २ विद्यावृति २, प्रमाण वृति में २, नामावृति में ४ शुद्धावृति में ३ शिवावृति में १ मोक्षावरण में ११ ध्रुवावृति १ इच्छावामादि ४ प्रबुद्धावृति में ८ समयावृति में ५ = ५९ भुवन होते हैं ।

गर्भीकृतानन्तसमावृतीति, सर्वशेषत्वेनोक्तं यन्नाम हि किंचिदुपरिवर्ति तत्सर्वमधस्तनं गर्भीकृत्य वर्तत इति। 'सौशिवम्' इति सुशिवावरणम्। 'सादाख्यं भुवनम्' इति सदाशिवभट्टारकस्य साक्षादधिष्ठानस्थानमित्यर्थः। अत एव महदित्युक्तम्। उद्योतकृता पुनः

ईश्वरस्य तथोर्ध्वे तु अधश्चैव सदाशिवात्।' (स्व० १०।११८६)

ईत्यर्धं परिकल्प्य इतः प्रभृति सादाशिवं तत्त्वमिति यदुक्तं तदयुक्तम्, अस्यार्धस्य महाजनैरगृहीतत्वात्। अत एव च एवमपि 'ऊर्ध्वे' इति पुनरुक्त अधश्चैव सदाशिवात्' इत्यप्यसंगतं तत्रैव तस्योक्तत्वात्; अपरिकल्पितत्वेऽपि एतदित्थं यथाकथञ्चिदव्याख्येयं यदीश्वरस्येति रुद्रोङ्कारस्य, सदाशिवादिति अधिष्ठातुः, अधिष्ठेयं हि अधिष्ठातुरध एव भवेदिति। यत्तु श्रीनन्दिशिखायाम्

समयावरण के ऊपर सौशिव आवरण है। इसमें सदाशिव अपने सादाख्य भुवन में विराजमान हैं। यह ईश्वर तत्त्व का आश्रय फलक है। सदाशिव तत्त्व के अतिरिक्त अपर रूप यह सदाशिव देव है। इनके वाम (सव्य) भाग में क्रिया शक्ति और अपसव्य (दक्षिण) भाग में ज्ञानशक्तियाँ विराजमान हैं। इच्छा परा शक्ति है। यह तो सदाशिव देव के उत्सङ्ग में ही अवस्थित रहती है। यह नित्य आत्मवर्त्तिनी शक्ति है। इच्छा शक्ति के अनुसार ही सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूप पञ्चकृत्य सदाशिव देव करते हैं। ये ब्रह्म पञ्चक रूप सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान पाँच मुखों से युक्त हैं। हृदय, मूर्धा, शिव, कवच, चक्षु और अस्त्र इन छः अङ्गों से युक्त हैं। सकल, अकल, कलाकल, कलाढ्य, ख, क्षपण, अन्त्य और कण्ठौष्ठ्य ये सकलाष्टक हैं। दश शिवों से भी ये समन्वित हैं। उनके नाम ओंकार, शिव, दीप्त, हेतु, दशेश, सुशिव, काल, सूक्ष्म, सुतेज, और शर्व हैं। इनके साथ हो विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, वह्नि, वीर, रौरव, मुकुट, विसर, इन्दु, विन्दु, प्रोद्गीत ललित सिद्ध, सन्तान, शिव, पर, किरण, पारमेश रूप से समावृत हैं। ये सभी अपने नामों के अर्थों के अनुसार अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। सौशिव आवरण के अन्तर्गत हो सादाख्य भुवन का विस्तार है। अतः इसको 'महत्' विशेषण से विशिष्ट माना गया है। स्वच्छन्द तन्त्र में उद्योत कार ने आह्निक १० के श्लोक ११९० की व्याख्या में 'ईश्वरतत्त्व के ऊपर सदाशिवतत्त्ववर्त्ती सदाशिव भुवन के नीचे सदाशिव तत्त्वाश्रित सुशिव आवरण का होना माना

'कथितं त्वैश्वरं तत्त्वमत ऊर्ध्वं सदाशिवः।'

इत्युक्तं तदप्येवमवगन्तव्यं यदैश्वरमिति सादाशिवं, सदाशिव इति तत्र साक्षात्स्थित इति। अन्यथा हि उभयत्रापि ईश्वरतत्त्वोपसंहारग्रन्थस्य व्याघातः स्यात्; तन्महाजनक्षुण्ण एव मार्गोऽनुगन्तव्यः,—इति उद्योतकारव्याख्यया न भ्रमितव्यमित्यलं बहुना 'तस्मिन्' इति सादाख्ये भुवने। 'सुशिवः' सदाशिवः। वृतश्चतुर्धावरणक्रमेण ॥ ३५९-३६७ ॥

एतदेव क्रमेण पठति

सद्यो वामाघोरौ पुरुषेशौ ब्रह्मपञ्चकं हृदयम् ॥ ३६८ ॥
मूर्धशिखावर्मदृगस्त्रमङ्गानि षट् प्राहुः।
सकलाकलशून्यैः सह
कलाढ्यखमलङ्कृते क्षपणमन्त्यम् ॥ ३६९ ॥

है। इसको राजानक जयरथ अयुक्त मानते हैं। श्लोक ३६५ में शास्त्रकार ने स्पष्ट लिखा है कि समयावरण के ऊपर सौशिव आवरण है। इसमें सादाख्य भुवन में सदाशिव विराजमान हैं। दोनों अर्थों को भ्रामकता में सत्यार्थ का निर्णय कैसे हो ? यह सोचना है। श्रीतन्त्रालोक में स्पष्ट है कि सादाख्य भुवन ही श्री सदाशिव भट्टारक का साक्षात् अधिष्ठान है। श्लोक में 'तस्मिन् सदाशिवो देवः' का स्पष्ट उल्लेख है।

स्व० तन्त्र में अधश्चैव सदाशिवात् की व्याख्या में उद्योतकार ने ईश्वर तत्त्व भित्तिरूप सदाशिव तत्त्व को मानकर जो तर्क दिये हैं, वे भी अमान्य हैं। ईश्वर तत्त्व के ऊपर सदाशिवतत्त्ववर्त्ती प्रधान सदाशिव भुवन के नीचे सदाशिव तत्त्वाश्रित सुशिवावरण की परिकल्पना को राजानक अपव्याख्या मानते हैं।

श्रीनन्दिशिखा ग्रन्थ में "मैंने ऐश्वर तत्त्व का वर्णन किया। इसके ऊपर सदाशिव है"—इस कथन में ऐश्वर तत्त्व का तात्पर्य सदाशिव तत्त्व से ही है। अधिष्ठेय अधिष्ठाता के नीचे रहता है। इस नियम के अनुसार भी ईश्वर तत्त्व के उपसंहार के प्रसङ्ग में सदाशिव तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए उद्योतकार की व्याख्या अमान्य कर दी गयी ॥३५७-३६७॥

कण्ठ्यौष्ठ्यमष्टमं किल
सकलाष्टकमेतदाम्नातम् ।
ओंकारशिवौ दीप्तो
हेत्वीशदशेशकौ सुशिवकालौ ॥ ३७० ॥
सूक्ष्मसुतेजःशर्वाः शिवाः दशैतेऽत्र पूर्वादेः ।
विजयो निःश्वासश्च
स्वायम्भुवो वह्निवीररौरवकाः ॥ ३७१ ॥

श्लोक ३६७ में एक तालिका दी गयी है। उसमें ब्रह्मपञ्चक, अङ्गषट्क, सकल आदि अष्टक दश और अष्टादश शिव और रुद्रों की ओर सङ्केत किया गया है। यद्यपि प्रसङ्गानुसार इस श्लोक के भाष्य में उनके नाम देना वहीं आवश्यक समझकर दिये गये हैं किन्तु शास्त्रकार ने इस तालिका को स्वतन्त्र श्लोकों में (३६८ से ३७२ तक में) पृथक् आकलित और पृथक् परिगणित किया है। पुनः इसी के अनुसार इनका उपवृंहण किया जा रहा है। इनका क्रमिक विवरण इस प्रकार है—

१—ब्रह्म पञ्चक—१—सद्योजात, २—वामदेव, ३—अघोर, ४–तत्पुरुष और ५–ईशान ये ब्रह्म पञ्चक कहलाते हैं। श्लोक ३६७ के नीचे श्लोक ३६८ की प्रथम अर्धाली के अनुसार सुशिव चार प्रकार के आवरणों से आवृत हैं। इन चारों में यह पहला आवरण है।

२–षडङ्ग—१—हृदय, २—मूर्धा, ३—शिखा, ४—कवच, ५–दृग्, ६—अस्त्र ये छः अंग माने जाते हैं। मन्त्रन्यास में इन छः अङ्गों का प्रयोग आवश्यक और अनिवार्य माना जाता है। न्यास द्वारा इनसे सुशिव को आवृत किया जाता है।

३—सकलाद्याष्टक—१—सकल, २—निष्कल, ३—शून्य, ४—कलाढ्य ५—खमलङ्कृत ६—क्षपण, ७—क्षयान्तःस्थ और आठवाँ कण्डौष्ठ्य। साधक साधना में सदाशिव को भ्रूमध्य में ध्यातव्य मानता है। इस शरीर में अवस्थित सुशिव के इन आवरकों का सन्दर्भ भी इस प्रसङ्ग में लेना चाहिए।

मुकुटविसरेन्दुविन्दुप्रोद्गीता ललितसिद्धरुद्रौ च ।
सन्तानशिवौ परकिरण-
पारमेशा इति स्मृता रुद्राः ॥ ३७२ ॥
सर्वेषामेतेषां ज्ञानानि विदुः स्वतुल्यनामानि ।

'अकल' इति निष्कलः । अन्त्यमन्ते भवं क्षयान्तं, हेत्वीशः कारणेश्वरः सूक्ष्मः सूक्ष्मरूपः, सर्वेषामिति शिवानां रुद्राणां च, अत एव दशाष्टादशाष्टादश-भेदभिन्नं शैवमुच्यते ॥ ३७२ ॥

मन्त्रमुनिकोटिपरिवृतमथ
विभुवामादिरुद्रतच्छक्तियुतं तारादिशक्तिजुष्टं ॥ ३७३ ॥
सुशिवासनमतिसितकजमसंख्यदलम् ।
यः शक्तिरुद्रवर्गः परिवारे विष्टरे च सुशिवस्य ॥ ३७४ ॥

४—दशशिव—१—ओङ्कार, २—शिव, ३—दीप्त, ४—हेत्वीश (कारणेश) ५—दशेश, ६—सुशिवेश, ७—कालेश, ८—सूक्ष्म ९—सुतेज और १० वें—शर्व । इन दश शिवों से भी सुशिव आवृत रहते हैं । ये क्रमशः पूरब से लेकर ऊर्ध्व दिशा रूप दशों दिशाओं में व्यवस्थित हैं ।

५—अष्टादशरुद्र–ये अष्टादशरुद्र ब्रह्मपञ्चक और सकल आदि अष्टकों और दश शिवों से बाह्य संव्यवस्थित माने जाते हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं–

१—विजय २–निःश्वास ३—स्वयम्भू ४–अग्निवीर ५—रौरव ६–मुकुट ७–विसर, ८–इन्दु ९–विन्दु १०–प्रोद्गीत, ११–ललित, १२–सिद्ध रुद्र १३—सन्तान १४–शिव, १५–पर १६–किरण १७–पारमेश, १८–वीरराट् । ये अपने अन्वर्थ नामों से प्रसिद्ध हैं ।

स्वच्छन्द तन्त्र १०।११९३ से ११९९ तक के श्लोकों में इनका वर्णन है । इस प्रकार चार आवरणों से आवृत सदाशिवतत्त्व के सादाख्य भुवन में सदाशिव देव साधकों के परमोपास्य देव माने जाते हैं । ये मन्त्र विग्रह, सर्व-कारण और सृष्टि, स्थिति और संहार के कर्त्ता महेश्वर हैं ॥ ३६८-३७२ ॥

प्रत्येकमस्य निजनिजपरिवारे

परार्धकोटयोऽसंख्याः ।

मायामलनिर्मुक्ताः केवलमधिकारमात्रसंरूढाः ॥ ३७५ ॥

सुशिवावरणे रुद्राः सर्वज्ञाः सर्वशक्तिसम्पूर्णाः ।

अधिकारबंधविलये शांताः

शिवरूपिणो पुनर्भविनः ॥ ३७६ ॥

मुनीति सप्त। रुद्रा इति, आवरणादिगताः ॥ ३७६ ॥

सात करोड़ मन्त्रों की चर्चा मूल श्लोक ३३९ में की गयी है। मन्त्रेश्वर ही चक्रवर्त्ती होते हैं—यह बात श्लोक ३४४ में कही गयी है। श्लोक ३५१-५२ में भी सात करोड़ मन्त्र कहे गये हैं। यहाँ श्लोक ३७३ में भी सात करोड़ मन्त्रों से परिवृत सुशिव के आसन की चर्चा है। यह आसन विभु वामादि रुद्र और उनको शक्तियों से संवलित है। तारा आदि शक्तियों से युक्त है। सुन्दर सिंहासन श्वेत पद्मासन पर विराजमान भगवान् के कल्पनातीत सौन्दर्य की अनुभूति की जा सकती है। उनके आसन में निर्मित स्वर्ण कमल के असंख्य दलों की सुन्दरता बड़ी आकर्षक है। स्व० तन्त्र १०।१२०१–२ में इसका वर्णन है। वहाँ विभु और वामा आदि शक्तियाँ विराजमान रहती हैं और उनके शताधिक परिकर भी उन्हीं के साथ रहते हैं। इनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इस दिव्य देव के आसन पर जिन रुद्रों और शक्तियों का समावेश है, उन उन के अपने अपने अपने परिवारों की गणना परार्ध संख्या के ऊपर तक जाती है। ये सभी माया मल से सर्वथा निर्मुक्त हैं। केवल अधिकार मात्र में ये सम्यक् रूप से आरूढ हैं। इस आवरण के रुद्र सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् होते हैं। शिव द्वारा रुद्रों को काल और नियति का अधिकार दिया जाता है। परिणामतः ये रुद्र काल और नियति आदि का नियमन कर सकते हैं। सुशिवावरण के विशिष्ट रुद्र अधिकार के बन्धन से मुक्त होते हैं। अतएव बड़े शान्त होते हैं। महा संसार का सदाशिव तत्त्व में विलय हो जाने पर और शून्य स्तर में अशेषवया समाहित हो जाने पर भी तत्त्व की तात्त्विकता से यदि तनिक भी अपरिचित रह जाते हैं तो उन्हें पुनः भव में आना पड़ जाता है।

ऊर्ध्वे विद्वावृतिर्दीप्ता तत्र तत्र पद्मं शशिप्रभम् ।
शान्त्यतीतः शिवस्तत्र तच्छक्त्युत्सङ्गभूषितः ॥ ३७७ ॥
निवृत्त्यादिकलावर्गपरिवारसमावृतः ।
असंख्यरुद्रतच्छक्तिपुरकोटिभिरावृतः ॥ ३७८ ॥

ऊर्ध्वे इति, सुशिवावरणात् । 'तच्छक्ति' इति शान्त्यतीता । तदुक्तम्

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
परिवारः स्मृतस्तस्य शान्त्यतीतस्य सुव्रते ॥
तस्य वामे तु दिग्भागे शान्त्यतीता व्यवस्थिता ॥'

(स्व० १०।११२१) इति ॥ ३७८ ॥

जो तात्त्विकता में पूर्ण जागरूक हो जाते हैं। उनका महासृष्टि में भी उद्भव नहीं होता विभु और वामादि शक्तियों की चर्चा श्री पूर्वशास्त्र में ८।६६ में इस प्रकार की गयी है—

"विभु, क्रिया, इच्छा, वागीशी, ज्वलिनी, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री ये सभी कालानल सदृश भास्वर हैं।" ॥ ३७३–३७६ ॥

इसके ऊपर विन्दु का आवरण है। विन्दु जिस पद्म पर विराजमान है, वह करोड़ों चन्द्रों की आभा से भी अतिशय आकर्षक है। उस पद्म पर महाद्युति 'शान्त्यतीत' पञ्चवक्त्र भगवान् शङ्कर बिराजमान हैं। वे दशबाहु और त्रिलोचन हैं। उनके उत्सङ्ग में भगवती शक्ति नित्य उल्लसित हैं। शान्त्यतीत भगवान् के परिवार के रूप में वहाँ निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ता ये चारों कलायें पराशक्ति रूप अपने अस्तित्व से भगवान् को विभूषित करती हैं। स्व० तन्त्र १०।१२१८ से २१ तक इसका वर्णन है। शान्त्यतीता कला उनके वामभाग में अवस्थित है। विन्दु तत्त्व करोड़ों अरबों भुवनों से भरा हुआ है। इसमें मन्त्र, मन्त्रेश्वर मन्त्र महेश्वर के अनन्त परिवार पोषित होते हैं। इन कलाओं से संवलित विन्दु साक्षात् ईश्वर रूप ही है। श्री मन्मतङ्ग शास्त्र में इसे 'लय' नामक तत्त्व भो कहा गया है। यह लय शब्द पारिभाषिक है। लयाख्य तत्त्व ही बाह्य अभिव्यक्ति के क्षण में विन्दु बन कर उल्लसित होता है। सहस्र-सहस्र रश्मियों से रमणीय यह अनिन्द्य सुन्दर तत्त्व 'लय' नामक सूक्ष्म और अनभि-

एतच्च भङ्ग्यन्तरेणोक्तमित्याह

श्रीमन्मतङ्गशास्त्रे च लयाख्यं तत्त्वमुत्तमम् ।
पारिभाषिकमित्येतन्नाम्ना विन्दुरिहोच्यते ।। ३७९ ।।

यन्नाम सर्वकर्तृत्वादिगुणयोगादुत्तमं लयाख्यं तत्त्वं तदेवैतद्बहिरभिव्यक्तं सदिह स्वशास्त्रपरिभाषया विन्दुरुच्यते, श्रीमतङ्गपारमेश्वरेऽस्य तथा समयः कृत इत्यर्थः । यदुक्तं तत्र

तस्मादेव परं तत्त्वमचलं सर्वतोमुखम् ।
यस्मिन्प्राप्तस्य न पुनर्जन्मेहास्ति कदाचन ।। इति ।
'इत्थं गुणवतस्तस्मात्तत्त्वात्तत्त्वमनिन्दितम् ।
स्फुरद्रश्मिसहस्राढ्यमधस्ताद्व्यापकं महत् ।।
पारिभाषिकमित्येतन्नाम्ना विन्दुरिहोच्यते ।
चतुर्धावस्थितं चेदं प्रेरकं सर्वतोऽव्ययम् ।।' इति ।। ३७९ ।।

व्यक्त तत्त्व से विनिसृत है । यह अत्यन्त प्रेरक और अव्यय तत्त्व है । श्री मतङ्ग शास्त्र में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि,

"यह अत्यन्त अचल परम तत्त्व है । यह सर्वत्र प्रभावशाली है । अतः इसे सर्वतोमुख कहते हैं । इस स्तर पर पहुँचे हुए उपासक का पुनर्जन्म नहीं होता । वह शाश्वत मुक्त हो जाता है ।"

इसके अतिरिक्त भी विन्दु तत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है कि,

"इस प्रकार अत्यन्त गौरवशाली यह नित्य अनिन्दित तत्त्व सभी तत्त्वों से महत्त्वपूर्ण है । इससे हजारों हजार रश्मियाँ निकलती हुई चकाचौंध उत्पन्न करती हैं । ऊपर नीचे सर्वत्र इसकी प्रभा व्याप्त रहती है । यह व्यापक महत्तत्त्व है । इसकी परिभाषा में विद्वद्वर्ग संलग्न रहता हुआ भी नित्य इसे पारिभाषिक ही मानता है । इसे नामतः 'विन्दु' कहकर परिभाषित करते हैं । इसके चतुर्धा अवस्थान के सम्बन्ध में केवल कल्पना ही की जा सकती है । चतुष्कलत्व का वर्णन स्व० तन्त्र १०।१२१७ में है । निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ति को ही वे चार कलायें मानते हैं । श्लोक १२२२ में भी इसे अर्धमात्र मानते हुए चतुष्कल रूप से स्वीकार करते हैं ।। ३७७–३७९ ।।

ननु इह पत्युः

'लयभोगाधिकाराह्वत्रितत्त्वोक्तिनिदर्शनात् ।
पदार्थः पतिनामासौ प्रथमः परिकीर्तितः ।'

(मतङ्गतं०) इति ॥.........(?)

तदत्रास्य यद्येवं तद्भोगादिरूपत्वं पुनः कुत्र ? इत्याशङ्क्याह

**चतुर्मूर्तिमयं शुभ्रं यत्तत्सकलनिष्कलम् ।
तस्मिन्भोगः समुद्दिष्ट इत्यत्रेदं च वर्णितम् ॥ ३८० ॥**

यदेतन्निवृत्त्याद्यात्मना चतूरूपं तत्त्वेऽपि तदुत्तीर्णत्वात् निर्मलम्, अत एव सकलत्वेऽपि परस्मिन्नेव तत्त्वे लीनत्वान्निष्कलं पदं, तस्मिन्भोगः समुद्दिष्टः सादाशिवं तत्त्वमस्य भोगस्थानमित्यत्र श्रीमतङ्गशास्त्र एवेदमुक्तम् । तदुक्तं तत्र

'**सदाशिवस्य देवस्य लयस्तत्त्वेऽतिनिष्कले ।
चतुर्मूर्तिमयं शुभ्रं यत्तत्सकलनिष्कलम् ॥
तस्मिन्भोगः समुद्दिष्टः पत्युर्विश्वस्य सर्वदा ।**'

(मतङ्ग० १।३।२३) इति ।

'मतङ्गशास्त्र में 'पति' नामक प्रथम पदार्थ की कलना की गयी है । वहाँ कहा गया है कि

"लय, भोग और अधिकार रूपी तीन तत्त्वों का वह निदर्शन है ।" इस प्रसङ्ग में पूर्वोक्त लय तत्त्व की चर्चा के बाद भोग और अधिकार के सम्बन्ध में जिज्ञासु का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि मतङ्ग शास्त्र (१।३।२३) चतुर्मूत्ति-रूप विन्दु को सकल और निष्फल मानता है । उनमें ही भोग का निर्देश किया गया है । वही तथ्य यहाँ भी वर्णित है । निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ता कलाओं के प्रतीक चार सकल रूप, उनसे उत्तीर्ण निष्कल तत्त्व रूप पद होता है । यह सकल भी निष्कल पद में ही लीन होता है । भोग सकल स्तरीय परिस्थिति है ।

अधिकारस्थानं पुनरस्य विद्यादि,—इत्यर्थसिद्धम् । यदुक्तं तत्रैव

'लये च शिवतत्त्वाख्यं व्यक्तौ बिन्द्वाह्वयं पदम् ।
भोगः सदाशिवस्थाने ईश्वराख्ये च शासनम् ॥
विद्यातत्त्वेऽधिकारोऽस्य योनेर्ज्ञेयः सदैव हि ।'

(मतङ्ग० १।७।३३) इति ॥ ३८० ॥

ननु सकलत्वं नाम कलादिक्षित्यन्तदेहयोग्यत्वमुच्यते, तच्चेत् सदाशिवभट्टारकस्य संभवति तत्कथमस्यापि अस्मदादिवत् क्षित्यादिरूपत्वं न लक्ष्यते ? इत्याशङ्क्याह

निवृत्यादेः सुसूक्ष्मत्वाद्धराद्यारब्धदेहता ।
मातुः स्फूर्जन्महाज्ञानलीनत्वान्न विभाव्यते ॥ ३८१ ॥

'मातुः' सदाशिवभट्टारकस्य । निवृत्त्यादेः सूक्ष्मत्वे हेतुः—स्फूर्जन्महाज्ञानलीनत्वादिति ॥ ३८१ ॥

[नन्वत्र] स्थिता च धरादिरूपता न विभाव्यते,—इत्येतद्विप्रतिषिद्धमित्याशङ्क्याह

उद्रिक्ततैजसत्वेन हेम्नो भूपरमाणवः ।
यथा पृथङ्न भान्त्येवमूर्ध्वाधोरुद्रदेहगाः ॥ ३८२ ॥

लय को अवस्था में शिवत्व और अभिव्यक्ति की अवस्था में विन्दु पद शास्त्र सम्मत है । सदा शिव स्थान में 'भोग', ईश्वर पद पर 'शासन' और विद्यातत्त्व में 'अधिकार' यह मतङ्ग शास्त्र १।७।३३ में स्पष्ट रूप से कहा गया है ॥ ३८० ॥

निवृत्यादि कलायें महाज्ञान में लीन रहने पर भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अस्तित्त्व में बनी रहती हैं । स्थूल रूप पञ्चतत्त्वमय धराद्यारब्ध-देहता से तो यह सकल पुरुष में परिलक्षित होती हैं पर सूक्ष्म अवस्था में जब सदाशिव भट्टारक रूप पर प्रमाता का विस्फूर्जित ऊर्जस्वल महनीयबोध प्रकाशमान रहता है, ये कलायें उसी में लीन हो जाती हैं । अतः वे किसी को इन्द्रिय गोचर नहीं हो सकतीं । उनकी विभा महाविभा में ही भावित हो जाती है ॥ ३८१ ॥

यथा सुवर्णस्य तेजःपरमाणूनामुद्रिक्तत्वात्काठिन्याद्यन्यथानुपपत्त्या स्थिता अपि भूपरमाणवः पृथङ् न भासन्ते तथात्मज्ञानतिरस्कृतत्वात् शुद्धाशुद्धात्मनि सर्गे तत्तद्भुवनेश्वरदेहगा अपि,—इति वाक्यार्थः ॥ ३८२ ॥

इदानीं प्रकृतमेवाह

विन्दूर्ध्वेऽर्धेन्दुरेतस्य कला ज्योत्स्ना च तद्वती ।
कान्तिः प्रभा च विमला पञ्चैता रोधिकास्ततः ॥ ३८३ ॥
रुन्धनो रोधनी रोद्ध्रो ज्ञानबोधा तमोपहा ।
एताः पञ्च कलाः प्राहुर्निरोधिन्यां गुरूत्तमाः ॥ ३८४ ॥

'तद्वती' ज्योत्स्नावती, 'तत' इति अर्धेन्दोरप्यूर्ध्वम् ॥ ३८४ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि जो पदार्थ है और विभावित नहीं होता इसमें विप्रतिषेध की स्थिति सी आपतित लगती है। जो है वह विभावित होना चाहिये। जो विभावित है, उसे होना चाहिये। होना और प्रतिभासित होना तुल्यबलवत्पक्ष है। इसका समाधान दृष्टान्त द्वारा कर रहे हैं। सोना पृथ्वी तत्त्व है। उसो से निकलता है। उसमें तैजस तत्त्व का उद्रेक है। परमाणु अवस्था में वह स्वर्ण परिलक्षित नहीं होता। जबकि वह रहता है। उसी तरह स्थूल जब सूक्ष्म पर अवस्था में आता है और शिवत्व में लीन रहता है तो इन्द्रियातीत हो जाता है। विभिन्न भुवनेश्वरों के यहाँ शुद्धाशुद्ध अस्तित्व की प्रमिति में तदनुरूप भान ही संभव है। इसमें सन्देह की कोई बात नहीं ॥३८२॥

यह विन्दु तत्त्व का स्वरूप है। इसके ऊपर अर्धचन्द्र का आवरण आता है। विन्दु अर्धमात्र और चतुष्कल होता है। उसका आधा अर्धचन्द्र होता है। इसकी कलायें ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, कान्ति, प्रभा, और विमला ये पाँच हैं।

इसके बाद रोधिका (रेखिनी) शक्ति आती है। रुन्धनी, रोधनी, रोद्ध्री, ज्ञानबोधा, तमोपहा ये पाँच कलायें निरोधिका के आवरण की हैं। अर्धचन्द्र की अष्टमांश निरोधिका शक्ति होती है। निरोधिनी शक्ति ब्रह्मा आदि कारण तत्त्वों को भी आगे बढ़ने से राक देती है। सामान्य जोवों की तो उसके सामने कोई हस्ती ही नहीं। इसी लिये तो इसे निरोधिनो कहते हैं। इसके भेदन की विधि है। उसका विशेष मन्त्र है। इस युक्ति से उसका भेदन होता है। उसके

अर्धचन्द्रादेश्च मन्त्रप्रमेयरूपत्वात् तदुचितमेव यथोत्तरंसूक्ष्मसूक्ष्मतरादि-रूपत्वं दर्शयति

अर्धमात्रः स्मृतो विन्दुर्व्योमरूपी चतुष्कलः ।
तदर्थमर्धचन्द्रस्तदष्टांशेन निरोधिका ॥ ३८५ ॥

'तदर्ध' मात्राचतुर्भागः 'तदष्टांशेन' मात्राष्टांशेन ॥ ३८५ ॥

निरोधिकामेव निर्वक्ति

हेतून्ब्रह्मादिकान् रुन्द्धे रोधिकां तां त्यजेत्ततः ।
निरोधिकामिमां भित्वा सादाख्यं भुवनं परम् ॥ ३८६ ॥
पररूपेण यत्रास्ते पञ्चमन्त्रमहातनुः ।

'हेतून्' इति कारणानि । पररूपेणेति, सुशिवावरणे हि अस्याः परं रूपमित्युक्तम् ॥ ३८६ ॥

अस्यैव स्थानं रूपं च निरूपयति

इत्यर्धेन्दुनिरोध्यन्तविन्द्वावृत्यूर्ध्वतो महान् ॥ ३८७ ॥
नादः किञ्जल्कसदृशो महद्भिः पुरुषैर्वृतः ।
चत्वारि भुवनान्यत्र दिक्षु मध्ये च पञ्चमम् ॥ ३८८ ॥
इन्धिका दीपिका चैव रोधिका मोचिकोर्ध्वगा ।
मध्येऽत्र पद्मं तत्रोर्ध्वगामी तच्छक्तिभिर्वृतः ॥ ३८९ ॥
नादोर्ध्वतस्तु सौषुम्नं तत्र तच्छक्तिभृत्प्रभुः ।
तदीशः पिङ्गलेलाभ्यां वृतः सव्यापसव्ययोः ॥ ३९० ॥

बाद सादाख्य परम भुवन का परिवेश आता है । सादाख्य पर सदाशिव देव मन्त्र शरीर हैं । पहले कहे गये सदाशिव यहाँ पर रूप से विराजमान हैं ।

निरोधिका आवरण के ऊपर नाद का आवरण है । नाद किञ्जल्क पराग रमणीय है । मन्त्रमहेश्वर सदृश सूर्यप्रभ पुरुषों से यह भुवन भरा हुआ है । इन्धिका, दीपिका, रोचिका, मोचिका और ऊर्ध्वगा ये पाँच नायिकायें वहाँ

या प्रभोरङ्कगा देवी सुषुम्ना शशिसप्रभा ।
ग्रथितोऽध्वा तया सर्व ऊर्ध्वश्चाधस्तनस्तथा ॥ ३९१ ॥
नादः सुषुम्नाधारस्तु भित्वा विश्वमिदं जगत् ।
अधः शक्त्या विनिर्गच्छेदूर्ध्वशक्त्या च मूर्धतः ॥ ३९२ ॥
नाड्या ब्रह्मबिले लीनः सोऽव्यक्तध्वनिरक्षरः ।
नदन्सर्वेषु भूतेषु शिवशक्त्या ह्यधिष्ठितः ॥ ३९३ ॥

एवमर्धेन्दुनिरोधिनी च बिन्दोरेव प्रसरः,—इत्युक्तं स्यात्। 'महद्भिः पुरुषैः' इति मन्त्रमहेश्वररूपैः। 'तच्छक्तिः' ऊर्ध्वगामिनी। तदुक्तम्

'तस्मिन्पद्मं सुविस्तीर्णमूर्ध्वगेशः स्थितः प्रभुः ।'

(स्व० १०।१२२४) इति ।

ऊर्ध्वगा तु कला तस्य नित्यमुत्सङ्गगामिनी ।'

(स्व० १०।१२२६) इति च ।

सदा सक्रिय रहती हैं। इनमें चार तो चारों दिशाओं को प्रभान्वित करती हैं किन्तु ऊर्ध्वगा मध्य में राजित रहती है। ऊर्ध्वगामी विकसित सौषुम्न अरविन्द कोश में विराजमान नाद इन शक्तियों से आवृत रहते हैं। इडा (वाम नाडी) और पिङ्गला (दक्ष) दोनों से ये सदा संवलित हैं। नाद के ऊर्ध्व में ऊर्ध्वगा शक्तिधाम में ही ऊर्ध्वगेश नादान्त देव शाश्वत विराजमान हैं। नाद और नादान्त के ऊपर सौषुम्न भुवन का आवरण है। सुषुम्ना शशिप्रभा महादेवी है। उसके स्वामी सुषुम्नेश अनिश सुषुम्नाविहार करते हैं। सुषुम्नेश इडा और पिङ्गला शक्तियों से घिरे रहते हैं। इडा सव्य (वाम भाग में) ओर पिंगला अपसव्य दक्षिण भाग में रहती है। सुषुम्नेश के अङ्क में शश्वत् विहार करने वाली देवी ही सुषुम्ना कहलाती है। ऊर्ध्व और अधः सभी अध्वमार्ग को नियन्त्रित करने वाली यह शक्ति नाद की आश्रय रूपा शक्ति है।

नाद सुषुम्ना में अधिष्ठित रहता हुआ दो काम करता है। पहले वह अधः शक्ति के प्रभाव से मूलाधार से उद्गत होता है। पुनः ऊर्ध्व रूपा प्राणात्मिका शक्ति का आश्रय लेकर ऊपर उठता है। ऊर्ध्व-गामिनी शक्ति में ऊर्ध्वगेश विराजमान हैं।

सौषुम्नमिति भुवनम् । 'तच्छक्तिः' सुषुम्ना । 'तदीशः' सुषुम्नेशः । 'ग्रथित' इति ओतप्रोतत्वेन व्याप्तः । 'ऊर्ध्वः' शक्तिशिवात्मकः 'अधस्तनो' नादान्तादिः । यस्याश्चोर्ध्वाधरयोरेव व्यापकत्वं दर्शयति 'नादः सुषुम्नाधार' इत्यादिना । इह खलु नादः सुषुम्नाख्यां मध्यनाडीमधितिष्ठन्नधःशक्त्योत्थाय मूलाधारात् प्रबोधमासाद्य प्राणात्मिकयोर्ध्वशक्त्या निखिलमिदं जगत् तत्तत्कारणोल्लङ्घनक्रमेण भित्त्वा तस्या एव सुषुम्नाख्याया नाड्या 'मूर्धत' उपरिष्टान्निर्गच्छेत् येनासौ ब्रह्मबिले विश्रान्तः सन् सर्वेषु भूतेषु

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ॥' (स्व० ७।५८)

इत्याद्युक्त्या नदन्, अत एव घोषादिस्वभावान्तरानुदयात् अव्यक्तध्वनिः अत एवाविचलद्रूपत्वाद् अक्षरो यत् शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः परसंविन्मात्रात्मक इत्यर्थः । तदुक्तम्

इस प्रकार यह समग्र विश्व शरीर नाद शक्ति की अधः और ऊर्ध्व शक्तियों से व्याप्त है । विश्व में इसकी व्यापक और शरीर में इसकी तान्वी व्याप्ति का स्वरूप योगियों की साधना में स्पष्ट अनुभूत होता है । यह नाद का माहात्म्य है कि सारे जगत् और सारे शरीर के कारणात्मक अस्तित्व का भेदन करता हुआ सुषुम्ना के मूर्धाभाग से ऊपर उठकर ब्रह्म विल में विश्रान्त होता है । इसके सम्बन्ध में स्व० त० ७।५८ कहता है कि "इसका न तो कोई उच्चारयिता ही है और न ही प्रतिहन्ता । यह दिव्य देव स्वयम् उच्चरित होता है । प्राणियों के सुषुम्ना केन्द्र रूपी हृदय में यह अधः ऊर्ध्वगति शीलता में उल्लसित है ।"

ब्रह्मबिल में लीन होने वाला अव्यक्त ध्वनि रूप यह अक्षर तत्त्व है। सर्वभूत समुदाय से घोष अघोषादि नाद के अतिरिक्त नद धात्वर्थ को व्यक्त करने वाला यह तत्त्व शिवशक्ति से अधिष्ठित है । यह पर संविन्मात्रात्मक अव्यक्त तत्त्व है । स्व० त० १०।१२३३ में भी इसकी चर्चा इस प्रकार है—

'नाड्याधारस्तु नादो वै भित्त्वा सर्वमिदं जगत् ।
अधःशक्त्या विनिर्गत्य यावद्ब्राह्मणमूर्ध्वतः ॥
नाड्या ब्रह्मबिले लीनस्त्वव्यक्तध्वनिरक्षरः ।
नदते सर्वभूतेषु शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः ॥'
(स्व० १०।१२३३) इति ॥ ३९३ ॥

सुषुम्नोर्ध्वे ब्रह्मबिलसंज्ञयावरणं त्रिदृक् ।
तत्र ब्रह्मा सितः शूली पञ्चास्यः शशिशेखरः ॥ ३९४ ॥
तस्योत्सङ्गे परा देवी ब्रह्माणी मोक्षमार्गगा ।

'तत्र' इति ब्रह्मबिलावरणे। 'मोक्षमार्गगा' इति तन्मार्गावस्थितेत्यर्थ। अत एवास्यास्तद्रोधने तद्दाने च सामर्थ्यमित्युक्तं 'रोद्ध्री दात्री च मोक्षस्य' इति ॥ ३९४ ॥

रोद्ध्री दात्री च मोक्षस्य तां भित्त्वा चोर्ध्वकुण्डली ॥ ३९५ ॥
शक्तिः सुप्ताहिसदृशी सा विश्वाधार उच्यते ।
तस्यां सूक्ष्मा सुसूक्ष्मा च तथान्ये अमृतामिते ॥ ३९६ ॥
मध्यतो व्यापिनी तस्यां व्यापीशो व्यापिनीधरः ।

"नाद नाडियों का आधार है। यह सारे जगत को भेदकर अधः शक्ति से ऊपर उठकर ऊर्ध्वगेश का अभिनन्दन करता है। सुषुम्ना के ऊपर ब्रह्मबिल में लीन अव्यक्त ध्वनि और अक्षर अस्तित्व से भूषित हो जाता है। शिवशक्ति से शाश्वत अधिष्ठित यह समस्त प्राणीवर्ग में नदन करता है।" ॥ ३८३-३९३ ॥

सुषुम्ना के ऊपर ब्रह्मबिल संज्ञक त्रिदृक् आवरण है। इसमें ब्रह्मा अपने पर रूप में विराजमान हैं। दश भुजाओं वाले श्वेत वर्ण शूली त्रिनेत्र, पञ्चानन और चन्द्रशेखर भी वहाँ रहते हैं। हाथों में शूल और शिर पर जटायें, ललाट के ऊपरी भाग में शिर पर मुकुट इन प्रतीकों से ये मनोज्ञतया मण्डित हैं। इनकी परा शक्ति ब्रह्माणी है। वह इसी मोक्षपथ में मोक्षद्वार का अवरोधकर अवस्थित है। यह मोक्ष भी दे सकती है। ज्ञानियों को तो मोक्ष देती ही है। इस आवरण का भेदन कर शक्तिव्यापिनी धाम समना में प्रवेश की विधि साधना के पक्ष को रहस्यात्मक बना देती है।

तां भित्त्वेति, तत ऊर्ध्वमित्यर्थः। ऊर्ध्वकुण्डलीति, निखिलस्यास्य विश्वस्यानुन्मिषितत्वेनान्तर्गर्भीकारात् अत एव 'सुप्ताहि सदृशी' इत्युक्तम्, अत एव स्वभित्तावेव विश्वोल्लासनात् 'विश्वाधार उच्यते' इत्युक्तम्। शक्तिरित्यनेन इतः प्रभृति शक्तितत्त्वम्—इत्यासूत्रितम्। तदुक्तं श्रीनन्दिशिखायाम्

'तत ऊर्ध्वे शक्तितत्त्वं कथ्यमानं निबोध मे।
प्रसुप्तभुजगाकारा ऊर्णातन्तुसमप्रभा॥
आधारः सर्वतत्त्वानां भुवनानां च सुव्रते।' इति।

'तस्याम्' इति शक्तौ। तदुक्तम्

सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च तथा चैवामृतामिता।
व्यापिनी मध्यतो ज्ञेया शेषाः पूर्वादितः क्रमात्॥'

(स्व० १०।१२९०) इति।

'तस्याम्' इति व्यापिन्याम्। व्यापीश इति, यस्यानाश्रितभैरवापेक्षया पूर्वस्यां दिशि व्यवस्थानम्॥ ३९६॥

ननु व्यापिनी शक्तेः पृथगिति तावदविवादः, तत्किं तस्याः शक्तितत्त्वे एवावस्थानम् उत न? इत्याशङ्क्याह

शक्तितत्त्वमिदं यस्य प्रपञ्चोऽयं धरान्तकः॥ ३९७॥

वहीं समना के ऊर्ध्व भाग में स्पन्दनोदर सुन्दर ऊर्ध्व कुण्डली भूमि है। सारा संसार उसमें अनुन्मिषित रूप से उसके अन्तराल में अवस्थित है। सोई हुई सर्पिणी के समान यह शक्ति कुण्डली मारकर बैठी है। स्वात्मभित्ति में विश्व का उन्मीलन करती है। अतएव यह विश्वधारिका दैवी शक्ति मानी जाती है। ऊर्ध्वस्थिता इस देवी के सम्बन्ध में नन्दिशिखा ने स्पष्ट लिखा है कि "यह ऊर्णातन्तुसमप्रभादेवी भुवनों की और समस्त तत्त्वों की आधार है।"

इस शक्ति तत्त्व में "सूक्ष्मा सुसूक्ष्मा, अमृता और अमिता, चारों देवियाँ चार दिशाओं में तथा व्यापिनी मध्योर्ध्व में अवस्थित है। व्यापिनी शक्ति के स्वामी व्यापिनीश भी वहीं विराजमान हैं। अनाश्रित भैरव की अपेक्षा पूर्व में इनकी अवस्थिति है॥ ३९४-३९६॥

व्यापिनी शक्ति से पृथक् है। इसमें किसी का वैमत्य नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि व्यापिनी का अवस्थान शक्ति तत्त्व में ही है। शक्ति वह तत्त्व है, जिसका प्रपञ्च धरान्त उल्लसित है। यह अनाश्रित भुवन रूप से भी

शिवतत्त्वं ततस्तत्र चतुर्दिक्कं व्यवस्थिताः ।
व्यापी व्योमात्मकोऽनन्तोऽनाथस्तच्छक्तिभागिनः ॥ ३९८ ॥
मध्ये त्वनाश्रितं तत्र देवदेवो ह्यनाश्रितः ।
तच्छक्त्युत्सङ्गभृत्सूर्यशतकोटिसमप्रभः ॥ ३९९ ॥

'शक्तितत्त्वम्' इति अनाश्रितभुवनम् 'तत' इति तच्छक्तितत्त्वमेवाश्रित्येत्यर्थः। तद्धि शक्तितत्त्वे एव व्यापिन्यामवस्थितमिति भावः। 'तत्र' इति अनाश्रितभुवने। 'तच्छक्तयो' व्यापिन्याद्याः। अनाश्रितमिति भुवनम्। 'तच्छक्तिः' अनाश्रिता। तदुक्तम्

'व्यापिनी व्योमरूपा चानन्तानाथा त्वनाश्रिता।
(स्व० १०।१२५२) इति।

शिवतत्त्वमिति पुनः स्वार्थवृत्त्या यदि व्याख्यायेत तत्सर्वं व्याहन्येत। यतः

'एवं वै शिवतत्त्वं तु कथितं तव सुव्रते।
शोधयित्वा ततश्चोर्ध्वं शक्तिश्चैव परा स्मृता॥
समना नाम सा ज्ञेया...................।' (स्व० १०।१२५४)

इत्याद्युक्त्या शिवतत्त्वादपि ऊर्ध्वं समना व्याप्नोतीति। तत्रापि

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्।' (स्व० ४।४२९)

स्वीकृत है। शक्ति का आश्रय लेकर ही शिवत्व भी विश्वोल्लास में संलग्न रहता है। यह चारों दिशाओं में व्याप्त है। व्यापी, व्योमात्मक, अनन्त, और अनाथ ये चार दिग्देव हैं। ऊर्ध्व दिग्देव अनाश्रित है। वहाँ इसी नाम के देवाधिदेव भी अधिष्ठित हैं। अपनी अङ्कशोभिता अनाश्रिता शक्ति से संवलित अनाश्रित प्रभु अनन्त कोटि सूर्यों की आभा से भासमान हैं।

यहाँ आचार्य जयरथ ने विचारकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि अनाश्रित तत्त्व के स्थान पर शिवतत्त्व का अर्थ नहीं करना चाहिये। स्व० त० १०।१२५५ में शिवतत्त्व का कथन उसके व्यापक अर्थ में हुआ है। समना के नीचे शिवतत्त्व के आवरण की कल्पना ही नहीं की जा सकती। क्योंकि स्व० तन्त्र ४।४२९ में स्पष्ट उल्लेख है कि समना तक अनन्त पाशजाल का अस्तित्व है। समना को ऊपर मानने पर शिवतत्त्व भी पाशजाल के प्रभाव क्षेत्र में आने लगेगा।

इत्याद्युक्तेरनन्तं पाशजालं प्रसक्तं स्यात् । एवम्

'हेयाध्वानमधः कुर्वन् रेचयेत्तं वरानने ।
यावत्सा समना शक्तिस्तदूर्ध्वं चोन्मना स्मृता ॥'

(स्व० १०।१२७१)

इत्यादि व्याहतं स्यात् ।

'……… ……… ………उन्मन्यन्ते परः शिवः ।'

इत्याद्यपि दुष्येत् समनाधस्तस्योक्तत्वात्, तस्यापि तत्त्वान्तरत्वे षट्त्रिंशत्तत्त्वानि,—इति प्रतिज्ञाहानिः । नास्य शिवतत्त्वस्य ऊर्ध्वमन्तर्वा समनापि, त्वधस्तस्याः शक्तितत्त्व एवाम्नानात् । तदुक्तम्

'प्रणवेन ततः शक्तिर्न्यसितव्या वरानने ।
व्यापिनीं समनां चोर्ध्वे तत्रैव तु विशोधयेत् ॥ इति ।

अनाश्रितादीनां च शिवतत्त्वावस्थाने तस्यापि कालकलितत्वमापतेत्, ते हि क्षयिणः । यदुक्तम् प्राक्

दूसरा दूषण यह होगा कि "अशुद्ध अध्वा का समना पर्यन्त अधः रेचन आवश्यक है । इसके ऊपर उन्मना तत्त्व है" यह स्व० त० १०।१२७१ की उक्ति है । इसके अनुसार शिवतत्त्व में भी पाश जाल प्रसक्त हो जायेगा और समना तक के पाश जाल के रेचन की उक्ति भी व्याहृत हो जायेगी ।

तीसरा दोष 'उन्मन्यन्तः परः शिवः' इस आप्त वचन के विरोध के रूप में उपस्थित होगा । समना से नीचे मानने पर उसे नया तत्त्व भी मानना पड़ेगा । इससे ३६ तत्त्वों की मान्यता के सिद्धान्त में अन्तर पड़ने लगेगा ।

वास्तविकता यह है कि शिव तत्त्व के ऊपर किसी तत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती । समना भी उसके नीचे रहने वाली उसी की एक शक्ति मानी जाती है । साधना के तात्त्विक स्तर पर प्रणव मन्त्र द्वारा व्यापिनी की न्यास प्रक्रिया पूरी होती है । व्यापिनी के ऊपर समना का विशोधन होना चाहिए । इस उदाहरण द्वारा भी यह स्पष्ट है कि, समना शिव से क्या उन्मना से भी नीचे की तत्त्व है ।

'शक्तिः स्वकालविलये व्यापिन्यां लीयते पुनः।
व्यापिन्यां तद्दिवारात्रं लीयते साप्यनाश्रिते॥
परार्धकोट्या हत्वा तु शक्तिकालमनाश्रिते।
दिनं रात्रिश्च तत्काले परार्धगुणितेऽपि च॥
सोऽपि याति लयं साम्यसंज्ञे सामनसे पदे।'
(श्री तं० ६।१६६) इति।

ततश्च

'ऊर्ध्वमुन्मनसो यश्च तत्र कालो न विद्यते।
न कल्पः कल्पते कश्चिन्निष्कलः कालवर्जितः॥
यः शाङ्कर्युन्मनातीतः स नित्यो व्यापकोऽव्ययः।'

इत्याद्याः श्रुतयो विरुद्धाः स्युः। न च अनाश्रितादीनां शिवतत्त्वेऽवस्थानमस्ति, अपि तु शक्तितत्त्वे एव व्यापिन्याम्। तदुक्तम्

'अधो ब्रह्मबिलं देवि शक्तितत्त्वं ततः परम्।
पञ्चकारणसंयुक्ता व्यापिनी तु तथा परा॥
समना उन्मना चैव प्रक्रियाण्डैर्युता प्रिये।' इति।

तस्मादस्मदुक्तमेव व्याख्यानं युक्तमित्यन्यदुपेक्ष्यम् ॥ ३९९ ॥

चौथा एक और दोष है। अनाश्रित तो काल कलित है। क्षयिष्णु है। शिवतत्त्व में उक्त कथन से अनुसार काल कलितत्त्व आ जायेगा। श्री तं० ६।१६६ के अनुसार सामनस पद के प्रसङ्ग में कालतत्त्व के प्रभाव का वर्णन है। यह काल उन्मनस् के ऊर्ध्व क्षेत्र के क्षय में अक्षम है। वह निष्कल काल वर्जित अवस्था है। उन्मनातीत शाङ्कर परिवेश में काल को कलना असम्भव है।

जहाँ तक अनाश्रित का प्रश्न है, अनाश्रित शक्ति तत्त्व में ही अवस्थित है। शिव में नहीं। इस तरह शिवतत्त्व के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर वास्तविकता को उजागर किया गया है। शास्त्र यह मानता है कि "पहले ब्रह्मबिल, फिर शक्ति पुनः पञ्चकारण संयुक्ता व्यापिनी, पुनः समना, तब उन्मना आती है। यही साधना-प्रक्रिया से युक्त मान्यता है।" इस मत के सामने अन्य मत हेय हैं ॥ ३९९ ॥

शिवतत्त्वोर्ध्वतः शक्तिः परा सा समनाह्वया ।
सर्वेषां कारणानां सा कर्तृभूता व्यवस्थिता ॥ ४०० ॥
विभर्त्यण्डान्यनेकानि शिवेन समधिष्ठिता ।

'शिवतत्त्वोर्ध्वत' इति व्यापिनीपदावस्थितानाश्रितभुवनादप्यूर्ध्वमित्यर्थः । न चात्रैव अपूर्वतया तत्त्वशब्दस्य भुवनवाचित्वम्

'विन्दुतत्त्वं समाख्यातं·························।

(स्व० १०।१२१७)

इत्यादावपि तथा प्रयोगदर्शनात् । कर्तृभूतेति, क्रियाशक्तिरूपत्वात् ॥ ४०० ॥

तदधिष्ठानमेव स्फुटयति

तदारूढः शिवः कृत्यपञ्चकं कुरुते प्रभुः ॥ ४०१ ॥

शिव इति, यः सर्वत्र षट्त्रिंशत्तत्त्वतयोद्घोष्यते ॥ ४०१ ॥

नन्वमेतदारूढः सन् कस्मात् सृष्टयादि विदध्यात् ? इत्याशङ्क्याह

समना करणं तस्य हेतुकर्तुर्महेशितुः ।

करणमिति, सृष्टयादिक्रियाम् ॥

शिवतत्त्व अर्थात् अनाश्रित शिवतत्त्व से ऊर्ध्व आवरण समना परा शक्ति का भुवन है । समस्त कारणों की कारणता की यह उत्स भूमि है । शिवाधिष्ठिता यह क्रिया रूपा परा शक्ति अनन्त अण्डकटाहों को धारण और उनका भरण पोषण करती है । तत्त्व शब्द के भुवन वाचक प्रयोग के सम्बन्ध में स्व० १०।१२१७ का उदाहरण देकर विन्दु तत्त्व में प्रयुक्त तत्त्व को भुवनार्थक भी सिद्ध किया गया है ॥ ४०० ॥

समना में अधिष्ठित शिव ही पञ्च कृत्य (सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह) करते हैं । इन्हें ही ३६ तत्त्व मय विभु शिव कहते हैं ॥ ४०१ ॥

ननु सर्वत्र क्रियायां कर्त्रन्तरापेक्षित्वे कर्तृहेतुत्वे भवेत्,—इति महेशितुरपि तथात्वे परत्वोन्मुखतया स्वातन्त्र्यं खण्डयेत,—इति किमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अनाश्रितं तु व्यापारे निमित्तं हेतुरुच्यते ॥ ४०२ ॥

'व्यापारे' इति सृष्ट्यादिक्रियायाम् । इह हि स एव परः परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् प्रथमं शून्यात्मतामवभासयन् अनाश्रितादिरूपतया प्रथितः,—इत्यपेक्षणीयस्यैवाभावात् अस्यैव तावत् पारमार्थिकं शुद्धं कर्तृत्वम्, अनाश्रितादीनां तु तदधिष्ठानवशाद्भिन्नकार्यविषयमशुद्धमुपचरितप्रायं कर्तृत्वम्, अतश्चानाश्रितादिस्तदिच्छयैव सृष्ट्यादि करोति, इति तस्य साक्षात् तदावेशायोगात् तत्र निमित्तमात्रत्वं यथा विद्यया यशः,—इत्यादावित्युक्तं 'निमित्तं हेतुः' इति । यदाहुः

'अनाश्रितं तु व्यापारे निमित्तं हेतुरिष्यते ।' इति ॥ ४०२ ॥

पञ्चकृत्य करने का आधार यह है कि प्रमाता और कर्त्ता शिव की सृष्टि क्रिया में समना ही कारण रूपा है । महेश्वर शिव वस्तुतः स्वतन्त्र हैं । और हेतुकर्त्ता है । किसी क्रिया में कर्त्ता प्रवृत्त होता है । वह उसकी ओर उन्मुख होता है । उस समय वह उस क्रिया व्यापार में प्रति नियत होता है और एक तरह से यह उसका परतन्त्रता में प्रवेश होता है । इसे यों भी कह सकते हैं कि उसकी स्वतन्त्रता खण्डित होती है । परमेश्वर शिव के विषय में ऐसा नहीं कह सकते । उसके स्वातन्त्र्य में कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि सृष्टि क्रिया के व्यापार में वह परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव से पहले शून्यात्मकता को अवभासित करता है । परिणामतः अनाश्रित शिव हो जाता है । अतः यहाँ कर्त्रन्तर की अपेक्षा के विना इसी का शुद्ध पारमार्थिक कर्त्तृत्व होता है । अनाश्रित आदि में औपचारिक कर्त्तृत्व है । ये उसी शिवेच्छा से ही सृष्टि आदि पञ्चकृत्य रूप व्यापार करते हैं । इस क्रियावेश में उसका साक्षात् योग नहीं । जैसे कृष्ण ने कहा था—अर्जुन ये कौरव मेरे द्वारा मारे हुए हैं । तू निमित्त बन जा ।' इस तरह व्यापार में आश्रित निमित्त हेतु है और महेश्वर हेतु कर्त्ता हैं, यह आगम प्रामाण्य से सिद्ध है ॥ ४०२ ॥

तदधिष्ठानेऽपि अस्य समनैव करणमित्याह

तथाधितिष्ठति विभुः कारणानां तु पञ्चकम् ।

अधितिष्ठतीति, स्वस्वातन्त्र्यच्छायानुवेधेन सृष्ट्यादिकारित्वे योग्यं कुर्यादित्यर्थः ॥

एतच्च कथम् ? इत्याशङ्क्याह

अनाश्रितोऽनाथमयमनन्तं खवपुः सदा ॥ ४०३ ॥
स व्यापिनं प्रेरयति स्वशक्त्या करणेन तु ।
कर्मरूपा स्थिता माया यदधः शक्तिकुण्डली ॥ ४०४ ॥
नादबिन्द्वादिकं कार्यमित्यादिजगदुद्भवः ।

ब्रह्मा से अनाश्रित पर्यन्त भूमिका का निर्वाह इन रूपों में वही करता है । इसलिये वह कारणों का भी कारण है । स्वात्म भित्ति से स्वात्म तूलिका से विश्व का उल्लास करता है । ब्रह्मादि अनाश्रिततान्तों को उनके अनुरूप अधिकार प्रदान करने वाला सर्वातिशायी परमेश्वर शिव उनको अपने अपने कर्मों में नियुक्त करने वाला परम कर्त्ता है । उसी अपनी मनन शक्तिरूप समना शक्ति के द्वारा अनाश्रित से सदाशिव पर्यन्त सब में वह अधिष्ठित है । अर्थात् स्वयम् उन्हें अनुप्राणित करता है और उन्हें उनके सामर्थ्य से युक्त बनाता है । यह कारण पञ्चक में उसके अधिष्ठान का महत्त्व है । उसी की पराशक्ति अनाश्रितादि शक्ति रूपतया स्फुरित होती है ।

इसे और भी स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि उसकी प्रेरकता का यह विधान है कि अनाश्रित भूमिकावाले शिव ही 'अनाथ' नामक भूमिका का निर्वाह करते हैं । अनाश्रित अनाथ को प्रेरित करते हैं । अनाथ अनन्तेश को प्रेरित करते हैं । अनन्तेश व्योमविग्रह व्योमात्मा शिव को, व्योमव्यापी, व्यापी शिव को प्रेरित करते हैं । अपनी अपनी शक्ति से सभी समन्वित हैं और एक एक के प्रेरक तथा प्रेर्य भी हैं । व्यापिनी ही इनकी करण शक्ति है । माया इनकी कर्मरूपा शक्ति है । उसी के अधिकार में अशेष विश्वगर्भा शक्ति कुण्डलिनी है । नाद, निरोधिनी, अर्धचन्द्र और विन्दु आदि इसके कार्य हैं । इनसे ही संसार

'खवपुः' व्योमात्मा, स्वशक्त्येति यथा हि शिवस्य सृष्ट्यादौ समना करणं तथैषामपि अनाश्रिताद्याः स्वाः शक्तय इति। कर्मरूपेति, सृष्ट्यादिक्रियाविशेषकत्वात्, मायाशक्तिरेव हि पारमेश्वरी तत्तन्नादबिन्द्वात्मविश्वरूपतया प्रस्फुरति,—इत्यभिप्रायः। शक्तिकुण्डलीति, अशेषस्य विश्वस्य स्वतादात्म्येन गर्भीकारात् ॥ ४०४ ॥

इयच्च विश्वं हेयमेव,—इत्याह

यत्सदाशिवपर्यन्तं पार्थिवाद्यं च शासने ॥ ४०५ ॥
तत्सर्वं प्राकृतं प्रोक्तं विनाशोत्पत्तिसंयुतम् ।

सदाशिवोऽत्रानाश्रितः, प्रकृतिश्च समना, तस्य एव मूलप्रकृतित्वात् ॥ ४०५ ॥

एवं पुरमानतत्त्वयोजनात्म प्रमेयद्वयमभिधाय पुरसंग्रहाख्यं प्रमेयमासूत्रयितुमुपक्रमते

अथ सकलभुवनमानं यन्मह्यं निगदितं निजैर्गुरुभिः ॥ ४०६ ॥
तद्वक्ष्यते समासाद्बुद्धौ येनाशु सङ्क्रामेत् ।

येनेति, समासाभिधानेन; अत एवैतन्निष्प्रयोजनं न,—इत्याशयः ॥४०६॥

की उत्पत्ति होती है। जगदुत्पत्ति में भी सर्व-व्यापी भट्टारक परमशिव ही मूल कारण हैं। अनाश्रित, अनाथ, अनन्त, व्योमात्मा और व्यापी ये ५ ही पञ्च कारण कहे जाते हैं। ये क्रमशः बिल ग्रन्थि, नादान्तोर्ध्व, सुषुम्ना, विन्दु और शक्ति के ईश हैं। अनाश्रित ब्रह्मा, अनाथ विष्णु, अनन्तरुद्र, व्योमभट्टारक ईश्वर और व्यापी-सदाशिव रूप हैं ॥ ४०३-४०४ ॥

इस प्रकार समना भूमि में अधिष्ठित परमेश्वर परमशिव इस पर सूक्ष्म और स्थूल विश्व का अवभास करते हैं। पार्थिव सृष्टि से लेकर सदाशिव पर्यन्त यह सारा उल्लास प्राकृत सृष्टि कहलाता है। सदाशिव यहाँ अनाश्रित को ही माना गया है। मूल प्रकृति व्यापिनी अधिष्ठिता समना है। यह सदाशिव प्राकृत जागतिक उल्लास विनाश, और उद्भव की प्रक्रिया से शाश्वत समन्वित है ॥ ४०५ ॥

आवरण और सारे भुवनों के मान रूप इन दो प्रमेय रूपों के बाद पुर संग्रह रूप प्रमेय पर प्रकाश डाल रहे हैं। इसे समझना साधकों के लिये अत्यन्त आवश्यक है ॥ ४०६ ॥

तदेवाह

अण्डस्यान्तरनन्तः कालः कूष्माण्डहाटकौ ब्रह्महरौ ॥ ४०७ ॥
रुद्राः शतं सवीरं बहिर्निवृत्तिस्तु साष्टशतभुवना स्यात् ।
जलतेजः समीरनभोऽहंकृद्धीमूलसप्तके प्रत्येकम् ॥ ४०८ ॥
अष्टौ षट्पञ्चाशद्भुवना तेन प्रतिष्ठेति कला कथिता ।
अत्र प्राहुः शोध्यानष्टौ केचिन्निजाष्टकाधिपतीन् ॥ ४०९ ॥

अण्डकटाह के अन्तर प्रदेश में अनन्त काल, कूष्मांड, हाटक, ब्रह्मा, हरि, शतरुद्र और वीर आठ तथा बाहर निवृत्ति के १०० इस तरह निवृत्ति में १०८ भुवन हैं । इनमें हाटक व्यापक तत्त्व है । हाटक विद्या और मन्त्रों के साथ सात पातालों के नायक हैं ।

स्व० तन्त्र ४।१०२ के अनुसार "ब्रह्माण्ड के अन्तराल के अधो भाग में कालाग्नि, कूष्माण्ड और हाटक ये तीन अधीश्वर हैं । मध्य में भूलोक के अधीश्वर शिव हैं । वहाँ से सत्य लोक पर्यन्त के अधिष्ठाता, ब्रह्मा हैं । ऊपर विष्णु और रुद्र ये अन्दर के सात भुवनेश हैं, बाहर दश दिशाओं में स्थित शत रुद्र और उन सबका स्वामी वीरभद्र इस तरह १०८ भुवन और भुवनेशों वाली निवृत्ति कला है ।

स्व० तन्त्र ४।१०२ से १५३ श्लोकों तक के दीक्षा विधान के प्रसङ्ग में निवृत्तिकला का महत्त्वपूर्ण वर्णन है, जो साधकों द्वारा स्वाध्यातव्य है ।

प्रतिष्ठाकला में अप्तत्त्व से प्रधान तक २४ तत्त्व आते हैं । गुह्याष्टक से लेकर योगाष्टक के ७ अष्टक, अतः ७×८=५६ भुवन इसमें हैं । स्व० ४।१५६ से १५९ तक में भी इसका कथन है । इसमें अपने अष्टक का शोधन अनिवार्य है ॥ ४०७-४०९ ॥

अन्ये तु समस्तानां शोध्यत्वं वर्णयन्ति भुवनानाम् ।
श्रीभूतिराजमिश्रा गुरवः प्राहुः पुनर्बहो रुद्रशतम् ॥ ४१० ॥
अष्टावन्तः साकं शर्वेणेतोदृशी निवृत्तिरियं स्यात् ।
रुद्राः काली वीरो धराब्धिलक्ष्म्यः सरस्वती गुह्यम् ॥ ४११ ॥
इत्यष्टकं जलेऽग्नौ वह्न्यतिगुह्यद्वयं मरुति वायोः ।
स्वपुरं गयादि खे च व्योम पवित्राष्टकं च भुवनयुगम् ॥ ४१२ ॥
अभिमानेऽहङ्कारच्छगलाद्यष्टकमथान्तरा नभोऽहंकृत् ।
तन्मात्रार्केन्दुश्रुतिपुराष्टकं बुद्धिकर्मदेवानाम् ॥ ४१३ ॥
दश तन्मात्रसमूहे भुवनं पुनरक्षवर्गविनिपतिते ।
मनसश्चेत्यभिमाने द्वाविंशतिरेव भुवनानाम् ॥ ४१४ ॥

यों तो दीक्षा के लिये सभी अष्टकों का शोधन आवश्यक होता है। कुछ लोग समस्त भुवनों के शोधन की आवश्यकता पर बल देते हैं। श्री भूतिराज प्रधान जितने गुरुवर्य हैं, वे भी बाहर और भीतर मिलाकर क्रमशः १०० + ८ = १०८ रुद्र भुवन निवृत्ति कला में मानते हैं। स्व० त० १०।७६१ से ८५४ तक एकादश रुद्र, काली वीरेश पृथ्वी, अग्नि, लक्ष्मी सरस्वती और गुह्याष्टक भुवन ये सभी जल तत्त्व के आवरण में वर्णित हैं। अग्नि आवरण में अग्नि, गुह्य और अतिगुह्याष्टक (स्व० १०।८७१-८७३) भुवन हैं ॥ ४१०-४११ ॥

वायु के आवरण में स्वयं वायु देव का पुर और प्राण भुवन में गय आदि ८ भुवनेश भी हैं। आकाशवरण में आकाश पुरुष और पवित्राष्टकों के भुवन प्रसिद्ध हैं। अभिमान के आवरण में स्वयम् अहंकार और छगलाण्ड आदि स्थाण्वष्टक दिशाओं के अनुसार उपस्थित हैं । तन्त्रमात्राओं के क्रमशः गन्ध रस रूप, स्पर्श, और शब्दों के मण्डल हैं ॥ ४१२-४१३ ॥

उनके ऊपर पुनः, सूर्य, सोम, वेद को मिलाकर परमेश्वर को आठ मूर्त्तियाँ हैं। पुनः बुद्धि-कर्मेन्द्रियों के देवता सब अभिमान आवरण के २२ भुवन

धियि दैवीनामष्टौ क्रुत्तेजोयोगसंज्ञकं त्रयं तदुमा ।
तत्पतिरथ मूर्त्यष्टकसुशिवद्वादशकवीरभद्राः स्युः ॥ ४१५ ॥
तदथ महादेवाष्टकमिति बुद्धौ सप्तदश संख्या ।
गुणतत्त्वे पङ्क्तित्रयमिति षट्पञ्चाशतं पुराणि विदुः ॥ ४१६ ॥

अण्डस्यान्तर्बहिः साष्टशतभुवना निवृत्तिः स्यादिति सम्बन्धः। यद्वा अन्तःशब्दः प्रागेव व्याख्यातः। तदुक्तम्

'निवृत्त्यभ्यन्तरे पृथ्वी शतकोटिप्रविस्तरा ।
तस्यां च भुवनानां तु शतमष्टोत्तरावधि ॥'

(स्व० ४।१०२) इति ।

अष्टाविति, गुह्याष्टकादीनि योगाष्टकान्तानि सप्ताष्टकानीत्यर्थः। तेनेति सप्तकस्याष्टभिर्गुणनात् । तदुक्तम्

'प्रतिष्ठाया भवेद्व्याप्तिश्चतुर्विंशतितत्त्विका ।
षट्पञ्चाशद्भुवनिका .... ॥'

(स्व० ४।१५९) इति ।

अत्रेति प्रतिष्ठायाम् । अष्टाविति, क्रोधाष्टकेन, सह। समस्तानामिति षट्पञ्चाशतोऽपि, मिश्राः प्रधानाः। शर्वेणेति, भूर्लोकाधिपतिना, तेन वीरभद्रस्थानेऽयमिति गणनासाम्यम् । 'रुद्रा' एकादश। गुह्यमिति, गुह्याष्टकभुवनम् । अन्तरा नभोऽहङ्कृदिति, अहङ्कारनभसोरन्तरित्यर्थः। तन्मात्रेति पञ्च, बुद्धिकर्मदेवानामिति बुद्धिकर्मेन्द्रियदशकस्येत्यर्थः । तन्मात्रसमूहे भुवनमिति पञ्चार्थमण्डलाख्यमित्यर्थः। नन्वेषामुक्तेऽपि भुवनपञ्चके कस्मात्पुनरेतदुच्यते ? इत्याशङ्क्योक्तम्, 'अक्षवर्गनिपतित' इति। एतद्धि एषां मनोऽधिष्ठानेनैव भवेदिति अत्र पुनः परेणापि रूपेणावस्थानमिति भावः। क्रुत्तेजोयोगसंज्ञकमिति अर्थात्क्रोधाष्टकत्रयाधिष्ठेयं भुवनत्रयं, पङ्क्तित्रयमिति गुरुशिष्यविषयम् । षट्पञ्चाशतं पुराणीति, जलतत्त्वेऽष्टौ भुवनानि, तेजःप्रभृतौ तत्त्वत्रये प्रत्येकं द्वयमिति षट्, अहङ्कारे द्वाविंशति, बुद्धौ सप्तदश गुणेषु च त्रीणीति ॥ ४०७–४१६ ॥

तत्त्व हैं। बुद्धि के आवरण में ८ देवियों का वर्णन है। पुनः कोधाष्टक, तेजोष्टक योगाष्टक, भगवती उमा, मूर्त्यष्टक, सुशिव, वीरभद्र, महादेवाष्टक, ये १७ बुद्धि के आवरण के भुवनेश हैं। इसी तरह गुण तत्त्व में गुरु शिष्यों की तीन पंक्तियाँ अवस्थित हैं ॥ ४१४-४१६ ॥

नन्वत्र जलादौ सर्वेषु तत्त्वेषु भुवनानि शोध्यतयोक्तानि प्रकृतौ पुनः कस्मान्न ? इत्याशङ्क्याह

यद्यपि गुणसाम्यात्मनि मूले क्रोधेश्वराष्टकं तथापि धियि ।
तच्छोधितमिति गणनां न पुनः प्राप्त प्रतिष्ठायाम् ॥ ४१७ ॥
इति जलतत्त्वान्मूलं तत्त्वचतुर्विंशतिः प्रतिष्ठायाम् ।
अम्बादितुष्टिवर्गस्ताराद्याः सिद्धयोऽणिमादिगणः ॥ ४१८ ॥
गुरवो गुरुशिष्या ऋषिवर्ग इडादिश्च विग्रहाष्टकयुक् ।
गन्धादिविकारपुरं बुद्धिगुणाष्टकमहंक्रिया विषयगुणाः ॥ ४१९ ॥
कामादिसप्तविंशकमागन्तु तथा गणेशविद्येशमयौ ।
इति पाशेषु पुरत्रयमित्थं पुरुषेऽत्र भुवनषोडशकम् ॥ ४२० ॥
नियतौ शङ्करदशकं काले शिवदशकमिति पुरद्वितयम् ।
रागे सुहृष्टभुवनं गुरुशिष्यपुरं च विद्‌कलायुगले ॥ ४२१ ॥

प्रकृति गुणों की साम्यावस्था का नाम है। वैषम्यावस्था में अलग-अलग तमोगुण में ३२ रुद्र, रजोगुण में ३० रुद्र और सत्त्व में २१ रुद्र रहते हैं। गुण तत्त्व के ये ८३ रुद्र हैं। बुद्धितत्त्व गत क्रोधाष्टक के शोधन का विधान है। प्रतिष्ठा में इनकी गणना नहीं है। जल तत्त्व में मूल तक २४ तत्त्व प्रतिष्ठा में हैं ॥ ४१७-४१८ ॥

अम्बा आदि ९ तुष्टियाँ, तारा आदि ८ सिद्धियाँ, अणिमा आदि ८ गण गुरु २० गुरु शिष्य ऋषिवर्ग, नाडी विद्याष्टक विग्रहतायुगाष्टक गन्धादिविकार भुवन, बुद्धि के ८ गुण, ८ अहंकार, विषय गत गुण, आगन्तुक गाणेश और विद्येश, पाश इनके तीन पुरुष के १६ भुवन ये सभी पुरुष तत्त्व में संग्रहीत हैं। नियति के १० शिव काल के १० शिव, राग तत्त्व के वीरेश भुवन, गुरुशिष्य पुर, अशुद्ध विद्या और कला के महादेव पुर कहे गये हैं ॥ ४१९-४२१ ॥

भुवनं भुवनं निशि पुटपुरत्रयं वाक्पुरं प्रमाणपुरम् ।
इति सप्तविंशतिपुरा विद्या पुरुषादितत्त्वसप्तकयुक् ॥ ४२२ ॥
वामेशरूपसूक्ष्मं शुद्धं विद्याथ शक्तितेजस्विमितिः ।
सुविशुद्धिशिवौ मोक्ष–ध्रुवेषिसंबुद्धसमयसौशिवसंज्ञाः ॥ ४२३ ॥
सप्तदशपुरा शान्ता विद्येशसदाशिवपुरत्रितययुक्ता ।
बिन्द्वर्धेन्दुनिरोध्यः परसौशिवमिन्धिकादिपुरसौषुम्ने ॥ ४२४ ॥
परनादो ब्रह्मबिलं सूक्ष्मादियुतोर्ध्वकुण्डली शक्तिः ।
व्यापिव्योमानन्तानाथानाश्रितपुराणि पञ्च ततः ॥ ४२५ ॥
षष्ठं च परममनाश्रितमथ समनाभुवनषोडशी यदि वा ।
बिन्द्वावरणं परसौशिवं च पञ्चेन्धिकादिभुवनानि ॥ ४२६ ॥
सौषुम्नं ब्रह्मबिलं कुण्डलिनी व्यापिपञ्चकं समना ।
इति षोडशभुवनेयं तत्त्वयुगं शान्त्यतोता स्यात् ॥ ४२७ ॥

उसके बाद शैवी निशा सम्बन्धी माया पुट के पुरत्रय का वर्णन है। ये हैं। ऊँकार भुवन विन्दुपुर, वाक्पुरः ८।३२६ प्रमाणपुर को लेकर ये २७ पुर हैं। विद्या और पुरुष तक के सात तत्त्व इस परिवेश में आते हैं। महामाया के ऊर्ध्व में शुद्ध विद्या का वर्णन है। वामा आदि शक्तियों, उनके अधीश, शुद्धविद्यावरण शक्त्यावरण, तेजस्व्यावरण, मानावरण, सुशिवावरण, शुद्ध शिवावरण, मोक्षावरण, ध्रुवावरण, इच्छावरण, प्रबुद्ध, समय, सौशिव, ये सत्रह शान्ताकला के पुर हैं ॥ ४२२-४२४ ॥

विद्येश्वर सदाशिव विन्दु, अर्धेन्दु, निरोधिनी, पर सौशिव इन्धिकादिपुर परनाद के ऊपर सौषुम्न, ब्रह्मबिल, सूक्ष्मा आदि युक्त ऊर्ध्व कुण्डली, शक्ति व्यापिनी, उन्मना, अनन्त अनाथ, अनाश्रित आदि पुर, भुवनषोडशी

तत्त्वचतुर्विंशतिरिति प्रकृतितत्त्वस्य क्षुब्धाक्षुब्धतया द्वैविध्यात्। गुरव इति, तत्रापि गुरुशिष्यविषयं पङ्क्तित्रयमुक्तम्। विषयेति, विकारषोडशकान्तर्येण व्याख्याताः शब्दादयः पञ्च, गुणा देहधर्मत्वेन प्रागुक्ता अहिंसादयः। चः समुच्चये, तेन वीरेशभुवनं गुरुशिष्यभुवनं च, इति भुवनद्वयम्। भुवनं भुवनमिति वामादिशक्तिनवकस्य महादेवत्रयस्य च। पुटपुरत्रयमिति त्रिपुटत्वमस्याः। वाक्पुरं योन्याख्याया वागीश्या भुवनम्। सप्तविंशतिपुरेति, तदुक्तम्

'पुंस्तत्त्वाद्यावन्मायान्तं विद्याया व्याप्तिरिष्यते।
सप्त तत्त्वानि भुवनसप्तविंशतिरेव च॥'

(स्व० ४।१७३) इति।

वामेति, वामाद्या नव शक्तयः। 'ईश' ईश्वरः। रूपेत्यादि सर्वमावरणान्तं प्रागुक्तम्। तेजस्विप्रधाना चासौ मितिर्मानावरणमित्यर्थः। 'इषिः' इच्छा। सप्तदशपुरेति, तदुक्तम्

'..............................विद्यातत्त्वात्सदाशिवम्।
तत्त्वानां त्रितये व्याप्तिर्वर्णानां त्रय एव च॥
पदैकादशिका ज्ञेया पुराणि दश सप्त च।

(स्व० ४।१८५) इति।

परसौशिवमिति, यत्र परेण रूपेण सदाशिवः अनाश्रितमिति सर्वाश्रयत्वात्। 'यदि वा' इति पक्षान्तरे, षोडशभुवनेति, तदुक्तम्

पदमेकं मन्त्र एको वर्णाः षोडश कीर्तिताः।
भुवनानि सुसूक्ष्माणि शान्त्यतीते विभावयेत्॥

(स्व० ४।१९७) इति॥ ४२७॥

समना विन्दु आवरण पर सौ शिव (सदाशिव) पर पञ्चेन्धिकादिभुव नसौपुम्न ब्रह्मबिल कुण्डलिनी व्यापिपञ्चक और समना को मिलाकर १६ भुवन शान्त्यतीताकला में गिने गये हैं। यहाँ तक का सारा क्रम स्वच्छन्द तन्त्र के ४।१९२ से १९९ के प्रसङ्ग क्रम में है॥ ४२५-४२७॥

एवं श्रीस्वच्छन्दप्रक्रियया विभागमभिधाय शास्त्रान्तरप्रक्रमेणाप्याह

श्रीमन्मतङ्गशास्त्रे च क्रमोऽयं पुरपूगगः ।

अयमिति वक्ष्यमाणः ॥ तदाह

कालाग्निर्नरकाः खाब्धियुतं मुख्यतया शतम् ॥ ४२८ ॥

कूष्माण्डः सप्तपाताली सप्तलोकी महेश्वरः ।

इत्यण्डमध्यं तद्बाह्ये शतं रुद्रा इति स्थिताः ॥ ४२९ ॥

स्थानानां द्विशती भूमिः सप्तपञ्चाशता युता ।

पञ्चाष्टकस्य मध्याद्द्वात्रिंशद्भूतचतुष्टये ॥ ४३० ॥

तन्मात्रेषु च पञ्च स्युर्विश्वेदेवास्ततोऽष्टकम् ।

पञ्चमं सेन्द्रिये गर्वे बुद्धौ देवाष्टकं गुणे ॥ ४३१ ॥

योगाष्टकं क्रोधसंज्ञं मूले काले सनैयते ।

पतद्गाद्याश्चाङ्गुष्ठमात्राद्या रागतत्त्वगाः ॥ ४३२ ॥

द्वादशैकशिवाद्याः स्युर्विद्यायां कलने दश ।

वामाद्यास्त्रिशती सेयं त्रिपर्वण्यब्धिरस्ययुक् ॥ ४३३ ॥

मतङ्गशास्त्र के अनुसार पुरसमूहों के विशेष विभाग किये गये हैं। कालाग्नि, १४० नरक, आकाश, अग्नि ये मुख्यतया १०० हैं। कूष्माण्ड, सप्त पाताली के साथ सप्तलोकी भी है। महेश्वर अण्ड के मध्य में हैं। उसके बाहर १०० रुद्र हैं ॥ ४२८–४२९ ॥

भूमिके २५७ भुवन हैं। (स्थाणु) के ३२ पञ्चाष्टक, (स्थाणु) ३२ तन्मात्राओं के ५ विश्वेदेव ८, ५ अभिमान, बुद्धि के ८, क्रोधाष्टक, योगाष्टक, मूलप्रकृति, काल नियति पतद्गाद्य ७ अंगुष्ठमात्रात्मक ८ रागतत्त्व के क्रम में परिगणित है। इनके अतिरिक्त शिव भी १३ हैं। विद्या और कला १० दश हैं।

खाब्धीति चत्वारिंशत् । महेश्वरो रुद्रः । पञ्चममष्टकमिति स्थाण्वाख्यम् । पदद्रुगाद्या अष्टौ । अङ्गुष्ठमात्राद्या अपि अष्टौ । कलने कलायाम् । त्रिपर्वणीति, त्रिभिर्भूतभावतत्त्वाख्यैः पर्वभिर्युक्ते कलादिक्षितिपर्यन्ते पत्यादिपदार्थापेक्षया तृतीयस्मिन्पदार्थे इत्यर्थः । यदुक्तं तत्रैव

'ये भूतभावतत्त्वाख्या मायातः क्षरिताः सदा ।
स पदार्थस्त्रिपर्वायं तृतीयः शिवशासने ॥'
(मतङ्ग १ प०) इति ।

अब्धिरस्ययुगिति, रसनीया 'रस्या' रसाः षट् तेन चतुःषष्टिरित्यर्थः

भुवनेश्वराश्चात्र विचित्राः,—इत्याह

शैवाः केचिदिहानन्ताः श्रीकण्ठा इति संग्रहः ।

एषां च शिवादिदीक्षितत्वादेवमभिधानम् । यदाहुः

'कालाग्निर्नरकाणां तु चत्वारिंशच्छतं ततः ।
कूष्माण्डः सह पातालैः सप्तभिर्लोकसप्तकम् ॥
रुद्रश्चेत्यण्डमध्येऽयं ततो रुद्रशतं बहिः ।
स्थानानां द्वे शते क्ष्मैवं सप्तपञ्चाशता युता ॥
पञ्चाष्टकानां द्वात्रिंशत्ततो भूतचतुष्टये ।
तन्मात्रेषु ततः पञ्च विश्वेदेवास्ततोऽष्टकम् ॥
पञ्चाष्टकानां षष्ठं यत् सेन्द्रिये गर्व एव तत् ।
स्थितं बुद्धौ ततो देवा अष्टावष्टौ च योगिनः ।

वामा आदि शक्तियाँ ३०० हैं। कला से क्षितिपर्यन्त भूत, भाव, और तत्त्व नामक पर्वों के तीन भाग में ६४ भुवनेश हैं। कुछ लोग अनन्त शिव और श्रीकण्ठ को भी भुवनेश्वर मानते हैं। ये दो पक्ष हैं। इसके विषय में आगमिक कहते हैं कि,

"कालाग्नि १४० नरकों के भेदों के अधिपति हैं। कूष्माण्ड पाताल के साथ सात लोकों के भुवनेश्वर हैं। रुद्र अण्डकटाह के मध्य में विराजमान हैं। सौ रुद्र अण्ड के बाह्य आवरण में अवस्थित हैं। पृथ्वी में २५७ भुवन स्थान वर्णित हैं। पञ्चाष्टक के चालिस में से ८ स्थाण्वष्टक निकाल देने पर शेष ३२ रुद्र,

गुणेष्वष्टौ तथाव्यक्ते क्रोधाद्याः परतस्ततः ।
काले नियतिसंयुक्ते पतद्रुक्प्रमुखास्ततः ॥
अङ्गुष्ठाद्यास्तु रागेऽष्टौ द्वादशैकशिवादयः ।
विद्यायां तु कलातत्त्वे वामाद्याः परतो दश ॥
एवं त्रिपर्वणि प्रोक्तं भुवनानां शतत्रयम् ।
चतुःषष्टयधिकं तेषु विचित्रा भुवनेश्वराः ॥
शैवाः केचित्तथानन्ताः श्रीकण्ठाः केचिदेव तु ।

(म० त० वृ०) इति ।

अत्र च साक्षादागमे संवादिते ग्रन्थविस्तरः स्यात्,—इति तद्वृत्तिकृदुक्तं संवादितम् ॥ ४३३ ॥

पंचमहाभूतों में मात्र चार, तन्मात्राओं के ५ इसके बाद आठ विश्वेदेव, पञ्चाष्टकों के बाद का अहंकाराष्टक, बुद्धि के परिवेश में आठ योगेश्वर, गुणों में स्थित आठ रुद्र, अव्यक्त में क्रोध आदि, काल और नियति में स्थित पतद् द्रुक् आदि अंगुष्ठ मात्र आठ रुद्र जो राग तत्त्व के हैं, विद्या तत्त्व के १२ एक शिवादि, कलन (कला के) दश वामादि, इस तरह त्रिपर्व में ३६४ भुवनों के विचित्र विचित्र भुवनेश्वर आकलित हैं। यह उक्ति मतङ्ग तन्त्र वृत्ति की है। त्रिपर्व में पहला पर्व भूत पर्व, दूसरा पर्व भाव पर्व और तीसरा पर्व तत्त्व पर्व माना जाता है। मतङ्ग तन्त्र के पटल १ में लिखा गया है कि,

"माया के माध्यम से कला से क्षिति पर्यन्त जितने भाव क्षरित होते हैं वे भूत, भाव और तत्त्व के तीन पर्वों में विभक्त हैं। तृतीय पर्व तत्त्व पर्व है। भूत पर्व कालाग्नि से पृथ्वी पर्व है। भाव पर्व तक इन्द्रिय वर्ग और मन बुद्धि अहंकार एवं गुण तत्त्वों को अपने में समाहित करता है। तत्त्व पर्व विद्या कला सहित शान्ता तथा शान्त्यतीता कला के साथ ६ कंचुकों से शिव पर्यन्त है। इस आह्निक में वर्णित विषयों का यह एकत्र संग्रह मात्र हैं ॥ ४२८–४३३ ॥

नन्वेवं भुवनविभागप्रदर्शनेन कोऽर्थ ? इत्याशङ्क्याह

यत्र यदा परभोगान् बुभुक्षते तत्र योजनं कार्यम् ॥ ४३४ ॥

शोधनमथ तद्धानौ शेषं त्वन्तर्गत कार्यम् ।

इत्यागमं प्रथयितुं दर्शितमेतद्विकल्पितं तेन ॥ ४३५ ॥

यदुक्तम्

'यो यत्राभिलषेद्भोगान् स तत्रैव नियोजितः ।

सिद्धिभाङ्मन्त्रसामर्थ्यात् ··· ··········· ········ ॥' इति ।

अथेति पक्षान्तरे 'तद्धानौ' इति भोगेच्छात्याग इत्यर्थः । अन्तर्गतमिति, प्रधान-शुद्ध्यैव तच्छुद्धम् । दर्शितमिति, अन्यथा हि कथमेवं परिज्ञानं भवेदिति भावः । तेनेति तेन तेन गुरुणेत्यर्थः ॥ ४३५ ॥

नन्वत्र किमियन्त एव विकल्पाः संभवन्ति न वा ? इत्याशङ्क्याह

अन्येऽपि बहुविकल्पाः स्वधियाचार्यैः समभ्यूह्याः ।

ननु यद्येवमनेके विकल्पाः संभवन्ति तदिह पुनः किं ग्राह्यम् ? इत्या-शङ्क्याह

इतना भुवन विभाग प्रदर्शन साधकों के हित के उद्देश्य से किया गया है । वास्तविकता यह है कि इच्छा के अनुसार भोगवाद में प्रवृत्ति होती है । भोगेच्छा के अनुसार परमेश्वर भी नियुक्त करते हैं । गुरु भी यह अनुग्रह करता है । स्वय भी धारणा के बल पर साधक शैव भाव में विनियोजित होता है । उसके अर्थात् भोगेच्छा त्याग की स्थिति में तत्त्व शोधन में स्वात्म साक्षात्कार के लिये सन्नद्ध होना चाहिये । शेष कार्य उसी योजनिका के अनुसार होने चाहिये । आगमिक दृष्टिकोण के प्रकाशन के लिये इतना स्पष्टीकरण अनिवार्य था । अन्यथा इतना ज्ञान असंभव होता । गुरुजनों ने जैसा-जैसा कहा और स्वोपज्ञ जो अनुभूतियाँ हुई, उनके अनुसार यह विस्तार सम्पन्न हुआ है । आगम कहता है कि, "भोगेच्छा के अनुसार शैव शक्तियां उसे वहीं नियुक्त कर देती हैं । मन्त्र के सामर्थ्य से सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४३४-४३५ ॥

श्रीपूर्वशासने पुनरष्टादशाधिकं शतं कथितम् ॥ ४३६ ॥

तदिह प्रधानमधिकं संक्षेपेणोच्यते शोध्यम् ।

शतमिति भुवनानाम् । तदुक्तं तत्र

'एवं तु सर्वतत्त्वेषु शतमष्टादशोत्तरम् ।
भुवनानां परिज्ञेयं संक्षेपान्न तु विस्तरात् ॥'

(मा० वि० ५।३३)

प्रधानमिति, तदधिकारेणेवास्य ग्रन्थस्य प्रवृत्तेः ॥ ४३६ ॥

तदेवाह

कालाग्निः कूष्माण्डो नरकेशो हाटकोऽथ भूतलपः ॥ ४३७ ॥

ब्रह्मा मुनिलोकेशो रुद्राः पञ्चान्तरालस्थाः ।

अधरेऽनन्तः प्राच्याः कपालिवह्न्यन्तनिर्ऋतिबलाख्याः ॥ ४३८ ॥

लघुनिधिपतिविद्याधिपशम्भूर्ध्वान्तं सवीरभद्रपति ।

एकादशभिर्बाह्ये ब्रह्माण्डं पञ्चभिस्तथान्तरिकैः ॥ ४३९ ॥

इति षोडशपुरमेतन्निवृत्तिकलयेह कलनीयम् ।

"श्री पूर्व शास्त्र में ११८ भुवन कहे गये हैं।" इनका शोधन स्वयं विचारकों को करना चाहिये। श्री पूर्वशास्त्र का दृष्टिकोण ही मुख्य है। उसे ही यहाँ प्रधानतया अपनाया गया है। यही संक्षेप सरणी से यहाँ कहा गया है। यह शोध का भी विषय है। इसके अतिरिक्त भी अनन्त विकल्प हो सकते हैं। आचार्य गण बौद्धिक ऊहापोह के माध्यम से उनका ऊहन और निर्गमन कर सकते हैं ॥ ४३६ ॥

पहले कालाग्नि, नरकेश कुष्माण्ड, पातालेश हाटक, भूतलेश ब्रह्मा, मुनिलोकेश विष्णु ये ५ रुद्र भुवन हैं। इनकी शुद्धि से यह एकांगी ब्रह्माण्ड मण्डल शुद्ध हो जाता है। ये अन्तराल में हैं। बाहर शतरुद्रों के भुवन हैं। इसके बाद ब्रह्माण्डाधर क्षेत्र में अनन्त, कपालीश, अग्नि, यम, नैऋत, बल, शीघ्र, निधीश्वर, विद्येश्वर, और शम्भु ये दश भुवन हैं। इनके साथ ही वीरभद्र का भुवन है। इन ग्यारहों के शुद्ध करने से शतरुद्रों सहित और उक्त ५ भुवनों सहित ये १६ भुवन (निवृत्ति कला में परिगणित) शुद्ध होते हैं।

लकुलीशभारभूती दिण्ड्याषाढी च पुष्करनिमेषौ ॥ ४४० ॥
प्रभाससुरेशाविति सलिले प्रत्यात्मकं सपरिवारे ।
भैरवकेदारमहाकाला मध्याम्रजल्पाख्याः ॥ ४४१ ॥
श्रीशैलहरिश्चन्द्राविति गुह्याष्टकमिदं महसि ।
भीमेन्द्राट्टहासविमलकनखलनाखलकुरुस्थितिगयाख्याः ॥ ४४२ ॥
अतिगुह्याष्टकमेतन्मरुति च सतन्मात्रके च साक्षे च ।
स्थाणुसुवर्णाख्यौ किल भद्रो गोकर्णको महालयकः ॥ ४४३ ॥
अविमुक्तरुद्रकोटीवस्त्रापद इत्यदः पवित्रं खे ।
स्थूलस्थूलेशशङ्कुश्रुतिकालञ्जराश्च मण्डलभृत् ॥ ४४४ ॥
माकोटाण्डद्वितयच्छगलाण्डा अष्टकं ह्यहङ्कारे ।

मुनीति सप्त । एवमीशत्वविशेषेणैषां तदन्तःकारः प्रकाशितः । प्राच्या इत्यारभ्य । 'अन्त' इति अन्तकारित्वात् यमः । 'लघु' इति शीघ्रकारित्वाच्छीघ्रः । यदुक्तम्

'आदौ कालाग्निभुवनं शोधितव्यं प्रयत्नतः ।' (मा० वि० ५।१)

इत्युपक्रम्य

'कालाग्निपूर्वकैरेभिर्भुवनैः पञ्चभिः प्रिये ।
शुद्धैः शुद्धमिदं सर्वं ब्रह्माण्डान्तर्व्यवस्थितम् ॥
तद्बहिः शतरुद्राणां भुवनानि पृथक् पृथक् ।
दशमं शोधयेत्पश्चादेकं तन्नायकावृतम् ॥
अनन्तः प्रथमस्तेषां कपालीशस्तथापरः ।
अग्निरुद्रो यमश्चैव नैर्ऋतो बल एव च ॥

इसके बाद लाकुलीश, भारभूति, दिण्डि, आषाढ़ी, पुष्कर, निमेष, प्रभास और सुरेश ये पत्यष्टक हैं। लाकुलीश से सुरेश पर्यन्त आठ नाम मालिनी विजयोत्तर तन्त्र ५।१६ के क्रमानुसार ही परिगणित हैं। इन्हें पत्यष्टक संज्ञा भी उसी तन्त्र के अनुसार दी गयी है। यह सलिल (आप्य मण्डल) तत्त्व का आवरण है। प्रत्यात्मकरूप से परिवार सहित विराजमान ये गुह्यातिगुह्य देव हैं। (महस्) तेजस् आवरण में भैरव, केदार, महाकाल, मध्येश, आम्रेश, जल्पेश, श्रीशैल, हरिश्चन्द्र नामक गुह्याष्टक हैं ॥ ४४०-४४१ ॥

शीघ्रो निधीश्वरश्चेति सर्वविद्याधिपोऽपरः ।
शम्भुश्च वीरभद्रश्च विधूमज्वलनप्रभाः ॥
एभिर्दशैकसंख्यातैः शुद्धैः शुद्धं शतं मतम् ।

(मा० वि० ५।१५) इति ।

प्रत्यात्मकमिति नामान्तरेण गुह्याष्टकमेव अत्रोक्तम् । 'सतन्मात्रके च साक्षे च' इति खस्य विशेषणम् । एतदन्तं हि अनेनैवाष्टकेन व्याप्तमिति केषाञ्चिन्मतम् । अन्येषां पुनः कार्यस्य कारणान्तरवस्थानौचित्यात् इयदहङ्कारेण व्याप्तमिति ॥ ४४४ ॥

अत एवाह

अन्येऽहङ्कारान्तस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाप्याहुः ॥ ४४५ ॥
धियि योन्यष्टकमुक्तं प्रकृतौ योगाष्टकं किलाकृतप्रभृति ।
इति सप्ताष्टकभुवना प्रतिष्ठितिः
सलिलतो हि मूलान्ता ॥ ४४६ ॥
नरि वामो भीमोग्रौ भवेशवीराः प्रचण्डगौरीशौ ।
अजसानन्तैकशिवौ विद्यायां क्रोधचण्डयुग्मं स्यात् ॥ ४४७ ॥
संवर्तो ज्योतिरथो कलानियत्यां च सूरपञ्चान्तौ ।
वीरशिखोशश्रीकण्ठसंज्ञमेतत्त्रयं च काले स्यात् ॥ ४४८ ॥
समहातेजा वामो भवोद्भवश्चैकपिङ्गलेशानौ ।
भुवनेशपुरःसरकावङ्गुष्ठ इमे निशि स्थिता ह्यष्टौ ॥ ४४९ ॥

मरुत् मण्डल के भोमेश्वर, महेन्द्र, विमल, कनखल, नाखल, कुरुक्षेत्र और गया इस भुवन संग्रह का वर्णन श्लोक २०५ से २०८ में आ गया है । इसी क्रम में स्थाणु, स्वर्णाक्ष सेवस्त्रापद तक वर्णन भी है । ये आकाश आवरण के देव हैं । अहंकार मण्डल में स्थाण्वष्टक का वर्णन श्लोक २२५ से २२७ के अन्तर्गत आ चुका है ॥४४२-४४४॥

अहंकार मण्डल के बाद तन्मात्र मण्डल, इन्द्रिय आवरण, प्रकाशमण्डल पञ्चार्थ मण्डल, मनोमण्डल बुद्धिमण्डल हैं । योगाष्टक तक ५६ भुवन प्रतिष्ठित हैं । इस संग्रह का विशद वर्णन २२७ से २३३ श्लोकों की व्याख्या में आ चुका है ॥ ४४५–४४६ ॥

अष्टाविंशतिभुवना विद्या पुरुषान्निशान्तमियम् ।
हालाहलरुद्रक्रुदम्बिकाघोरिकाः सवामाः स्युः ॥ ४५० ॥
विद्यायां विद्येशास्त्वष्टावीशे सदाशिवे पञ्च ।
वामा ज्येष्ठा रौद्री शक्तिः सकला च शान्तेयम् ॥ ४५१ ॥
अष्टादश भुवना स्यात्

अत्र च केषांचित् स्वकण्ठेन अन्येषां पर्यायेण अन्येषां पदैकदेशेनाभिधानम्,—इति स्वयमेवाभ्यूह्यम् । एतच्च प्रागेव संवादितम् । नरोत्यर्थादन्तर्भावितरागतत्त्वे, तेन पुंस्तत्त्वे वामादयः षट्, रागे च प्रचण्डादयः पञ्च । तदुक्तम्

विद्या (४४७) राग तत्त्व विद्या, कला नियति (४४८) काल (४४८) निशा (माया) (४४९) आदि के भुवनों का यह संग्रह यहाँ वर्णित है । श्लोक २६२ की व्याख्या में इसका स्पष्टीकरण किया गया है । संख्या की दृष्टि से २०७ भुवनों की मुख्यता निर्दिष्ट है । श्री पूर्वशास्त्र ६।१४ के अनुसार "अर्धांगुल व्याप्ति नियम के अनुसार पुंस्तत्त्व में ६, आदि क्रम से १८ भुवन ही समर्थित हैं" ॥४४६-४४९॥

निवृत्तिकला से शान्ता कला तक गणना क्रम से निवृत्ति कला में १६ प्रतिष्ठा में ५६, विद्या में २८ शान्ता में १८ = ११८ भुवन हैं ।

श्लोक संख्या ४५० से ४५१ तक के श्लोक भी संग्रह श्लोक हैं । इनमे आये हुए संक्षिप्त क्रम एक तरह से देशाध्वा में भुवनों की स्थिति की तालिका या सूचीमात्र है । सबका संक्षेप कर एक साथ थोड़े में कह देने से छात्र या साधक भी इन्हें कण्ठस्थ कर सकते हैं । इसमें किन्हीं नामों को ज्यों का त्यों किन्हीं का पर्यायवाची शब्दों द्वारा और किन्हीं का निर्देश पद के एक अंश के संकेत से व्यक्त करने की परिपाटी अपनायी गयी है । प्रिय शिष्यों के सौविध्य के लिये उस समय ऐसा करना आवश्यक था । इसमें गुरुवर्य के वात्सल्य का श्रद्धा पूर्वक आकलन करना चाहिये कि सम्पूर्ण विस्तार प्राप्त स्वोपज्ञ विश्लेषण को प्रियजन हिताय सयासतया प्रस्तुत करने में वे प्रज्ञा पुरुष प्रवृत्त हुए ।

दूसरी दृष्टि तन्त्र दृष्टि है । विश्व के विस्तार को प्रसार क्रम और संक्षेप को संहार क्रम कहते हैं । शिव दृष्टि १।२ में प्रसरद्दृक्क्रियः में प्रसार क्रम का

'ततोऽप्यर्धाङ्गुलव्याप्त्या पुरषट्कमनुक्रमात् ।
चतुष्कं तु द्वयेऽन्यस्मिन्नेकमेकत्र चिन्तयेत् ॥

(मा० वि० ६।१४) इति ।

सानन्तेति, अनन्तसहित एकशिव इत्यर्थः । निशीति मायायां । 'ईश' इति ईश्वरतत्त्वे । एवं निवृत्तौ षोडश, प्रतिष्ठायां षट्पञ्चाशत्, विद्यायामष्टाविंशतिः, शान्तायामष्टादश,—इति भुवनानामष्टादशोत्तरं शतम् ॥ ४५०-४५१ ॥

ननु शान्त्यतीतायामप्यन्यत्र भुवनविभाग उक्तस्तत्पुनरिह कस्मात् न ? इत्याशङ्क्याह

शान्त्यतीता त्वभुवनैव ।

न हि अत्र देशादिकलना काचिद्भवेदिति भावः ॥ एतच्चार्यायाः प्रथमार्धेनोपसंहरति

इति देशाध्वविभागः कथितः श्रीशम्भुना समादिष्टः ॥ ४५२ ॥

श्रीशम्भुनेति परमेश्वरेण गुरुणेति शिवम् ॥

निर्देश है। परा त्रीशका में भो 'प्रसरन्ती स्वरूपतः' का उल्लेख है और साथ ही 'पर संविद्घनानन्दसंहारकरणं मुहुः में संहार क्रम का निर्देश है। ये दोनों अकालकलित क्रम हैं। "प्रसारसंहारावकालकलितौ" से इस क्रम की शाश्वतिकता का समर्थन किया गया है।

हमने भी इस संहार को विस्तार देने की अनधिकार चेष्टा नहीं की है। महामाहेश्वर के कृतित्व पीयूष की प्रवहमान परम्परा को आत्मसात् कर उनके विभुत्व का अनुभावन किया है ॥ ४५०-४५१ ॥

शान्त्यतीताकला भुवन रहित हे। उसमें किसी प्रकार की देश आदि को कल्पना के लिये कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार परमगुरु श्रीशम्भु नाथ द्वारा सम्यक् रूपेण आदिष्ट देशाध्वा का वर्णन सम्पूर्ण हुआ। इस अर्धाली से यह संकेत भी मिल रहा है कि गुरुदेव ने इन्हें यह वर्णन करने का आदेश निर्देश दिया था। महामाहेश्वर ने उस समादेश का अनुपालन कर अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता ही व्यक्त की है ॥ ४५२ ॥

जम्बुद्वीपे भारतवर्षं तत्राहितस्थितिर्विदधे।
जयरथनामा कश्चिद्विवृतिमिमामष्टमाह्निके स्पष्टाम्॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचिते तन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते देशाध्वप्रकाशनं नामाष्टममाह्निकम्॥ ८॥

जयरथ जम्बूद्वीप जन भारतीय-यश-जैत्र।
वस्वाह्निक-वृति-विवृति कृति-कार मनीषी मैत्र।

\+ \+ \+

हंसो देशाध्वदिग्भागे चिन्वन् चिन्मयमौक्तिकान्।
व्याकरोत् श्रद्धया शंस्याम् अष्टमाह्निकदेशनाम्।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचित
श्रीराजानक जयरथकृत विवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दी-भाषा-भाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का आठवाँ आह्निक परिपूर्ण॥ ८॥

❀ शुभं भूयात् ❀

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचितस्य

आचार्यजयरथकृतविवेकाख्यटीकोपेतस्य

श्रीतन्त्रालोकस्य

नवममाह्निकम्

तत्त्वक्रमावभासनविभागविभवो भुजङ्गमाभरणः ।।
भक्तजनजयावहतां वहति जयावहो जयति ।।

इदानीं द्वितीयार्धेन तत्त्वप्रविभागं कथयितुं प्रतिजानीते

अथ तत्त्वप्रविभागो विस्तरतः कथ्यते क्रमप्राप्तः ।। १ ।।

विस्तरत इति—परपरिकल्पितसमारोपापसारणपुरःसरं **यथातत्त्वं** व्यवस्थापनात्, क्रमप्राप्त इति- भुवननिरूपणानन्तरं तदनुयायिनां तत्त्वानां निरूपणस्य प्राप्तावसरत्वात् ।। १ ।।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादाचार्यविरचित

श्रीराजानक जयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीरक्षीरविवेक

हिन्दीभाष्यसंवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

नवम आह्निक

तत्त्वाध्वा-अवभास-विभु, भुजगाभूषित ईश ।
भक्त जयावह जयन जय, जयरथेश जगदीश ।।

नवम आह्निक का आरम्भ अपनी विशिष्ट शैली के अनुसार कर रहे हैं। श्लोक की द्वितीय अर्धाली में इस तत्त्वाध्वासंविभाग के विस्तारपूर्वक वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गयी है। यह क्रम प्राप्त प्रकरण है। इसके पहले आठवें आह्निक में देशाध्वा का वर्णन है और इस श्लोक की प्रथम अर्धाली में देशाध्वा के पूरे प्रकरण की समाप्ति की सूचना मात्र है।

ननु तत्त्वमेव नाम किमुच्यते, यस्य प्रविभागः अभिधातव्यो भवेत् ?
इत्याशङ्क्याह

यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्यदेष्वन्वितं
रूपं भाति परं प्रकाशनिविडं देवः स एकः शिवः ।

इदं हि नाम पारमेश्वरे दर्शने 'तत्त्वम्' इत्युच्यते—यदेकमेव रूपमव्यभिचारेण अनेकत्र भुवनादावनुगामि स्यात्, तच्च पृथिव्याद्यात्मकमनेकप्रकारम् अत एव तस्य—पृथिव्यादेर्भावः 'तत्त्वं' तथा व्यपदेशनिमित्तमित्युक्तम् तच्च समनन्तराह्निकोक्तेषु नानाप्रकारेषु भुवनेषु यदेतत्प्रकाशैकघनं परं तत्त्वं प्रकाशमानतान्यथानुपपत्त्यानुयायि भासते स निखिलविश्वक्रोडीकारेण द्योतमानः, अत एव एकः शिवः—तदाख्यं षट्त्रिंशत्तत्त्वमित्यर्थः तस्यैव ह्ययं स्फारो – यदिदं विश्वं नामावभासते, यदाहुः

'पञ्चत्रिंशत्तत्त्वी शिवनाथस्यैव शक्तिरुक्तेयम् ।' इति ।

अत एव च तनोति सर्वमिति 'तत्' परं रूपं, तस्य भावस्तत्त्वमित्यर्थः ।

ननु यद्येवं प्रकाशैकपरमार्थमेवेदं विश्वं, तत् तत्त्वस्य पृथक्सत्तैव नास्ति, इति का नाम पृथिव्यादिपरिभाषापि स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

देशाध्वा में भुवनों के निरूपण के अनन्तर उनमें आने वाले तत्त्वों का वर्णन स्वाभाविक और क्रमिक है। अध्येताओं के सौविध्य के लिये तत्त्वों के विस्तारपूर्वक वर्णन करने की अनुभूति से ओतप्रोत महामहेश्वर अभिव्यक्ति के द्वार खाल रहे हैं। इसकी आवश्यकता थी। तत्त्वों के सम्बन्ध में दूसरे लोगों ने अपनी कल्पनाओं के आधार विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। उनके अपसारण से सत्पक्ष का उद्घाटन आवश्यक और साधकों तथा जिज्ञासुओं की जानकारो के लिये अपेक्षित था। ऐसी अपेक्षा में अपनी लेखनी को महत्त्वपूर्ण कार्य में प्रवृत्त कर रहे हैं ॥ १ ॥

त्रिकदर्शन पारमेश्वर दर्शन है। परमेश्वर परम तत्त्व है। शक्ति से पृथ्वी पर्यन्त ३५ तत्त्व हैं। आगम इस बात का स्वीकार करता है कि "परमेश्वर शिव की शक्ति ही इन पैंतीस तत्त्वों में रूपायित हो रही है।" इनके साथ शिव ३६वाँ तत्त्व होता है। आठवें देशाध्वा आह्निक में अनन्त-अनन्त भुवनों

तत्स्वातन्त्र्यरसात्पुनः शिवपदाद्भेदे विभाते परं ।
यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभोः शासने ॥ २ ॥

पुनरपि तस्य शिवस्यैव स्वातन्त्र्यवशेन शिवपदादेवं विधात् षट्त्रिंशादेव तत्त्वात् परमत्वर्थं पृथिव्यादिपर्यन्तं भेदे समुल्लसिते यद्रूपं पृथिवीत्तत्त्वादि अनेकैः प्रकारैरनुगामि भाति तदिदं 'पृथिव्यादि तत्त्वम्' इत्युच्यते, इति वाक्यार्थः ॥ २ ॥

एतदेवोपपादयति

तथाहि कालसदनाद्वीरभद्रपुरान्तगम् ।
धृतिकाठिन्यगरिमाद्यवभासाद्धरात्मता ॥ ३ ॥

के वर्णन हैं। इन अनन्त और विविध भेदों प्रभेदों से भरे ब्रह्माण्ड को समान रूप से व्याप्त कर प्रकाशमान, प्रकाशैकघन जो परम तत्त्व है, वही शिव है। वह निखिल विश्व को विस्तार प्रदान करता है। 'तनोति सर्वमिति तत्' विग्रह के अनुसार 'तत्' शिव का पर्याय है। 'तत्' शब्द के 'भाव' को ही तत्त्व कहते हैं। अतः 'तस्य भावस्तत्त्वम्' इस विग्रह के अनुसार वह तत्त्वों की पराकाष्ठा है। सबका भावमय कारण रूप परम तत्त्व भी वही है। शिव के अतिरिक्त अन्य ३५ तत्त्वों को भी वस्तुतः प्रकाशैकपरमार्थ ही मानते हैं। ऐसी अवस्था में यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि कहाँ प्रकाशैकघनता और कहाँ पृथ्वी आदि की पृथक् जड सत्ता। अभेद भाव स्वीकार करने से स्पष्ट है कि यहाँ सैद्धान्तिक विरोध होने लगेगा। पर ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः शिव-स्वातन्त्र्य के बल से ही पृथ्वी पर्यन्त इस भेद का उल्लास होता है। शिवानुगामी यह उल्लास और बहु आयामी यह, उच्छलन सारा उसी का अनुयायी रूप है। इसलिए शास्त्र परम्परा में पृथ्वी पर्यन्त सभी रूप 'तत्त्व' ही हैं–यह मानते हैं ॥२॥

उक्त वास्तविकता के आधार पर यह सिद्ध होता है कि शिवतत्त्व की व्याप्ति के परिवेश में ही कालाग्नि रुद्र भुवन से वीरभद्र भुवन पर्यन्त देशाध्वा की जितनी कलना है—वह सब आ जाती है। देशाध्वा का अन्तिम तत्त्व धरा है। इसे धरा कहने का कारण है। पृथ्वी के अनेक गुण हैं। सबसे बड़ा गुण उसकी धृति है। अन्य सभी तत्त्व इस योग्यता से रहित हैं। उनमें

एवं व्याप्तिघटनाय तथाहि इति निदर्शनम् धृत्यादयो हि पृथिवीगुणाः, तदभिन्नरूपत्वाच्च पृथ्व्यास्तद्ग्रहणेनैव ग्रहणं सिद्ध्येदित्युक्तं 'धृत्याद्यवभासाद्धरात्मतेति' तेन सास्नादियोगात् यथा खण्डमुण्डादौ गोत्वमनुगामि तथा धृत्यादियोगात् कालाग्निभुवनादावपि पृथ्वीत्वमिति ॥ ३ ॥

आधार बनने की क्षमता नहीं होती। इसीलिए शरीर के मूलाधार में भी पृथ्वी बीज रूप से विद्यमान रहती है। अधिकरण योग्यता का हेतु काठिन्य है। विना कठिनता के आधार की क्षमता नहीं होती। काठिन्य से भारीपन का आना भी स्वाभाविक है।

धृति, काठिन्य और गरिमा आदि का अवभासन पृथ्वी तत्त्व से होता है। आदि शब्द से गन्धवतीत्व आदि गुणों का आकलन होता है। इन तीनों गुणों से अभेद तादात्म्य भाव के कारण पृथ्वी का ग्रहण होता है। पृथ्वी शब्द के उच्चारण मात्र से इन गुणों का अध्याहार हो जा जाता है। यह एक प्रकार का बैखरी द्वारा व्यक्त माध्यमिक शाक्त व्याप्ति की चिन्मयता का चमत्कार है।

कालाग्नि भुवन से लेकर वीरभद्र भुवन तक पृथ्वीतत्त्व है। केवल भूखण्डवाचक पृथ्वी की संज्ञा पूर्ण-पृथ्वीतत्त्व की खण्डित इकाई की प्रतीक है। शास्त्र गोत्व की परिभाषा करते हैं—'सास्नादिमत्त्वं गोत्त्वम्' जिस पशु में सास्ना (गलकम्बल) हो, उसे गौ कहते हैं। गाय में सास्ना होती है। अन्य किसी पशु में यह नहीं होती। गौ नामक पशु में यह लक्षण घटित होता है। उसी तरह धृति, काठिन्य और गरिमादि लक्षण कालग्निरुद्र भुवन आदि लोकों में घटित हैं। जहाँ-जहाँ ये गुण हैं, वहाँ-वहाँ पृथ्वीत्व भी है—यह अन्वय व्याप्ति है। यह सब शिवस्वातन्त्र्य का संविदुल्लास मात्र है। इसके प्रभाव से ३५ तत्त्वों के भेदों में तत्वशब्द की व्याप्ति होती है। यह एक प्रकार का अनुगतिक यथार्थ है। गोत्व की आनुगतिकता गाय के जीवित या मृत शिरोभाग या अन्य अंगों में भी पाई जाती है। पृथ्वी को पृथ्वी तत्त्व कहने में यही कारण है। धृति आदि गुणों के कारण वह धरा है और अभेदतादात्म्य की दृष्टि से वह तत्त्व है। यह पृथ्वी तत्त्व का निष्कर्षार्थ है। यह पृथ्वी तत्त्व जैसे पिण्ड में है, उसी तरह ब्रह्माण्ड में भी व्याप्त है ॥३॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति ।

एवं जलादितत्त्वेषु वाच्यं यावत्सदाशिवे ।

तेन यथा धृत्यादियोगात् सर्वत्रान्वितं पृथ्वीत्वं तथा सांसिद्धिकद्रवत्वभास्वरत्वादियोगात् जलादित्वमिति ॥

नन्वेवमनेकत्र पिण्डादौ तथात्वानुगमात् देहभुवनादावपि तत्त्वान्तररूपत्वं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

स्वस्मिन्कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे ॥ ४ ॥

उक्त धरात्मकता के सिद्धान्त का अतिदेश अन्य जलादितत्वों में कैसे होता है यही कह रहे हैं —

धृति आदि के योग में पृथ्वीत्व का अन्वय स्वाभाविक है । इसी प्रकार जहाँ-जहाँ सांसिद्धिक द्रवत्व, रसत्व और भास्वरत्व का लक्षण चरितार्थ होता है—वहाँ-वहाँ जलत्व की व्याप्ति स्वाभाविक मानी जाती है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एकत्र एक ही साथ कई लक्षण मिल जाते हैं । जैसे ज्वालामुखी के विस्फोट में पिघले हुए लावे की बरसात और उसका तरलनद की तरह बह चलना । वहाँ गरिमा भी है, काठिन्य भी है, द्रवत्व भी है । यहाँ भिन्न क्रमत्व की अभिव्यक्ति है । दूसरे विचारणीय स्थल घड़े, पुरवे या शिकोरे हैं । उनमें पृथीत्व का सादृश्य है । यद्यपि ये पृथ्वी रूप कारण से उत्पन्न कार्य हैं । इनमें भी धृति, काठिन्य और गरिमा है । यहाँ पृथ्वीत्व अनुगामितया अवस्थित है । अन्यत्र भी जैसे सत्त्व, रजस् और तमस् आदि गुणों में भी धृति का लक्षण पहुँचता है । संकुचित प्रमाता में या प्रकाश-परमार्थ विश्व में भी तत्त्विकता के लक्षण अनुगामितया घटित होते हैं । धर्मों के एक दूसरे से बलवान् होने पर कहीं सत्व को प्रधानता, कहीं राजस प्राधान्य और कहीं तामसिकता के प्राबल्य में प्रमाता अनुरूप-गुण-धर्मिता से प्रभावित होते और उसी स्तर के संकोच से संकुचित हो जाते हैं । यह गुण-सादृश्य के प्रभाव से सम्भव है । सामान्य आकलन के अनुसार ही पृथ्वीतत्त्व आदि वहाँ अर्थतः अपना विस्तार कर पारिभाषिक रूप से चरितार्थ होने लगते हैं ।

आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद्व्याप्तृभावतः ।
तत्तत्त्वं क्रमशः पृथ्वीप्रधानं पुंशिवादयः ॥ ५ ॥
देहानां भुवनानां च न प्रसङ्गस्ततो भवेत् ।

वापि इति विकल्पद्योतकं भिन्नक्रमं द्रष्टव्यं, तेन स्वसदृग्गुणेऽपि वा इति योज्यम्, एवं स्वस्मिन् घटशरावादौ कार्ये धर्माणां सत्त्वादीनां गुणानाम न्योन्याभिभववृत्त्यादिनानैक्यात्, ओघे स्वसदृग्गुणे—संकुचिते प्रमातृवर्गे प्रकाशैकपरमार्थे वा विश्वत्र, यत् पृथ्वीत्वादिकं रूपमनुगामितयास्ते, तत् तनोति—स्वकार्यादि व्याप्नोति इति कृत्वा, क्रमशो यथासंख्येन पृथ्वीप्रधानं पुंशिवादयश्च तत् 'तत्त्वम्' इत्युच्यते। ततश्च देहभुवनादौ नैवं प्रसङ्गः, नहि

प्रश्न उपस्थित होता है कि इस मान्यता के अनुसार अनेकानेक पिण्डों में भी तत्वानुगामिता की शक्ति का आतान वितान मान्य होने लगेगा, जो इस परम्परा के विरुद्ध होगा। इस शङ्का का समाधान कर रहे हैं कि,

अपने (स्वात्म कारण) से उत्पन्न कार्यों में, अथवा धर्मों के अभिव्यंजन के प्रकरणों में अथवा अपने गुण सादृश्य के प्रतीक संकुचित प्रमातृ-रूपों में सामान्यतया पृथ्व्यादि के तनन रूपी अनुगामित्व के प्रसार से 'तनु' धात्वर्थ के अनुसार पृथिवीत्व की व्याप्ति होती है। पृथ्वी प्रधान तत्व की तरह पुरुष और शिवादि भी तत्व माने जाते हैं। किन्तु देह और भुवन आदि में इस तत्ववादिता के प्रसङ्ग परिलक्षित नहीं होते।

परिणामतः क्रमानुसार पृथ्वीप्रधान तत्व से लेकर पुरुषप्रधान शिवतत्त्व तक तत्त्वभाव सामान्य रूप से व्याप्त हो जाता है। शरीर और भुवन भी यद्यपि पार्थिव निर्मितियाँ हैं किन्तु उनमें तत्वानुगामिता की शक्ति नहीं है। नियम यह है कि अपने कार्य में और भोग में देहादि की अनुगामिता नहीं होती। जैसे शरीर से हमने कोई कार्य किया तो उस कार्य में देहत्व का गुण नहीं जा सकता है। इसलिये कहा जा सकता है कि कारणत्व को परिणति कार्यों में, धर्मों (गुणों) के पारस्परिक प्रभावजन्य भेद वाद में अथवा संकुचित प्रमातृवर्ग में प्रभाव विस्तार और व्याप्ति के बल पर तत्त्व भाव पुलकित होते रहते हैं। इस तरह पृथ्वी से शिव तत्त्व तक तत्त्वभाव मान्य हो जाता

स्वकार्ये चेष्टादौ तत्तद्भोगादौ च देहादित्वमनुगामितामियात् । आदिशब्दः प्रकारे, तेनाहंकारादीनां तत्त्वान्तराणामपि इन्द्रियाद्यात्मनि स्वकार्यादावनुगामित्वमस्तीत्याद्यवसेयम् । एतदर्थगर्भीकारेणैव चान्यैः—

'आ महाप्रलयस्थायि सर्वप्राण्युपभोगकृत् ।
तत्त्वमित्युच्यते तज्ज्ञैर्न शरीरघटाद्यतः ॥'

इत्याद्युक्तम् ॥ ४–५ ॥

नन्वेवमभिधाने किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

श्रीमन्मतङ्गशास्त्रादौ तदुक्तं परमेशिना ॥ ६ ॥

एतच्च तत्र विद्यापादावनेकप्रकारमुक्तमिति कियल्लिख्यते, इति ग्रन्थविस्तरभयात् प्रतिज्ञामात्रमेव कृतम्, तथा च तत्र

'तत्त्वं यद्वस्तुरूपं स्यात्स्वधर्मप्रकटात्मकम् ।
तत्त्वं वस्तुपदं व्यक्तं स्फुटमाम्नायदर्शनात् ॥

है । पर देह से होने वाले कार्यों में या भुवनों के भोगों में तत्त्ववाद का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता । अहंकार की कार्यरूपा इन्द्रियों में तत्त्व-प्रसार की अनुगामिता होती है ।

इस मत के प्रमाण मतङ्ग शास्त्र आदि आगम ग्रन्थ हैं । उनमें स्वयं परमेष्ठी शिव ने अपने वचनों द्वारा यही निष्कर्ष निरूपित किया है । 'तत्त्व' के सम्बन्ध में अन्य आगमिक विद्वान् कहते हैं कि,

"महाप्रलय पर्यन्त स्थित रहने वाले समस्त प्राणियों के उपभोगवाद के आधारभूत मूलभाव ही तत्त्व कहे जाते हैं । शरीर और कार्य रूप घट आदि में तत्त्व की परिभाषा चरितार्थ नहीं होती" ॥ ४–५ ॥

ऐसी मान्यता में क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न का समाधान इस छठें श्लोक की अर्धाली द्वारा कर रहे हैं—

"तत्त्व वह वस्तु रूप सत्य है, जो स्वधर्म को अभिव्यक्त करता है । आम्नायों द्वारा आम्नायित है, अपने स्वत्व से अच्युत होता है और स्वात्म प्रभाव से विश्व-वितान के वितानन में सक्षम है । जो दूसरे माध्यम से विस्तार प्राप्त हो या न हो तत्व सम्प्रदाय में उसे ही 'तत्व' कहते हैं ।

यदच्युतं स्वकाद्वृत्तात्ततं चात्मवशं जगत् ।
ततमन्येन वा न स्यात्तत्त्वं तत्वसंततौ ॥' इति

तथा

'पार्थिवाणुसमूहस्य विप्रकीर्णस्म सर्वतः ।
किं स्वरूपं स्वकं तत्र पृथिव्यास्तत्त्वसंज्ञकम् ॥'

इत्याक्षेपपूर्वकम्

'मृत्त्वमस्ति मृदस्तत्र येनासावुपदिश्यते ।
तत्त्वेभ्योऽप्यणुसंघेभ्यो विशिष्टमविनाश्यथ ॥'

इत्यादि बहूक्तम् ॥ ६ ॥

तदेवमवस्थिते कार्यकारणभावात्मा तत्त्वानां प्रविभागो वक्तव्यः, इत्याह

तत्रैषां दर्श्यते दृष्टः सिद्धयोगीश्वरीमते ।
कार्यकारणभावो यः शिवेच्छापरिकल्पितः ॥ ७ ॥

'सिद्धयोगीश्वरीतन्त्रं शतकोटिप्रविस्तरम् ।
यत्त्वया कथितं पूर्वं भेदत्रयविसर्पितम् ॥

इस सम्बन्ध में पहले आक्षेपात्मक पूर्वपक्ष की बात कह कर दूसरा प्रमाण दे रहे हैं कि तत्त्व की पारिभाषिकता के लिये "पृथ्वी के विप्रकीर्ण पार्थिव परमाणु चारों तरफ उड़ते फिरते रहते हैं। इसलिए उनमें पृथ्व्यात्मक तत्त्व का कोई स्वरूप निर्धारित ही कैसे किया जा सकता है ?"

इस पर कह रहे हैं कि,

"वहाँ भी मृदा का तत्त्व है। इन अणुओं से विशिष्ट और अन्य तत्त्वों से भी विशिष्ट एक अविनश्वर तत्त्व भाव वहाँ विद्यमान है।"

इस प्रकार शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों का यह आकलन निर्विवाद रूप से सब के लिये मान्य है। त्रिकदर्शन का यही मन्तव्य है ॥ ६ ॥

सिद्ध योगीश्वरो मत में यह स्पष्ट किया गया है कि तत्त्वों में परस्पर कार्यकारण भाव भी है। उसके अधीत सिद्धान्त का प्रदर्शन प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रासङ्गिक समझ कर ग्रन्थकार स्वयम् इस विषय को उपस्थापित कर रहे हैं कि यह कार्य कारण भाव भी ईश्वरेच्छा पर ही निर्भर है—

मालिनीविजये तन्त्रे कोटित्रितयलक्षिते ।
योगमार्गस्त्वया प्रोक्तः सुविस्तीर्णो महेश्वर ॥
भूयस्तस्योपसंहारः प्रोक्तो द्वादशभिस्त्वतः ।
सहस्रैः सोऽपि विस्तीर्णो गृह्यते नाल्पबुद्धिभिः ॥
अतस्तदुपसंहृत्य समासादल्पधीहितम् ।
सर्वसिद्धिकरं ब्रूहि प्रसादात्परमेश्वर ॥
एवमुक्तस्तदा देव्या प्रहस्योवाच विश्वराट् ।
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सिद्धयोगीश्वरीमते ॥
यन्न कस्यचिदाख्यातं मालिनीविजयोत्तरम् ।' इति ।

वक्ष्यति च

कार्यकारणभावीये तत्त्वे इत्थं व्यवस्थिते ।
श्रीपूर्वशास्त्रे कथितां वच्मः कारणकल्पनाम् ।।' इति ।

कार्यकारणभाव इत्यनेनानुजोद्देशोद्दिष्टस्य तदाख्यस्यापि प्रमेयस्यासूत्रणं कृतम् ॥ ७ ॥

"सिद्ध योगेश्वरी तन्त्र सौ करोड़ कारिकाओं का तन्त्र था। पार्वती शिव से कह रही हैं कि भगवन्! आपने उसको उसके तीनों भेदों के साथ हमें सुनाया था। तीन करोड़ श्लोकों में व्यक्त मालिनी विजय का वर्णन किया। उसमें वर्णित योग प्रक्रिया की शिक्षा दो। बारह भेद भिन्न ये योग नियम थे। यद्यपि आपकी शिक्षा की पद्धति विषयानुकूल सरल थी पर स्वल्पबुद्धि साधक के लिए अब भी यह विषय दुर्बोध बना हुआ है।

अतः कृपालु परमेश्वर! साधकों की श्रेयःसिद्धि लिये उसे और संक्षिप्त कर बताने की कृपा करें। देवी के इस अनुरोध पर अनुग्रह कर अनूचान अम्बिकेश्वर शिव ने प्रसन्न होकर सिद्ध योगीश्वर के बृहद् विज्ञान का मालिनीविजयोत्तर क्रमानुसार अभिधान किया और कार्यकारण भावीय तत्त्व व्यवस्था संवलित श्रीपूर्वशास्त्र की कारण कल्पना को वाणी द्वारा व्यक्त किया।" इस कथन द्वारा अनुज-उद्देश-उदिष्ट शैली का अनुसरण कर प्रमेय प्रपञ्च की कलना भी की गयी है॥ ७ ॥

नन्विह मृद्घटादावस्तीच्छाया अनुप्रवेशः, किन्तु सा कौम्भकारी, बीजाङ्कुरादौ तु चेतनस्यैवानुप्रवेशो नास्ति, इति का वार्ता तद्धर्मभूताया इच्छायाः, इति किमेतदुक्तं 'कार्यकारणभावः शिवेच्छापरिकल्पित' इति ? इत्याशङ्क्याह

वस्तुतः सर्वभावानां कर्त्तेशानः परः शिवः ।

इह खलु जडस्य कारणाभिमतस्य बीजादेरियान् महिमा—यत्सदसद्वा-कार्याभिमतमङ्कुरं परिदृश्यमानसत्ताकं कुर्यात्, नहि 'अङ्कुरो जायते' इत्येतत् बीजस्य किंचित्—तस्य ततोऽन्यत्वात्, तथात्वे वा घटादेरप्येवंभावापत्तेः, नाप्यङ्कुरस्य—तदानीं तस्यासत्त्वात्, यदि चासदेवाङ्कुरादि तर्हि तस्यासद्रूपतैव परमार्थः, इति कथं स्वरूपविरुद्धं सत्त्वमभ्युपेयात् ।

अथोच्यते नासन्नाम किंचिद्वस्तु यस्य तत्त्वेन विरोधः स्यात्—तस्योभयवस्त्वधिष्ठानत्वात्, एतद्धि व्यवहारमात्रं—यदसतः सत्ताकार्यत्वमिति, वस्तुतो हि 'बीजे सति अङ्कुरोऽस्ति' इत्येतावन्मात्रमेतत्, इति किं केन विरुद्ध्येतेति, नन्वेवं बीजे सति अङ्कुरश्चेदस्ति तर्ह्यसौ सर्वदैव सत् स्यात्, नो चेन्न कदाचित् इत्युक्तं स्यात्, अतश्चास्य सर्वदा सत्त्वे न कदाचिदन्यथात्वेन योगः, अन्यथात्वं हि अकिंचिद्रूपत्वमुच्यते कस्तेन योगार्थः, तथात्वे

कार्य कारणभाव में ईश्वरेच्छा की परिकल्पना का कथन विचारणीय है। कुम्भकार घड़े का निर्माण करता है। घड़ा बनाने की इसकी इच्छा हुई। कुम्भकार की उस इच्छा का घड़े रूप कार्य में अनुप्रवेश की बात तो सामान्यतया समझ में आता है। जहाँ तक बीज और अंकुर का प्रश्न है, वहाँ तो जड़ता है। चेतन धर्म का उसमें अनुप्रवेश ही नहीं है। इच्छा चेतन की धर्म है। जब चेतन का ही उसमें अनुप्रवेश नहीं तो चेतन धर्मरूपा इच्छा के अनुप्रवेश का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

कारिका ७ में ऊपर स्पष्ट निर्देश है कि कार्यकारण भाव शिवेच्छा परिकल्पित है। इस समस्या का समाधान आवश्यक है। इसी लक्ष्य से प्रस्तुत आठवीं कारिका का अवतरण कर रहे हैं। वस्तुतः त्रिकदर्शन की एक मौलिक मान्यता है कि समस्त विश्वात्मक भावों के कर्त्ता परम शिव ही हैं। इसी कर्तृत्व के कारण उसकी इच्छा का सर्वकार्यभाव में अनुप्रवेश होता है। 'शिवेच्छा परिकल्पित' कथन का यही रहस्य है।

---

१. श्री तं० प्रथमखण्ड ।

वा किं नामास्य स्वरूपेऽधिकं स्यात्, यद्वशात्—असद्व्यवहारपात्रत्वमपि उदियात्, न च 'बीजापेक्षसत्तास्वभावोऽङ्कुर' इति वाच्यम्—सर्वभावानां

इतना कहने पर भी जिज्ञासु की समस्या का समाधान नहीं होता है। बीज और अङ्कुर के इस उदाहरण में दो बातें सामने आती हैं। १. पहली यह कि क्या बीज में अङ्कुर पहले से ही था ? २. दूसरी बात यह है कि बीज तोड़ने पर अंकुर वहाँ पर पाया ही नहीं जाता। तो क्या अंकुर सत् था और परिदृश्यमान हो गया ? और क्या असत् होने पर भी परिदृश्यमान हो गया ? अंकुर कार्य है। बीज कारण है। इस प्रसङ्ग में पहला पक्ष सत्कार्य का सिद्धान्त स्वीकार करता है। इसे शास्त्र में सत्कार्य वाद कहते हैं। दूसरा पक्ष कार्य रूप अङ्कुर को वहाँ असत् मानता है। असत् कार्य के कारण असत्कार्यवाद का भी एक सिद्धान्त शास्त्र में स्वीकृत है।

सत्कार्यवादी सांख्य दार्शनिक और असत्कार्यवादी नैयायिक और वैशेषिक होते हैं। बौद्ध दार्शनिक इस सिद्धान्त को कारण के नष्ट होने पर कार्योत्पत्ति के रूप में देखता है। नैयायिक परमाणु को आदि कारण मानता है। अणु से द्व्यणुक रूप कार्य उत्पन्न होता है। परमाणु में द्व्यणुक नहीं रहता। यह असत् कार्य का उदाहरण है। मिट्टी में घट भी असत् है क्योंकि दोनों के दो नाम हैं और दोनों अलग-अलग दृष्टिगोचर होते हैं। कारण वस्तु की विद्यमानता से कार्य वस्तु का प्रत्यक्ष होना नैयायिक दृष्टिकोण है। बौद्ध कहता है कि कारणवस्तु के नष्ट होने पर कार्य वस्तु का प्रकटीकरण होता है। कारण वस्तु असत् हो जाय तो सद्वस्तु की सत्ता बनती है। बीज नष्ट हो जाने पर (असत् होने पर) ही अंकुर कार्य उत्पन्न होता है। मिट्टी का लोंदा मिटता और चक्र पर घट कार्य दृष्टिगोचर होने लगता है। यह भाव के क्षणिकत्व का समर्थन मात्र है। कारण क्षण में कार्य असत् और कार्य क्षण में कारण असत्। इस दृष्टिकोण से सत् शब्द का अर्थ भी बदल जाता है। सत् का अर्थ क्षणिक सत्ता हो जाता है, जब कि अनुत्तरतत्त्ववादी सत्त्व को शाश्वत मानते हैं।

वेदान्त दर्शन की मान्यता के अनुसार ब्रह्म शाश्वत सत् है। सोपी में चाँदी या रस्सी में साँप की अज्ञानता पर आधारित कल्पना के अनुसार जगत् के सभी पदार्थ भी अज्ञान कल्पित ही हैं। या जैसे सीपी में भ्रान्ति वश चाँदी

स्वरूपमात्रपरिनिष्ठानात् अन्यस्यान्यापेक्षस्वभावत्वानुपपत्तेः, यद्यपि चासन्नाम न किंचिद्वस्तु तथापि एतच्छशविषाणवत् असत्कलनाविषयस्य अन्तःकरणभुवि

का आरोप कर लेते हैं, उसी तरह आरोपित भ्रान्ति मात्र हैं। इससे कारण ब्रह्म सत् और कार्य रूप विश्व विवर्त्त मात्र सिद्ध होता है। विवर्त्त असत् है क्योंकि यह आभासिक सत्ता मात्र है।

सांख्य दर्शन के अनुसार सत् कारण से सत् कार्य होते हैं। अतः कार्य भी सत् ही होता है। सत् कार्य कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। दूध में दही है। अवसर पाकर उससे उद्भूत होता है। प्रकृति अहंकार आदि तत्त्व पहले हैं। बाद में उससे उत्पन्न होते हैं। अव्यक्त की अन्य रूप अभि-व्यक्ति का यह सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण माना जाता हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में कारण रूप से स्वीकृत बीज को हम जड़ मान कर चल रहे हैं और यह सोचते हैं कि बीज का ही यह महत्त्व है कि उससे चाहे वह सत् हो या असत् कार्य रूप अङ्कुर निकलता है। अङ्कुर को बीज ही परिदृश्यमानसत्ताक (प्रत्यक्ष सत् रूप) बना देता है।

हम प्रयोग करते हैं—"अंकुर उत्पन्न होता है।" इसमें बीज का क्या ? वह तो अङ्कुर से अलग वस्तु है। इसी तरह मिट्टी और घड़े के उदाहरण में भी कह सकते हैं कि 'घड़ा बन रहा है'। यहाँ घट अलग वस्तु और मिट्टी अलग वस्तु है। अङ्कुर का तो कोई प्रश्न ही नहीं। बीज की सत्ता के समय अङ्कुर की सत्ता ही नहीं होती है। अर्थात् असत् ही रहता है। इस प्रकार यदि अङ्कुर असत् रहता है तो वास्तव में पारमार्थिक रूप से वह असत् हो माना जायेगा। यह असत् पदार्थ सद् रूप विरुद्ध रूप गुण सम्पन्न कैसे हो जाता है ? यह प्रश्न फिर अनुत्तरित रह जाता है।

इन विचारों को ध्यान में रख कर हम त्रिकदर्शन की दृष्टि पर विचार करें। यहाँ कोई पदार्थ असत् नहीं माना जाता, जिसका सत् तत्त्व से कोई विरोध हो। तत्त्व भाव दोनों जगह है। व्यावहारिक दृष्टि से हम यह प्रयोग कर बैठते हैं कि असत् से सत् रूप कार्यता होती है। वास्तविकता यह है कि बीज है तो अङ्कुर है। इसमें विरोध दृष्टि को कहीं अवकाश नहीं।

पतितस्य परिस्फुरतः स्वभावस्य संभवात् बाह्येन्द्रियविषयतापन्नेन सत्स्वभावेन सह विरुध्यते एव, इति युक्तमुक्तम् 'असतः सत्त्वं विरुद्धमिति'। अथ सदेव तर्ह्यस्य किमुपयाचनीयं यत् बीजादेः प्रार्थयेत्। अथाभिव्यक्तिनियतत्वादि, इति चेन्न—तत्रापि सदसद्रूपताया योजयितुं शक्यत्वात्, न च तदुभयात्मकमनुभया-

यह कहना कि 'यदि बीज है तो अङ्कुर भी है' एक नयी समस्या पैदा करता है। तब बीज रहने पर अङ्कुर भी हमेशा रहना चाहिये। उसे सत् रूप से दीख पड़ना चाहिये। अन्यथा वह कभी नहीं हो सकता? इसलिये हमारी मान्यता यही है कि बीज के रहने पर अङ्कुर का अस्तित्व भी है। इसमें अन्यथा भाव की कल्पना व्यर्थ है। अन्यथा भाव असद् रूपता मात्र है। उसका कोई रूप-कल्पन नितान्त असम्भव है। इसमें किसी रूपत्व का योग कैसे हो सकता है? यदि ऐसी कल्पना कर भी लें तो वह भी अकिंचित् रूपत्व के अतिरिक्त नहीं हो सकती। इस तरह वहाँ एक नयी असद् व्याव-हारिकता की विषमता ही जन्म लेगी।

हम यह भी नहीं कह सकते कि अङ्कुर का स्वभाव बीज की अपेक्षित सत्ता से संवलित है। क्योंकि विश्व के सभी भाव-पदार्थ स्वरूप परिनिष्ठित होते हैं। अतः किसी भाव को अन्य भाव के स्वभाव की अपेक्षा नहीं होती। यह ध्यान देने की बात है कि असत् नाम की कोई वस्तु नहीं होती। कभी-कभी होता यह है कि असत् श्रवण मात्र से एक प्रकार की कलनामयी स्फूर्ति हृदय में होती है। जैसे खरगोश की सींग, आकाश कुसुम, वन्ध्यापुत्र आदि की कलना से हृदय में जो परिस्फुरण होता है, वह बाह्य इन्द्रिय के विषय बनने वाले सत् पदार्थ के विरूद्ध ही होते हैं। अन्तःकरण में खरगोश की सींग की असत् स्फूर्ति चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा परिगृहीत नहीं हो सकती। इसी आधार पर यह सूक्ति प्रसिद्ध है कि 'असत् से सत् सत्ता विरुद्ध है'।

यदि अङ्कुर सत् है तो इसमें बीज से क्या लेना देना? बीज से अङ्कुर की अभिव्यक्ति तो तै है। उसमें सद्रूपता और असद्रूपता का समायोजन व्यर्थ है। बीज से अङ्कुरण में बीज और अङ्कुर की उभयात्मकता अनु-भयात्मकता अथवा अनिर्वचनीयता आदि की कल्पनायें भी जलताडनवत् अनपेक्षित आकलन ही मानी जायेंगी। यह सब स्वभाव विरुद्ध सोच मात्र है।

त्मकमनिर्वाच्यं वा युज्यते—विरुद्धत्वादेवं स्वभावत्वस्य, तत्सर्वथा लोकप्रसिद्धः कार्यकारणभावो नोपपद्यते, इति सर्व एव व्यवहारः समुत्सीदेत्, तेन कार्यकारण-भावसमाख्याबलात्कर्तृकर्मभाव एवाश्रयणीयो, यत् कार्यमाभासनक्रियाविषयत्वात् कर्मैव कार्यते तत्तदङ्कुरादि अवभास्यते तेन कर्ता तत्समर्थाचरणेनेति कारणमपि कर्तर्येव विश्रान्तम्, तस्मात् चिद्रूप एव परमेश्वरः स्वेच्छावशात् इयद्विश्वमव-भासयति।

किं तु नियतिदशायां प्रथान्तरव्यवधानेन येन 'बीजादङ्कुरो, मृदो घट' इत्येवमाद्यात्मिका लोकस्य प्रतीतिः। नन्वेवं सोऽपि किं सदसद्वा विश्वमवभासये-दित्युक्त एव दोषः? न—इह खलु आन्तरत्वग्राह्यत्वबाह्यत्वभेदाद् त्रिधार्थः परिस्फुरेत्, तथाहि—सर्वस्य प्रमातुर्मनोगोचरत्वापत्तेरपि पूर्वं स्वसंविदैकात्म्येन

इसलिये लोक प्रसिद्ध कार्य कारण भाव सर्वथा सभी स्थानों पर चरितार्थ करना उपयुक्त नहीं माना जाता। इससे सारी व्यवहारवादिता संकट ग्रस्त हो जायेगी। अतः इस कार्यकारणभाव की उक्ति व्यर्थ होकर नये अर्थ का जन्म देती है। कर्तृकर्म भावाश्रय के अनुसार कारण कर्त्ता हो जाता और कार्य कर्म हो जाता है। कार्य आभासन क्रिया का विषय है। इसलिये कर्मरूप अङ्कुर का क्रिया शक्ति द्वारा अवभासन करा दिया जाता है, यह अर्थ स्फूर्त्त होने लगता है। कर्त्ता क्रिया-स्वातन्त्र्य सामर्थ्य से संवलित होता है। कारणकर्त्ता में ही अन्तर्भृत हो जाता है। सारी कारणता कर्त्ता में विश्रान्त होती है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'चिद्रूप स्वयं परमेश्वर ही स्वेच्छा से इस विश्व का अवभासन करता है। चमत्कार तो यह है कि नियति नियन्त्रित क्रिया प्रक्रिया में पार्थक्य प्रथा का उत्सर्जन होता है जिससे 'बीज अङ्कुर और मिट्टी से घड़े' की पार्थक्यप्रथा की लौकिक प्रतीति होने लगती है।

उक्त विचार के अनुसार भी समस्या का समाधान नहीं हुआ। यह कौन निर्णय करे कि यह अवभासन सत् है या असत्? इस शङ्का कलङ्क कल्मष का अपसारण करते हुए जयरथ कहते हैं कि वस्तुतः ऐसे स्थलों में अर्थ का परिस्फुरण तीन प्रकार से होता है। पहले १. आन्तर भाव से, २. दूसरे ग्राह्य भाव से और ३. बाह्यार्थ भाव से।

परिस्फुरतोऽर्थस्यान्तरत्वम्, अनन्तरमन्तःकरणैकवेद्यतया सुखादेरिव ग्राह्यत्वमपि अन्तर्बहिष्करणद्वयवेद्यतया घटादेरिव बाह्यत्वमपि, इति संविदात्मन्यवस्थितस्य चार्थस्य बहिरवभासनम्, इत्युपपादितमन्यत्र बहुशः, तदुक्तम्

'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ॥' इति ।

तदयमेव कार्यकारणभावो—यदन्तः परिस्फुरत एवार्थस्यान्तर्बहिष्करणोभयवेद्यत्वमाभास्यते इति, तदुक्तम्

पहले प्रमाता के मानसिक ऊहापोह के पूर्व ही अर्थ संविदैकात्म्य भाव से स्फुरित होता है। यह अर्थ का आन्तर स्फुरण है। फिर अन्तःकरण में वेद्यभाव से सुख आदि की तरह ग्राह्य भाव के स्फुरित होता है। इसके बाद अन्तःकरण के साथ बहिष्करण (बाह्येन्द्रिय) ग्राह्य होकर यह उभय वेद्य सा घड़े आदि की तरह (बाह्य वेद्य की तरह) स्फुरित होता है। यह अर्थ की अनुभूति प्रक्रिया है। इसमें यह सिद्ध होता है कि अर्थ सर्वप्रथम संविदैकात्म्यभाव से अव्यक्त की गोद में परनादगर्भ रूप में पलता है। उसी का बाह्यावभास हो जाता है और सामाजिक को शब्दार्थ रूप से व्यवहार अभिव्यक्त हो जाता है। आगम भी इस तथ्य का समर्थन करता है। वह कहता है कि—

"स्वामी परमेश्वर के स्वरूप में अवस्थित भावराशि का भासन होता है। बिना उसके इच्छात्मक विमर्श का प्रवर्त्तन ही कैसे हो सकता है।"

यही कार्य कारण भाव है। आन्तर स्फुरित अर्थ अन्तःकरण और बहिष्करण दोनों से वेद्य और आभासित होता है। कार्य रूप में परिणति आभासन क्रिया ही है। कहा गया है कि—

"जो असत् है, वह असत् ही है। यह कहना उचित है। असत् की सत्स्वभावता असम्भव हैं। जो सत् है वह सत् है? उसकी सत्ता के पुनर्लाभ का क्या अर्थ? अतः कार्यकारणभाव से यही तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये कि सान्त विपरिवर्त्ती भाव किसी अलौकिक शक्ति की प्रेरणा से बाह्येन्द्रिय ग्राह्य हो जाते हैं और उनकी लोकिक प्रतीति होने लगती हैं"।

'यदसत्तदसद्युक्ता नासतः सत्स्वभावता ।
सतोऽपि न पुनः सत्तालोभेनार्थोऽथ चोच्यते ॥
कार्यकारणता लोके सान्तर्विपरिवर्तिनः ।
उभयेन्द्रियवेद्यत्वं तस्य कस्यापि शक्तितः ॥' इति ।

न चान्तरवस्थितस्यार्थस्य बहिरवभासनं नामापूर्वं किंचित्, अपि तु अभेदाख्यातिमात्रम्, इति न कश्चिद्दोषः, ततश्च युक्तमुक्तं 'स्वातन्त्र्यभाक् परः शिवः सर्वभावानां वस्तुतः कर्ता' इति ॥

ननु अस्त्येवं बीजाङ्कुरादौ, मृद्घटादौ तु नायं वृत्तान्तः, तत्र हि दृश्यत एव कुम्भकारः कर्ता, इति किमदृष्टेन कर्त्रन्तरेण परिकल्पितेन ? इत्याशङ्क्याह

अस्वतन्त्रस्य कर्तृत्वं नहि जातूपपद्यते ॥ ८ ॥

कुम्भकारो हि न स्वेच्छामात्रेण घटं जनयेत्, अपि तु मृदादि अपेक्ष्य, न चाचेतना मृदादयस्तदिच्छामनुरोध्येरन्, एवं हि पटसंपादनेच्छामपि किं

आन्तर अवस्थित अर्थ का बाह्य अवभासन कोई अपूर्व विस्मयजनक बात नहीं अपितु यह अभेद की अख्याति मात्र है। इस मान्यता में कोई दोष नहीं। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि "स्वातन्त्र्यशक्ति सम्पन्न परमेश्वर सभी वस्तु राशि और भावराशि का कर्त्ता है"।

प्रश्न उपस्थित होता है कि परमेश्वर-कर्तृत्व की बात बीज और अङ्कुर इत्यादि के सम्बन्ध में तो चरितार्थ हैं। अतः यह मानी जा सकती है पर मिट्टी और घड़े के सम्बन्ध में यह कैसे मान लिया जाय ? क्योंकि वहां तो कुम्भकार प्रत्यक्ष कर्त्ता है। इसमें अदृष्ट अन्य कर्त्ता की परिकल्पना क्यों ? इसी प्रश्न का समाधान इस श्लोक की दूसरी अर्धाली कर रही है—

शास्त्रीय सिद्धान्त है कि परतन्त्र में कर्तृत्व कभी भी सम्भव नहीं। मिट्टी से घड़े का निर्माण करने वाला कुम्भकार स्वेच्छा से घड़ा नहीं बना सकता। उसे पहले मिट्टी चाहिये। पुनः चक्र, चीवर की आवश्यकता और अपेक्षा होती है। मिट्टी भी अचेतन है। क्या वह कुम्भकार की इच्छा और अनुरोध को स्वीकार कर सकती है ? यदि ऐसा कर सकती तो मिट्टी से कपड़े बनाने की इच्छा का भी अवश्य समादर करती ! और सारे अचेतन अनाप, शनाप इच्छाओं को अवश्य पूरा करते ! तब यह सृष्टि खिलवाड़ बन कर रह जाती और अनवस्था का साम्राज्य छा जाता।

नाद्रियेरन्, ततश्चास्य मृदादिसंस्काराधानमात्र एवोपयोगः, तथात्वेऽपि तस्येयत् मृदादिभ्योऽधिकं यच्चिकीर्षितं घटादि तदानीं चेतसि परिस्फुरेत्, न च तावतैव घटादेः कार्यस्य बहिरवभासः, ततश्च पर एव शिवः स्वेच्छया नियतिदशायां कुम्भकारस्य मृदादेश्च परस्परापेक्षया कार्यमुपजनयेत्, यस्तु तस्य सत्यपि मृत्पिण्डादौ 'मयेदं कृतम्' इत्यभिमानः सोऽपि तन्महिम्नैव, एतच्च सर्वं पुरस्तादेव सविस्तरं भविष्यति, इति नेहायस्तम्, तस्माद्युक्तमुक्तम् 'अस्वतन्त्रस्य कर्तृत्वं न कदाचिदपि उपपन्नम्' इति, स हि कुम्भकारादिर्जडे शरीरादौ गृहीताभिमानः, इति कथं स्वरूपविरुद्धं स्वातन्त्र्यमभ्युपगच्छेत्, तद्धि चिदेकगामि, इति व्यापक-विरुद्धोपलब्धिः ॥ ८ ॥

अतः घड़े के निर्माण के पहले मिट्टी को घड़ा बनाने योग्य किया जाना आवश्यक होता है। मिट्टी के संस्कार में कुम्भकार उपयोगी होता है। उतने मात्र में उसका उपयोग है। संस्कार सम्पन्न मिट्टी होती है। कुम्भकार उसे देखकर कुछ सोचता है। मिट्टी के अतिरिक्त उसके मन में चिकर्षित या प्रकल्पित घड़ा उदय होता है। उसके चित्त में एक आकृति परिस्फुरित होती है। उतने से तो घड़े का बाह्यावभास नहीं हो जाता।

ऐसी स्थिति में परमेश्वर शिव की इच्छा का चमत्कार आरम्भ होता है। कुम्भकार और गोंदी-सनीं मिट्टी के लोंदे की आपसी अपेक्षा के आधार पर शिव की इच्छा शक्ति ही घड़े रूप कार्य को जन्म देती है। कुम्भकार के मन में यह झूठा अभिमान होता है कि मैंने इस घड़े को या इन कुंडे पुरवे आदि मृन्मय वस्तुओं को बनाया है। यह अभिमान भी शिवेच्छा शक्ति के महत्त्व की ओर ही संकेत करता है। इसलिये यह कहना युक्तिसंगत है कि 'अस्वतन्त्र में कर्तृत्व कभी भी उपपन्न नहीं होता'। कुम्भकार और कुम्भकार सदृश अन्य कर्त्ताओं में जड़ शरीर आदि के सम्बन्ध में अभिमान होता है। इनका यही रूप है। उनकी अपनी इच्छा के विरुद्ध और उनकी अपनी आकृति के विरुद्ध नवनिर्मित स्वातन्त्र्य की उनमें कल्पना नहीं की जा सकती। वह स्वातन्त्र्य तो मात्र चितिका ही धर्म है। कुम्भकार आदि परतन्त्र संकुचित प्रमाताओं का धर्म नहीं। अतः यह व्यापक विरुद्ध विचारों की उपलब्ध परम्परा नितान्त अमान्य है ॥ ८ ॥

स्वतंत्रता च चिन्मात्रवपुषः परमेशितुः ।

चो ह्यर्थे ॥

ननु लोके शास्त्रे च जडस्यापि स्वातन्त्र्यात्मकं कर्तृत्वमभ्युपेयते, तथा च काष्ठानि ज्वलन्ति, प्रधानं जगन्मतमिति, तत् किमेतदुक्तं 'जडे स्वातन्त्र्यं नोपपन्नम्' इति ? इत्याशङ्क्याह

स्वतन्त्रं च जडं चेति तदन्योन्यं विरुध्यते ॥ ९ ॥

जहाँ तक स्वतन्त्रता का प्रश्न है, वह चिन्मात्र शरीर संवलित सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का ही धर्म हैं। उसकी स्वतन्त्रता ही उसके कर्त्तृत्व की बोधिका है। वह स्वतन्त्र कर्त्ता है। कर्त्तुम् अकर्त्तुम् अन्यथा कर्त्तुं समर्थ है, कोई दूसरा नहीं।

लोक व्यवहार में और शास्त्र में उभयत्र जड़ का भी कर्त्तृत्व दृष्टिगोचर होता है। जहाँ कर्त्तृत्व होता है, वहाँ स्वतन्त्रता भी होती हैं। यदि जड़ में कर्त्तृत्व होगा तो उसमें स्वतन्त्रता भी होगी ही। ऐसी दशा में ऊपर प्रतिपादित ईश्वर स्वातन्त्र्य की सिद्धान्त वादिता सन्देह के घेरे में आ जाती है। हम कहते हैं कि 'लकड़ी जल रही है' 'जगत् ही प्रधान है' वृक्ष बढ़ रहा है आदि-आदि। इन प्रयोगों में कर्त्तृत्व है और लकड़ी के जलने में तथा जगत् के प्रधान होने में उनकी स्वतन्त्रता भी परिलक्षित है। ऐसी अवस्था में यह कहना कि 'जड़ में स्वातन्त्र्य अनुपपन्न है'। उचित प्रतीत नहीं होता।

इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं कि यह हो ही नहीं सकता कि वह स्वतन्त्र भी हो और जड़ भी हो। इसमें परस्पर विरोध है। स्वातन्त्र्य की परिभाषा स्वयं प्रकाशन की शक्तिमत्ता है। परप्रकाशमानता ही जड़ता है। इन दोनों में कभी तादात्म्य सम्भव नहीं है। स्वतन्त्र को परतन्त्र नहीं कह सकते। स्वप्रकाशमानता परप्रकाशमानता नहीं हो सकती। इनमें कोई संसर्ग हो ही नहीं सकता क्योंकि ये दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं।

स्वातन्त्र्यं हि स्वप्रकाशत्वमुच्यते, जाड्यं च परप्रकाश्यत्वमुच्यते, न चानयोस्तादात्म्यं संसर्गो वा भवेदित्युक्तं 'तदन्योन्यं विरुध्यते' इति, अत एव च तज्जडं वस्तु संविन्निष्ठत्वात् तद्व्यवस्थायाः स्वात्मसिद्धावपि परं स्वप्रकाशात्मकं प्रमातारमपेक्षते, इति स्वातन्त्र्यं कथं जडस्य स्वरूपसंनिविष्टं स्यात् ॥ ९ ॥

तदाह

जाड्यं प्रमातृतन्त्रत्वं स्वात्मसिद्धिमपि प्रति ।

यत्तु लोके शास्त्रे वा जडस्यापि कर्तृत्वं, तत्स्वतन्त्राधिष्ठानादिना चोपचरितप्रायम्। ननु मा भूत कर्तृत्वं, कारणत्वमेव भविष्यति, यत् सुस्पष्टं जडाजडयोरपि संगतिमियात् ? इत्याशङ्क्याह

इसलिये कोई जड़ भी अपनी क्रिया के लिये स्वप्रकाशात्मक प्रमाता की अपेक्षा करता है। लकड़ी स्वयं नहीं जलती। जलाई जाती है। जलाने में भी आग में ऊष्मा परप्रमाता परमेश्वर प्रदान करता है। जगत् की प्रधानता मायापाश की प्रोज्जासक परम्परा के कारण है। जड़ स्वयं संविन्निष्ठ है। वह उसकी व्यवस्था है। उसका 'स्व' रूप सिद्ध है फिर भी उसे स्वतन्त्र परप्रमाता की अपेक्षा है। उसमें स्वयं कर्त्तृत्व नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता जड़ के 'स्व' रूप में सन्निविष्ट नहीं हो सकती ॥ ९ ॥

जाड्य जड़ता है। यह वस्तु का धर्म है। वस्तु का 'स्व' रूप सिद्ध होता है। वह संविन्निष्ठ होता है। वहाँ उसकी व्यवस्था है। उसकी स्वात्मसिद्धि है। लकड़ी है। वह जड़ है। वह जलती है। जलने के लिये उसे जलाने वाले की अपेक्षा है। घड़ा बनता है। बनने के लिये कुम्भकार को अपेक्षा है। वस्तु में जाड्य है और कुम्भकार में प्रमातृतन्त्र है। वह घड़ा बनाता है। पर दोनों में कर्त्तृत्व नहीं माना जा सकता। स्वात्मसिद्धि की दृष्टि से दोनों अधूरे हैं। पर प्रकाश्य हैं। उनको स्वप्रकाश परमेश्वर के कर्त्तृत्व संप्रेषण की अपेक्षा होती है। तभी आग जलेगी, लकड़ी को जलायेगी। कुम्भकार में प्रमात्रंश होगा। उसके आन्तर अर्थ को बाहर आभासित होने का तन्त्र मिलेगा। तब घड़ा आकार ग्रहण करेगा।

न कर्तृत्वादृते चान्यत् कारणत्वं हि लक्ष्यते ॥ १० ॥

स्यादेवं, यद्यर्थस्य बाह्यताभासनात् अन्यत् कार्यत्वं भवेत्, यावता हि अन्तराभासमानस्यार्थस्य तथारूपापरित्यागेनैव वहिराभासनं नाम कार्यत्वं, ततश्च यदपेक्षयैव अन्तरवस्थितोऽर्थः तदपेक्षयैवान्तरवस्थितो बहिर्भवेत्, प्रमातुरेव चान्तःस्थितोऽयमिति, तत एव बहिर्भायान्नान्यतः, इति स एव घटादौ कार्ये

इसीलिये लोक में जहाँ जड़ में कर्त्तृत्व की बात कही जाती है, उसमें यही रहस्य है। यह कहना उपचार मात्र है कि लकड़ी जलती है, घड़ा बनता है, सूरज उगता है आदि। शास्त्र में भी इस प्रकार के वाक्यों के अर्थ उपचारात्मक ही होते हैं। ध्यान यह देना चाहिये कि उभयत्र स्वतन्त्राधिष्ठान की स्थिति क्या है ?

मान लीजिये मिट्टी संविन्विष्ठ है। संविद् परिवेश में उसकी व्यवस्थिति है। स्वात्म प्रतिनियत भाव से मृदा के परमाणुओं से मिट्टी को स्वात्म स्वरूप सिद्धि हुई है। वह वस्तु बन गयी है। उसमें जाड्य है। वस्तु की स्वरूप सिद्धि के प्रति जड़ता है। प्रमातृतन्त्रत्व भी स्वरूप सिद्धि के प्रति ही है। लकड़ी की कर्त्तृता में और कुम्भकार की घटकर्त्तृता में स्वप्रकाशात्म परमेश्वर रूप प्रमाता की अपेक्षा होती है। सारा कर्तृत्व मूलतः परमेश्वर में ही समाहित है।

एक प्रश्न उठता है कि उनमें कर्त्तृत्व न होने की बात मान लेने के बाद उनमें कारणता ही क्यों न मानलें ? मृदा घट की कारण है। घट का कुम्भकार कारण है। इस मान्यता के अनुसार कहीं कोई असंगति नहीं रह जाती है। इसका समाधान कर रहे हैं कि, ऐसा तब अवश्य होता जब अर्थ के बाहर अवभास के अतिरिक्त दूसरा कोई कार्य होता।

यहाँ अन्तर में आभासमान अर्थ का अपना आन्तर रूप परित्यक्त होता है और उसी का बाह्यावभास रूप कार्य होता है। जिसकी अपेक्षा से सर्वप्रथम अर्थ का आन्तर अवभासन और आन्तर अवस्थान होता है, उसी की प्रेरणा या अपेक्षा से अर्थ बाहर भी आभासित होता है।

कारणं, न तु जडं मृदादि—तदपेक्षयास्य अन्तर्बहिराभासाभावात्, प्रमातुश्च न कर्तृत्वात् अन्यत् कारणत्वम्, इति युक्तमुक्तं 'कर्तृत्वमात्रसतत्त्वं जडस्य कारणत्वं न युज्यते' इति ॥ १० ॥

ननु अयमेवंविधो भावस्वभाव एव यत् अस्मिन् सतीदं भवतीति, अन्यथा हि भावान्तर्भावेऽपि अभवत् तस्मिन् सति भवति, इति कथं स्यात्, न च अभूताकारभावनमन्तरेण अन्यत् किंचित् कार्यकारित्वम्, इति स्थित एव 'बीजाङ्कुरादौ भावे भावात्मा कार्यकारणभाव' इति, यद्धर्मालङ्कारः

'भाव एव परस्येह कार्यताभाव ··········· ।' इति ।

'स्वभावो जनकोऽर्थानामभूताकारभावकः ॥' इति च ।

यह भी निश्चित है कि पहले प्रमाता के अन्तर में अर्थ अवस्थित होता है । उसी से बाहर भी आता है । इसलिये घट निर्माण रूप कार्य में कुम्भकार रूप प्रमाता ही कारण हो सकता है, मिट्टी नहीं । मिट्टी में बाहर अवभासित करने की शक्ति नहीं । वह जड है और कुम्भकार में प्रमातृतन्त्रत्व है । उसमें जो कारणत्व है, वह कर्तृत्व के अतिरिक्त कुछ नहीं । यह—उसका कर्त्तृत्व भी पर प्रकाश परमेश्वर की अपेक्षा रखता है । 'कर्तृत्व रूप कारणता जड में नहीं होती' यह उक्ति उक्त आधार पर युक्ति संगत है ॥ १० ॥

भाव स्वभाव के सम्बन्ध में एक नया विचार प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि

'इसके होने पर हो यह होता है । अन्यथा भावान्तर्भाव की स्थिति में भो न हो रही वस्तु उसके होने पर हो जातो है । जैसे (मिट्टो, हवा, खाद और पानी के योग से) बीज के होने पर अङ्कुर होता है । यह भाव का 'स्व' भाव है । दूसरो स्थिति में मिट्टी भाव पदार्थ है । उसमें घड़े का अन्तर्भाव है, पर वह हो नहीं रहा है—अभवत् है । वह (चक्र चीवर आदि पदार्थों और) कुम्भकार के होने पर होता है । इसके होने पर होना और उसके होने पर न होना दो अवस्थायें जाड्य और प्रमातृतन्त्रत्व की ओर सङ्केत करती हैं । पहली भावस्वभाव दशा है । दूसरी अन्यथा भाव दशा है ।

न च स्वभावमुत्सृज्य भावानामन्यत् किंचिदपेक्षणीयम्, इति किमत्र चेतनानुप्रवेशनेन ? इत्याशङ्क्याह

तस्मिन्सति हि तद्भाव इत्यपेक्षैकजीवितम् ।
निरपेक्षेषु भावेषु स्वात्मनिष्ठतया कथम् ।। ११ ।।

बौद्धानां हि नैकस्यैव भावस्य कार्यकारणभावो, नापि द्वयोः यौगपद्येन घटपटवत्, न च क्रमिकत्वेऽपि अनैयत्येन नीलपीतादिज्ञानवत्, न च नियत-

---

जहाँ तक कार्य के सम्पादन का प्रश्न है—वह तो एक ऐसी दशा है जहाँ एक वस्तु अभी आकार ग्रहण नहीं कर सकी थी, वह नये आकार में आ गयी। यही अभूताकार भावन है। वस्तुतः यही कार्य के होने की दशा है। मुख्य विषय कार्यकारण भाव है। उक्त दोनों अवस्थाओं में बीज और अङ्कुर आदि उदाहरणों द्वारा प्रथम कारण भाव से द्वितीयकार्य भाव का होना रूप कार्यकारणभाव ही सिद्ध होता है। 'धर्मालङ्कार' के दो उद्धरण कार्य कारण-भाव के समर्थन में प्रस्तुत कर रहे हैं—

१—भाव से पर भाव का होना ही कार्यता भाव है। २—भावों का स्वभाव है जनक भाव। वे अन्य भावों को जन्म देते हैं। जनकत्व ही अभूताकार भावकत्व है!

इन दोनों उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि अपने स्वभाव को छोड़ कर भाव कुछ अन्य की अपेक्षा नहीं करते। इसलिए भाव व्यापार में चेतना को अनुप्रवेश की क्या आवश्यकता? क्यों यह माना जाय कि अभूताकार भावन में परमेश्वर स्वातन्त्र्य ही मूल कर्त्ता है जिससे पर प्रकाश वस्तु का प्रकाशन हो जाता है? अस्वतन्त्र पदार्थ में कभी किसी अवस्था में भी कर्तृत्व की कल्पना भी नहीं होगी? इन आशङ्काओं का निराकरण प्रश्न के माध्यम से ही इस श्लोक द्वारा कर रहे हैं—

चूँकि 'उसके होने पर ही वह भाव अस्तित्व में आता है' यह किसी की अपेक्षा पर निर्भर है। जो निरपेक्ष भाव हैं, उनमें स्वात्मनिष्ठ रूप से अपेक्षा की कल्पना क्यों?

इसे समझें। बौद्ध मतवादी मानते हैं कि १—एक ही भाव में कार्य-कारण भाव नहीं होता। २-दो पदार्थों में एक ही साथ एक ही समय कार्य

क्रमिकत्वेऽपि पूर्वभावि कार्यं, पश्चाद्भावि च कारणम्, अपि तु नियतपूर्वभावं कारणं, नियतपरभावं च कार्यम् इति उक्तम्, तस्मिन् कारणाभिमते बोजादावेव सति तस्य कार्याभिमतस्याङ्कुरादेरेव अभूतपूर्वतया अवश्यंभाव इति, नियमश्चात्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्, (पा० सू० २-३-३७) इति सप्तम्याक्षिप्तो, यदन्यस्मिन्सति अभवत् तस्मिन्नेव सति भवतीति, स्यादेतत् एवं जडानां क्रियत्वि नियमो न भवेत्, यत् सति घटे धूमोऽपि स्यात् किन्तु न नैयत्येन इति, नियमे हि अन्योन्यापेक्षा जीवितम्, सा च जडानां न संभवति, ते हि स्वात्ममात्रपरि-

---

कारणभाव नहीं होता। जैसे घट पृथक् वस्तु पट पृथक् वस्तु हैं। इनमें यौगपद्य से यह नहीं हो सकता। पट के न होने पर भी घट बनता है। ३--नील प्रतीति और पोत प्रतीति की क्रमिकता नियत नहीं है। ऐसी प्रतीतियों में भी कार्य-कारण भाव नहीं होता। ४--जहाँ क्रमिकत्व नियत है, वहाँ भी पहला कार्य और दूसरा कारण नहीं हो सकता अपितु नियत पूर्व वस्तु कारण और नियत पश्चाद्भावि वस्तु कार्य हो सकती है। कुल मिलाकर यस्मिन् सति यद् उत्पद्यते और यस्मिन्न सति यत् न उत्पद्यते वही उस कारण का कार्य हो सकता है। मान लीजिये कारण बीज है। इसके होने पर हो कार्याभिमत अङ्कुर की अभूतपूर्व उत्पत्ति होतो है। बौद्ध उत्पाद, अनुत्पाद और प्रतीत्य समुत्पाद की दृष्टि से कार्यकारण भाव का विचार करते हैं। बीजाङ्कुर जैसे स्थलों में वे छः धातुओं की समवायि कारणता भी स्वीकार करते हैं।

पाणिनि सूत्र है—'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (पा० अष्टा० २।३।३७) जिसकी क्रिया से क्रियान्तर की उत्पत्ति लक्षित हो वहाँ सप्तमी विभक्ति होती है। यहाँ मुख्य विचारणोय वात है कि 'यत्' अन्य पदार्थ है। उसमें भाव रूप क्रिया हुई। यह अन्य पदार्थ बीज है। भाव अङ्कुर है। यह बीज के रहने पर ही होता है। यह नियम है।

एक अन्य जड वस्तु का उदाहरण लें। जैसे घड़ा है। घड़े के रहने पर धुँआ हो यह नियत नियत नहीं है। जहाँ उसके रहने पर उसके होने की बात है, वहाँ एक दूसरे को एक दूसरे की अपेक्षा होती है। अङ्कुर होने के लिये बीज का होना मूलभूत आवश्यकता है। एक दूसरे की अपेक्षा ही भावोत्पत्ति सिद्धान्त

निष्ठितत्वादन्योन्यवार्तानभिज्ञाः, इति कस्मिन् सति किं स्यात्, नन्वग्निधूमावेव तथा परिदृश्यमानौ अन्योन्यात्मतामनासादयन्तावपि अन्यथा भवन्तौ नियतावित्युच्येते न तु नियमो नामापरः कश्चित्पदार्थो योऽनयोरन्योन्यापेक्षां प्रसञ्जयेत्, तदग्नेरयमेव नियमो—यत्तस्य पश्चान्नाधूमः, तस्याप्ययमेव—यत् ततः पूर्वं नानग्निः, इत्यनयोः स्वात्ममात्रपर्यवसिग्रम् अनन्यस्पर्शितया विशिष्टं रूपमेव कारणता कार्यता च, इति न कश्चिदपेक्षार्थः, ?

का प्राण है। जड वस्तुओं के साथ उनकी जड़ता का दुर्भाग्य जकड़ा हुआ है। वे स्वात्म मात्र में ही परिनिष्ठित हैं। उन्हें एक दूसरे की स्थिति का ज्ञान नहीं होता। वे क्या जानें कि किसके रहने पर क्या होगा ? घड़ा घड़ा है। वह तो यह भी नहीं जानता। उसके रहने पर धुँआ हो या न हो, उससे क्या मतलब ? धुँआ भी ऐसा ही है। उससे घड़े से क्या लेना देना। दोनों स्वात्ममात्र निष्ठ हैं। नियति नियन्त्रित हैं। नियत हैं।

जहाँ तक आग और धूम का प्रश्न है। यद्यपि वे एक दूसरे से अनभिज्ञ हैं फिर भी साथ साथ होते हैं। ऐसी स्थिति में भी दोनों जड़ है और नियत हैं। जैसा ऊपर नियम बनाया गया है कि दोनों को किसी की अपेक्षा नहीं होती-- वैसा नियम आग और धूम के विषय में नहीं बनाया जा सकता। यहाँ तो दोनों को दोनों की अपेक्षा है। यह नहीं कह सकते कि आग के बाद धूम नहीं होगा अथवा यह भी कि धुएँ के पहले आग नहीं होगी या अधूम या अनग्नि की अवस्था में भी नहीं होगो। यहाँ जो कार्य कारण भाव है, वह स्वात्ममात्र में पर्यवस्थित है। होने के बाद एक दूसरे से उनकी छुआछूत तक नहीं। यहाँ विशिष्ट विलक्षण प्राकृतिक नियम है, जिससे उनकी कारणता और कार्यता एक दूसरे पर निर्भर करतो है। इसमें कोई आपेक्षिक रहस्य भो नहीं पर अपेक्षा तो है। विना आग के धुआँ होगा ही कैसे ?

इस समस्या का समाधान दर्शन रूप प्रमाण ही है। दर्शक को आग के बाद धुँओं का दीख पड़ना ही प्रमाण है। आग जलाने पर अधूम स्थिति असम्भव है। धुएँ के पहले आग ही दीख पड़ती है, अनग्नि मय आग का अभाव नहीं न्याय दर्शन के अनुसार ज्ञान का विपरीत अज्ञान पदार्थ नहीं होता। ज्ञानाभाव होता है। अग्नि का अभाव अनग्नि होगा पर धुएँ से पहले अनग्नि की दशा

अत्रोच्यते—एवं हि दर्शनमात्रमेव प्रमाणीकृतं स्यात्, यत— पुरुषेण अग्नेः पश्चात् धूम एव प्रतीयते, नाधूमः, तस्यापि पूर्वमग्निरेव नानग्निरिति, न च दृश्यानपेक्षात् दर्शनमात्रादेव अर्थतथात्वव्यवस्था न्याय्या इत्यनयोः स्वरूपसंनिविष्टः कश्चिद्विशेषोऽभ्युपगमनीयो, योऽग्निधूमौ तथा नियमयेत्, अन्यथा हि अग्नेः पश्चात् यो धूम एव नापरः स नाग्ने स्वरूपातिशयो, नापि यो धूमात् पूर्वमग्निरेव नापरः स धूमस्य, इति कथमेवंभावो भवेत्, नहि परः परस्य स्वरूपमतिशाययति, न च बहुशोऽपि दैवयोगात् पुरुषेण घटादनन्तरं पटो दृष्ट इति तयोः परस्परयोर्निरपेक्षयोरपि तावता किंचित् नियामकं ज्ञातेयमुदियात् येनावश्यं पौर्वापर्यं स्यात् ।

नहीं होती । जैसे प्रकाश के अभाव में प्रकाशाभाव रूप तम हो जाता है । तम भी न्याय दर्शन के अनुसार पदार्थ नहीं प्रकाशाभाव है । आग पदार्थ है । रूप पदार्थ के अभाव में अनग्नि दशा नहीं होती । आग रहती ही है ।

यह नहीं कह सकते कि यहाँ दृश्य की कोई अपेक्षा नहीं होती । धुआँ ज्योंही दीख पड़ता है, तुरत पदार्थ का रूप प्रतिभासित हो जाता है । सारी स्थिति साफ हो जाती है । धुँआँ तो दीख ही पड़ा, आग भी वहाँ स्थित है, यह तात्कालिक अनुभूति स्वाभाविक होती है । आग का और धुएँ का पदार्थनिष्ठ एक ऐसा वैशिष्ट्य यहाँ स्वीकार करना चाहिये, जो आग और धुएँ की पारस्परिकता का नियामक हो । अग्नि से उत्पन्न विरलश्याम रंग का पदार्थ है क्या ? क्या वह अग्नि के अतिरिक्त है ? क्या वह आग से अलग है ? अनग्नि है ? या साग्नि है ? या नाग्नि का ही स्वरूपातिशय वैशिष्ट्य है ? यह एकान्त की एकाग्रता में चिन्तन करें कि क्या है ? तरह तरह के तर्क उदित और अस्त होते हैं । इन्हीं तर्कों, सत्तर्कों, विचारों ऊहापोहों से और जिज्ञासाओं से दर्शनों की सृष्टि होती है । धुआँ उठने के पहले आग थी । क्या वह भी तो धूम के अलावे कोई दूसरा पदार्थ नहीं ? यह सब कैसे घटित होता हैं ? बाद की जन्मी कोई वस्तु परवस्तु होती है । वह अपने रूप गुण की विशेषता से भरी पूरी होती है । वह किसी दूसरे पदार्थ के आतिशय्य को आक्रान्त नहीं कर सकती ।

संयोग वश ऐसा भी होता है कि किसी पुरुष ने घड़ा देखा । उसके बाद उसे एक कपड़ा दिख गया । घट और पट दो निरपेक्ष पदार्थ हैं । इनमें परस्पर कोई लगाव नहीं ।

एवं च कृत्तिकारोहिण्युदययोरपि कार्यकारणभावो भवेत्—यदुदितासु कृत्तिकासु नियमेन रोहिण्युदयः इति, अथ कृत्तिकाभ्यो रोहिणीनामभूतपूर्वतया नोदयः—पूर्वदिनेषु तथा दृष्टत्वात्, इति चेन्न, एतद्धि धूमेऽपि समानं, यत् तस्यापि पूर्वदिनेषु वह्निनैरन्तर्येणोदयो दृष्ट इति।

ननु पूर्वस्य सामर्थ्यात् परस्य भावः कार्यकारणभावः, स च न कृत्तिका-रोहिण्युदययोः संभवति—ध्रुवावबद्धं हि नक्षत्रचक्रं युगपदेव नित्यं प्रवहदवस्थितं, किन्तु घटीयन्त्रवत् क्रमेण परिवर्तमानं दृश्यते, येनायमनयोः पूर्वापरत्वेनावसायो,

---

दैवात् पहले घट दीख पड़ा बाद में पट। पर विचारों की वारिदमाला में तर्क की तड़ित कौंध सकती है और कह सकती है कि हो न हो इनमें कोई सम्बन्ध है। यही कारण है कि यहाँ पहले घड़ा दीख पड़ा और फिर कपड़ा।

कृत्तिका नक्षत्र के बाद ज्योतिष् शास्त्र में रोहिणी नक्षत्र की गणना होती है। कृत्तिका का उदय हुआ। अपने काल का उपभोग कर वह गयी। अब रोहिणी आयी। यहाँ पौर्वापर्य की सामान्य दृष्टि है। ऐसी स्थिति में कार्य-कारण भाव का भी उदय हो सकता है। कृत्तिकाओं के उदय के बाद ही रोहिणी उदित होती है। कृत्तिकायें पूर्ववत् उदित अस्त होती रहती हैं और रोहिणी भी उसके बाद उदित अस्त होती रहती हैं। इनमें रोहिणियों के अभूत-पूर्व उदय नहीं होते। यथा पूर्व यह प्रक्रिया चलती रहती है।

प्रश्न है कि क्या आग से धुएँ की उत्पत्ति में भी यही क्रम है? कृत्तिका रोहिणियों की तरह यह तो होता है कि पहले से ही आग के बाद धूम उत्पन्न दीख पड़ता है। यदि हम धूम के आधार पर यह नियम बनायें कि 'पूर्व पदार्थ के सामर्थ्य से पर पदार्थ की उत्पत्ति होती है' तो यह नियम रोहिणी कृत्तिका में लागू नहीं होगा। क्योंकि कृत्तिका रूप पूर्व नक्षत्र-सामर्थ्य से रोहिणी उदित नहीं होती अपितु स्वयं प्राकृतिक क्रम से उदित होती है। सारा नक्षत्र मण्डल ध्रुव से अभिनिबद्ध है या निश्चित गतिशीलता के सिद्धान्त से प्रेरित है। घटी यन्त्र की तरह नित्य परिवर्त्तमान दीख पड़ता है। इनका पूर्वापर क्रम किसी लक्ष्य को लेकर नहीं अपितु प्रकृति से क्रियमाण ऋतुचक्र पूरणार्थक स्वात्मोल्लास मात्र है।

न तु स्वरूपसंनिविष्टः कश्चिद्विशेषः। नन्विदं हि नाम भवद्गृहे पूर्वस्य सामर्थ्यं गीयते यत् तदभावादभूतोऽपि परः तस्मिन् सति भवन् दृश्यते इति, यद्धर्मालंकारः

'तत्र सामर्थ्यं हि तस्य जनकत्वं, तच्च यदि
तस्मिन्सति न भवति कथं नाम तत्सामर्थ्यम् ?
अथ भवति कथमसामर्थ्यं स्यात्।' इति।

त्रैकाल्यपरीक्षापि

'अथ च प्रागसन्भावः कारणे सति दृश्यते॥' इति।

तच्चात्रापि समानं, यत् कृत्तिकोदयात् पूर्वमभवन्नपि रोहिण्युदयः तस्मिन् सति भवन् दृश्यते इति, तत् सर्वथा समानेऽपि विधौ कृत्तिकारोहिण्युदययोः कार्यकारणभावो नास्ति, धूमाग्न्योश्चास्ति इति निर्निबन्धनः कथमसौ

इस विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि 'नियतपूर्वभाव ही कारण है और नियत परभाव ही कार्य है' यह मान्यता सदोष है। पहले घट पुनः पट दर्शन तथा कृत्तिका के बाद रोहिणी उदय उदाहरणों से नियतपूर्वभाव कारणत्व और नियतपरभाव कार्यत्व का नियम खण्डित हो जाता है और यह किसी की घरेलू बात नहीं कि पूर्व पदार्थ के अभाव में असंभूत पर पदार्थ उसके होने पर ही होता या दीख पड़ता है यह बात कभी नहीं मानी जा सकती क्योंकि घट के होने पर पट हो यह जरूरी नहीं।

धर्मालङ्कार का एतद्विषयक दृष्टिकोण भी ध्यातव्य है। 'ऐसे प्रसङ्गों में पदार्थ का सामर्थ्य ही महत्त्वपूर्ण है। उसी में जनकत्व है। पूर्व पदार्थ के रहते हुए भी पर पदार्थ यदि नहीं होता है तो इस अवस्था में पूर्व पदार्थ का सामर्थ्य तो प्रयुक्त नहीं हुआ। उसमें जनकत्व भी नहीं हो सकता। यदि उसी से उसकी उत्पत्ति होती है तो पूर्व पदार्थ का असामर्थ्य भी कैसे कहा जा सकता है ?

त्रैकाल्य परीक्षा के विचार की परीक्षा भी इसी सन्दर्भ में करें—

"पहले उसका (कार्य रूप पदार्थ का) भाव नहीं था। कारण के रहते उसका प्रादुर्भाव दीख पड़ता है।"

कृत्तिका रोहिणी के उदाहरण से त्रैकाल्य परीक्षा की यह बात मेल खाती है। कृत्तिका के उदय से पहले रोहिणी का उदय नहीं था। यह प्रागसन्भाव है। कृत्तिका के रहते ही रोहिणी का उदय हो जाता है। यह कारणे सति दृश्यते की तरह है। फिर भी कृत्तिका

विभागः श्रद्धातव्यः स्यात्, तस्मात् कार्यकारणयोः स्वरूपसंनिविष्टं किंचिज्ज्ञातेय-मभ्युपगमनीयं यस्यान्वयव्यतिरेकौ स्याताम्, ज्ञापकेन हि सर्वत्र वस्तुनि संभवदेव रूपं ज्ञाप्यते, नान्यथा, तथात्वे वा भ्रान्तिः स्यात्—इति न वस्तु ज्ञापितं भवेत्, न च तदपेक्षामपहाय अन्यत् किंचित् भवितुमर्हति, सा च द्विविधा—अन्योन्यानुषङ्गितात्मिका अभिप्रायात्मिका वा, न च उभय्यपि सा कार्यकारणतया संमतानां जडानां संभवति, अन्योन्यानुषङ्गिता हि द्वयोरर्थयोः परस्पररूपत्वात् वह्न्यौष्ण्ययोरिव सत्तायामैकात्म्यम्, एकतरापाये पुनः परस्य सत्तैव न स्यात्—उष्णत्वाभाव इव वह्नेः, न च कार्यकारणयोरेवंभावोऽस्ति—परस्परविविक्ततया अग्निधूमयोः प्रतिभासात्, तथात्वे धूमाभावेऽग्निरेव न भायात् तदभावेऽपि वा धूम इति प्रत्यक्षविरोधः स्यात्, द्वितीया चानुसंधानरूपा,

---

रोहिणी में कार्य कारणभाव नहीं माना जा सकता। धूम और अग्नि में कार्य कारण भाव है। इसलिये ऐसी कोई अनर्गल बात कैसे स्वीकार की जा सकती है जो कहीं लागू होती है और कहीं नहीं। यह नियम-विभाग श्रद्धास्पद नहीं कहा जा सकता।

अतः कार्यकारण भाव के स्वरूप में सन्निविष्ट किसी ऐसे विशिष्ट सम्बन्ध का सर्वस्वीकार्य स्वरूप स्वीकार करना होगा जिस पर किसी को विप्रतिपत्ति न हो और अन्वय व्यतिरेक नियम-निकष पर जो निकषायित किया जा सके। यह तो मानते ही हैं कि ज्ञापक के द्वारा सर्वत्र वस्तुमात्र से उत्पन्न रूप का ही ज्ञापन किया जाता है। अनुत्पन्न का ज्ञापन नहीं किया जा सकता। ऐसा होने पर भ्रान्ति अपने विभ्रम का संभार भर देने की भीति उत्पन्न कर देगी। वस्तु का ज्ञापन तो असंभव ही हो जायगा। वस्तु की अपेक्षा के विना दूसरा भाव कैसे हो सकेगा?

अपेक्षा भी दो प्रकार की होती है। १—परस्पर ऐकात्म्यभाव से ओत-प्रोत या अनुषक्त अथवा पारस्परिक रूप से अर्थतः निर्भर। जैसे आग की दाहिका शक्ति और आग, अथवा आग की दाहिका और पाचिका शक्तियाँ। आग और उष्णता की तरह जड वस्तुओं का कार्यकारण भाव नहीं होता। आग न रहे तो उष्णता का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। उष्णता आग का धर्म है। धर्म-धर्मिभावैक्य यहाँ है। जड पदार्थों के कार्यकारणभाव में यह स्थिति नहीं होती। आग और उष्णता परस्पर सापेक्ष हैं। वह्नि में गर्मी न रहे तो वह क्या रहेगा?

यथा—भोक्तुरन्नं प्रति, भोक्ता हि अन्नं प्रति सापेक्षोऽपि अन्नानुषङ्गितया न प्रतीयते, किं तु तदस्य संविदि अभिमुखीभावमेति, येनायं तदभिलाषाद्यात्मना अनुसंधानेन तत्र प्रवर्तते, न चैवं कार्यकारणयोः संभवति—तयोर्जडत्वात् परस्परस्य स्वरूपमनुसंधातुमसामर्थ्यात्, तत्सर्वथा जडानां किंचित् ज्ञातेयं विना कार्यकारणभावो नोपपन्नः, इत्येव स्थितम् ॥ ११ ॥

ननूक्तमेवात्र ज्ञातेयं—यत् कारणस्य पूर्वत्वं कार्यस्य च परत्वम् इति, पूर्वसत्ताप्रयोजकीकारेण हि परस्यापूर्वतया सत्ताविर्भावः, अत एव न भविष्य-द्वर्तमानयोः तदाविर्भावने सामर्थ्यं, तावन्तरेणापि तस्य भावात्, पूर्वस्य हि प्रागेव सत्त्वात् तदाविर्भावने सामर्थ्यं, न भविष्यतः—तदानीं तस्याकिंचिद्रूपत्वात्,

---

आग और धूम परस्पर पृथक् प्रतिभासित होते हैं। अन्योन्यानुषङ्गितात्मकता इनमें नहीं होती। धूमाभाव में क्या अग्नि का भान नहीं होता ? अवश्य होता है। आग में हवन हुआ। धुआँ कमरे में भर गया। आग का ताम्रकुण्ड कमरे से हटा लेने पर भी धूम भरा रहता है। होना तो यह चाहिये आप के कथना-नुसार कि आग के हटने पर धूम भी हट जाता। पर ऐसा नहीं होता।

दूसरी अपेक्षा अनुसन्धान रूपा होती है। जैसे भोक्ता की अपेक्षा अन्न के प्रति होती है। आप भोजन करते हैं। रुचि के अनुकूल सदन्न पक्वान्न ग्रहण करते हैं। कभी अन्न से अनुषङ्ग गहन लगाव, संयोग, साहचर्य या मेल आदि कर भोजन नहीं किया जा सकता 'अपेक्षा तो है पर अनुसङ्गितात्मकता नहीं है' भोक्ता की संविद् शक्ति में अन्न के प्रति आभिमुख्य का उच्छलन होता है। परिणामतः अन्न की ओर अभिलाष और रुचि होती है। वह उसका अनुसन्धान करता है और भोजन में प्रवृत्त होता है। कार्यकारणभाव में ऐसा कुछ नहीं होता। जडता-वश वस्तुसत्ता में परस्पर स्वरूपानुसन्धान करने का सामर्थ्य नहीं होता। इस प्रकार हर तरह से यही निष्कर्ष निकलता है कि विना किसी ज्ञातेय (सम्बन्ध) के कार्यकारणभाव सम्भव नहीं ॥ ११ ॥

यहाँ नया प्रश्न उपस्थित कर रहे हैं। स्थिति यह है कि पहले कारण होता है। पुनः कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। यह एक प्रकार का ज्ञातेय भाव है। यह कारण-कार्य का पूर्वपश्चाद्-भाविसम्बन्ध होता है। इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि पूर्व की सत्ता प्रयोजन या निमित्त है। उसको साधन बना कर परसत्ता का प्रादुर्भाव होता है। यह उद्भव अपूर्व होता है।

वर्तमानश्च समानकाल उच्यते, समानकालत्वं च लब्धसत्ताकयोर्भवति, न च तदानयोः किंचित् कर्तव्यमवशिष्यते—यदेकस्यान्येन क्रियेत, इति पौर्वापर्यमात्रमेव कार्यकारणयोर्ज्ञातेयमित्याह

स पूर्वमथ पश्चात्स इति चेत्पूर्वपश्चिमौ ।
स्वभावेऽनतिरिक्तौ चेत्सम इत्यवशिष्यते ॥ १२ ॥

इसके पहले यह आविर्भाव नहीं होता या असत्कार्यानुसार सत्ता में नहीं रहता। इसमें भविष्यद् या वर्त्तमान काल आड़े नहीं आते। उस सत्ता को उद्भूत करने की शक्ति इनमें नहीं होती। इनके विना भी यह हो सकता है। क्योंकि पूर्व सत्ता तो पहले ही वर्तमान है। उद्भावन का सामर्थ्य उसमें सुरक्षित है। भविष्य का तो कोई प्रश्न ही नहीं क्योंकि उस समय भविष्य की ही सत्ता नहीं होती।

वर्त्तमान विद्यमान काल को कहते हैं। यह समान काल-धर्मिता उन दो पदार्थों में स्वाभाविक है, जो एक साथ सत्ता में हैं। ऐसी स्थिति में भविष्य और वर्त्तमान दोनों की इस विषय में कोई इति-कर्त्तव्यता नहीं रह जाती कि एक द्वारा दूसरे की कुछ मदद ही की जाय।

इस स्थिति में यहीं मानना उचित लगता है कि पौर्वावर्यमात्र ही कारणकार्य का ज्ञातेय (सम्बन्ध) है। इस जिज्ञासा पर आचार्य अपना मन्तव्य प्रकाशित कर रहे हैं—

कारण पहले हैं और कार्य बाद में है, इस कथन का लक्ष्य क्या है ? यदि यह केवल पूर्व और पर भाव है या स्वात्म से अतिरिक्त या अनतिरिक्त भाव है, तो भी दोनों में समत्व ही स्वीकरणीय लगता है।

इसे स्पष्ट रूप से यों विचार करें—कारणकार्य की दृष्टि से चाहे वह अग्नि और धूम हो या मिट्टी और घट हो इन उदाहरणों में पूर्व और पर भाव क्या है ? क्या पूर्व का स्वभाव पर में अतिरिक्त हो जाता है या बदल जाता है ? क्या मिट्टी और घड़े में सात्त्विक रूप से कोई अन्तर नहीं होता ? दोनों अनतिरिक्त ही रहते हैं ? ये दो प्रश्न सामने आते हैं। इनमें पहला विल्कुल अमान्य है। क्या किसी के घर में पहले रहने वाली वस्तु जो सत्ता में है, वह उसके अतिरिक्त कुछ अन्य हो जाती है ? नहीं, वही रहती है असत् भी नहीं होती।

नन्वनयोः पूर्वत्वं परत्वं च किं स्वभावादतिरिक्तमनतिरिक्तं वा, तत्र नाद्यः पक्षः—नहि भवद्गृहे पूर्वत्वाद्यपि किंचिद्वस्तु सदस्ति यत्तदतिरेकेण सत्तामियात्, व्यवहारमात्रसिद्धत्वे वा तस्य कार्यकारणभावोऽपि एवं स्यादिति स्वसिद्धान्तभङ्गः—कार्यकारणभावस्य वस्तुस्वभावत्वेनाभ्युपगमात्, यद्धर्मालंकारः

'तदेवमयं वस्तुस्वभाव एव कार्यकारणभावो-
न तु व्यवहारमात्रसिद्धः ।' इति ।

अनतिरेकपक्षे च कार्यकारणत्वेन संमतं भावद्वयमेवावशिष्यते इति न तयोः ज्ञातेयं किंचिदुक्तं स्यात्, न च भवद्दर्शने धूमाग्न्योर्धूमाग्निरूपतां विहाय अन्यः कश्चित् कार्यकारणाभावात्मा विशेषः, अत एव चात्राभ्युच्चयबुद्धिनिर्ग्राह्यत्वमुक्तं यत् न केवलमयमग्निर्धूमो वा यावत् कारणमपि कार्यमपोति । नन्वेवं वदद्भिर्भवद्भिरनक्षरमेव धूमाग्निरूपताया अन्यत् कारणत्वं कार्यत्वं चोक्तम्, तथाहि —यद्यग्नित्वमेव कारणत्वं तत्प्रतीतेऽग्नित्वे

व्यवहारमात्र के निर्वाह की दशा में भी कार्यकारण भाव विपरीत नहीं होता। यह वस्तु के स्वभाव से ही अवगत होता है। सोने का गहना सोने से अतिरिक्त स्वभाव वाला नहीं होता। कार्य सर्वदा कारण के अनुरूप ही प्रादुर्भूत होता है।

धर्मालङ्कार की मान्यता है कि, "इस तरह कार्यकारण भाव वस्तु के 'स्व' भाव पर निर्भर होता है। व्यवहार मात्र सिद्ध कोई अन्य भाव नहीं।"

दूसरा पक्ष अनतिरिक्त स्वभाव का है। उसके अनुसार कारण के अतिरिक्त कार्य नहीं होता। भाव तो बस दो ही हैं। एक कारण भाव और दूसरा कार्य भाव। इन दोनों में कोई अतिरिक्त जब है ही नहीं तो इन भावों का ज्ञातेय क्या हो सकता है? सम्बन्ध तो दो भिन्न पदार्थों में ही हो सकता है। आपके किसी के दर्शन में धूम अपना धूमत्व रूप कार्यत्व छोड़ कर अन्य कोई कार्यकारण भावरूप धर्म विशेष स्वीकार नहीं करता। अग्नि भी अपना अग्नित्व रूप कारणत्व नहीं छोड़ सकता। अतः धूम और आग में धूमत्व और अग्नित्व रूप कार्यकारण भाव सर्व स्वीकृत तथ्य है। इसके अतिरिक्त कोई विशेष कार्यकारण भाव नहीं हो सकता।

'एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् ।
कोऽन्यो न भागो दृष्टः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥

इत्याद्युक्तयुक्त्या किमिति न तत् प्रतीयात्, येनाभ्युच्चयबुद्धिनिर्ग्राह्यत्वमपि अस्य स्यात् ? सत्यमेवं किं तु विकल्पस्य एतद्दौरात्म्यं—यदग्नित्वमवस्यन्ने-

---

अतः अभ्युच्चय(वृद्धि या आगम) की बुद्धि (ऊहापोह या निर्णय भाव) से निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यह न केवल धूम ही या आग ही हैं अपितु कार्य भी और कारण भी हैं। अभ्युच्चय बुद्धि निर्ग्राह्य वह वस्तु-स्वभाव होता है जिससे वस्तु के पूरे परिवेश और परिप्रेक्ष्य की सीमाओं के सन्दर्भ व्यक्त होते हैं। यह विचार विमर्श पर निर्भर होता है। सभी सामान्यतया आग को देखते हैं। उसकी दाहकता और पाचकता से परिचित हैं। जो आग की गुणधर्मता की वैचारिक गहराई में प्रवेश करता है, वही यह निर्णीत रूप से बुद्धि द्वारा ग्रहण कर सकता है कि आग में जलाने की, पकाने की और धूम उत्पन्न करने की धारणा भी है। आग में कारणत्व का दर्शन बुद्धि निर्ग्राह्य ही है।

इस सन्दर्भ में एक नई जिज्ञासा का उदय होता है। वस्तुतः शब्द से जो अर्थवाच्य होता है, वह उसके अक्षर संयोग पर निर्भर करता है। उसी आधार पर अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। जब विना इसके विमर्श के आधार पर अभिव्यक्ति होती है, तो इसे अनक्षर उक्ति कहते हैं। पूर्वपक्ष यही कह रहा है कि धूमाग्नि की शब्दावली में या अक्षररचना में कार्यकारणता की उक्ति तो अनक्षर उक्ति है। इस कथन से वह भी सिद्ध हुआ कि अग्नित्व ही कारणत्व है। धूमत्व ही कार्यत्व है।

इस प्रसङ्ग में एक तथ्यपरक सदुक्ति भी विचारणीय है। "एक अर्थ का, वस्तु का एक 'स्व' भाव होता है। वह वस्तु प्रत्यक्ष है। उसका स्वभाव भी प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष वस्तु का सारा भाग अर्थात् पूर्ण स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। फिर वह कौन भाग है जो दीख नहीं पड़ता ? उस अदृष्ट भाग की प्रमाणों से परीक्षा की आवश्यकता होती है। अदृष्ट भाग की सिद्धि के लिये प्रमाणों की अपेक्षा स्वाभाविक है।" इस युक्ति सम्मत उक्ति के अनुसार कारणता के दर्शन भी अग्नि में होने चाहिये ? अभ्युच्चयबुद्धिनिर्ग्राह्यता भी तभी सिद्ध होगी।

तावदेव अवस्यति, न कारणत्वमपि—येनैवं प्रतीत्यन्तराभ्युच्चयः, ननु विकल्पेन चेत् तथावसितं तावता कः प्रतीत्यन्तराभ्युच्चयार्थः, नहि गौः शुक्ल इत्येवमादिष्वभ्युच्चयबुद्धया किंचित् कार्यम्, एतद्विकल्पस्य स्वशिल्पनैपुणं यदभिन्नमपि भेदयति भिन्नमपि संसृजतीति, अथ प्रतिभासमूलमेवं विकल्पस्य माहात्म्यम्, इह तु न तथा, नहि कारणत्वं कार्यत्वं वा संनिवेशादिवत् अर्थातिशयरूपं, येन अनयोः प्रातिभासिकत्वं स्यात्, अथ च प्रतीयमानरूपस्वभावत्वेन क्षणिकत्ववदवस्थाप्येते इत्यस्त्यत्र अभ्युच्चयबुद्धया कार्यं, नहि आकारशून्योऽर्थः स्यात् अवेद्यं वा वेदनं तदग्न्याकार एव धूमकारणताया

इस पर राजानक जयरथ कह रहे हैं कि हाँ, यह बात तो सही है। पर विकल्प कलाप की यही असमर्थता है। अग्नि भी मेय है। विकल्प है। प्रत्यक्ष है पर नश्वर है। इसका नाश होता है। मान लें कि अग्नि नष्ट हो गया, पदार्थत्व समाप्त हो गया पर उसकी कारणता नहीं समाप्त हुई। बुझते-बुझते अङ्गार की ऊपरी राख की परत में छिपो छोटी भी छनक कुछ भी क्षार करने में सक्षम होती है। विकल्प के क्रमिक ह्रास में कारणत्व का ह्रास नहीं होता। परिणामतः प्रमाता की प्रमा के परिवेश में कारणत्व की अनक्षर प्रतीति उल्लसित होना भी स्वाभाविक हो जातो है। यही प्रतीत्यन्तराभ्युच्चय है। विकल्प वस्तु की प्रत्यक्ष गोचरता की अनुभूति में नयो प्रतीति की वृद्धि है।

इस विचार को एक दूसरा विचार बाधित कर रहा है। विकल्प के अवसित होने पर प्रतीत्यन्तराभ्युच्चय की बात सोचना ठीक नहीं। उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। प्रयोग कर्त्ता गाय के विषय में बोलता है—'गौः = शुक्लः' गाय धवलरंगी है, धौरी है। इसमें अभ्युच्चय बुद्धि क्या कर सकती है? वह तो विकल्प का शिल्प नैपुण्य है, उसकी रचना धर्मिता की विशिष्टता है कि अभिन्न में भेद का उल्लास हो जाता है और कभी भिन्न को भी संश्लिष्ट कर नई सर्जना कर देता है।

विकल्पों की यह महत्ता है कि उनका प्रतिभास होता है। वे जैसे हैं वैसे उजागर होते हैं। 'गाय धौरी है' इसमें किसी अनक्षर प्रतीति को अवकाश नहीं। हम किसी वस्तु में किसी पदार्थ का सन्निवेश करते हैं। उससे नयी प्रतीति सम्भव है। जैसे एक कपड़ा है। उसमें कसीदे का एक फूल काट दिया

आकारो यत्र प्रतीत्यन्तराभ्युच्चयो भवेत्, सत्यमस्त्येवं, किं तु अग्न्याकारादन्य एव धूमकारणताया आकारः, अन्यथा हि अन्त्यावस्थामप्राप्तोऽपि अग्निः कथं न धूमं जनयेत्, नहि तादवस्थ्यमप्राप्तोऽग्निरग्निर्न स्यात्, क्षणिकत्वं च योगिनां प्रतीयमानात् नीलरूपात् अन्यदेव पर्यवस्येत्, नीलादिकं हि निवृत्त्यनिवृत्त्युभयधर्मसाधारणरूपं, क्षणिकत्वं पुनर्निवृत्त्येकधर्मस्वभावं, यत् प्रामाण्यं

गया। इस कसीदाकारी की कला से प्रतीत्यन्तर की सम्भावना है। पर यहाँ तो बिलकुल नहीं। कोई सन्निवेश नहीं। कोई अर्थातिशय नहीं। अर्थातिशय का नव सन्निवेश रूप कोई आधार भी नहीं, जिससे कार्यकारण भाव का प्रतिभासन भी यहाँ इन दोनों में हो सके।

इस सम्बन्ध में यह भी सोचना होगा कि इन दोनों के स्वभाव की कोई और विशेषता है? हाँ, इनकी प्रतीयमान रूपता तो है ही। उनमें क्षणिकत्व प्रतोति निरन्तर स्पन्दित है। इसलिये यहाँ अभ्युच्चय बुद्धि को आवश्यकता होती है। यह निश्चित है कि कोई वस्तु यदि आकार शून्य है या अवेद्य है, तो वह अर्थ सत्ता नहीं प्राप्त कर सकती है। कोई उस प्रकार का वेदन भी नहीं होता जो अवेद्य हो। इसलिए धुएँ की कारणता का आकार भी अग्नि का आकार ही होगा। जिससे प्रतीत्यन्तर का अभ्युच्चय हो सके। कारणता के आकार की अभ्युच्चय बुद्धि से प्राप्त आकृति अग्नि की आकृति ही हो सकती है।

इस स्थिति में सोचना होगा कि क्या अग्नि का आकार और धूमकारणता का आकार वस्तुतः एकवत् ही है? क्या प्रतीत्यन्तर का अभ्युच्चय सम्भव है? यदि ऐसा होता तो अन्त्यावस्था को अप्राप्त अग्नि अवश्य ही धुआँ पैदा करता। पर ऐसा नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उस अवस्था को प्राप्त अग्नि-अग्नि नहीं है।

यहाँ क्षणिकत्व की प्रतीति क्या है, इस का स्पष्टीकरण करते हुए कह रहे हैं कि योग मार्ग के सिद्ध पुरुषों को उसका जो रूप यहाँ प्रत्यक्ष है, उसके अतिरिक्त भी प्रत्यक्ष हाता है। अग्नि में या धूम में नीलत्व आदि का अनुदर्शन होता है। यह दा प्रकार का होता है। उसकी निवृत्ति भी होती है। अनिवृत्ति भी दीख पड़ती है। यह उभयात्मकता वहाँ होती है।

'निवृत्तिधर्मता हि सा' इति, तस्मात् भास्वराद्याकारत्वं नामाग्नित्वं; धूमानुविहितान्वयव्यतिरेकत्वं च कारणत्वं, पाण्डुराद्याकारत्वं च धूमत्वम्, अग्न्यन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं च कार्यत्वम् इति धूमाग्निरूपतातिरिक्तं कार्यत्वं कारणत्वं चानुक्तसिद्धमेव, अन्यथा हि कार्यकारणत्वेन संमतं भावद्वयं विशरारुप्रायं पर्यवस्येत् ॥ १२ ॥

ननु भवत्वेवं, नहि कार्यकारणभावात्मा कश्चित् संबन्धोऽस्माकं विवक्षितः, सर्व एव हि भावाः स्वात्ममात्रपर्यवसिता एव ? इत्याशङ्क्याह

क्षणिकत्व भी तो निवृत्ति धर्मात्मक ही होता है। एक स्थान पर यह उक्ति है कि—

"क्षणिकता निवृत्ति धर्मता ही है।"

इसलिये यह निर्वचन किया जा सकता है कि भास्वररूपता आदि धर्म अग्नि धर्म हैं। धुएँ की उत्पत्ति अनुत्पत्ति सम्बन्धो जो अन्वय व्यतिरेकता है, वह कारणता है। पाण्डुरता आदि धर्म धूम्रता है और धूम को अग्नि से उत्पत्ति या अनुत्पत्ति सम्बन्धी जो अन्वयव्यतिरेकता है वह कार्यता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि धूम में और अग्नि में धूमता और अग्निता की सत्ता के अतिरिक्त कार्यता और कारणता की सत्ता का आधार अनुक्तसिद्ध है। ऐसा न मानने पर कार्यत्व और कारणत्वरूप यह दोनों भाव ही बिखर जायेंगे। अर्थात् धूमत्व में कार्यत्व और अग्नित्व में कारणत्व अन्योन्याश्रय रूप से विद्यमान हैं॥ १२ ॥

उक्त विचारों और उनके सभी तर्कों को यथावत् मान लेने पर भी त्रिकदर्शन की मुख्य मान्यता का प्रश्न अभी अधर में लटक रहा है। कार्यकारण भाव सम्बन्ध पर तो हम बल देते नहीं। हम तो यह मानते हैं कि सृष्टि के सभी भाव चाहे वे कार्य हों या कारण, सभी स्वात्ममात्र पर्यवसित हैं। उनकी स्वात्म संविद् सत्ता तो नित्य है। उसके अतिरिक्त तो उनका प्रतिभासन ही असम्भव है। इस दृष्टि से पदार्थ को पदार्थ की अपेक्षा नहीं अपितु संविद् शक्ति की अपेक्षा होती है। पदार्थ-पदार्थ परस्पर निरपेक्ष अर्थात् अपेक्षा शून्य होते हैं। इस जिज्ञासा का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

बोजमङ्कुर इत्यस्मिन् सतत्त्वे हेतुतद्वतोः ।
घटः पटश्चेति भवेत् कार्यकारणता न किम् ॥ १३ ॥

अस्मिन्सतत्त्व इति परस्परमपेक्षाशून्य इत्यर्थः, किं न भवेदिति, परस्परनैरपेक्ष्यस्य अविशेषात् । अत्रापि कार्यकारणभावो भवतु, इति यावत् । इह खलु अपेक्षाशून्यत्वात् जडानां कार्यकारणभावो न भवेत्—इत्युपपादितम्, अथ च लोके बीजादङ्कुरो जायते इत्येवमाद्यात्मिका प्रतीतिः, इत्यवश्यं केनचित् चिद्रूपेण प्रमात्रा भाव्यं, यत्र विश्रान्तं सत् भावद्वयं कार्यकारणव्यपदेशपात्रतामासादयेत् । नहि चिदात्मकैकप्रमातृविश्रान्तिमन्तरेण अत्यन्तविशरारूणां सिकतानामिव जडानां भेदाभेदात्मा संश्लेषः स्यात्, अत एव कर्तृकर्मभावसतत्त्व एव कार्यकारणभावः, इति—नः सिद्धान्तः, यदुक्तम्

वस्तुतः बीज बीज है और अङ्कुर-अङ्कुर । दोनों समान तत्त्व हैं । इसी तरह घट और पट हैं । घट अलग पदार्थ है और पट अलग वस्तु है । दोनों परस्पर निरपेक्ष हैं । इस दशा में हेतु और-और हेतुमान् इन दोनों के अपेक्षा-शून्य रहने पर भी क्या कार्य कारणता नहीं हो सकती ? यह तो लोक में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है । इसमें कोई विशेष बात नहीं । यह स्पष्ट है कि परस्पर निरपेक्ष दो पदार्थों में कार्यकारण भाव अस्वाभाविक है । जैसे घट और पट । ये परस्पर निरपेक्ष हैं । अतः इनमें पौर्वापर्य तो हो सकता है कार्यकारण भाव नहीं । यदि अपेक्षा की कल्पना की जाय, जैसे कपास का पौधा सींचने में घड़ा काम आया । कपास से रूई और उससे पट बना । पर यह दूर की कौड़ी फेंकने के समान है ।

जड़ बीज भी निरपेक्ष और अङ्कुर भी निरपेक्ष । इनमें कार्यकारण भाव को सिद्धि यद्यपि होनी नहीं चाहिये पर होती है । अतः हम यह मान कर चलते हैं कि इन दोनों में कोई चिन्मय प्रमाता शाश्वत उल्लसित है । उसी में विश्रान्त ये दोनों भाव कार्य और कारण संज्ञा के आधार बन जाते हैं । अत्यन्त निरपेक्ष विखरने को प्रवृत्ति के प्रतीक बालुकाकण की तरह जड़ पदार्थों में चिदात्मक एक प्रमाता में विश्रान्ति के अतिरिक्त भेदाभेद रूप संश्लेष हो ही नहीं सकता ।

'जडस्य तु न सा शक्तिः सत्ता यदसतः सतः ।
कर्तृकर्मत्वतत्त्वैव कार्यकारणता ततः ॥' इति ।

ततश्चेतत् युज्यते—यत् कृषीवलो बीजादङ्कुरं जनयति, ईश्वरश्च शृङ्गात् शरमग्नेर्वा धूममिति ॥ १३ ॥

नन्वेवं बीजाङ्कुरयोर्भेदे सति एकप्रमातृविश्रान्तिमात्रात् कारणत्वं कार्यत्वं च न सिद्ध्येत्, एवं घटपटाभासयोरपि तादूप्यं स्यात्—सर्वावभासानां प्रमातर्येव विश्रान्तेः तत् तयोरैकात्म्यमेव अङ्गीकार्यं, येन कारणमेव तत्तद्रूपतया परिणमत कार्यमित्युच्यते ? इत्याह

इसलिये कार्यकारण भाव को कर्त्तृकर्मसतत्त्व मानना ही उचित है। बीज में बैठी हुई संवित् शक्ति ही कर्त्री है और अङ्कुर उसका कर्म । इस सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि,

"जड़ में वह शक्ति ही नहीं कि असत् से सत् की उत्पत्ति कर दे। इसलिये यहाँ कर्तृ-कर्म-भाव माना जाना चाहिये। यही कारण कार्य भाव भी है।"

इसलिये यह युक्तियुक्त मान्यता है कि खेतिहर किसान बीज से अङ्कुर उत्पन्न करता है। ईश्वर शृङ्ग से शर (रस कण्डे की घास) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ है। वही सर्वशक्तिमान् परमात्मा अग्नि से धूम उत्पन्न करता है। इसलिये इसे कर्तृकर्म भाव कहना उचित है। इसे कोई कारणकार्यभाव कहे तो इसमें भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये ॥ १३ ॥

बीज और अङ्कुर की भेदात्मक स्थिति है। इसमें एक प्रमाता में विश्रान्ति की बात मात्र से कारणत्व और कार्यत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है ? घट और पट का अवभास भी एक प्रमाता की विश्रान्ति से ही होता है। फिर घटाभास और घटाभास में भी ताद्रूप्य कल्पना को आधार मिल जायेगा। क्योंकि सारे अवभास तो प्रमाता में विश्रान्ति के फलस्वरूप ही होते हैं। इसलिये इनमें कार्यकारण भाव की अपेक्षा इनकी एकात्मकता अधिक न्याय संगत प्रतीत होतो है। इसके अनुसार हम यह कह सकते हैं कि कारण ही उन-उन पार्थक्य प्रथित रूपों में प्रथित होकर कार्य कहलाने लगता है। इसका स्पष्टीकरण करने के लिये कारिका की अवतारणा कर रहे हैं—

बीजमङ्कुरपत्रादितया परिणमेत चेत् ।

इह तावत् सर्व एव भाववर्गः परिनिष्ठितनिजरूप इति बीजं चेत् बीजं कथमिवाङ्कुरादिरूपतामियात् अतथास्वभावस्य तथास्वभावायोगात्, नहि कदाचित् घटोऽपि पटः स्यात् ।।

तदाह

अतत्स्वभाववपुषः स स्वभावो न युज्यते ।। १४ ।।

अथोच्यते—बीजस्येयानेव स्वभावो, यत्—क्रमेणाङ्कुराद्यात्मनावतिष्ठते इति 'एकमेव हि वस्तुक्रमविचित्रस्वभावम्' इति सत्कार्यवादिनः ।। १४ ।।

बीज ही अङ्कुर कोरक, किसलय पल्लव, पत्र शाखा और प्रशाखाओं में परिणत हैं। यदि ऐसा ही है, तो इस मान्यता में दोष आ जायेगा कि जिसका जो स्वभाव नहीं—वह उसका स्वभाव नहीं हो सकता।

नियम यह है कि सारा भाववर्ग स्वात्ममात्र में परिनिष्ठित है। बीज बीज रूप में परिनिष्ठित है। बीज का परिनिष्ठित स्वात्म रूप बीज ही है। 'जो जिसका स्वभाव नहीं वह उसका 'स्व'भाव नही हो सकता' इस नियम के अनुसार बीज का बीजत्व हो उसका 'स्व' भाव है। उससे अगला अङ्कुर आदि उत्पन्न होना अस्वाभाविक है क्योंकि अतथा भाव तथाभाव नहीं हो सकता। जैसे घड़ा कभी कपड़ा नहीं बन सकता। इसी तरह बीज भी अङ्कुर नहीं बन सकता। इस नियम के अनुसार यहाँ यह दोष स्वभावतः होने लगेगा।

कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि बीज का यही स्वभाव है कि वह क्रमशः अङ्कुर कोरक किसलय आदि में परिणत होता है। सत्कार्यवादियों की यह मान्यता है कि,

'एक ही वस्तु क्रमिकवैचित्र्यचारु और परिगति-स्वभाववान् होती है।'

इस मान्यता के अनुसार वीज से अङ्कुर आदि का उपबृंहण स्वाभाविक ही लगता है ।। १४ ।।

अत आह

स तत्स्वभाव इति चेत्

ननु यद्येवं तर्हि बीजमङ्कुरो वा बीजत्वमात्र एवाङ्कुरत्वमात्र एव वा रूपे विश्रान्तेः बीजस्याबीजात्मकमङ्कुराद्यपि अन्त्यं रूपं संभवेत्, अङ्कुरस्य चानङ्कुराद्यात्मकम् आद्यं बीजाद्यपीति ? तदाह

तर्हि बीजाङ्कुरा निजे ।

तावत्येव न विश्रान्तौ तदन्यात्यन्तसंभवात् ॥ १५ ॥

न चैकमेव वस्तुद्व्यात्मकं संभवेत्, इत्यवश्यं केनचिदेकेन भाव्यं, यस्य—बीजाङ्कुराद्यात्मना विचित्रोऽयमाकारः प्रस्फुरेत् ॥ १५ ॥

तब तो यह बीज आदि का स्वभाव ही माना जाना चाहिये ?

ऐसा मानने पर बीज बीजत्व मात्र और अङ्कुर अङ्कुरत्व मात्र में विश्रान्त माने जायेंगे। जब बीज से अङ्कुर उत्पन्न होंगे तो यह कहा जा सकता है कि बीज से अबीजात्मक अङ्कुर उत्पन्न हुआ। यह उसका अन्तिम रूप है। उसी तरह अङ्कुर से भी अनङ्कुरात्मक पहला बीज रूप भी उत्पन्न होता है।

ऐसी स्थिति में बीज और अङ्कुर अपने स्वात्मरूप में ही विश्रान्त नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनके अतिरिक्त अन्त्य रूप में परिणति की सम्भावना अनिवार्य है।

नियम यह है कि एक वस्तु दो वस्तु रूपात्मक नही हो सकती। बीज और अङ्कुर के उदाहरण से यह आकलन अकारण नहीं हो सकता कि इन दोनों में कोई एकात्मक तत्त्व है जो बीज बन गया है, वही अङ्कुर और वही कोरक से पुनः बीज तक की यात्रा का आनन्दोत्सव रूप अदृश्य समारोह उल्लसित करने में शाश्वत संलग्न है। वही आकार वैचित्र्य की चारुता में चराचर की चिरन्तन चर्या का संचालन करता है ॥ १५ ॥

तदाह

ततश्च चित्राकारोऽसौ तावान्कश्चित्प्रसज्यते ।

नन्वभीष्टमेवैतदस्माकम् ? इत्याह

अस्तु चेत्… … … … ।

ननु एवमपि कथमेकस्यैव परस्परविरुद्धं बीजत्वाबीजत्वाद्यात्मकमाकार-द्वयं संभवेत् ? इत्याह,

…………न जडेऽन्योन्यविरुद्धाकारसंभवः ॥ १६ ॥

नहि एक एव घटो लोहितश्चालोहितश्च भवेदिति भावः, स्यादेतत्—एवं यदि युगपच्चित्रत्वमभ्युपगच्छेम किं तु क्रमेण, इति को विरोधार्थः ॥ १६ ॥

अत आह

क्रमेण चित्राकारोऽस्तु जडः किं नु विरुद्धचते ।

विचित्र आकार के प्रस्फुरण के सम्बन्ध में स्पष्ट कर रहे हैं कि,

जो आकृति स्फुरित होती है वह विस्मयमयी होती है। विचित्र आकार एक नये आयाम को जन्म देता है। बीज आकार की उन्मिषत् अवस्था से उन्मिषित अवस्था तक की यात्रा किसी विश्वकर्मा की निर्मिति-प्रसक्ति सृष्टि का एक रहस्य है। पर समस्या का समाधान जहाँ का तहाँ रह जाता है। होता यह है कि बीज एक वस्तु से परस्पर विरुद्ध अबीज का आकार बनता कैसे है ? यह तो बोज से बीज और अबीज दो भावों का स्फुरण हुआ। इसे कैसे स्वीकार किया जाये ?

बात सही है। 'जड़ से अन्योन्य विरुद्ध आकार सम्भव नहीं है' यह नियम है। भला एक ही लोहित वर्णी घड़ा अलोहित कैसे हो सकता है ? हाँ चित्रकार की चित्राकार चित्रकारिता में यह विचित्रता चलती है। निर्माता अपनी निर्मिति में स्वतन्त्र होता है। क्रमशः वह कुछ भी कर सकता है। वहाँ विरोध के लिये कोई अवकाश नहीं होता ॥ १६ ॥

यत् सत्कार्यसिद्धिः परिदृश्यमानमेव भावशरीरं स्वभावभूतेन क्रमेण तथा तथा भवतीति

'एक एव स आकारः क्रमचित्रो हि तत्त्वतः ।
स्वस्वरूपनिमग्नं तद्वैचित्र्यं सर्वमश्नुते ॥' इति च,

'जड' इति, अजडं हि चित्रविज्ञानादि युगपत् चित्रमपि भवेत् इति भावः 'किं नु विरुध्यत' इति लोहितोऽपि हि घटः क्रमात् निमित्तान्तरेणापि अलोहितोऽपि स्यात् ॥

क्रमचित्र सत्कार्यवाद का समर्थन करता है। नियम यह है कि कारक व्यापार के पहले भो कार्य की सत्ता रहती है। क्रमशः उसकी अभिव्यक्ति होती है। तिलों में तेल है। अभिव्यक्त नहीं है। कारक व्यापार तिलों का कोल्हू में पिसना है। पेरने पर तिल व्यक्त हो जाता है। दूध में दही है। जमने से दही और मन्थन से दही से घी अभिव्यक्त होते हैं। गायों में दूध हैं। दुहने से वह अभिव्यक्त होता है। बीज में वृक्ष है। खाद पानी मिट्टी हवा के सहचार और सहकार से क्रमशः वृक्ष अभिव्यक्त हो जाता है। यही क्रम चित्र है। क्रमशः चित्र का आकार, चित्र से आकार अथवा चित्रवर्णी आकार का सृजन होता है। वहाँ कार्य सत् है। अतः यह सत्कार्यवाद है।

इसीलिये आचार्य कहते हैं कि क्रम से चित्राकार की प्रक्रिया हो इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहों। जड़ अन्य को अभिव्यक्त नहीं करता यह नियम भी इसमें आड़े नहीं आयेगा। जड़ चित्र अजड़ चित्र-विज्ञान को व्यक्त करता है। लाल घड़ा भी क्रमशः कारणवश सफेद हो सकता है।

सत्कार्यवाद में कह दिया जाता है कि परिदृश्यमान भावशरीर स्वाभाविक कारणों से क्रमशः चित्रात्मक हो जाता है। कहा गया है कि—

"वह एक आकार है। क्रम चित्र में तात्त्विक रूप से परिवर्त्तित है। इसे उसके स्वात्म 'स्व' रूप में निमग्न होना भी कहते हैं। उसका यह वैचित्र्य है। सभी इस क्रमिकता की परिणति का उपभोग करते हैं।"

एक जिज्ञासा क्रम के विषय में होती है। वस्तुतः क्रम है क्या? समकालिकता और समसामयिकता रूप यौगपद्य में क्रम होता है। यह वस्तु

ननु क्रमो यौगपद्यं वा न वस्तुनः स्वरूपे कश्चिदतिशयः, अपि तु संविदः, संवित् हि घटादनन्तरं पटं प्रतियती समं वा क्रमाक्रमावुत्थापयेत्, न तु वस्तुनः स्वरूपादधिकः कश्चिदक्रमः क्रमो वा भवेत्, इत्येकस्मिन् वस्तुनि क्रमाभ्युपगमेऽपि न विरुद्धधर्माध्यासो व्युपरमेत ? इत्याह

क्रमोऽक्रमो वा भावस्य न स्वरूपाधिको भवेत् ॥ १७ ॥

तथोपलम्भमात्रं तौ······

'न स्वरूपाधिको भवेत्' इति—न कश्चिदित्यर्थः, अत्र हेतुः 'तथोपलम्भमात्रं तौ' इति, उपलम्भो हि क्रमेण अन्यथा वा भवन् क्रमाक्रमाभ्यां भावस्वरूपं व्यवहारयतीति ॥ १७ ॥

के स्वरूप में कोई आतिशय्य नहीं है। हाँ यह संविद् द्वारा स्फुरितात्मक अतिशय माना जा सकता है। संवित् वह तत्त्व है, जो घड़े के बाद कपड़े के प्रति सचेष्ट हो सकता है, अभिलाष कर सकता है।

पदार्थ-पदार्थ को साथ-साथ या अक्रम से या क्रमशः उत्थापित कर सकता है। नियम तो यह है कि वस्तु के स्वरूप से अधिक न तो कोई अक्रम या न तो कोई क्रम होता है। एक ही वस्तु में क्रमिकता के अभ्युपगम में विरुद्ध धर्म का अध्यास या कल्पित आरोप भी तो हो सकते हैं ? वे कैसे रुक सकते हैं ? इस विचार विन्दु को स्पष्ट कर रहे हैं—

किसी भाव में अक्रम या क्रम से कुछ भी हो वह उसके स्वभाव से अधिक नहीं होता। क्रम और अक्रम ये दोनों तद्रूपोपलब्ध वही भाव हैं। उपलम्भ का अर्थ बीज का अङ्कुर से लेकर वृक्ष और पुनः बीज बनने तक की यात्रा में तत्तद्रूपों का भावपरिवर्त्त मात्र है। इसमें बीच के स्वरूप से अधिक कुछ भी नही है। स्वर्णगोलक से स्वर्ण आभूषण कुछ अधिक नहीं होता। मात्र चित्राकार या क्रम चित्र की तद्रूपता है। अतः क्रमाक्रम से भाव स्वरूप के व्यवहार का यह द्योतन मात्र है ॥ १७ ॥

ननु उपलम्भस्यापि एवंभावे किं निमित्तम् ? इत्याह

उपलम्भश्च किं तथा ।

इह खलु उपलब्धा क्रमाक्रमाभ्यामेव तत्तदर्थजातमुपलभते इत्युपलम्भस्यापि क्रमाक्रमायोगः उपलब्धुश्च संविन्मात्ररूपत्वेऽपि क्रमाक्रमोपलम्भस्वभावत्वादेवंभावः ॥

तदेतदाशङ्कते

उपलब्धापि विज्ञानस्वभावो योऽस्य सोऽपि हि ॥ १८ ॥
क्रमोपलम्भरूपत्वात् क्रमेणोपलभेत चेत् ।

अत्रापि स एव पर्यनुयोगः, इत्याह

तस्य तर्हि क्रमः कोऽसौ तदन्यानुपलम्भतः ॥ १९ ॥

उपलभ्यस्य हि उपलम्भमुखेन क्रमाक्रमयोगः उक्तः, तस्यापि उपलब्धृमुखेन, उपलब्धुः पुनरुपलब्ध्रन्तरं नास्ति—अनवस्थापत्तेः, तदस्य कुतस्त्यः क्रमः ? इत्युक्तम् 'तदन्यानुपलम्भतः' इति ॥ १९ ॥

इस प्रकार के उपलम्भ द्वारा इस नये भाव में आने का कारण ढूँढ़ना कोई आवश्यक नहीं। क्रम और अक्रम से इस भाव को जो उपलब्धा उपलब्ध करता है, वह उस-उस भाव स्वरूप को पाता जाता है। उपलम्भ का यही क्रमाक्रम योग है। उपलब्ध करने वाले को संविन्मात्र रूपता में भी क्रमाक्रम भाव है। इस क्रमाक्रम से जो भी उपलम्भ हो रहा है, उसमें उसके अपने ही रूप का उल्लास होता है, जिससे बीज अङ्कुर बन जाता है।

इसमें मात्र संविदुल्लास के विज्ञानातिशयत्वका चमत्कार होता है। बीज उपलब्ध है। वह उपलभ्य अंकुर का उपलम्भ करता है। यह भी वही है। यद्यपि इस प्रसङ्ग में क्रमाक्रम की बात की गयी है पर फिर यही पूछा जा सकता है कि जब उसके अतिरिक्त कुछ नया उपलम्भ ही नहीं हुआ तो फिर क्रमाक्रम की बात ही क्यों ? अतः क्रमाक्रम की अनवस्था को छोड़ कर संविदुल्लास के स्वभाव का अनुभव ही उचित है ॥ १८-१९ ॥

स्वभावपक्षाश्रयेऽपि अस्य नोपलब्धृस्वरूपादाधिक्यं पर्यवस्येत्, इत्याह

स्वभाव इति चेन्नासौ स्वरूपादधिको भवेत् ।

अथ स्वभावभूतत्वात् स्वरूपानतिरिक्तत्वेऽपि क्रमस्य स्वस्वातन्त्र्याद-तिरिक्तायमानतया अवभासनमित्युच्यते, तर्हि अस्मद्दर्शनमेवागतोऽसि, इत्याह

स्वरूपानधिकस्यापि क्रमस्य स्वस्वभावतः ॥ २० ॥
स्वातन्त्र्याद्भासनं स्याच्चेत् किमन्यद्ब्रूमहे वयम् ।
इत्थं श्रीशिव एवैकः कर्तेति परिभाष्यते ॥ २१ ॥

किं नाम चास्य कर्तृत्वम् ? इत्याशङ्क्याह

कर्तृत्वं चैतदेतस्य तथामात्रावभासनम् ।

'तथामात्रावभासनम्' इति, तथा—विचित्रेण रूपेण प्रमातृप्रमेयात्मनां मात्राणामंशानामवभासनम्—अतिरिक्ततयैव प्रथनमित्यर्थः ॥ २०—२१ ॥

स्वभावोपलब्धि को संविदुल्लास हेतुक चमत्कार मानने से उपलब्धा के स्वरूप का पर्यवसान किसी आधिक्य में नहीं अपितु स्व में होता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि यदि यह उसका 'स्व' भाव ही है तो यह स्वरूप से अधिक हो ही नहीं सकता। वह तो स्व के परिवेश में ही रहेगा।

स्वभाव होने के कारण स्वरूप से अतिरिक्त होने का कोई प्रश्न ही नही उठता। क्रम के स्वात्म स्वातन्त्र्य के कारण अतिरिक्त अवभासन की प्रतीति होती है। अतः इसमें संविदुल्लास-दर्शन का ही त्रिक-पक्ष प्रबल सिद्ध होता है—

स्वरूप से अधिक न होने पर भी क्रम का स्व-स्वभाव वश स्वतन्त्र अवभासन ही यदि तथ्य है तो फिर कहना ही क्या शेष रह जाता है? इसलिये त्रिकदर्शन का यह उद्घोष है कि शिव ही एक मात्र कर्त्ता है। उसीं की शाक्त सक्रियता का यह चमत्कार है।

शिव के कर्त्तृत्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

एवं विश्वे पदार्था यथा भगवता स्वेच्छयैवावभासिताः, तथा कार्यकारण-भावोऽपि, इत्याह

तथावभासनं चास्ति कार्यकारणभावगम् ॥ २२ ॥

नन्वेवं बीजाङ्कुरादौ घटपटादौ च सर्वत्र भगवत्कर्तृकर्मविशेषेणाव-भासनम्, इति कथं क्वचिदेव कार्यकारणताव्यवहारः ? इत्याशङ्कयाह

यथा हि घटसाहित्यं पटस्याप्यवभासते ।
तथा घटानन्तरता किं तु सा नियमोज्झिता ॥ २३ ॥

उस रूप में अवभासन ही उसका कर्तृत्व है। यह अवभासन प्रमाता प्रमेय रूप में होता है। यह सारा प्रसार प्रमात्रंश और प्रमेय मात्र में प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होता है। अनतिरिक्त रहते हुए अतिरिक्त की तरह प्रथन ही अव-भासन का स्वभाव है ॥ २०–२१ ॥

सत्य तो यही है कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने जैसे स्वेच्छा से संसार के सारे अनन्त-अनन्त प्रमेयों को अवभासित किया है, उसी प्रकार स्वेच्छा से उस अवभासन में कार्य कारण भाव सम्बन्ध भी संवलित कर दिया है। इस तरह सारा अवभासन कार्यकारण भाव से आगे बढ़ता है और परिचालित हो रहा है। यह मान्यता शास्त्र सम्मत है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त मान्यता में दो बातें मुख्य हैं। पहली बीजाङ्कुर और घट-पट आदि का सर्वत्र भगवत्कर्तृकर्मविशेष रूप से अवभासन और दूसरी, कार्यकार्यकारणभाव से अवभासन। इससे कार्यकारण व्यवहार सब जगह लागू होने की सम्भावना है पर ऐसा होता नहीं। कार्यकारण कहीं-कहीं ही क्वाचित्करूप से लागू होता है। इस पर अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

घट और पट के अवभासन का साहित्य स्वभावतः अवभासित है पर घटानन्तरता नियमोज्झित है। नियम से सदा घट के बाद पट के दर्शन नहीं होते। इसलिये नियम से जिसकी जिसके बाद अधिक रूपान्वय सहित उत्पत्ति या आभास हो, वही उसका कारण होता है।

अतो यन्नियमेनैव यस्मादाभात्यनन्तरम् ।
तत्तस्य कारणं ब्रूमः सति रूपान्वयेऽधिके ॥ २४ ॥

नियमोज्झितेति—तयोर्विपर्ययेण अविशेषेण च दर्शनात् । नन्वेवं बौद्धस्येव तथापि कृत्तिकारोहिण्युदयादौ कार्यकारणभावः प्रसज्येत ?

यहाँ किसी वाद के झमेले में न पड़कर सीधे-सीधे सोचने की आवश्यकता है । मुख्य रूप से यह विचार करना है कि, दो पदार्थों में कार्यकारण भाव मानने का आधार क्या है ? ऊपर कुछ मुख्य बातें कही भी गयी हैं । जिनमें ४ मुख्य हैं । १—सबका कर्त्ता एक मात्र शिव है । २—मात्रा व भासन ही उसका कर्त्तृत्व है । ३—मात्रा व भासन में कार्य कारण भाव का भी समावेश है । ४—बीज और अङ्कुर आदि तथा घट-पट आदि सब में भगवत् कर्त्तृत्व और कर्म विशेष का नियमित अवभासन होता है ।

इस वैचारिक सन्दर्भ में कार्यकारण भाव के विषय में कुछ विशेष रूप से सोचना है । बीज और अङ्कुर को देखें । बीज से अङ्कुर निकला । यहाँ बीज भी दीख पड़ता है, अङ्कुर भी । बीज कारण है अङ्कुर कार्य है । दोनों प्रत्यक्ष हैं । दोनों का साहित्य दीख पड़ता है । अनन्तरता भी दीख पड़ती है । भले ही कुछ दिनों के बाद बीज नष्ट हो जाता है । यह एक उदाहरण है ।

दूसरा उदाहरण लें । घड़ा है । साथ में कपड़ा भी है । दोनों हैं । दोनों का साहित्य प्रत्यक्ष है । दोनों में भगवत्कर्तृकर्मत्व भी है । पहले घड़ा था । बाद में किसी ने कपड़ा लाकर रख दिया । इससे अनन्तरता भी प्रासङ्गिक हो गयी ।

यहाँ एक बात गड़बड़ हो जाती है । बीज से अङ्कुर की अनन्तरता नियमित है । घड़े कपड़े में निरन्तरता नियमित नहीं है । इसे नियमोज्झित आनन्तर्य कहते हैं । नियम ऐसा होना चाहिये जो टूटे नहीं । कारण से कार्य की उत्पत्ति नियमित होती है । अतः घड़े कपडे में कार्यकारण व्यवहार खण्डित हो जाता है ।

एक बात और सामने आती है । कृत्तिका और रोहिणी में ये दोनों बातें मिल जाती हैं । साहित्य भी और आनन्तर्य भी । आनन्तर्य भी नियमोज्झित नहीं है । फिर भी कोई कृत्तिका को रोहिणी का कारण नहीं मान सकता ।

इत्याशङ्क्योक्तं 'सति रूपान्वयेऽधिके' इति। इह तावन्मायापदे घटादेः कार्यस्य मृद्दण्डचक्रादीनि बहूनि कारणानीत्यविवादः, तत्रास्य मृत् उपादानकारणं, यत् सैव शिवकस्तूपकादिक्रमेण अन्यानपेक्षितयानुवर्तते इति, दण्डादि तु सहकारिकारणप्रगुणनपरिवर्तनाद्युपकारमात्रचरितार्थत्वात्, तेन यदीयमेव यस्य रूपं केनचिद्धर्मेणानुयायि भासते तदेव तस्योपादानकारणम् इति, यद्बौद्धा अपि

जब कि मानने का पूरा आधार है। यह नियम का अतिप्रसङ्ग है कि जहाँ नियम नहीं लगना चाहिये वहाँ भी लगने लग जाय। अवभास में कार्यकारण भाव का समावेश स्वीकृत है। वह यहाँ नहीं है।

अतः नया और निर्दोष नियम देने की आवश्यकता होती है। इसलिये जिन बातों का नियम से समावेश होना चाहिये उनका क्रमशः विचार करें। १—कारण के बाद कार्य का नियमित आभासन अनिवार्य हो। २—कार्य में कारण रूप का अधिक अन्वय हो, उपादानता हो। इन दो बातों में कार्यकारण भाव को पूरा आधार मिल जाता है। अव्याप्ति अतिव्याप्ति के दोष भी अब नहीं आपतित होंगे। ये मुख्य विचारणीय विषय हैं। इनको ध्यान में रखकर अन्य सिद्धान्तवादियों के सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जा सकता है।

माया के पद की प्रमेय निर्मिति की एक इकाई घड़ा है। यह कार्य है। घड़ा रूप कार्य के कारणों पर विचार करने से यह जान पड़ता है कि इसके निर्माण में कई कारण हैं। जैसे--मुख्य कारण मृत्तिका का है। दूसरा चक्र है। हैं। तीसरा दण्ड है जिससे कुम्भकार चक्रचालन करता है। चौथा वह सूत्र है जिससे घड़े को लोंदे से अलग करता है। थापी है, जिससे उसकी पेंदी ठीक करता है आदि। इन कारणों में से मिट्टी उपादान कारण है। शिवक[1] और स्तूपक[2] आदि के क्रम से वह बिना किसी की अपेक्षा के घड़े के रूप में परिवर्तित होती है।

---

१. बाँस के या किसी सारिल लकड़ी के उस दण्ड को कहते हैं, जिसके एक सिरे पर पैनी धार का मिट्टी खोदने वाला लोहा जड़ा होता है। उससे कुम्हार टीलों से मिट्टी खोदता है। घड़े में वह भी कारण होता है। इसे खन्ती भी कहते हैं। This just does not go with the text

२. मिट्टी को गोली कर ऐसा बना देना जिससे चक्र पर रखने पर घड़ा बन सके उसी गोली राशि को स्तूपक कहते हैं। भोजपुरी इसे लोंदा कहते हैं।

'अनपेक्षानुवृत्तेश्च भेदेऽप्यर्थान्तराश्रये ।
तस्योपादानहेतुत्वं मृदः कुण्डादिके यथा ॥' इति ।

यत् पुनरेवमाचक्षणैरपि धूमादावनुपादानमेव कार्यत्वमभ्यधायि तत्कारण-विभागानभिज्ञत्वमेव तेषां यतो—धूमस्य नाग्निरुपादानकारणम्, अपि तु

अन्य दण्ड आदि द्रव्य सहकारी कारण हैं। वे उसमें प्रगुणन और परिवर्त्तन आदि उपकार की प्रक्रिया में प्रयुक्त होते हैं। वहीं उनकी चरितार्थता है। इसलिये यह परिभाषा यहाँ घटित होती है कि 'जिसका जो रूप जिस किसी धर्म या गुण से समन्वित होकर रूप परिवर्त्तन तक अनुगत रहता है और प्रकाशित होता है, वही उपादान कारण है।

बौद्ध मान्यता के अनुसार भी "अनपेक्षा, अनुवृत्ति और अर्थान्तराश्रय के कारण भेद होने पर भी उसमें उपादानत्व रहता है। जैसे मिट्टी और उससे निर्मित घड़े के उदाहरण में। मिट्टी से घड़ा बनता है। मिट्टी के घड़े के लिये किसी की अपेक्षा नहीं होती। घड़ा बन जाने से मिट्टी में मिल जाने तक मिट्टी की अनुवृत्ति रहती है। भेद होने पर भी घड़ा मिट्टी मय ही रहता है। अतः घड़े की उपादान कारण मृत्तिका ही मानी जाती है।

वस्तुतः बौद्धों के मूल सिद्धान्त शून्यवाद के अनुसार मिट्टी रूपी सत् को घट के लिये किसी कारण की अपेक्षा नहीं है। असत् को भी कारण की कोई अपेक्षा नहीं होती। जैसे आकाश कुसुम। इसी तरह उभयात्मक और अनुभयात्मक पदार्थ भी अनिर्वचनीय ही होते हैं। पर पदार्थ की उत्पत्ति के सन्दर्भ में इनके विचार भी मननीय हैं। ये कहते हैं कि १—उत्पत्ति के पहले कार्य का अनुपलम्भ होता है। २—कारण की स्थिति में कार्य का निश्चय सम्भव है। ३—कारण के न रहने पर भी यह निश्चय होता है। ४—कार्य के उपलम्भ होने पर कारण का निश्चय सम्भव है और ५—कार्य के न रहने पर भी ऐसा होता है। यह पञ्चकारण कार्य निश्चिय विधि है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में मिट्टी भी उपलब्ध है और तदनुयायि घट भी उपलब्ध है। यहाँ उपादान कारण मिट्टी है। जहाँ तक धुएँ का प्रश्न है, धुआँ कार्य तो है पर उसका उपादान कारण क्या है। कुछ लोग इसे निरुपादान सृष्टि कहते हैं। उनकी यह बात किसी तरह नहीं मानी जा सकती। क्योंकि धुएँ का

आर्द्रेन्धनादि, तथाहि--तुषतुरुष्कादेरुपादानात् अस्य गन्धाद्यप्यन्वयवदवभासते तदेव तस्योपादानकारणम्, लौकिकानामपि अत्र वैदुष्यम्--चन्द्रकान्तोदकद्रवादौ च चन्द्रकान्ताश्रयोपकृताश्चन्द्रकिरणा एवोपादानम्, अन्यथा हि चन्द्रकान्तस्य द्रवीभावे क्षणात्क्षणं प्रक्षयः स्यात्, इत्यलमवान्तरेण ॥ २२-२४ ॥

नन्वेवं रूपान्वयोपकृतः पौर्वापर्यनियमात्मा कार्यकारणभावो यदि वास्तवः तत्कथं व्यभिचरेत् ? इत्याशङ्क्याह

नियमश्च　　　तथारूपभासनामात्रसारकः ।
बीजादङ्कुर इत्येवं भासनं नहि सर्वदा ॥ २५ ॥

भासनामात्रसारत्वे हेतुः--एवं भासनं 'नहि सर्वदा' इति--कदाचित् हि बीजाभावेऽपि अङ्कुरो भवेदिति भावः ॥ २५ ॥

उपादान कारण अग्नि नहीं अपितु गोले इन्धन हैं । तुषाग्नि में तुरुष्क (लोहबान) को बीच में डालकर ढक दीजिये । बड़ी ही सोंधी गन्ध देर तक आती रहेगी । उस गन्ध का या उसमे निष्पन्न विरल धूम का उपादान कारण किसे माना जाय ? कोई दूसरा पदार्थ वह नहीं हो सकता । वह तुष-तुरुष्क ही हो सकता है । यह बात तो सामान्य जन भी अच्छी तरह जानते हैं । ऐसी बातों के लिये किसी शास्त्रोय विद्वान् की आवश्यकता नहीं होती ।

चन्द्रकान्त मणि से अमृतद्रव का स्राव होता है । उससे चाँदनी की मङ्गल मरोचियाँ मिलती हैं और चन्द्रकान्त अमृत उड़ेलने लगता है । इसमें हिमांशु की शोतल रश्मियाँ ही उपादान कारण कहीं जाती हैं । यदि ऐसा नहीं होता तो चन्द्रकान्त के अनवरत द्रव होने के परिणाम स्वरूप क्षण-क्षण में प्रक्षय हो जाता है । क्षपाकर भी उसे अक्षय रखने में सक्षम नहीं हो पाते । इसलिये उपादान कारण में "सति रूपान्वयेऽधिके" का सिद्धान्त ही सर्वथा ग्राह्य है ॥ २२-२४ ॥

कार्य कारण भाव के दो वैशिष्ट्य प्रमुख हैं । १—पौर्वापर्य भाव और रूपान्वयोपकृति । इसमें विकार को सम्भावना नहीं है । हाँ कहीं कहीं इसमें कुछ विचित्रता आ जाती है ।

इसलिये उक्त दोनों कारणकार्य भाव के नियम में उन रूपों में आभासन मात्र का तात्पर्य ग्रहण करना ही उचित है । वह कभो नहीं भी भासित होता

तदाह

योगीच्छानन्तरोद्भूततथाभूताङ्कुरो यतः ।
इष्टे तथाविधाकारे नियमो भासते यतः ॥ २६ ॥

स्वप्ने घटपटादीनां हेतुतद्वत्स्वभावता ।
भासते नियमेनैव बाधाशून्येन तावति ॥ २७ ॥

इह खलु योगिनो निरुपादानमेवेच्छामात्रेण अङ्कुरादिकार्यं कुर्वन्तीत्यविवादः, तेन योगीच्छातोऽनन्तरमुद्भूतः अत एव तथाभूतो—बीजाभावेऽपि प्रादूर्भूतो योऽसावङ्कुरः तस्मिन्नपि यतः पौर्वापर्यात्मा नियमोऽवभासते 'बीजा-

---

क्योंकि देखने में आता है कि विना बोज के भी अङ्कुर भासित होता है। सदा बीज से ही अङ्कुर नहीं निकलते अपितु विना बीज के भो निकलते हैं। जैसे केले का अङ्कुर। यह बीज से नहीं निकलता। पौधों से ही इनके पौधों की निष्पत्ति हो जाती है। कुछ डालियाँ ही जमीन में लगा देने पर अङ्कुरित हो उठती हैं। इसलिये आकाराभास का नियम ही ग्राह्य है॥ २५ ॥

योगी पुरुष इच्छा करते हैं और निरुपादान सृष्टि हो जाती है। यहाँ भी इच्छा के बाद भासित अङ्‌कुर में आकाराभास का नियम ही चरितार्थ है। स्वप्न में घड़े और कपड़े दीख पड़ते हैं। उसमें हेतु और हेतुमान् का स्वभाव आभासन मात्र ही निश्चित होता है। इसमें वहाँ कोई बाधा भी नहीं आ पाती। इस पर थोड़ा और गंभीरता से सोचने की आवश्यकता है।

यह निर्विवाद सत्य है कि योगी पुरुष विना उपादान कारण के अङ्कुर आदि उत्पन्न करने का कार्य सम्पादित कर लेते हैं। इस प्रकार सिद्ध योगी द्वारा निष्पन्न वह अङ्कुर, बीज से निष्पन्न न होते हुए भी उसी प्रकार के पौधे को जन्म देता है, जैसे अन्य बीज से उत्पन्न अङ्कुर देते हैं। उनसे वैसे ही शाखा प्रशाखायें होती हैं और वृक्ष बढ़ते हैं, जैसे उन अङ्कुरों से बढ़ते हैं। अङ्कुरों में कोई अन्तर नहीं होता।

हाँ एक विशेषता उत्पन्न हो जाती है। हमने बीजाङ्कुर सम्बन्धी जो नियम निर्धारित किये थे, उनमें से दो टूट रहे हैं। १—बीज से अङ्कुर होता है। यह नियम भंग हो गया क्योंकि बिना बीज के ही अङ्कुर उत्पन्न हो गया। २—दूसरा नियम पौर्वापर्य का था। अब वह भी नहीं रहा। यह अपूर्व

देव अङ्कुरो जायते' इति नायमेकान्त इत्यर्थः, योगीच्छाभिनिर्वर्तितश्च अङ्कुरो बीजकार्याङ्कुरसमानजातीय एव, न तु शालूकाद्विजातीयः, इत्याह 'तथाविधाकार' इति, अन्यथा हि योगिनामिच्छाविसंवादात् योगित्वमेव न सिद्धयेत्, न चैतद्भ्रान्तिमात्रमित्युक्तम् 'इष्ट' इति--तत्तत्समोहितार्थक्रियाकारिणीत्यर्थः, तदुक्तम्

> 'योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन यत्।
> (सृष्टघा)दि जायते तत्तित्स्थरस्वार्थक्रियाकरम्॥' इति।

तथा यतः स्वप्नेऽपि नियमेनैव घटकार्यः पटोऽपि भासते--घटाभासानन्तरं पटाभासस्योदयात्, स्यादेवमेतत् यदि बाधा न स्यादित्याह 'बाधा शून्येन' इति, बाधाश्चात्र किं तादात्विकः कालान्तरभावी वा, तत्र तावदुत्तरः पक्षो—

अङ्कुर उत्पन्न हुआ। यहाँ सादृश्यान्वय भी है, और समानजातीयत्व ज्यों का त्यों विद्यमान है। किसी प्रकार का विजातीयत्व यहाँ नहीं रहता। यदि योगी की इच्छा को कारण माना जाय तो पौर्वापर्य भी घटित सा लगता है पर ऐकान्तिक नियमवत् वह नहीं होता।

यहाँ इन विसंगतियों में एक ही संगति बैठती है। वह है—तथाविधाकार रूपा संगति। इच्छा से उत्पन्न अङ्कुर में वही रूप, रंग और गुण-धर्म भी होते हैं। सच पूछा जाय तो यह नियम भी महत्त्वपूर्ण है। यदि विजातीय अङ्कुर निकलते तो योगी की योग साधना में ही सन्देह हो जाता। इसे भ्रान्ति भी नहीं कहा जा सकता। सारा कार्य निर्भ्रान्त होता है। अभीष्ट का साक्षात्कार होता है। इसलिये योगी की इच्छा समीहित (इच्छित) अर्थ क्रिया का सम्पादन करने में समर्थ मानी जाती है।

इसी आधार पर शास्त्र की एक उक्ति है कि,

"विना मृत्तिका के विना बीज के योगी पुरुषों की इच्छा के आधार पर ही जो विशेष पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं, वे निश्चित ही अर्थ क्रियाकारी होते हैं।"

उसी तरह जैसे स्वप्न में घड़े के कार्य रूप में कपड़े की प्रतीति निश्चित जान पड़ती है। घटाभास के तुरत बाद पटाभास! यह अपूर्व स्वप्नबोध क्या सिद्ध करता है? यह सत्य भी हो जाता, यदि इस प्रक्रिया में बाधा

जाग्रद्भाविनोऽपि स्वप्नापेक्षया बाधसंभवात्, तादात्विकस्तु नास्त्येव बाधः— प्रबोधपर्यन्तं दार्ढ्येन तथावभासात्, अत एव तावति--स्वप्नावस्थायामेवे- त्युक्तम् ॥ २६-२७ ॥

एवं निर्बाधो नियम एव कार्यकारणताया निबन्धनम्, इत्याह

ततो यावति याद्रूप्यान्नियमो बाधवर्जितः ।
भात तावति ताद्रूप्याद्दृढहेतुफलात्मता ॥ २८ ॥

ननु एवमपि सौगतमतमेवापतेत् ? इत्याशङ्क्याह

तथाभूते च नियमे हेतुतद्वत्त्वकारिणि ।
वस्तुतश्चिन्मयस्यैव हेतुता तद्धि सर्वगम् ॥ २९ ॥

तदिति-- यन्नाम चिन्मयस्यैव 'हेतुतेति' सर्वगमिति—सर्वेषामेव मृद्दण्डाद्याभासानां विश्रान्तिधामत्वेनानुवर्तनात् ॥ २८-२९ ॥

न आती। इसलिये स्वाप्निक अर्थ क्रिया की सिद्धि में स्वयं स्वप्न ही बाधक है। पहले तो यह क्षणिक है। दूसरे जागृति में नितान्त असत् है। यह दो बाधायें यथार्थ सिद्धि को बाधिका हैं। इसलिये 'तथाविधाकारता' के साथ ही साथ क्रियोत्पत्ति में 'बाधाशून्यता' की शर्त्त भी अनिवार्यतः माननीय है। इसलिये इस कार्यकारण भाव में पौर्वापर्य, तथारूपाभासन, तथाविधाकारता, नियमतः बाधाशून्यता और बोधपर्यन्त दार्ढ्यभाव से उसी प्रकार का रूपाव- स्थान ये पाँच आवश्यक तत्त्व माने जाते हैं ॥ २६-२७ ॥

इसलिये जिसमें जो रूपवत्ता हो, वह नियमतः निर्बाध भासित हो तो उसमें उस रूपता का कार्यकारण भाव होना उचित है। स्वप्न से ऐसा नहीं होता। घट में पट बनने में जब यावति याद्रूप्य नियम चरितार्थ, नहीं होता, तो तावति ताद्रूप्य कैसे रह सकता है ? अतः वहाँ कार्य कारणभाव नियमतः अमान्य हो जाता है ॥ २८ ॥

इस मान्यता में सौगत सिद्धान्त भा कसौटी पर खरा नहीं उतरता। क्रमिक अर्थक्रिया में क्षणिकत्व और अक्षणिकत्व को अवधारणा यहाँ नहीं चल सकती क्योंकि,

एवं च नैकं किंचन जनकं, सामग्री वै जनिकेत्याद्यपि संगच्छते, इत्याह

अत एव घटोद्भूतौ सामग्री हेतुरुच्यते ।

सामग्रीति—न पुनर्व्यस्ताः समग्राः, ननु समग्रान् दण्डादीन् विहाय का नामान्यसामग्री इत्युच्यते ? इत्याशङ्क्याह

सामग्री च समग्राणां यद्येकं नेष्यते वपुः ॥ ३० ॥

हेतुभेदान्न भेदः स्यात् फले तच्चासमञ्जसम् ।

चो हेतौ, एकं वपुरिति—समग्रप्रत्ययनिमित्तमेकप्रमातृविश्रान्तिलक्षणम्, इह तावन्मृद्दण्डादयो व्यस्ता एव यदि घटहेतवः स्युः तत् कारणभेदात् कार्य-

---

यहाँ हेतु और हेतुमान के सन्दर्भ में अर्थक्रियाकारित्व चिन्मय का आश्रय प्राप्त करता है। जितने आभास हैं, चाहे वे मिट्टी हों, दण्ड हों, चक्र-चीवर हों, सबका विश्रान्तिधाम वही चिन्मय तत्त्व है। क्योंकि वह चिन्मय तत्त्व सर्वव्याप्त है। अतः इसे ही परम हेतु मानना सारी शङ्काओं को समाहित करता है ॥ २९ ॥

इससे एक समस्या सामने आती है, वह यह कि कोई एक कारण किसी कार्य का जनक नहीं हो सकता। जैसे एक मिट्टी से ही घड़ा उत्पन्न नहीं होता। उसकी उत्पत्ति में कुम्भकार, मिट्टी, चक्र, दण्ड और सूत आदि सभी मिल कर एक कारण हैं। समग्र भावरूप सामग्री कारण है। सामग्री की बात पर पुनः यह तर्क उदित होता है कि उन समग्र साधनों के अतिरिक्त यह कोई सामग्री दूसरा तत्त्व है क्या ? इस पर अपना मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं—

समग्र साधनों की एक मात्र प्रत्यायिका ही सामग्री है। यह सब साधनों की एक शरीर रूपा है। यह बात सबको मान्य नहीं है। कुछ विचारक सामग्री को एक शरीर नहीं मानना चाहते। पर स्पष्ट तथ्य यह है कि सामग्री के अलग शरीर न होने पर भी कार्य तो उससे ही निष्पन्न होता है।

यदि पृथक्-पृथक् सबको कारण माना जायेगा तो कारणभेद से कार्य-भेद के सिद्धान्त के आधार पर अनेक घड़े उत्पन्न होने की सम्भावना हो जायेगी। ऐसा कहीं होता नहीं है। सामग्री रूप एक प्रमाता में साधनों की

भेदस्याविवादात् अनेके घटाः प्रादुर्भवेयुः, न चैवम् इत्येकप्रमातृविश्रान्त्या सामग्रीशब्दवाच्यमेवैषां वपुरवश्यैषणीयं—यदेकमेव घटं जनयेत्, यदपेक्षयैव च कारणानां पारस्परिको भेदो, यतः फलभेदोऽपि स्यात्, नेति काक्वा योज्यम्, प्रत्यक्षविरुद्धं चैतदित्याह 'तच्चासमञ्जसमिति' ॥ ३० ॥

ननु यत् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तत् तस्य कारणमित्युक्तं, व्यस्तानां च मृद्दण्डादीनामेवंभावो नास्ति, समग्राणां चास्ति, इति कोऽर्थः सामग्रीशब्दवाच्येनैकेन वपुषाभ्युपगतेनैषाम् ? इत्याशङ्क्याह

यद्यस्यानुविधत्ते तामन्वयव्यतिरेकिताम् ॥ ३१ ॥
तत्तस्य हेतु चेत्सोऽयं कुण्ठतर्को न नः प्रियः ।

कुण्ठ इति—समनन्तरमेव तत्तद्दूषणोदीरणेन भग्नशक्तीकृतत्वात् ॥ ३१ ॥

विश्रान्ति स्वाभाविक हैं। इसलिये सामग्री भाव की मान्यता अनिवार्य है, जिससे एक ही घड़े की उत्पत्ति हो। एक घड़े को लेकर ही सभी साधनों को प्रयुक्त किया गया था। साधन भेद से एक साध्य की उत्पत्ति ही लक्ष्य थी।

इस तरह फल में कोई भेद नहीं होता फल भेद प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसलिये मूल में इसे असमञ्जस लिखा गया है। न के प्रयोग में काकु का चमत्कार भी ध्यातव्य है। अर्थात् सामग्रो बोध ही न्यायसंगत सिद्धान्त है ॥३०॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि अन्वय व्यतिरेक को कसौटी पर खरा उतरने वाला साधन कारण हो सकता है। व्यस्त मृत्तिका और दण्ड में यह योग्यता नहीं है और समग्र साधनों का एक सहयोग है। ऐसी अवस्था में जब कार्य सम्पादन हो रहा है, तो इस सामग्रो नामक एक नई संज्ञा के साथ नया प्रयोग करने की क्या आवश्यकता ?

इस पर अपना मत व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि, यदि घड़े की अन्वय व्यतिरेकिता का अनुविधान सामग्री से हो रहा है, तो वह उसकी हेतु है। साधन-पार्थक्य सदोष है। इसलिए एतद्विषयक व्यर्थ के मतर्क कुतर्क हैं। ये किसी दशा में स्वीकार्य नहीं हैं ॥ ३१ ॥

ननु समस्तानामप्येषां केनचिद्रूपेण यद्यैकात्म्यं न स्यात्, तद्देशकालविकृष्टानामपि हेतुत्वं प्रसज्येत् इत्याह

समग्राश्च यथा दण्डसूत्रचक्रकरादयः ॥ ३२ ॥
दूराश्च भाविनश्चेत्थं हेतुत्वेनेति मन्महे ।

दूरा—मेर्वादयो, भाविनः—कर्क्यादयः, इत्थमिति—तथा, एवं यथा दण्डादयो घटे हेतुत्वेन भवन्ति तथा दूरादयोऽपीति, मन्महे—प्रसङ्गेन मन्यामहे इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

नन्वत्र दूरभाविनोरन्वयव्यतिरेकानुविधानमसिद्धम्? इत्याशङ्क्याह

यदि तत्र भवेन्मेरुर्भविष्यन्वापि कश्चन ॥ ३३ ॥
न जायेत घटो नूनं तत्प्रत्यूहव्यपोहितः ।

यदि किसी अवस्था में समस्त साधनों का ऐकात्म्य न सम्भव हो सके तो देशकाल विकृष्ट साधनों में भी हेतुत्व की प्रसक्ति हो सकती है। ऐसी अवस्था में क्या मानना उचित है? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये अपना—मत अभिव्यक्त कर रहे हैं—

दण्ड, सूत्र, चक्र और हाथ सभी मिलकर सामग्री भाव से हेतुत्व का सम्पादन करते हैं। यदि दूर स्थित मेरु और भावी कर्क राशि सदृश भी हेतुत्व को पूर्ति करते हैं तो भले ही ये दूर हों या भविष्य के गर्भ में हों, कारण ही कहे जा सकते हैं। हाँ यह प्रसङ्ग पर निर्भर है कि आगन्तुक सन्दर्भ में क्या स्थिति हो ॥ ३२ ॥

यहाँ भी समस्या कठिन हो सकती है। दूर स्थित और भविष्य पर निर्भर साधनों में अन्वयव्यतिरेक भाव का अनुविधान असिद्ध माना जाता है। तब क्या उपाय अपनाया जाना चाहिये? इस प्रश्न का निराकरण कर रहे हैं—

मेरु दूर अवस्थित है। कर्कि भविष्य गर्भ में है। घड़ा निर्मित होने का सन्निकर्ष उपलब्ध नहीं है। असन्निकर्ष रूप प्रत्यूह से घट व्यपोहित है। जैसे नियत देश काल में अवस्थित चक्र आदि घट निर्माण में हेतु होते हैं, उसी तरह

यथा च चक्रं नियते देशे काले च हेतुताम् ॥ ३४ ॥

याति कर्कसुमेर्वाद्यास्तद्वत्स्वस्थावधि स्थिताः ।

ननु चक्रादीनां किं देशकालसंनिकर्षो विवक्षित उत रूपसंनिकर्षः, तत्र देशादिसंनिकृष्टत्वं पटादीनामपि संभवेत्, इति तेषामपि एककार्यकारित्वं प्रसज्येत्, रूपसंनिकर्षश्च नेष्यते भवद्भिः, तन्नियतदेशाद्यवस्थायित्वं नाम संनिकर्षः पर्यवस्येत्, तच्च मेर्वादीनामपि अविशिष्टम्, इति तेऽपि हेतवो भवेयुः, तस्मादेषामेकप्रमातृविश्रान्तिसतत्त्वमेकं रूपमवश्याभ्युपगमनीयं, येन—तत्तत्संयोजनवियोजनादावेकस्यैव परमेश्वरस्य कर्तृत्वे विश्वमिदमुन्मिषेत् ॥ ३४ ॥

तदाह

तथा च तेषां हेतूनां संयोजनवियोजने ॥ ३५ ॥

नियते शिव एवैकः स्वतन्त्रः कर्तृतामियात् ।

ननु कथं सर्वत्र शिवस्यैव कर्तृत्वमिष्यते घटादौ हि कुम्भकारो व्याप्रियमाणो दृश्यते ? इत्याशङ्क्याह

मेरु आदि भी सन्निकर्ष कृष्ट हों, प्रत्यक्ष साधन के देश काल विधि में स्थित हों, तो उनके कारणत्व का निषेध कैसे किया जा सकता है ? पर सत्य यह है कि मेरु से घट का सन्निकर्ष दूर होने के कारण असम्भव है। देश और काल का सन्निकर्ष और उनका नैयत्य चक्र की तरह आवश्यक है। हाँ मेरु परमेश्वर प्रमाता में भवस्थित होने के कारण सामग्रीवाद का विषय बन सकता है। अकेले नहीं। यह ध्यान देने की बात है कि देश काल का सन्निकर्ष ही घट निर्मिति के लिये अपेक्षित है। रूप सन्निकर्ष भी उसी तरह आवश्यक है। केवल देशादि सन्निकर्ष से पट भी निकट रहने से हेतु हो सकता है। नियत देश में अवस्थान तो मेरु का भी है। ये सब तरह तरह के कुतर्क अनेक वैचारिक समस्यायें खड़ी करते हैं। इसलिये एक प्रमाता में विश्रान्ति के सदृश एक रूपता की मान्यता ही अपेक्षित है। हम यह अनुभव करते हैं कि संयोजन वियोजन रूप प्रसर और संहृति क्रम की चमत्कारातिशय दशा की क्रीडाशोलता में एक परमेश्वर ही इस विश्व का उल्लास करते हैं ॥ ३४ ॥

कुम्भकारस्य या संवित् चक्रदण्डादियोजने ॥ ३६ ॥
शिव एव हि सा यस्मात् संविदः का विशिष्टता ।

'का विशिष्टतेति'—को भेद इत्यर्थः, नहि संविदः संविद्रूपादणुमात्रेणापि अधिकं रूपान्तरं किंचिद्भवेदिति भावः ॥ ३६ ॥

ननु कौम्भकारी संवित् देशकालाद्यवच्छेदात् संकुचितस्वभावा 'परा' पुनरनवच्छिन्नत्वात् 'पराद्वयरूपा' इति कथं तयोरविशेष उक्तः ? इत्याशङ्क्याह

कौम्भकारी तु संवित्तिरवच्छेदावभासनात् ॥ ३७ ॥
भिन्नकल्पा यदि क्षेप्या दण्डचक्रादिमध्यतः ।

दण्डचक्रादिमध्यतः क्षेप्येति—दण्डादिवत् सहकारिकारणमात्रमेतदिति तात्पर्यम्, अतश्च नात्र कुम्भकारस्य साक्षात्कर्तृत्वम्, इति शिव एव सर्वत्र कर्ता' इति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

उसी तरह चक्रादि साधनों के संयोजन वियोजन जन्य घट निर्माण में एक मात्र शिव ही स्वतन्त्र कर्त्ता हैं। निर्माण कार्य में व्यापृत दीख पड़ने वाला कुम्भकार कोई महत्त्व नहीं रखता। वहाँ भी कुम्भकार की संवित् शक्ति ही चक्र दण्ड आदि साधनों का योजन वियोजन करती है। और वह संवित् शिव के अतिरिक्त कुछ नहीं है। संवित् शक्ति और कुम्भकार संवित् में भी कोई आतिशय्य नहीं। सब एक ही हैं। सब शिव मय है। अतः शिव ही एकमात्र कर्त्ता सिद्ध हैं। कार्य कारण भाव वस्तुतः परमार्थ में ही पर्यवसित है ॥ ३५-३६ ॥

संवित् यहाँ दो प्रकार की प्रतीत हो रही है। १—कौम्भकारी संवित् और २—पारमेश्वर संविद्। पहली देश काल से प्रभावित होने के कारण संकुचित स्वभाव मयी होती है। परा संवित् अनवच्छिन्न और पराद्वयमयी होती है। उक्त प्रसङ्ग में दोनों की समानता व्यक्त की गयी है। ऐसा क्यों ? इसी जिज्ञासा की शान्ति का प्रवर्त्तन कर रहे हैं—

कौम्भकारी संविद् अवच्छेद से अवभासित होने वाली अर्थात् वह देश काल से प्रभावित होने वाली संकुचित संवित् है, यह निश्चित है। इसलिये परा

तदाह

तस्मादेकैकनिर्माणे शिवो विश्वैकविग्रहः ॥ ३८ ॥

कर्तेति पुंसः कर्तृत्वाभिमानोऽपि विभोः कृतिः ।

ननु यद्येवं तत् दण्डादिसमानकक्ष्यत्वेऽपि कुम्भकारस्य कथमेवमभिमानो भवेत् 'यन्मयेदं कृतम्' इत्याशङ्क्याह 'पुंस' इत्यादि, यश्चायमस्य कर्तृत्वाभिमानः—प्रतिभुवः इव अधमर्णभावः, स पारमेश्वर्यैव नियतिशक्त्या तथा व्यवस्थापितो, यतो धर्माधर्मादिव्यवस्थापि सिद्ध्येदिति न कश्चिद्दोषः, एवमाभासमात्रसतत्त्व एव कार्यकारणभाव इति सिद्धम् ॥ ३८ ॥

ततश्चास्य लोकशास्त्रादावनेकप्रकारं वैचित्र्यम्, इत्याह

अत एव तथाभानपरमार्थतया स्थितेः ॥ ३९ ॥

कार्यकारणभावस्य लोके शास्त्रे च चित्रता ।

संवित् से वह भिन्न है । यही भिन्न कल्पा का तात्पर्य है । उसकी गणना मात्र दण्ड और चक्र-चोवर आदि सहकारी कारणों में ही की जा सकती है । इसलिये हम कुम्भकार को किसी अवस्था में साक्षात् कर्त्ता नहीं मान सकते । वस्तुतः शिव ही साक्षात्कर्त्ता हैं ॥ ३७ ॥

इसलिये इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जा रही है कि कार्य के निर्माण में विश्वमय शिव ही वास्तविक कारण और एक मात्र कर्त्ता हैं ।

कुम्भकार में इस प्रकार का अभिमान होना कि मैंने ही घड़े का निर्माण किया है—अधमर्ण अभिमान है । परमेश्वर की नियति शक्ति द्वारा नियुक्त और उसी प्रकार व्यवस्थापित एवं नियोजित होने के कारण वह घड़ा बनाने का काम कर रहा है । इससे धर्माधर्म व्यवस्था भो सिद्ध हो जाती है । गुण धर्म वैभिन्न्य में पुद्गल विवश है । इन तर्कों और विचारों से हम यह निष्कर्षतः कह सकते हैं कि कार्य कारण भाव आभास मात्र सतत्त्व है ॥ ३८ ॥

लोक और शास्त्र आदि में इसकी अनेक प्रकार की विचित्र स्थिति देखने में आती है । कुम्भकार कहता है—मैंने घड़ा बनाया । सामग्री भाव से घड़ा बनता है—

तत्र प्राधान्यात् शास्त्रीयं तावद्वैचित्र्यं दर्शयति

मायातोऽव्यक्तकलयोरिति　　　रौरवसंग्रहे ॥ ४० ॥

श्रीपूर्वे तु कलातत्त्वादव्यक्तमिति कथ्यते ।

रौरवसंग्रह इति बृहत्तन्त्रापेक्षया, तदुक्तं तत्र

'ततोऽधिष्ठाय विद्येशो मायां स परमेश्वरः ।
क्षोभयित्वा स्वकिरणैरसृजत्तैजसीं कलाम् ॥
कलातत्त्वाद्रागविद्ये द्वे तत्त्वे संबभूवतुः ।
अव्यक्तं च ततस्तस्माद्गुणांश्चाप्यसृजत्प्रभुः ॥' इति ।

अत्र च 'अव्यक्तं च तत' इति तच्छब्देन मायापरामर्श इति बृहस्पति-पादाः, यदुक्तम्

'मायातोऽव्यक्तकलयोः कलातो रागविद्ययोः । इति ।

यह शास्त्र कहता है । सत्कार्य असत्कार्यवाद के शास्त्रीय ऊहापोह भी यहाँ चलते हैं । आभासन मात्र सतत्त्वता को अलग मान्यता मिली हुई है । इतना सब होने पर भी लोग सामान्यतया कुम्भं करोति का कर्तृत्व कुम्भकार का ही समझ कर व्यवहार करते हैं । यह वैचित्र्य इन वादों के साथ लगा हुआ है ।

रौरव संग्रह अपनी बात इस तरह रखता है । वह कहता है कि माया का यह चमत्कार है । अव्यक्त और कला मिलकर इस वैचित्र्य का सृजन करते हैं । श्री पूर्वशास्त्र कहता है कि—कलातत्त्व से अव्यक्त का यह अभिव्यञ्जन है । रौरव शास्त्र कहता है कि,

"परमेश्वर विद्येश 'माया' में अधिष्ठित होकर माया में क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं । क्षोभ की कारण परमेश्वर की चिन्मय मरीचियाँ ही हैं । ये बड़ी विस्मापक हैं । वही कला को उत्पन्न करती हैं । उसी कला से राग और विद्या तत्त्व उत्पन्न होते हैं । उनसे अव्यक्त भी उत्पन्न है, तथा अव्यक्त से गुण (सत्त्व, रजस् और तमस्) का सृजन स्वयं परमेश्वर करते हैं ।"

आचार्य वृहस्पति यहाँ अव्यक्त से माया का अर्थ ही ग्रहण करते हैं । ऊपर यही कहा गया है कि

श्रीपूर्व इति—श्रीमालिनीविजये, यदुक्तं तत्र

'......................**मायामाविश्य शक्तिभिः ।**'

इत्याद्युपक्रम्य

'**असूत सा कलातत्त्वम्**..........................।' इति ।

'**तत एव कलातत्त्वादव्यक्तमसृजत्ततः ।**' इति । च,

एवमव्यक्तं मायायाः कलायाश्च कार्यमिति शास्त्रीयं वैचित्र्यम् ॥ ४० ॥

अत एव च एवं विसंवादाशङ्कया अत्र यदन्यैरन्यथा व्याख्यातं तद-प्रयोजकमेव, इत्याह

तत एव निशाख्यानात्कलीभूतादलिङ्गकम् ॥ ४१ ॥

इति व्याख्यास्मदुक्तेऽस्मिन् सति न्यायेऽतिनिष्फला ।

निशाख्यानादिति—मायाख्यात् तत्त्वात् अलिङ्गकमिति अव्यक्तम् ॥ ४१ ॥

"माया से अव्यक्त और कला तथा 'कला' से राग और विद्या उत्पन्न है।"

श्री पूर्व शास्त्र श्री मालिनी विजय शास्त्र ही है। उसके अनुसार—

"माया को शक्तियों से समावेशित कर" की उक्ति से लेकर "उसने कला तत्त्व को उत्पन्न किया" यहाँ तक कहने के बाद "उसी कला तत्त्व से अव्यक्त को उत्पन्न किया" यह भी कहा गया है। इस तरह "अव्यक्त, माया और कला का कार्य है" यह प्रतिपादन विचित्रता की ही सृष्टि करता है। यही शास्त्रीय वैचित्र्य है ॥ ३९-४० ॥

ऐसी स्थितियाँ अनेक शास्त्रीय वैचारिक विवाद उपस्थित करती हैं। हमें इन अन्यथा व्याख्यानों पर ध्यान नहीं देना चाहिये। उनसे अपना या किसी का कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता। यही कह रहे हैं कि माया से अव्यक्त की उत्पत्ति की बात विसंवादित है। अत एव हमारी मान्यता की परम्परा में यह सर्वथा निष्फल एवम् अमान्य है ॥ ४१ ॥

इदानीं लौकिकमपि वैचित्र्यं दर्शयति

लोके च गोमयात्कोटात् संकल्पात्स्वप्नतः स्मृतेः ॥ ४२ ॥
योगीच्छातो द्रव्यमन्त्रप्रभावादेश्च वृश्चिकः ।

कीटादिति—वृश्चिकात्, इह बहिरपि परिस्फुरतोऽर्थस्य आभासमात्रसारत्वमेव मौलं रूपमित्युक्तम् 'संकल्पात्स्वप्नतः स्मृतेः' इति, द्रव्येति—रत्नौषध्यादि, अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभाव इति भावः, ननु वृश्चिकात् गोमयादेश्च जातोऽन्य एव वृश्चिकः, नहि यादृगेव वृश्चिकाज्जातो वृश्चिकः तादृगेव गोमयादेरिति भवितुमर्हति--शब्दसाधारण्यमात्रेणैकत्वं न्याय्यम्, यदाहुः

'वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिनः ।
न युक्तं साधनं गोत्वाद्रागादीनां विषाणिवत् ॥' इति ॥ ४२ ॥

लोक प्रचलित वैचित्र्य का एक चित्र प्रदर्शित कर रहे हैं—

लोक में गोमय से कीट (वृश्चिक) का उत्पन्न होना पर्याप्त प्रचलित है । योगी की संकल्प शक्ति से निरुपादान सृष्टि प्रसिद्ध है । स्वप्न में राजमहल की मनोज्ञता से स्वप्न द्रष्टा मुग्ध होता ही है । स्मृति में उद्दीप्त वस्तुओं में कल्पना की रानी ही यदि रस वृष्टि कर रति-रमणीयता की सृष्टि करे तो क्या आश्चर्य ? रत्न आदि द्रव्यों और ओषधियों का प्रभाव अपने स्थान पर कितने महत्त्वपूर्ण होते हैं। ये सारी बातें लौकिक आश्चर्य रूप ही होती हैं ।

यह ध्यान देने की बात है कि गोबर से उत्पन्न कीट वृश्चिकवत् होता है वृश्चिक से उत्पन्न वृश्चिक जैसा नहीं होता । इसलिये शाब्द-औपम्य के आधार पर ही उसे वृश्चिक कहते हैं । एक जगह कहा गया है कि,

"वस्तु में भेद रहने पर भी शब्द साम्य से अभिन्न जैसा व्यवहार होता है किन्तु आकृति साम्य से धर्मसाम्य केवल शब्द के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता । जैसे—'यह गाय है क्योंकि इसमें गोत्व है । जैसा कि सींग वालों में होता है' । ऐसे प्रयोगों का साधन इस शृङ्ग-साम्य से नहीं हो सकता । सींगें तो उन पशुओं में भी होती हैं, जिनमें गोत्व नहीं होता । इसलिये पदार्थों के एकत्व की सिद्धि के सन्दर्भों में वस्तु भेद, उनके साम्य के आधार और शब्द प्रयोगों पर विचार करना आवश्यक होता है" ॥ ४२ ॥

तदाह

अन्य एव स चेत् ... ...

सत्यमेवम्, इत्याह

... ... कामं कुतश्चित्स्वविशेषतः ॥ ४३ ॥

वृश्चिकाद्गोमयादेर्वा जातानां वृश्चिकानां नूनमस्ति कश्चिदात्मीयो देशकालाकाराद्यात्मा विशेषो येनैषामन्योन्यभेदः, किं तु वृश्चिकाज्जातानामपि स तुल्यः, तेषामपि हि देशकालाकारादिना व्यक्तिभेदमुपलभन्ते लौकिकाः ॥ ४३ ॥

अत आह

स तु सर्वत्र तुल्यस्तत्परामर्शैक्यमस्ति तु ।

अथ वृश्चिकोऽयमिति प्रत्ययानुगमस्तत्र संभवेत्, तदिहापि समानमित्युक्तं 'तत्परामर्शैक्यमस्ति त्विति' न चायमवृश्चिके वृश्चिकप्रत्ययो—विसंवादाभावात्, इह च परामर्श एव दूरान्तिकत्वादिना भिन्नावभासत्वेऽपि अर्थानामैक्यप्रतिष्ठापने परं जीवितम्, यदुक्तम्

गोमय से उत्पन्न वृश्चिक स्वयं वृश्चिक से उत्पन्न वृश्चिक से यदि अन्य भी है तो भी कोई न कोई देशकाल के प्रभाव से उत्पन्न वैशिष्ट्य यहाँ है, जिससे दोनों में तुल्यता है, समानता है। बिच्छुओं के परिवार में भी एक दूसरे में आकृति और व्यक्ति भेद तो सामान्य लोक-दृष्टि से भी समर्थित है ॥४३॥

यदि वह सर्वत्र तुल्य है तो परामर्श में एकता स्वाभाविक है। वृश्चिक में 'यह वृश्चिक है' यह विचार किसी संकल्पन से, सन्तुलन के अनुसन्धान से जन्म लेता है। वृश्चिक का प्रत्यय और उसका अनुगम या अभ्युपगम एक सामान्य दृष्टि है। जब दो बिच्छुओं की समानता दृष्टिगोचर होती है तो एक प्रकार का परामर्शैक्य दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है।

वहाँ किसी प्रकार के विसंवाद के अभाव में जो वृश्चिक प्रत्यय होता है, वह वृश्चिक से इतर वस्तु में नहीं। दूरी और सामीप्य से प्रभावित आकृति और व्यक्ति में भिन्नता का आभास हो सकता है, फिर भी आन्तर परामर्श एक ऐसा वैचारिक माध्यम है, जहाँ पदार्थों के ऐक्य की प्रतिष्ठा होती है। परामर्श ही इस ऐक्य दृष्टि का प्रेरक प्राण तत्त्व है। कहा गया है कि,

'दूरान्तिकतयार्थानां परोक्षाध्यक्षतात्मना ।
बाह्यान्तरतया दोषैर्व्यञ्जकस्यान्यथापि वा ।।
भिन्नावभासच्छायानामपि मुख्यावभासतः ।
एकप्रत्यवमर्शाख्यादेकत्वमनिवारितम् ।।' इति ।

अतश्चैकस्यापि कार्यस्यानेककारणत्वे न कश्चिद्दोषः, आभासमात्रपरमार्थो हि कार्यकारणभाव इति परिस्थापितम् ॥

अत एव च कार्यस्य स्वरूपे क्रमे वापि अन्यथाभावोपदेशो नायुक्तः, इत्याह

"एक पदार्थ दूर है । वह परोक्ष होता है । एक पास में है । यह प्रत्यक्ष है । इन पदार्थों का परामर्श करते समय कई बातों का विचार करना होगा । एक मित्र दूर है । वह परोक्ष है, बाहर है । इसी तरह एक का दूसरे व्यक्ति के प्रति स्नेह है । वह आन्तर भाव है । पर दोनों के परामर्श की भूमि तो एक ही है । इसमें सदोषता के अनर्थ भी होते हैं । व्यंजकों के प्रभाव भी हैं । अन्यथा-भाव के उद्भावन भी होते हैं । इन सभी दृष्टिकोणों से विचार करने पर समान पदार्थों में भी वैभिन्न्य की छाया पड़ती दीख सकती है । इस प्रकार के भेद-भिन्न एवं मुख्य सांसारिक अवभास भ्रान्तियों को उत्पन्न करने वाले होते हैं ।

इस तरह सोचने पर दो बातें सामने आती हैं । पहली यह कि एक तो मुख्य अवभास होता है और दूसरा भेद प्रभावित अवभास । इन दोनों अवभासों पर ध्यान देने पर एक बात निश्चित रूप से प्रतीत होती है कि प्रत्यवमर्श के स्तर पर एकत्व अनिवार्यतः उपस्थित हो जाता है ।"

इसलिये एक कार्य के अनेक कारण होने में कोई दोष नहीं । कई कारणों में ही सामग्रीवाद का भाव आता है । आभास मात्र परमार्थता के हमारे सिद्धान्त पर भी कोई आँच नहीं आती ।

इसलिये कार्य के स्वरूप अथवा क्रम के सम्बन्ध में अन्यथा भाव का कथन करना उचित नहीं, क्योंकि इससे वदतोव्याघात दोष उपस्थित होता है । स्वरूप और क्रम की स्थिति एक समान नहीं होती । जैसे मन का स्वरूप कहीं इन्द्रिय में और कहीं अन्तःकरण में भिन्न-भिन्न अनुभूत और आकलित होता है ।

तत एव स्वरूपेऽपि क्रमेऽप्यन्यादृशी स्थितिः ॥ ४४ ॥

शास्त्रेषु युज्यते चित्रात् तथाभावस्वभावतः ।

स्वरूप इति—यथा मनसः क्वचिद्बुद्धीन्द्रियत्वमुक्तं क्वकिञ्च अन्तः-करणत्वं, तदुक्तम्

'श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासा चित्तं च धीव्रजः ।' इति ।

अन्तःकरणं त्रिविधमिति च ॥ ४४ ॥

क्रमस्य पुनः कार्यकारणभावप्रस्तावात् प्राधान्येन शास्त्रेष्वन्यादृशीं स्थितिं दर्शयति

पुंरागवित्कलाकालमाया ज्ञानोत्तरे क्रमात् ॥ ४५ ॥

नियतिर्नास्ति वैरिञ्चे कलोर्ध्वे नियतिः श्रुता ।

पुंरागवित्त्रयादूर्ध्वं कलानियतिसंपुटम् ॥ ४६ ॥

स्वरूप और क्रम में भी यह निश्चय है कि घड़ा पहले लोंदे के रूप में रहता है। पानी युक्त कुम्भकार का हाथ लगने पर मिट्टी का लोंदा विचित्र आकृति के रूप में बदल जाता है। सूत से अलग करते समय पूर्ण घट रूप में भिन्न-भिन्न अवभासित होता है। इसलिये दोनों दृष्टियों से शास्त्र के कथन में वैचित्र्य का समर्थन होता है। जैसी-जैसी स्थिति में जैसे-जैसे भाव उदित होते हैं, उन्हीं के अनुरूप तत्त्व तथ्य का वर्णन होता है। कहीं चार अन्तःकरण तो कहीं मात्र तीन अन्तःकरण ही माने गये हैं। कान, त्वक्, चक्षु, जीभ और नाक के साथ मन भी ज्ञानेन्द्रियों में परिगणित होता है। यह इसी शास्त्रीय वैचित्र्यवाद का समर्थक है ॥ ४४ ॥

तत्त्व-क्रम के कार्यकारण भाव प्रस्ताव के सन्दर्भ में प्रधानतः शास्त्रों में विशिष्ट स्थिति का उल्लेख मिलता है। उसी का आकलन कर रहे हैं—

पुरुष, राग, विद्या, कला, काल और माया कंचुकों की चर्चा सर्वज्ञानोत्तर शास्त्र में नये क्रम में है। वैरिञ्च मान्यता के अनुसार नियति इस गणना से निष्कासित है। कहीं कला से पहले नियति मानी जाती है। कहीं पुरुष, राग, विद्या इन तीनों से ऊपर कला और नियति का सम्पुट स्वीकार किया जाता है। प्रत्यभिज्ञा मान्यता के विपरीत ये अन्यादृश मान्यतायें भी शास्त्र में स्वीकार की गयी हैं ॥ ४५-४६ ॥

कालो मायेति कथितः क्रमः किरणशास्त्रगः ।
पुमान्नियत्या कालश्च रागविद्याकलान्वितः ॥ ४७ ॥
इत्येष क्रम उद्दिष्टो मातङ्गे पारमेश्वरे ।

ज्ञानोत्तरे इति—सर्वज्ञानोत्तरे, यदुक्तं तत्र

'वस्तुतः पुरुषः सूक्ष्मो व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ।' इति ।

'तत ऊर्ध्वं भवेदन्यत्कलावरणसंज्ञकम् । इति ।

'अत ऊर्ध्वं भवेदन्यत्कालस्यावरणं गुह ।' इति ।

'अत ऊर्ध्वं भवेदन्यन्मायातत्त्वं सुदुस्तरम् ।' इति च,

नियतिर्नास्तीति—सर्वज्ञानोत्तरे तस्या अनभिधानात्, वैरिञ्च इति—स्वायम्भुवे, यदुक्तं तत्र

किरण शास्त्र में काल और माया का अलग क्रम निर्दिष्ट है । वहाँ कहा गया है कि पुरुष नियति से युक्त है और काल भी राग, विद्या और कला से अन्वित है । यही क्रम मातङ्ग को भी स्वीकार है । मतङ्ग का दृष्टिकोण नियति नियन्त्रित पुरुषों के स्वरूप पर निर्भर प्रतीत होता है । सर्वज्ञानोत्तर शास्त्र की उक्ति है कि,

"वस्तुतः पुरुष सूक्ष्म व्यक्ताव्यक्त और सनातन तत्त्व है" ।

इसके अतिरिक्त तीन उक्तियों का उल्लेख इस प्रकार है—

"इसके ऊपर कला नामक एक अन्य आवरण है" ।

तथा—

"हे गुह ! उसके ऊपर काल का आवरण है" ।

तथा—

"उसके ऊपर सुदुस्तर माया तत्त्व है" ।

सर्वज्ञानोत्तर शास्त्र में इस सन्दर्भ में नियति की चर्चा ही नहीं है । इस शास्त्रकार को नियति तत्त्व को पृथक् तत्त्व मानना स्वीकार नहीं है ।

'मायातत्त्वात्कालतत्त्वं संस्थितं तत्पदद्वये।
संस्थान्यस्मिन्कला तद्वद्विद्याप्येवं ततः पुनः॥' इति।

अत्र हि संस्थापयति—नियच्छति भोगेषु अणूनिति 'संस्था' नियतिरिति व्याख्यातारः, अत्र च काले नियतिसंपुटः, कलेत्येवमात्मैव जरत्पुस्तकदृष्टः पाठो ग्राह्यः, अन्यथा हि कैरणोऽर्थो विसंवदेत्, यदुक्तं तत्र

इसी प्रकार वैरिञ्च अर्थात् स्वायम्भुव तन्त्र के क्रम में इस सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त हैं वे निम्नवत् हैं—

मायातत्त्व सब क्रमों का मूल है। सबसे पहले माया से काल उत्पन्न हुआ। काल की अलग सत्ता स्थापित हुई। अब संस्थिति उभयात्मक हो गयी। दो पद हो गये। पहला पद माया का और दूसरा पद काल का। माया पद में अणु को भोगवाद में संस्थापित करने वाली संस्था नामक शक्ति, जिसे नियति भी कहते हैं—वह संस्थित हुई और काल नामक दूसरे पद में कला संस्थित हुई।

इसी प्रकार विद्या तत्त्व की संस्थिति भी आकलित की जाती है। यह भी कला पदिका मानी जाती है। काल पद पर कला और कलापद पर अशुद्ध विद्या और इसके बाद राग आदि उत्पन्न होते हैं। यह माया का परिवार है। माया को लेकर यह छः सदस्यों वाला परिवार है। इन्हें कंचुक और मल तथा आवरण शब्दों से भी जाना जाता है।

संस्था शब्द नियति अर्थ में व्यवहृत है। इसका विग्रह है—(नियच्छति भोगेषु अणून्) अणुओं को भोगवाद में लगा रखने वाली शक्ति। इस मतवाद के अनुसार माया और काल नियति नियन्त्रित कहे गये हैं। शेष कला और विद्या हैं वे भी इनके ऊपर अवस्थित हैं।"

सर्वज्ञानोत्तर तन्त्र में काल-आवरण के ऊपर माया तत्त्व की स्थिति स्वीकार की गयी है। स्वायंभुवतन्त्र में माया से कालतत्त्व ऊपर है या नीचे यह नहीं स्पष्ट है। कालतत्त्व में कला और नियति इनके होने की संस्थिति का उल्लेख है। उसी प्रकार विद्या की स्थिति की चर्चा भी है।

'तत्रैव पुरुषो ज्ञेयः प्रधानगृहपालकः।
रागतत्त्वाच्च विद्याख्यमशुद्धं पशुमोहकम् ॥' इति।
'ततः कालनियत्याख्यं संपुटं व्याप्य लक्षधा।' इति।
'कालतत्त्वात्कला ज्ञेया लक्षायुतपरिच्छदा।' इति।
'तदूर्ध्वं तु भवेन्माया कोटिधा व्याप्य साप्यधः।' इति। च

नियत्येति यतः क्रम उद्दिष्ट इति—अर्थात् सृष्टिक्रमेण, यदुक्तं तत्र

'क्षोभितोऽनन्तनाथेन ग्रन्थिर्मायात्मको यदा।'

इत्याद्युपक्रम्य

किसी जीर्ण शीर्ण पुस्तक में राजानक जयरथ ने यह लिखा हुआ पाया कि 'काल नियति के संपुट में रहने वाला तत्त्व है, कला तो काल को आत्मा ही है। इस पाठ को जयरथ अच्छा मानते हैं। इसे ग्राह्य और मान्य न मानने पर किरण शास्त्र की उक्ति में विरोध और सन्देह होने लगेगा। वहाँ निम्न बातें कही गयी हैं--

अ—"वह पुरुष तत्त्व है—यह जानना चाहिये। पुरुष प्रधानतया इस विश्व गृह का पालक है। (गृह पालक प्रतिष्ठा का पद नहीं होता) राग से अशुद्ध विद्या निष्पन्न होती है। राग से अधिक अशुद्ध विद्या 'पशु' जीवों की मोहिका के रूप में प्रसिद्ध है।

तथा—

आ—"इसके बाद 'कालनियति' नामक सम्पुट लाख गुना परिधि में व्याप्त है"।

तथा—

इ="कालतत्त्व से कला तत्त्व दस हजार लाख गुना सोमा अवधि में व्याप्त है"।

तथा—

ई—"इनके ऊपर माया तत्त्व है। उसका विस्तार करोड़ गुना अधिक है। वह नोचे भो (अपना प्रभाव विस्तार करती) है।"

'तद्वन्मायाणुसंयोगाद्व्यज्यते चेतना कला।' इति।

'इत्यणोः कलितस्यास्य कलया प्राग्जगन्निधेः।
कलाधारेऽणुविज्ञानं बुभुत्सोर्विद्यया भवेत्॥ इति।

'तस्मादेवाशयाद्रागः सूक्ष्मरूपोऽभिजायते।
येनासौ रञ्जितः क्षिप्रं भोगभुग्भोगतत्परः॥' इति।

'अथ कालक्रमप्राप्तः कञ्चुकत्रयदर्शनात्।
येनासौ कल्यते सूक्ष्मः शिवसामर्थ्ययोगतः॥ इति।

ये सारे क्रम नियति से सम्बन्धित हैं। यही यहाँ कहा गया है। अर्थात् सृष्टि क्रम से ही सम्बन्धित कहे गये हैं।"

तथा वहाँ कहा गया है कि,

उ—"अनन्त भट्टारक ने माया की गाँठ को खोलने के लिये उसे क्षुब्ध किया"

यहाँ से लेकर,

ऊ—"उसी तरह माया और अणु के संयोग में चेतनात्मिका कला अभिव्यक्त होती है"।

ऋ—"इस प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में अणु कला से कलित हो जाते हैं। कलाधार में बुभुत्सु अणुओं को अणु विज्ञान की उपलब्धि विद्या के द्वारा हो जाती है"।

तथा—

ॠ—"उसी आशय से अत्यन्त सूक्ष्म राग उत्पन्न होता है। उसी के प्रभाव से पुद्गल पुरुष भोगों में अनुरक्त हो जाता है तथा भोगवाद का चक्र उसके ऊपर चल जाता है। वह मुमुक्षु से भोगेच्छु बन जाता है"।

तथा—

ऌ—"काल क्रम से प्राप्त अवसर पर अभ्यास वश तीन कञ्चुकों के अनुभूत हो जाने पर शैव मध्य विकास से बल का लाभ होता है। उसी सामर्थ्य के योग से वह सूक्ष्मता को आत्मसात् करता है और लोगों द्वारा उत्तम आकलित होने लगता है"।

'अथेदानीं मुनिव्याघ्र कारणस्यामितद्युतेः ।

शक्तिर्नियामिका पुंसः सतत्त्वेन समर्पिता ।।' इति ।

'अथ पुंस्तत्त्वनिर्देशः स्वाधिष्ठानोपसर्पितः ।' इति च ।

क्रमस्यान्यादृशी स्थितिर्निगदसिद्धा, इति न विभज्य व्याख्यातम् ॥ ४७ ॥

इदानीं प्रकृतमेवानुसरति

कार्यकारणभावोये तत्त्वे इत्थं व्यवस्थिते ।। ४८ ।।

श्रीपूर्वशास्त्रे कथितां वच्मः कारणकल्पनाम् ।

तथा—

ॡ—"हे मुनियों के वृन्द के वन्दनीय ! अत्यन्त देदीप्यमान शैव-प्रकाश प्रमाता ही विश्व का मूल कारण है । पुरुष की नियामिका परमेश्वर की ही शक्ति है । वह शक्ति समस्त तत्त्वों सहित परमेश्वर को ही समर्पित है" ।

तथा—

ए—"स्वाधिष्ठान चक्र या अपने अधिष्ठान से उपसर्पित (गतिशील) पुंस्तत्त्व का निर्देश किया गया है" ।

यहाँ तक की इन सभी उक्तियों में उक्त छः कंचुकों के क्रम के कथन में सादृश्य नहीं है । यह अशुद्ध है, यह भी कैसे कहा जाय ? जब कि आप्त महासिद्धों की अनुभूतियों का ही अभिव्यंजन उन शास्त्रों में संकलित है । ऐसी उक्तियाँ निगदसिद्ध कहलाती हैं । अतः इस क्रम वैचित्र्य के चक्कर में न पड़ कर अपने गुरु क्रम निर्दिष्ट शास्त्र में जो उपदेश हो उसे ही अपनाना श्रेयस्कर होता है । हमने इसी शैली का प्रयोग किया है ॥ ४७ ॥

इसलिये कार्यकारण भाव के विनिश्चय से सम्बन्धित ऊहापोह का परित्याग कर हमने जो मार्ग चुना है, वह मालिनीविजयोत्तर तन्त्र की ही पद्धति है । गुरु क्रम की परम्परा का पोषक श्री पूर्वशास्त्र तन्त्र ही है । उसी शास्त्र के अधिकार के परिवेश में पुरस्कृत होने वाली यह त्रिक परम्परा है । उसमें तत्त्वों के क्रम स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हैं ।

श्रीपूर्वशास्त्र इति—तदधिकारेणैव एतस्य ग्रन्थस्य प्रवृत्तेः कारणकल्पना च अत्र तत्त्वं प्रति प्रविभागस्य प्रक्रान्तत्वात् तद्विषयैव पर्यवस्येत्, इत्यनुजोद्देशोद्दिष्टस्य तत्त्वक्रमनिरूपणाख्यस्यापि प्रमेयस्य सावकाशता, इत्यर्थसामर्थ्यलभ्यम् ॥ ४८ ॥

तदेवाह

शिवः स्वतन्त्रदृग्रूपः पञ्चशक्तिसुनिर्भरः ॥ ४९ ॥
स्वातन्त्र्यभासितभिदा पञ्चधा प्रविभज्यते ।

'स्वतन्त्रदृग्रूप' इति—अनन्याकाङ्क्षत्वात् स्वतन्त्रा येयं दृक् तद्रूपो—निराशंस इन्यर्थः, अत एव 'पञ्चशक्तिसुनिर्भरः' पूर्ण इत्युक्तम् ॥

पञ्चधा प्रविभागमेव दर्शयति

चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः ॥ ५० ॥

अनुज उद्देशों की पार्थक्य प्रथा के प्रतोक प्रमेयों को कारण-कल्पना इसी शास्त्र पर निर्भर है। श्रोतन्त्रालोक नामक इस शास्त्र की रचना इसी श्री पूर्वशास्त्र पर आधारित है ॥ ४८ ॥

उक्त भूमिका के आधार पर अपना मन्तव्य शास्त्रकार अभिव्यक्त कर रहे हैं—

शिव स्वातन्त्र्य-सम्पन्न ज्ञानरूप और पाँच शक्तियों से परिपूर्ण परमेश्वर हैं। स्वातन्त्र्य के कारण उनमें भेद का आभास होता है। पाँच शक्तियों को सुनिर्भरता से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अभिव्यंजन और यह भेदाभास परमेश्वर स्वातन्त्र्य के कारण हो है।

यह आभास चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप शिव की पाँच शक्तियों के आधार पर होता है। इनकी जहाँ पूरी तरह स्फुटता होती है, वहाँ तदनुरूप तत्त्वों का उल्लास होता है। जैसे चित्प्राधान्य में शिव, आनन्द-प्राधान्य में शक्ति, इच्छा प्राधान्य में सदाशिव, ज्ञान प्राधान्य में ईश्वर और क्रिया प्राधान्य में सद्विद्या नामक पाँच तत्त्वों का उदय होता है। कहा जाता है कि,

शिवशक्तिसदेशानविद्याख्यं तत्त्वपञ्चकम् ।

सदेति—सदाशिवः, तदुक्तम्

'चिदानन्देषणाज्ञानक्रियापञ्चमहातनुः ।
विवर्तते महेशानस्तत्त्ववर्गेषु पञ्चधा ।। इति ।

तथा

'शिवशक्तिसदाशिवतामीश्वरविद्यामयीं च तत्त्वदशाम् ।
शक्तीनां पञ्चानां विभक्तभावेन भासयति ।।' इति ।। ५० ।।

नन्विह सर्वस्य सर्वात्मकत्वादेकैकापि शक्तिः सर्वशक्तिस्वभावा, इति कथमेकैकशक्तिमुखेन तत्त्वपञ्चकनिरूपणम् ? इत्याह

एकैकत्रापि तत्त्वेऽस्मिन् सर्वशक्तिसुनिर्भरे ।। ५१ ।।
तत्तत्प्राधान्ययोगेन स स भेदो निरूप्यते ।

"चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप अवयवों से सम्पन्न विराट्-वपुष् परमेश्वर पाँच तत्त्वों में वर्गानुसार विभक्त होकर वर्त्तमान हैं"।

और भी कहा गया है कि,

"शिव, शक्ति, सदाशिव ईश्वर और सद्विद्या रूप पाँच तत्त्व दशाओं में पाँच शक्तियों के प्रभाव से हो महेश्वर अभिव्यक्त हैं" ।। ४९–५० ।।

प्रश्न उपस्थित होता है कि त्रिक सिद्धान्त में 'सर्वं सर्वात्मकम्' की बात मानी जाती है। यह महत्त्वपूर्ण और सर्वमान्य दृष्टि है। वस्तुतः एक-एक शक्ति सर्वशक्ति स्वभावात्मक होती है। यहाँ एक-एक शक्ति से शक्ति-प्रसूत पाँच तत्त्वों की अभिव्यक्ति की बात कही गयी है। कहना चाहिये कि एक-एक शक्ति ही सब शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। इस मान्यता पर अपनी सम्मति दे रहे हैं कि,

बात सही है। इस तत्त्व विभाग में एक-एक शक्ति में यह सर्वशक्तिमत्ता विद्यमान है; इसमें संशय की लेशमात्र सम्भावना नहीं है। यहाँ एक एक शक्ति के प्राधान्य की दृष्टि से यह पाँच प्रकार का तत्त्व विभाग निर्दिष्ट किया गया है।

तत्तदिति--चिदानन्दादि । इह खलु चिन्मात्र स्वभावः पर एव शिवः पूर्णत्वात् निराशंसोऽपि स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् बहिरुल्लिलसिषया परानन्द-चमत्कारतारतम्येन प्रथमम् 'अहम्' इति परामर्शतया शक्तिदशामधिशयानः प्रस्फुरेत्, अनन्तरं च अहमिदमिति परामर्शशाखाद्वयमवभासयेत्, तत्र च शुद्धचिन्मात्राधिकरण एव अहमित्यंशे यदा परमेश्वर इदमंशमुल्लासयति तदा तस्य प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पभावराशिविषयत्वेनास्फुटत्वात् इच्छाप्रधानं सदाशिवतत्त्वम्--अहमिदमिति, भावराशौ पुनः स्फुटीभूते तदधिकरणे

परम शिव पूर्ण हैं, निराशंस हैं । अनिर्वचनीय स्वातन्त्र्य सम्पन्न हैं । इसी स्वातन्त्र्य के माहात्म्य से बाह्य उल्लास को लालसा परानन्द चमत्कार उत्पन्न करती है । इस चमत्कार में एक तारतम्य उदित होता है । पहले 'अहम्' परामर्श की एक लहर लहरा उठती है । यह परामर्श शक्ति दशा की शाक्त शय्या पर स्फुरित होता है । उसका आनन्द मत पूछिये । उस परानन्द में डूबिये और इस परामर्श की रस शय्या में तनिक स्वयं शयन करने का अभ्यास कीजिये । इस अभ्यास की परिनिष्ठा आपको अपने अधिष्ठान से परिचित करा देगी । उसके बाद उस परामर्श की एक नई शाखा फूटती दीख पड़ती है । उस शाखा का नाम 'इदम्' है । दोनों परामर्श एक साथ 'अहम् इदम्' का रूप धारण करते हैं । 'मैं यह हूँ' इस स्पन्द का यह एकल-यामल परामर्श है ।

यहाँ दिव्य रश्मियों की फुलझड़ियाँ छूटती हैं । समाहित होकर देखिये एक चमत्कार ! शुद्ध चिन्मात्राधिकरण अहमंश में परमेश्वर ने इदमंश की मरीचियों को उल्लसित कर दिया है । इदमंश की रश्मियाँ शुद्ध चिन्मय अहमंश पर पड़ रही हैं । यह आदिम उल्लास कितना स्पृहणीय है । प्रकाश-कणिकायें स्फुलिंगों के गुच्छक बना कर एक मिहराब निर्मित कर रही हैं । उसमें चित्रात्मकता का कल्पनातीत स्फुरण है । अस्फुट भावराशि की रमणीयता है । आनन्द के प्रकाश पारावार में इच्छा की तारङ्गिकता रूपायित हो रही है । यह देखिये, सदाशिव तत्त्व का उल्लास हो गया । परमेश्वर की रश्मि क्रीड़ा का एक वरेण्य रमणीय रूप ।

यह शाश्वतिक उल्लास का एक चिन्मय चित्र है । इसमें अभी नये रंग भरने हैं । इस रङ्गकर्म को अवगम करने का अभ्यास कीजिये । अब

एवेदमंशे यदाहमंशं निषिञ्चति तदा ज्ञानशक्तिप्रधानमीश्वरतत्त्वम्—इदमहमिति, अत एव चाहंविमर्शस्याविशेषेऽपि अत्रेदमंशस्य ध्यामलत्वाध्यामत्वाभ्यामयं विशेषः, यदा पुनः प्ररूढभेदभावराशिगतेदमंशस्फुरणे चिन्मात्रगत्वेन अहमंशः समुल्लसति 'भेदाद्वैतवादिनामिव ईश्वरस्य यः समधृततुलापुटन्यायेन अहमिदमिति परामर्शः' तत्क्रियाशक्तिप्रधानं विद्यातत्त्वम्, इति विभागः, यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बहिरौन्मुख्येन व्यापारः 'शक्तितत्त्वं' तथा सदाशिवेश्वरयोरपि' विद्यातत्त्वमिति अमुनैव चाशयेनान्यत्र

उल्लास की प्रकाश प्रक्रिया का अप्रतिम प्रवर्त्तन और आन्तर दर्शन-तत्त्ववाद का पुनः आरम्भ । अहमिदम् की इदमांशिकता के परिवेश में अहमंश के अमृत का अभिषिञ्चन ! यहाँ अहमंश ने इदमंश का अवगम किया । जान कर ज्ञानवान् बना । ज्ञान-प्रधान हो उठा और एक अतितेजस तुरीय तत्त्व की उत्पत्ति हो गयी । इसे 'ईश्वर' तत्त्व का अभिधान मिला । ऐश्वर्य का यह मूल उत्स ! इसे 'इदमहम्' परामर्श का प्रमाता कहना ही श्रेयस्कर है । इसमें अहमंश का विमर्श तो यथावत् है पर एक विशेषता है । पहले इदमंश का ध्यामल (अशुद्ध) रूप आ गया और अध्याम (स्वच्छ) अहमंश गौण हो गया—पीछे पड़ गया । यह 'अहमिदम्' और 'इदमहं' परामर्शों का अन्तर योगियों की महानुभूति का विषय है ।

यह ध्यान देने की बात है कि 'इदम्' कहने के साथ भावराशि की भेदमयता स्फुट हो जाती है । यह भेदात्मकता की स्फुटता इदंता की विशेषता है । इदंता स्फुरित होती ही रहती है । उसी में चामत्कारिक ढङ्ग से अहमंश की चिन्मयता भी यदि स्फुरित होने लगे तो एक तुला की सी निर्मिति हो जाती है । तुला के एक पुट पर इदमंश और एक पर अहमंश ! एक प्रकार का सामानाधिकरण्य । मैं यह हूँ का प्रातिभ-परामर्श ! इसमें क्रिया शक्ति की प्रधानता होती है । यह पाँचवाँ सद्विद्या तत्त्व होता है । यद्यपि यह पञ्चात्मक उल्लास उसी चिदानन्दघन परमेश्वर का एक ही घनात्मक ऐश्वर्य है, फिर भी उसका बहिरौन्मुख्य व्यापार ही शक्तितत्त्व' और सदाशिव तथा ईश्वर इन दोनों का एक घन ऐश्वर्य विद्या तत्त्व है ।

इसी आशय को लेकर ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनीकार ने इस रहस्य गर्भ शास्त्र की रचना की थी । एक तात्त्विक महावाक्य से इस तथ्य का समर्थन किया गया है—

'निराशंसात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यत्
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभङ्क्तुं निजकलाम् ।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुष-
स्तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम् ॥'

इत्याद्यनेनोक्तम् ॥ ५१ ॥

"चिन्मय परमेश्वर पूर्ण है। वह निराकांक्ष है! अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव से पहले 'अहम्' रूप से प्रकाशित होता है। उसका स्वभाव 'चित्' का है पर आनन्द के चमत्कार से अहमात्मक परामर्श का महास्पन्द उत्पन्न होता है। यह शक्ति की भूमि होती है। इस शाक्त भाव के बाद परामर्श की दो शाखायें हो जाती हैं। अहम् को एक शाखा और इदम् की दूसरी शाखा।

इसके बाद पर-प्रमाता नैज (स्वात्म) कला को विभाजित करने के लिये स्वरूप से सर्वप्रथम उन्मेष का अङ्कुर उत्पन्न करता है। अर्थात् अपने भीतर विराजमान शक्तिभाग को शिवभाग से पृथक् भासित करने के प्रसर क्रम को अपनाता है। उद्‌भविष्णुता के इस प्रसर क्रम में वह शिव से शक्ति और शक्ति से क्षिति पर्यन्त संचरित हो जाता है। पुनः निमेष भी करता है। उन्मेष पहली क्रिया, प्रसरण दूसरी क्रिया और निमेष की तीसरी प्रक्रिया चलती है। इसमें वसुधादि शिवापर्यन्त शक्तिभाग को स्वात्म में नियोजित कर वही अद्वैत तत्त्व अवस्थित होता है। यही उन्मेष, प्रसरण और निमेष की स्थिति है।

इस प्रकार उसका पहला स्वरूप चिदानन्दात्मक होता है। उन्मेषमयी उसकी यही अपनी निजात्मक कला मानी जाती है। यह उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति से उद्‌भूत सामरस्यमयी यामलरूपता ही परमशिव-शक्त्यात्मक दशा मानी जाती है। फिर भी यह अद्वैत की ही भूमि होती है। अद्वैत शब्द अद्वि + इत से बना है। द्वीत ही द्वैत है। संशय विपर्यय भाव वाला द्वन्द्व भाव ही द्वैत है। इसमें दो से अहन्ता इदन्ता का ज्ञान अर्थ भी लिया जाता है। यही द्वैत भाव है। इस द्वैत भाव से रहित परमशिव अद्वैत परमात्म तत्त्व माना जाता है। इसी शिव-शक्त्यात्मक निखिल अद्वैत की वन्दना विमर्शिनीकार ने की है। यहाँ वन्दना का अर्थ समावेश माना गया है। अर्थात् अद्वयभावसमावेश में उस परमशिव का परामर्श कर रहा हूँ। इस उपोद्‌घात श्लोक से उक्त श्लोकार्थ का समर्थन हो जाता है" ॥ ५१ ॥

ननु यदि नामात्र परे रूपेऽपि एवं भेदः संभवेत्, तर्हि अस्य कथमनवच्छिन्नपरप्रकाशात्मकं स्वरूपं तिष्ठेत् ? इत्याशङ्क्याह

तथाहि स्वस्वतन्त्रत्वपरिपूर्णतया विभुः ॥ ५२ ॥
निःसंख्यैर्बहुभी रूपैर्भात्यवच्छेदवर्जनात् ।

पर एव हि शिवः स्वतन्त्र्यमाहात्म्यात् भूतभावभुवनाद्यात्मकैर्विच्छिन्नैरनन्तै रूपैः स्वात्मन्यवच्छेदं वर्जयित्वा भाति, एवमपि अप्रच्युतप्राच्यस्वरूपत्वात् अनवच्छिन्नपरप्रकाशात्मक एवेत्यर्थ ॥ ५२ ॥

ननु 'अनेकत्र एकरूपानुगमस्तत्त्वम्' इत्युक्तं तच्चात्र कथम् ? इत्याशङ्क्याह

शांभवाः शक्तिजा मन्त्रमहेशा मन्त्रनायकाः ॥ ५३ ॥
मन्त्रा इति विशुद्धाः स्युरमी पञ्च गणाः क्रमात् ।
स्वस्मिन्स्वस्मिन् गणे भाति यद्यद्रूपं समन्वयि ॥ ५४ ॥
तदेषु तत्त्वमित्युक्तं कालाग्न्यादेर्धरादिवत् ।

परमात्मा का स्वरूप अनवच्छिन्न परप्रकाशात्मक माना जाता है। उक्त श्लोकों के आधार पर यह लगता है कि उसके पर-स्वरूप में भी इस प्रकार की भेदमयता और द्वैत भावमयता विद्यमान है ? इसका उत्तर दे रहे हैं कि,

सर्वशक्तिमान् परमेश्वर विभु है। सर्वसमर्थ है। स्वात्म स्वातन्त्र्य से शाश्वत संवलित है। परिपूर्ण है। वह अनन्त रूपों में भासित होता हुआ भी, सभी अवच्छेदों से रहित है। अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह दर्पणनगरवत् यह विश्वात्मक पार्थक्य प्रथा उसमें भासित होती रहती है। पर यह भासन अवच्छेदों से रहित होता है। उसका प्राच्य स्वरूप इस भासन से प्रच्युत नहीं होता। वह अनवच्छिन्न पर प्रकाशात्मक हो रहता है। इसमें सन्देह और तर्क के लिये कोई अवकाश नहीं ॥ ५२ ॥

अनेक स्थानों पर एकरूपता का अनुगम तत्त्व का लक्षण है। उसकी चरितार्थता के सम्बन्ध में विश्लेषण आवश्यक है। इन श्लोकों में इसी का विचार किया गया है—

एष्विति—शिवादिपञ्चसु तत्त्वेषु, कश्चैषां स्वोगणः ? इत्याशङ्क्योक्तं 'शाम्भवाद्या अमी पञ्च गणा' इति, क्रमादिति यथासंख्येन, तेन शिवतत्त्वे शांभवा यावद्विद्यातत्त्वे मन्त्रा इति, शांभवा इति शंभोः—परप्रकाशात्मन इमे, परप्रकाशनान्यथानुपपत्त्यावाप्ततत्तादात्म्यवृतयो भुवनादयो विश्वे भावा इत्यर्थः, यदुक्त प्राक्

'यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्यदेष्वन्वितं ।
रूपं भाति परं प्रकाशनिविडं देवः स एकः शिवः ॥' इति ।

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या ये ५ तत्त्व हैं। इनके अपने गण हैं, जिनमें इनकी समरूपता का अनुगम होता है । शिव तत्त्व में शाम्भव, शक्तितत्त्व में शाक्त, सदाशिव तत्त्व में मन्त्रमहेश, ईश्वर तत्त्व में मन्त्रनायक (मन्त्रेश्वर) और सद्विद्या तत्त्व में मन्त्र ये विशुद्ध ५ गण हैं। क्रमशः अपने-अपने गणों में इनकी समरूपता का समन्वय होता है। यही कारण है कि इनमें भो तत्त्व की बात कही गयी है। कालाग्नि आदि से जैसे धरा आदि में तात्त्विकता का समन्वय होता है, उसी तरह इन विशुद्ध और सूक्ष्म तत्त्वों में भी होता है।

शम्भु से उद्‌भूत शाम्भव कहलाते हैं। यह कहा जा सकता है कि यह सारा गण प्रसार पर-प्रकाशात्मक है। विना पर-प्रकाश के प्रसार असम्भव है। अतः इनमें शैवतादात्म्य भाव ओत-प्रोत हैं। सारे भुवनादिक विश्वात्मक भाव भी प्रकाश रूप ही हैं। कहा गया है कि,

"ये जितने पुर हैं, जिनकी गणना शास्त्रों में की गयी है, इनके अनेकानेक भेदों में प्रकाश की समन्विति है। इन रूपों में प्रकाशघन परम महेश्वर शिव का रूप ही अभिव्यक्त हो रहा है"।

शक्तिज अनाश्रित तत्त्व है। चिदैक्य के स्वातन्त्र्य बोध के क्षोण होने की अवस्था अनाश्रित अवस्था है। यह शक्तिज है। इसलिये शाक्त है और सदाशिव से ऊपर है। इसीलिये शैव भी है। न मात्र शक्ति पर और न मात्र शिव पर हो आश्रित शिव अनाश्रित शिव है। शक्ति के कारण ऐसा होता है। इसलिये शक्तिज है। वास्तव में शिव का स्वातन्त्र्य ही उसको शक्ति है। स्वातन्त्र्य के प्रभाव से ही यह अवस्था आती है। तत्त्व में इसको गणना नहीं की जाती। इसमें स्वात्म की अख्याति हो जाती है। अतः यह अलग शाक्त वर्ग में परिगणित है।

शक्तिजा इति–अनाश्रिताद्याः, मन्त्रमहेशाद्यास्तु पूर्वमेवोक्ताः एवं च मन्त्रमहेशाद्यात्मनि स्वस्मिन् वर्गद्वये

'किं त्वान्तरदशोद्रेकात्सादाख्यं तत्त्वमादितः ।
बहिर्भावपरत्वे तु तु परतः पारमेश्वरम् ।।

इत्याद्युक्तयुक्त्या यदा आन्तरदशोद्रिक्तत्वादिकमनुयायि रूपमाभासते तदभिप्रायेणात्र 'सदाशिवतत्त्वमीश्वरतत्वं च' इत्युक्तं, न पुनरधिष्ठातृदेवताभिप्रायेण—सदैवान्तारूपतया शिवत्वस्य भासनात् बहीरूपतया चैश्वर्यस्यैव परिस्फुरणात्, एवं हि ब्रह्मादीनामपि पृथक्तत्त्वपरिगणनं प्राप्नुयात्, अन्यथा हि एषां कारणत्वस्याविशेषात् अर्धजरतीयं स्यात्, तथात्वे च पृथिव्यधिष्ठातृत्वात् सार्वभौमस्यापि राज्ञः तत्त्वान्तरत्वं प्रसज्येत्, न चैनम्, इति यथोक्तमेव युक्तम् ॥ ५४ ॥

मन्त्रमहेश वह प्रमाता है, जिसने सदाशिवतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है। मन्त्र महेश और मन्त्रेश्वर ये दो वर्ग हैं। कहा गया है कि

"आन्तर दशा के उद्रेक से सदाशिव तत्त्व बाह्यभाव की ओर उन्मुख हो जाता है। इस प्रकार दो रूपों का अवभासन स्वाभाविक हो जाता है। बाह्योद्रिक्त ऐश्वर्य पूर्ण भाव वस्तुतः आन्तर भाव का एक अनुगत भाव है। इसीलिये इन दोनों अवभासित रूपों को सदाशिवतत्त्व और ईश्वर तत्त्व की संज्ञा दो गयी है"।

ये संज्ञायें अधिष्ठाता देवता मान कर नहीं दी गयी हैं। आन्तर-बाह्य अवभास की दृष्टि से दी गयीं हैं, आन्तर शिव का शाश्वत अवभासन रहता है। सदाशिव-रूप आन्तर शिवत्त्वावभास और ईश्वर बाह्य ऐश्वयाविभास के परिस्फुरित तत्त्व द्वय स्वरूप हैं। इसीलिए इन्हें तत्त्व में परिगणित किया जाता है। इस आधार पर क्या ब्रह्मा विष्णु को भी पृथक् तत्त्व मानना पड़ेगा ? नहीं, ये देव शिवत्व के बाह्यावभास के ऐश्वर्य के प्रतीक मात्र हैं। इनको तत्त्व मानने का कोई औचित्य नहीं। यहाँ अर्द्धजरतीय न्याय की प्रसक्ति नहीं होगी। बाह्यावभास-सादृश्य में पृथ्वी के अधिष्ठाता होने के कारण सार्वभौम सम्राट् को भी पृथक् तत्त्व मानने की अनवस्था उत्पन्न हो जायेगी। कालाग्नि आदि के उद्रिक्त अनुगत धरादि तत्त्वों की तरह ही सदाशिव और ईश्वर तत्त्व का कथन किया जाता है, यह तथ्य यहाँ स्पष्ट हो जाता है ॥ ५४ ॥

तदाह

तेन यत्प्राहुराख्यानसादृश्येन विडम्बिताः ॥ ५५ ॥
गुरूपासां विनैवात्तपुस्तकाभीष्टदृष्टयः ।
ब्रह्मा निवृत्त्यधिपतिः पृथक्तत्त्वं न गण्यते ॥ ५६ ॥
सदाशिवाद्यास्तु पृथग् गण्यन्त इति को नयः ।
ब्रह्मविष्णुहरेशानसुशिवानाश्रितात्मनि ॥ ५७ ॥
षट्के कारणसंज्ञेऽर्धजरतीयमियं कुतः ।
इति तन्मूलतो ध्वस्तं गणितं नहि कारणम् ॥ ५८ ॥

इस तथ्य को निम्न कारिकाओं में और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

कुछ पाठक इस तथ्य से अपरिचित होते हैं। औपन्यासिक ग्रन्थों की तरह नाम के चक्कर में पड़ कर आख्यान की दृष्टि से ही गम्भीर विषयों का भी निर्वचन करने लगते हैं। इनमें गुरुजनों की उपासना के भाव नहीं होते। उन गुरु परम्पराओं से वे अपरिचित रहते हैं। ग्रन्थ के तात्त्विक अभीष्ट की जानकारी तो गुरुजनों से ही हो पाती है। जैसे ब्रह्मा देवता हैं। यह निवृत्ति-कला के अधिपति हैं। निवृत्ति के अधिष्ठाता होने से तत्त्व नहीं माने जा सकते। इसलिये इन्हें पृथक् तत्त्व नहीं मानते।

जिज्ञासा उदित होती है कि सदाशिव और ईश्वर आदि तो पृथक् तत्त्व के रूप परिगणित हैं। ब्रह्मा, विष्णु, हर, ईशान, सुशिव और अनाश्रित इनको तत्त्व रूप में परिगणित नहीं करते। क्यों? इसे इस तरह समझ सकते हैं। शिव के उद्रिक्त ऐश्वर्य का बाह्यावभास होता है। यह निश्चित है। इस अवभास के आन्तर और बाह्य दो परिवेश हैं। आन्तर अवभास सदाशिव तत्त्व और बाह्य अवभास ईश्वर तत्त्व हैं। पूर्व पक्ष पूछता है कि उद्रिक्त ऐश्वर्य के अवभास ही तो ब्रह्मा विष्णु आदि देव हैं। इन्हें भी तत्त्व क्यों नहीं मानते? यह तो अर्धजरत्तीय न्याय की ही बात हुई। "आधा घर देवकुर आधा भरसाँय" यह भोजपुरी विभाषा की एक कहावत है। आधा शरीर बूढ़ा और आधा जवान नहीं होता। इसी तरह किसी को तत्त्व मानना और किसी को न मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

यथा पृथिव्यधिपतिर्नृपस्तत्त्वान्तरं नहि ।
तथा तत्तत्कलेशानः पृथक् तत्त्वान्तरं कथम् ॥ ५९ ॥

आख्यानसादृश्येनेति—सदाशिवादीति नामसादृश्येन ॥ ५६-५९ ॥

एतदेवाधिकावापेनोपसंहरति

तदेवं पञ्चकमिदं शुद्धोऽध्वा परिभाष्यते ।
तत्र साक्षाच्छिवेच्छैव कर्त्र्याभासितभेदिका ॥ ६० ॥

ननु यद्येवं तदशुद्धेऽध्वनि कः कर्ता ? इत्याशंक्याह

ईश्वरेच्छावशक्षुब्धभोगलोलिकचिद्गणान् ।
संविभक्तुमघोरेशः सृजतीह सितेतरम् ॥ ६१ ॥

वास्तव में यह जिज्ञासा मौलिक आधार से रहित है। तस्य भावस्तत्त्वम् के अनुसार तत्त्व में भावोद्रेक का समन्वय अनिवार्यतः आवश्यक है। यह गणित शास्त्र नहीं है कि १ और १ मिला कर दो बना लिया। यहाँ तो १+१=१ ही होता है। ब्रह्मा आदि को कारण मान लेना गणित है। तन्त्र की बाह्यावभास दृष्टि नहीं। ऐसा मान लेने पर राज्य का अधिष्ठाता सम्राट् भी तत्त्व होने लगेगा। इसलिये विभिन्न कलाओं के अधिपति होने पर भी उन्हें तत्त्व नहीं कहा जा सकता ॥ ५५–५९ ॥

इस प्रकार यह शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या का शुद्ध पंचक शुद्ध अध्वा के पंचतत्त्व के रूप से परिभाषित होता है। इस पंचप्रकारता में साक्षात् शिवेच्छा ही कर्तृत्व वहन करती है। वही कर्त्री शक्ति है। यहाँ भेदमयता आभास मात्र है। इसलिये इच्छा को ही आभासित भेदिका भी मानते हैं ॥ ६० ॥

यदि ऐसी बात है तो अशुद्ध अध्वा में कौन कर्त्ता हो सकता है ? इसके उत्तर में सिद्धान्त का प्रवर्त्तन कर रहे हैं—

ईश्वरेच्छा के वशीभूत क्षुब्ध भोगलोलिका से प्रभावित अतः संकुचित आत्मवर्ग को विविध प्रकार के भोगवाद में नियोजित कर विभक्त करने के लिये मन्त्र महेश्वरों में प्रथम अघोरेश अशुद्ध अध्वा रूप सितेतर सृष्टि का प्रवर्त्तन करते हैं।

ईश्वरस्य—समन्तरोक्तस्य शुद्धस्वातन्त्र्यमयस्य इच्छावशेन क्षुब्धा

'क्षोभोऽस्य क्षोलिकाख्यस्य सहकारितया स्फुटम् ।
तिष्ठासा योग्यतोन्मुख्यमीश्वरेच्छावशाच्च तत् ॥'

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्या कार्मस्य मलस्य सहकारितायामुन्मुखी भोगलोलिका—अभिलाषात्मकमाणवं मलं, यस्यैवंविधो यश्चिद्‌गणः—संकुचित आत्मवर्गस्तं संविभक्तुं—तत्तद्भोगसाधनसंसिद्धया संविभागं कर्तुमघोरेशो—मन्त्रमहेश्वराणां प्रथमः अन्यत्रानन्तशब्दवाच्यः सितेतरम्—अशुद्धमध्वानम्, इह—अस्मद्दर्शने; सृजति—मायासंक्षोभपुरःसरं कलादिक्षित्यन्तेन वैचित्र्येणावभासयति बहिरित्यर्थः, तदुक्तम्

'ईश्वरेच्छावशादस्य भोगेच्छा संप्रजायते ।
भोगसाधनसंसिद्धयै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ॥
जगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभिः ।' इति ।

ईश्वर शुद्ध स्वातन्त्र्य को चौथी अवस्था है। उसको इच्छा आन्तर स्पन्द से उद्रिक्त समस्त ऐश्वर्य को आत्मसात् रखते हुए भी एक चमत्कार उत्पन्न करती है। ऐश्वर्य का उपभोग तो स्वाभाविक है। संकुचित प्रमाताओं में इच्छामयी एक लीलामयी ललक कुलकुलाने लगती है। इसमें बड़ी आकुलता होती है। माया क्षुब्ध हो जाती है। यह कार्म मल की लोलिका नामक सहकारिणी क्षुभितावस्था है, जिसमें संकुचित आत्मवर्ग अभिलाषात्मक आणव मल के प्रभाव में आ जाता है। इससे क्रमिक रूप से कलुषता की ओर अग्रसर होने लगता है। यह इसका भोगवाद की ओर प्रवर्त्तन है, तिष्ठासा है। इसके लिये वैसा क्षेत्र भी चाहिये, पूरक परिवेश भी चाहिये और अनुकूल वातावरण चाहिये। यह काम अघोरेश करते हैं। वे ऐसी सृष्टि का निर्माण करते हैं, जो सित नहीं होती। सितेतर अर्थात् अशुद्ध सृष्टि होती है। कला से क्षिति पर्यन्त सृष्टि के बाह्य उल्लास के प्रवर्त्तक अघोरेश हो जाते हैं। इस विषय में यह प्रसिद्ध है कि,

"ईश्वर की इच्छा से ही इसमें भोग की अभिलाषा उत्पन्न होती है। वह भोगेच्छु बन जाता है। उसके भोग साधनों की सम्यक् सिद्धि के लिये भोग सामग्रियों से भरे जगत् को मन्त्रेश्वर उत्पन्न कर देते हैं। इसके लिये उन्हें शक्तियों का आश्रय लेकर माया में समाविष्ट होना पड़ता है।"

तथा

शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः । इति ॥ ६१ ॥

ननु

'देवादीनां च सर्वेषां भाविनां त्रिविधं मलम् ।
तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम् ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या सर्वत्र मलस्य त्रैविध्येऽपि मुख्यतया कार्मस्यैव संसारकारणत्वम्, इह पुनः सृष्टिहेतुत्वाभिधानेन लोलिकाया इति, किमेतत्, इत्याशङ्क्याह

अणूनां लोलिका नाम निष्कर्मा याभिलाषिता ।
अपूर्णंमन्यताज्ञानं मलं सावच्छिदोज्झिता ॥ ६२ ॥

और भी कहा गया है कि,

"शुद्ध अध्वा के कर्त्ता शिव हैं और असित अध्वा के अघोरेश अनन्त हैं" अघोर ही अनन्तेश कहे जाते हैं। यही सितेतर सृष्टि करते हैं ॥ ६१ ॥

एक उक्ति है कि,

"भाव रूप से व्यक्त होने वाले देवादि सृष्टि के आणव, कार्म और मायीय ये तीन मल कारण हैं किन्तु इनमें भी कार्म मल ही संसार का मुख्य कारण है।"

इसके अनुसार मल की त्रिविधता सर्वत्र कारण रूप से मान्य है। पर संसार के लिये तो कार्म मल ही मुख्य रूप से कारण माना गया है। उक्त ६१वें श्लोक में भोग लोलिका रूप आणव मल को ही कारण स्वीकार किया गया है। ऐसा क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत कर रहे हैं—

अणुओं में लोलिका नाम की जो इच्छा होती है, वह क्रिया रूपता के न रहने के कारण अभी निष्कर्मा होती है। वह मात्र अपूर्णंमन्यता रूपा होती है। वह अज्ञान रूपा ही है। इसलिये वह मल रूप भी है। वह अवच्छेदों से अभी रहित ही होती है।

या नामाणूनां निष्कर्मा—क्रियारूपत्वाभावात् इच्छामात्रस्वभावाभिलाषिता सा प्रतिनियतविषयाभादवच्छिदोज्झिता लोलिका—स्वात्मनि साकांक्षतेव, अत एवापूर्णंमन्यता, अत एव पूर्णज्ञानात्मकस्वरूपाख्यातेरज्ञानं—संकुचितज्ञानम्, अत एव स्वस्वरूपापहान्या मलम्

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥'

इत्याद्युक्त्या द्विप्रकारमाणवाख्यं सर्वत्रेवोच्यते इत्यर्थः, एवं कार्मस्यैव मलस्य मुख्यतया संसारकारणत्वेऽपि एतदेवेह प्राधान्येनोक्तं—यत्तस्यापीदं कारणमिति यदुक्तम्

लोलिका अभिलाषा मयी तो होती है, पर इसकी कई विशेषतायें हैं—

१—वह सामान्य स्थूल इच्छा रूपा नहीं होती। २—अन्य इच्छाओं में क्रिया की प्रवृत्ति अनिवार्य होती है।

३—किसी प्रतिनियत विषय के अभाव के कारण इसमें अवच्छेदात्मक प्रवृत्ति नहीं होती।

४—स्वात्म में साकांक्षता की तरह इसमें अपूर्णं मन्यता का संस्कार भरा होता है। हम पूर्ण परमेश्वर हैं। इस भाव का स्वरूपतः संकोच हो जाता है। इसे ही अख्याति कहते हैं। अख्याति एक प्रकार का अज्ञान होती है। इसे संकुचित ज्ञान कह सकते हैं। चूँकि इससे स्वरूप की ही हानि होती है। इसलिये इसे मल कहते हैं। कहते हैं कि,

"आणव मल दो प्रकार का होता है। पहले के अनुसार बोध रूप पर प्रकाश ऐश्वर्य में जो स्वातन्त्र्य होता है—उसी की हानि हो जाती है। दूसरे में अपने स्वातन्त्र्य भाव का बोध ही मर जाता है। इसलिये यह निश्चय है कि इसमें अपने स्वरूप को विस्मृति हो जाती है, जिससे शिव अणुत्व का वरण करने के लिये विवश हो जाता है।"

इस तरह यद्यपि संसार का कारण मुख्य रूप से कार्ममल ही मान्य है फिर भी आणव को सितेतर सृष्टि का कारण मानने का आधार है। वह यह कि यह उसका भी (कार्म का भी) कारण है। कह गया है कि

'निमित्तमभिलाषाख्यम् ....।' इति ।

इयमेवाणूनामणुताया योग्यता, यत्—तस्यां सत्यां तत्तदवच्छेदपात्रत्व-मेषामुदियात् ॥ ६२ ॥

तदाह

योग्यतामात्रमेवैतद्भाव्यवच्छेदसंग्रहे ।
मलस्तेनास्य न पृथक्तत्त्वभावोऽस्ति रागवत् ॥ ६३ ॥

योग्यतामात्रमिति—साक्षादवच्छेदाधायित्वाभावेन, अस्येति—मलस्य, इह खलु वस्तुना वस्त्वच्छिद्यते वस्तुन एव च पृथक्तत्त्वभावो भवेत्, न चैतद्वस्तु किंचित्, अपि तु पूर्णस्वरूपस्याख्यातिमात्रम् इति युक्तमुक्तम्—तत्तदवच्छेदसंग्रहे योग्यतामात्रमेव एतन्मलमिति ॥ ६३ ॥

अभिलाषा नामक मल ही (कार्ममल का) निमित्त है ।"

वास्तव में अणुओं की अणुता का यही स्वरूप है कि उसके रहने पर ही पदार्थों में अवच्छेद की योग्यता के कारण कार्म मलों का उदय होता है ॥ ६२ ॥

क्या मल की गणना भी तत्त्वों में की जा सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर इस कारिका में प्रस्तुत है—

नहीं, मल में तत्त्व भाव की तनिक भी गुंजाइश नहीं है। इसके कारण हैं । १—यह साक्षात् अवच्छेद का आधायक नहीं । २ -यह कोई वस्तु सत्ता भी नहीं है। वस्तु का वस्तु से अवच्छेद होता है। इस अवच्छेद के ग्रहण में (सम्यक् रूप से अवगम में) मल की योग्यता भर है। इसलिये जिस तरह राग को पृथक् तत्त्व मानते हैं, मल को नहीं मान सकते ।

मल कोई वस्तु नहीं होता। यह मात्र पूर्ण स्वरूप को अख्याति है। इससे बोध स्वातन्त्र्य विस्मृत होता है और स्वातन्त्र्य का अबोध हो जाता है। इसलिये योग्यता मात्र कहना ही उचित है। यह तत्त्व नहीं कहा जा सकता ॥ ६३ ॥

ननु सांख्येन वैराग्यलक्षणो बुद्धिधर्मो रागः तत्तद्विषयाभिलाषस्वभावोऽभ्युपगतः, इति किमनेनान्येनैवंविधेन रागतत्त्वेन मलेन च प्रयोजनम् ? इत्याशङ्क्याह

निरवच्छेदकर्मांशमात्रावच्छेदतस्तु सा ।
रागः पुंसि धियो धर्मः कर्मभेदविचित्रता ॥ ६४ ॥

निरवच्छेदेति निर्विशेषः, तेन सा लोलिकैव 'किंचिन्मे भूयात्' इति सामान्याकारविषयमात्रावच्छिन्ना पुंधर्मत्वेनाभिमतो रागो, यः कञ्चुकपञ्चकान्तस्तत्त्वान्तरेण सर्वत्र परिगणितः, बुद्धिधर्मस्तु तस्यैव बहिष्पर्यन्ततया प्रसरणं, येन तत्तद्विषयभेदवैचित्र्येण बुभुक्षापिपासास्त्रीसंबुभुक्षादिलक्षणोऽयमध्यवसायः समुदियात् ॥ ६४ ॥

सांख्य की परिभाषा है कि 'राग बुद्धि का धर्म है' वह विविध विषयों के अभिलाष रूप से स्वीकृत है। वहाँ ऐसे किसी रागतत्त्व से या मल से क्या लेना देना ? प्रश्न तो लोलिका से सम्बन्धित था ? इस पर अपने विचार प्रस्तुत कर रहे हैं--

वास्तव में महत्त्व तो लोलिका का ही है। लोलिका से आत्मवर्ग संकुचित होता है। विषयों का अभिलाष भोगेच्छा को जन्म देता है और अघोरेश सितेतर सृष्टि करते हैं।

जहाँ तक राग का प्रश्न है, यह भी एक प्रकार की लोलिका ही है। निरवच्छेद कर्मांश तो विषय होता है। विषय मात्र से अवच्छिन पुंधर्म कि 'मुझे कुछ हो जाय' यह लोलिका ही राग है। यही राग पुंधर्म है। यही तत्त्व है क्योंकि विषयमात्रावच्छिन्न बुद्धि का धर्म भी राग है। इसके द्वारा कर्म भेद की विचित्रता ही उत्पन्न होती है। इस तरह राग के दो भेद हो जाते हैं। १—पुंधर्म राग और २—धीधर्म राग।

धीधर्म राग से विषयों के भेद की विचित्रता के फल स्वरूप भूख लगता है, प्यास सताती और रति क्रियादि उपभोगों के विचार उठते हैं। यह सब राग का बाह्य प्रसार है। आणव मल के प्रकरण में इन पर विचार किया जाना आवश्यक है ॥ ६४ ॥

आणवे पुनः सामान्येनैषणीयविषयोल्लेखतोन्मुखतामात्रं, यतोऽयमेवं विधः समुल्लासः, तदाह

अपूर्णंमन्यता चेयं तथारूपावभासनम् ।

चो हेतौ, यस्मादियमपूर्णंमन्यताणवमललक्षणा, तथा पुंबुद्धिधर्मतयाभिमतस्य रागावैराग्यात्मनो रूपस्य अवभासनं—तथा तथा सैवावभासत इत्यर्थः, अत एवैतदाणवेऽङ्कुरितप्रायं, रागे मुकुलितं; बुद्धौ पुनः फुल्लं फलितं च, इत्यलमवान्तरेण बहुना ॥

ननु स्वतन्त्रो बोध एव परमार्थ, इत्यस्मत्सिद्धान्तः, तत्तदतिरिक्तः कुतोऽयं मलो नाम ? इत्याशङ्क्याह

स्वतन्त्रस्य शिवस्येच्छा घटरूपो यथा घटः ॥ ६५ ॥
स्वात्मप्रच्छादनेच्छैव वस्तुभूतस्तथा मलः ।

आणव मल में सामान्यतया एषणीय विषयों की सांकेतिकता के प्रति निश्चित उन्मुखता होती है। यह उन्मुखता ही अपूर्णता के विविध रूपों को व्यक्त करती है—

अपूर्णं मन्यता रूप इस आणव मल का ही इन इन रूपों में अवभासन होता है। जिस समय यह पुंधर्म के रूप में अथवा जब बुद्धि धर्म के रूप में यह अवभासित होता है, तो इसके वैसे नाम हो जाते हैं। अपूर्णं मन्यता के रूप में यह अङ्कुरित होता है। पुंधर्म में मुकुलित होता है तथा धीधर्म के रूप में फूलता और फलने लगता है। लोलिका रूप में आणव मल, विषयावच्छिन्न रूप में राग और धधीर्म के रूप में भावनात्मक अध्यवसाय बन जाता है। यह सब मल का अवान्तर रूप है।

यद्यपि त्रिक का सिद्धान्त है कि 'स्वतन्त्र बोध हो परमार्थ है' यह लोलिका आदि एक नये मल रूप में आना–क्या अर्थ रखता है ? इसका उत्तर यहो है कि,

स्वतन्त्र शिव की इच्छा ही यह चमत्कार उत्पन्न करती है। वह अपने पूर्ण स्वरूप के प्रच्छादन की इच्छा से वस्तु भूत हो जाता है। जैसे घड़ा क्या है ?

वस्तुभूत इति—प्रच्छन्नात्मरूपत्वात्, इह खलु परमेश्वरः पूर्णज्ञान-क्रियात्मकं स्वं स्वरूपं स्वेच्छया प्रच्छाद्य संकुचितात्मतामवभासयेत्, अतश्च संकुचितमेव ज्ञानमस्य रूपमिति सर्वत्रोद्घोष्यते, तदुक्तम्

'मलमज्ञानमिच्छन्ति .... । इति ॥ ६५ ॥

नन्वखण्डः पर एव प्रकाशः समस्ति, इति तदतिरेकेण कथंकारमयं मलो नाम वस्तुरूपतामियात् ? इत्याशङ्क्याह

यथैवाव्यतिरिक्तस्य धरादेर्भावितात्मता ॥ ६६ ॥
तथैवास्येति शास्त्रेषु व्यतिरिक्तः स्थितो मलः ।

अस्येति—मलस्य, इतीति—वस्तुतः परप्रकाशाव्यतिरिक्तत्वेऽपि धरादिवत् व्यतिरिक्ततयास्य भानात्, शास्त्रेष्विति—स्वायम्भुवादिषु,

'अथानादिर्मलः पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम् ।' इति ।

घड़े का रूप क्या है ? अपने पूर्ण रूप को छिपाकर घडे के रूप में अवभासन मात्र ही तो है । यही वस्तु रूपता है । यही मल है । यह भी रूप का प्रच्छादन मात्र है । संकोच मात्र है । इस लिये मल की परिभाषा ही है कि संकुचित ज्ञान ही मल है । कहा गया है कि,

"मल अज्ञान है—यही स्वीकार करते हैं ।" एक तरह से बोध का परतन्त्र होना ही मल है ॥ ६५ ॥

तरह तरह के वितर्क तार्किकता की तरी में तिरने लगते हैं और शङ्का का रूप ग्रहण कर लेते हैं । यहाँ भी यही बात है । 'प्रकाश अखण्ड होता है' यह सर्वमान्य सिद्धान्त है । उसके अतिरिक्त यह मल कहाँ से आ गया जो वस्तु का रूप ग्रहण करा लेता है ? इसका उत्तर यह कारिका है—

जैसे पर प्रकाश से अव्यतिरिक्त धरादि हैं, पर उनका धरा रूप वस्तु भासित (दोख पड़ता है), उसी तरह मल की भी बात है । यह भी प्रकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है, पर वस्तु रूप में इसका भान होता है । इसी आधार पर शास्त्रों (स्वायंभुव आदि) में व्यक्तिरिक्त रूप से मल का भी भान होता है । एक स्थान पर उल्लेख है कि,

तथा

'प्रोक्तो येन मलं ज्ञानं मलस्तद्भिन्नलक्षणः ।' इति ।

तथा

'..........ततः पुंसां मलः स्मृतः ।' इति ।

अत एवास्य व्यतिरिक्ततयावभासनं नाम नापूर्वं किंचित्, येनात्र न परेषां संरम्भः श्लाध्यतामियात्, स्वातन्त्र्येण हि अस्य व्यतिरिक्तत्वे स श्लाध्यः स्यात् ॥ ६६ ॥

न चैवमित्याह

व्यतिरिक्तः स्वतन्त्रस्तु न कोऽपि शकटादिवत् ।। ६७ ।।

इह शकटादयः पदार्था बहिर्यथा—परस्परं स्वातन्त्र्येण व्यतिरिक्ताः स्थिता न तथायं--परप्रकाशापेक्षयास्य भेदेन भानायोगात्, एवं हि स

"मल अनादि है। यह पुरुष का पशुत्व मात्र है"।

दूसरे स्थान पर उक्ति है कि,

"मल को जिसने ज्ञान कहा है, मल उससे भिन्न है"।

एक स्थान पर,

".....यह पुरुषों का (अज्ञान ही) मल है" यह लिखा है।

इसलिये इसका प्रकाशातिरिक्त भासन कोई अपूर्व बात नहीं है, जिससे किसी को तार्किक की प्रतिष्ठा दी जा सके। मल सचमुच यदि व्यतिरिक होता तो यह बात अपूर्व होती और उसे आविष्कर्ता का उत्कर्ष मान लिया जाता। इस काकूक्ति से इसके प्रकाशातिरिक्त होने की बात निरस्त कर दी गयी है ॥ ६६ ॥

किसी अवस्था में यह प्रकाश व्यतिरिक्त माना ही नहीं जा सकता। जैसे शकट आदि स्वतन्त्र पदार्थ। शकट बाह्य रूप से अलग स्वतन्त्र रूप से दृष्ट पदार्थ है। पर मल का ऐसा रूप कभी देखा नहीं गया। हजारों वस्तुओं में एक शकट की अलग पहचान है। इसकी नहीं। पर-प्रकाश की अपेक्षा के बिना भेद से कोई वस्तु भासित नहीं हो सकी।

द्वितीयः संनिहितः, इत्येतावतैव आत्मनां रूपामिश्रणेऽपि आणवरूपामशुद्धि विदध्यात्, इति व्यापकतया तत्संनिधानस्याविशेषात् शिवमुक्ताणूनपि किं न आवृणुयादित्युक्तम् ॥ ६७ ॥

तत्सद्वितीया साशुद्धिः शिवमुक्ताणुगा न किम् ।

ननु व्यापकोऽपि मलः प्रतिपुरुषमेकैकया शक्त्या ज्ञानक्रियात्मकं स्वरूप-मावृणुयात्, यदाहुः

'मलशक्तयो विभिन्नाः प्रत्यात्मानं च तद्गुणावरिकाः ।' इति ।

ततश्चायं परिणामवैचित्र्यात् यं प्रत्यावारिकायाः शक्तेः तन्निवृत्ति-परिणामं भजते तं प्रति न संनिदध्यात्, इति—न मुक्ताणूनपि आवृणुयात्, शिवं प्रत्यस्य पुनरावारकत्वमेव नास्ति—तस्यानादिशुद्धबोधरूपत्वात् ॥

इस प्रकार संकोच ने या लोलिका ने इसको एक अन्तर्वर्त्ती दूसरी भावात्मकता प्रदान कर दी है। यह आत्म वर्ग को आणव रूप अशुद्धि का विधान करता है। यों उनमें आकृति या रूप सत्ता के मिश्रण की कल्पना भी नहीं की जा सकती। बस अशुद्ध और संकुचित बनाने की क्षमता ही इसकी विशेषता है। इसकी यह व्यापक और सामान्य प्रक्रिया है। इससे शिव रूप मुक्ताणुओं का भी अछूता रह जाना आश्चर्य का ही विषय होगा ॥ ६७ ॥

एक नयी आशङ्का का अनुभव कीजिये। यह सद्वितीया अशुद्धि शिव-मुक्ताणुओं का पीछा करती है या नहीं ?

इस सम्बन्ध में विचार करना उचित होगा। मल तो व्यापक है। यह प्रत्येक पुरुष के 'स्व' रूप का आच्छादन अपनी इकाई रूप अलग-अलग शक्तियों से करता है। एक स्थान पर इस सम्बन्ध में कहा गया है कि,

"मल को विभिन्न शक्तियाँ हैं। इन्हीं से प्रत्येक आत्मा का आवरण यह करता है"।

इस उक्ति से मल के परिणामों की विस्मयकारी विचित्रता सामने आती है। मलों की आवारिका शक्तियाँ जहाँ से निवृत्त होती हैं, पुनः उसके समीप नहीं आतीं। फलस्वरूप यह शिवरूप मुक्ताणुओं का पुनः आवरण नहीं करतीं। मुख्य बात तो यह भी है कि शिव स्वयं बुद्ध शुद्ध शाश्वत बोधरूप हैं। अनादि शुद्ध बोध रूप शिव पर किसी के आवरण का इन्द्रजाल काम भी नहीं कर सकता। यह निश्चित और ध्रुव सत्य है।

तदाह

मलस्य रोद्ध्री काप्यस्ति शक्तिः सा चाप्यमुक्तगा ॥६८॥
इति न्यायोज्झितो वादः श्रद्धामात्रैककल्पितः ।

अमुक्तगेति—न पुनर्मुक्ताणुगा शिवगा वा, इति मलस्य च शक्तिरपि अभ्युपगम्यमाना तद्वदेव संनिधिमात्रेणावारिका, इत्युक्त एव दोषः, आवारकत्वे हि अस्याः सर्वमेवावार्यं स्यात्, न वा किंचित्, इति कुतोऽयं नैयत्येनावसायः, नहि वस्तु भवत्पक्षपाति स्यात् 'यत्किंचिदावृणुयात् किंचिन्न' इति नहि नीलं कस्यचिदप्यनीलं भवेदिति भावः, अथानेकास्ता इति परिणामवैचित्र्यात् काचित् कंचित् रुणद्धि, न वा, येन मुक्तामुक्तविभागः ? इति चेत्—नैतत्, इह

इसी आधार पर शास्त्र कहता है कि,

मल में अवरुद्ध करने वाली कोई ऐसी शक्ति है जो सब पर तो अपने रोधन अस्त्र सफलता पूर्वक चला लेती है पर यह मुक्ताणु साधकों की शक्ति से उन पर प्रभाव डालने में असमर्थ रहती है। क्या यह मल की शक्ति की स्वीकृति है। यह ध्यान देने की बात है कि क्या यह सत्य सिद्धान्त है ? इस वाद में औचित्य को स्थान नहीं। यह न्याय से उज्झित (परित्यक्त) लगता है। अतः श्रद्धा मात्र के आधार पर कल्पित है।

इस विषय पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। सभी मलों की एक विशिष्ट शक्ति है। उसे रोध्री कहते हैं। यह अणु की आवारिका शक्ति है। सन्निधिमात्र से आवरण प्रदान करती है। यह इसकी सदोषता ही है। दूसरी बात और भी विचारणीय है। मुक्ताणुओं पर इसका वश नहीं चलता। यह इसकी असमर्थता है।

आवारक धर्म का अर्थ है, सब के ऊपर आवरण डाल देने वाला गुण।

उसके लिये तो सब आवार्य होना चाहिये पर यहाँ तो कुछ दूसरा ही चित्र है। इसका उपसंहार क्या नियत है ? एक जगह आवरण और दूसरी जगह अक्षमता ? कोई वस्तु ऐसी पक्षपात मयी नहीं देखी गयी, जो किसी को आवृत करे और किसी को छोड़ दे। नील वस्तु सबके लिये नील कहनी चाहिये। वह किसी के लिये अनील तो नहीं हो सकती।

खलु सर्वपदार्थानां तत्तत्कार्यान्यथानुपपत्त्या शक्तिः परिकल्प्यते, यथा—वह्नेर्दाहान्यथानुपपत्त्या दाहिका शक्तिः, सा च पदार्थस्यात्मैव, किं तु व्यापार-भेदादारोपभेदः, यदाहुः

'फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः ।' इति ।

अत एव चास्या व्यापारभेदात् भेदो—येनानेकशक्तियोगी 'पदार्थ' इत्युच्यते, यथा वह्नेर्दहनपचनाद्यनेकव्यापारयोगात् 'दाहिका पाचिका' इत्येवमाद्या अनेकाः शक्तयः, स्वतः पुनरेकैकस्याः शक्तेर्भेदो न युक्तः—स्वरूपाविशेषात्, व्यापारस्य चैकत्वात् प्रमाणन्तरस्याप्यभावात् दृष्टसिद्धये हि अदृष्टं कल्प्यं, तच्चैकया शक्त्या सिद्धम्, इति किमदृष्टभेदकल्पनायासेन, एवं मलस्यापि यद्यावरणव्यापारे शक्तिरस्ति तत्सर्वमेवावृणुयात्, किमस्याभेदेन—येनैक्यं स्यात्, अत एव मलस्यापि कापि रोद्‌ध्री शक्तिरस्ति इत्येकवचनेनैव

कहीं ऐसा तो नहीं कि ये अनेक प्रकार के हैं, कुछ आवारक और कुछ अनावारक ? इसी आधार पर मुक्त और अमुक्त का अन्तर दीख पड़ता है। इस पर सोचने की बात यह है कि शक्ति एक ऐसा तत्त्व है जो सब पदार्थों में व्याप्त है। उसके बिना तो किसी पदार्थ की सिद्धि ही नहीं हो सकती। जैसे आग की दो शक्तियाँ दाहिका और पाचिका हैं। बिना दाहकत्व धर्म के दाहिका शक्ति का अर्थ ही क्या ? आग में इन्धन को जलाने की शक्ति होती है। वह उसके बिना हो नहीं सकती। दाहिका शक्ति आग की आत्मा ही है। शक्ति पदार्थ की आत्मा होती है। हाँ व्यापार भेद से आरोपित भेद भी दृष्टिगोचर होते ही हैं। कहा गया है कि,

"फल भेद से आरोपित भेद होता है। पदार्थ की आत्मा ही शक्ति है"।

इसी तरह इसके व्यापार भेद से अन्य भेद दीख रहे हैं। इसलिये परि-भाषा कहती है कि 'अनेक शक्ति-संवलित पदार्थ' होते हैं। आग में जलाने और पकाने तथा द्रव बनाने आदि की अनेक शक्तियाँ हैं। इनसे प्रभावित इसके अनन्त व्यापार भी हैं। यहाँ व्यापार भेद तो साफ जाहिर है पर शक्ति में भेद के लिये कोई औचित्य नहीं। दाहिका शक्ति को अलग और पाचिका

निर्देशः, अत उक्तम् 'एष न्यायोज्झित' इत्यादि, मलस्य च परिणामयोगात् जडस्य रोधिका शक्तिरभ्युपगम्यमाना स्वयं तावज्जाड्यादेव न प्रवर्तते तथात्वेन 'अमुमावृणुयादमुं न' इत्यभिसंधानाभावाद्विश्वमपि प्रति प्रवृत्ता स्यात्—येन सर्व एवावृता भवेयुः, एवं चेश्वरेऽपि किं प्रमाणं—यः शुद्धबोधस्वभाव एवासाविति, न चायमनादिशुद्धबोधस्वभावः, इति वक्तुं युक्तम्—अनादेरेव तन्निरोधकत्वस्य विचारयितुमुपक्रान्तत्वात् ॥

शक्ति को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। व्यापार भी एक ही होता है। पकना तो पहले सम्पन्न होगा ही फिर उसी का उत्तप्त रूप जलना है। इसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। यह तो देखने से ही प्रत्यक्ष सिद्ध बात प्रतीत होती है। इसके लिये अदृष्ट प्रमाण अनावश्यक है। यह सब एक व्यक्ति मात्र से ही सिद्ध है। अदृष्ट कल्पना का आयास व्यर्थ है।

इसी प्रकार मल में भी आवरण व्यापार की शक्ति है, तो इसे सबका आवरण करना ही चाहिये। उसमें किसी को शक्त्यैक्य और व्यापारैक्य के फेर में पड़ने की क्या आवश्यकता? मल में कोई रोध्री शक्ति है। इस एक-वचन के निर्देश से यह ऐक्यभाव स्वतः सिद्ध हो गया है। कारिका में न्यायोज्झित शब्द यही कहता है कि, इसमें न्याय-प्रमाण तर्क आदि उज्झित हैं, वर्जित हैं और अनावश्यक हैं।

मल की रोधिका शक्ति सभी को मान्य है। यह सम्पर्क मात्र से आवरण प्रदान करती है। यह किसी जाड्य से परिचालित नहीं होती कि वह इस पर आवरण डाले और इस पर नहीं। इस प्रकार का अभिसन्धान कहीं होता ही नहीं। यह विश्व में प्रवर्त्तमान आवारक शक्ति है। इससे सभी प्रभावित हों—यही इसका लक्ष्य है।

ईश्वर में कोई प्रमाण माँगने लगे कि वह शुद्ध बोध स्वरूप है, इस मान्यता में क्या प्रमाण है? शुद्ध बोध स्वभाव में अनादि विशेषण लगाना भी अनुचित है ॥ ६८ ॥

तदेवाह

रोद्ध्री शक्तिर्जडस्यासौ स्वय नैव प्रवर्तते ॥ ६९ ॥

स्वयं प्रवृत्तौ विश्वं स्यात्तथा चेशनिका प्रमा ।

इहाचेतनश्चेतनाधिष्ठित एव प्रवर्तते, इति तावदविवादः, ततश्च परमेश्वर एव तच्छक्तिं तथा प्रेरयेत् इति चेत्तदपि न इत्याह

मलस्य रोद्ध्रीं तां शक्तिमीशश्चेत्संयुनक्ति तत् ॥ ७० ॥

कीदृशं प्रत्यणुमिति प्रश्ने नास्त्युत्तरं वचः ।

कीदृशमिति—किं निर्मलं समलं वा, तत्राद्ये पक्षे मुक्ताणून्प्रति तां सन्नियुञ्ज्यात्, येन—सर्वदैव संसारः, द्वितीयस्मिन्पुनर्व्यर्थस्तन्नियोगः—तत्पूर्वमपि तस्य मलयोगात्, तदुभयथापि तन्नियोगो न युज्यते, इत्यत्र प्रतिसमाधानं न विद्यते इत्युक्तं 'नास्त्युत्तरं वच' इति, मलेन च घटस्येव पटादिनावार्यस्याणुवर्गस्यावृत्वेऽपि न स्वरूपं विशिष्यते, अपि तु तद्विषयं ज्ञातुर्ज्ञानं विहन्यते, तथात्वे च शिवस्यैवासौ मलो भवेत्, यदस्य तद्विषयमनेन ज्ञानमावृतमिति ॥

अतः सिद्धान्त बनता है कि जड़ मल की यह रोध्री शक्ति स्वयं प्रवृत्त नहीं होती। यदि इसे स्वयं प्रवृत्त मान लेंगे तो इसमें एक शक्ति की ऐश्वर्यमयी प्रमा भी माननी पड़ेगी जो नितान्त असम्भव है ॥ ६९ ॥

सिद्धान्त है कि अचेतन भी चेतनाधिष्ठित दशा में ही प्रवर्त्तमान होता है। इसमें किसी को कोई विवाद नहीं। तो क्या यह माना जाय कि परमेश्वर ही उस शक्ति को उस व्यापार के लिये प्रेरित करते हैं? इस पर कह रहे हैं कि,

मल को इस रोद्ध्री शक्ति को ईश्वर ही संयोजित करते हैं तो पुनः प्रश्न उठेगा कि उनकी योजना का स्वरूप प्रत्येक अणु के प्रति क्या होगा? इसका तो कोई प्रामाणिक उत्तर नहीं दिया जा सकता। संयोजन कैसा? निर्मल या समल? निर्मल पक्ष में मुक्ताणुओं के प्रति भी यह स्वाभाविक होगा। दूसरा पक्ष मानने पर यह ईश्वर व्यापार ही व्यर्थ माना जा सकता है ॥ ७० ॥

तदाह

मलश्चावरणं तच्च नावार्यस्य विशेषकम् ॥ ७१ ॥
उपलम्भं विहन्त्येतद्घटस्येव पटावृतिः ।
मलेनावृतरूपाणामणूनां यत्सतत्त्वकम् ॥ ७२ ॥
शिव एव च तत्पश्येत्तस्यैवासौ मलो भवेत् ।

एक और समस्या सामने आती है। आवारक वस्तु जब आवार्य वस्तु को ढकती है तो आवार्य वस्तु में कोई अन्तर नहीं आता? जैसे कपड़े से घड़ा ढक दिया गया तो घड़ा ज्यों का त्यों बना रहेगा। इसी तरह मल ने अणु वर्ग को आवृत किया। उससे जिसका आवरण हुआ, उसके स्वरूप में कोई परिवर्त्तन नहीं आना चाहिये। हाँ उस विषय में ज्ञाता का ज्ञान अवश्य अवश्य बाधित हो जायेगा, यह सम्भव है।

इस परिस्थिति में क्या निर्णय किया जाय? क्या यह मान लिया जाय कि यह शिव का ही मल है, जो उन्होंने अपने स्वरूप का ज्ञान उससे आवृत कर दिया? इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार का विचार स्पष्ट है। उनका मन्तव्य है कि,

मल की शक्ति का नाम रोद्ध्री शक्ति है। यदि स्वयं शिव ही उस अणु को मल से युक्त करता है, तो यह बात भी वह सोचता होगा कि वह आवार्य अणु समल है या निर्मल? यदि निर्मल मुक्ताणु को आवृत करता है तो मल उसे प्रभावित करेगा। संसार से ही मुक्तता ही व्यर्थ हो जायेगी। यदि समल को आवृत करता है तो यह भी व्यर्थ कार्य हो माना जायेगा। क्योंकि मल का योग तो यहाँ पहले से ही है। इस प्रश्न का कोई हल नहीं दीख पड़ता। मल एक आवरण है। वह आवार्य अणु में किसी विशेष का सृजन नहीं करता वरन् आवार्य की सत्ता विषयक उपलब्धि को बाधित करता है। जैसे वस्त्र से आवृत पट की उपलब्थि बाधित हो जाती है। वैसे ही मल से आवृत अणुओं की उपलब्धि में अवरोध उपस्थित हो जाता है। केवल शिव ही उसको देख सकता है। जादूगर मुट्ठी में हीरा लिए रहता है। मुट्ठी बन्द रहने से दूसरे के लिये होरा आवृत हो जाता है। पर वह तो जानता

ननु यद्येवं र्तोह मलेन ज्ञत्वकर्तृत्वात्मकस्वरूपावरणाच्छिवस्याणूनां च स्वरूपनाश एव कृतो भवेत् ? इत्याह

विभोर्ज्ञानक्रियामात्रसारस्याणुगणस्य च ॥ ७३ ॥
तदभावो मलो रूपध्वंसायैव प्रकल्पते ।

सारस्येति—तदेकरूपस्येत्यर्थः' तदभाव इति—ज्ञानक्रिययोरभावकारित्वात् ॥ ७३ ॥

ननु शिवस्याणूनां च ज्ञानक्रिये नाम धर्मः, किं तु असौ समवेतः, तस्य चेन्मलेनापहस्तनं कृतं तावता धर्मिणः किं वृत्तं—यत्तस्य स्वरूपध्वंसो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

ही रहता है क्योंकि हीरा उसी का है—उसी ने गोपन किया है। हीरा तो वहीं रखा होता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि मल भी शिव का एक आवारक इन्द्रजाल है।

यहाँ यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि मल केवल आवृत करता है। आवरण के परिणाम स्वरूप आवार्य के ज्ञत्व और कर्तृत्वात्मक दो आत्म स्वभावों का नाश हो जाता है। यदि यह बात सत्य और तथ्य हो तो इससे शिव और अणु दोनों के स्वरूप का विनाश ही हो जाये ? इस आशङ्का का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

विभु सर्व शक्तिमान् परमेश्वर ज्ञान और क्रिया मात्र सार-स्वरूप ही है। अणु वर्ग भी ज्ञान-क्रिया की अल्प सारता का प्रतीक है।

ज्ञान और क्रिया इन दोनों का अभाव ही मल है। यह केवल 'स्व' रूप का ही विध्वंस करता है।

सर्वज्ञ शिव की सर्वज्ञता का विनाश ? सर्वकर्त्ता शिव के सर्वकर्तृत्व का विनाश ? इससे अधिक अनर्थ और क्या हो सकता है ॥ ७१-७३ ॥

प्रश्न है कि शिव और अणु का दोनों का धर्म ही ज्ञत्व और कर्तृत्व है। इन दोनों धर्मों से समवेत धर्मी शिव है। वह धर्म रूप शक्तियों का आश्रय है। यदि ज्ञान क्रिया के अभावरूपी मल ने इनका अपहस्तन कर दिया तो धर्मी शिव और अणु में क्या विशेष घटित होगा जिससे उनके स्वरूप विध्वंस का खतरा उत्पन्न हो जायेगा ? इसका समाधान यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

धर्माद्धर्मिणि यो भेदः समवायेन चैकता ॥ ७४ ॥

न तद्भूवद्भिरुदितं　　कणभोजनशिष्यवत् ।

यदुक्तं प्राक्

'पारमेश्वरशास्त्रे हि न च काणाददृष्टिवत् ।
शक्तीनां धर्मरूपाणामाश्रयः कोऽपि कथ्यते ॥' इति ।

एतच्च तत्रैव निरूपितमिति--तत एवावधार्यम् इह तु ग्रन्थ विस्तर-भयात् न पुनरायस्तम्, ततश्च संविन्मात्ररूपात् शिवादणुवर्गाद्वा ज्ञानक्रिययोः नाधिकं किंचिद्रूपमिति भवतां मतम्, यदुक्तम्

'क्रियाधिकाः शक्तयस्ताः संविद्रूपाधिका नहि ।' इति ।

धर्म से धर्मी का जो भेद है और उनके समवाय में जो एकता है, यह काणद मत हमें मान्य नहीं है। इस सम्बन्ध में एक उक्ति है कि,

"पारमेश्वर शास्त्र में काणाद-दृष्टि की तरह धर्म रूप शक्तियों का कोई पृथक् आश्रय नहीं माना जाता।" यह प्रकरण प्रथम आह्निक के १५८ वें श्लोक[1] में आ चुका है। आत्मा धर्मी है। आत्मत्व उसका धर्म गुण है। 'आत्मत्व के अभिसम्बन्ध से आत्मा है'। यह मानने पर ज्ञान, क्रिया और इच्छादि शक्तियाँ यदि शिव से भिन्न हो जायेंगी तो एक शिव की मान्यता का क्या होगा ? 'एक ही प्रभु शिव है'—यह ईश्वराद्वयवाद की प्रतिज्ञा ही भङ्ग हो जायेगी।

इस लिये हमारी मान्यता के अनुसार संविन्मात्र रूप शिव से या अणु-वर्ग से ज्ञान और क्रिया का अलग कोई रूप नहीं है। काणाद मत में गुणों से समवेत धर्मी और आगमापायो भिन्न धर्म स्वीकृत हैं। धर्म और धर्मी की तरह शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद इस मत में स्वीकार्य नहीं। शक्तिमान् संवित् स्वभाववान् होता है। संवित् स्वभाव ही स्वातन्त्र्य है। स्वातन्त्र्य ही अनन्त शक्तियों में पर्यवसित होता है। शिव का अनन्त शक्तित्व उनकी शक्तियों का केवल तादात्म्य है। कहा गया है कि,

"शक्तियाँ क्रिया दशा में अधिक हैं, संविद् रूप से अधिक नहीं"

---

१. श्रीत० आ० १।१५८ पृष्ठ २०३ (प्रथम खण्ड)।

एवं च तेषां मलेन तदपहस्तनात् स्वरूपनाश एव कृतो भवेत्, इति इति युक्तमुक्तं 'विभोरणूनां च मलो रूपध्वंसायैव प्रकल्पते' इति ॥ ७४ ॥

ननु रूपानपहस्तनेऽपि यथा चक्षुरादेः पटलादिरावरणं, तथैवेहापि भविष्यति ? इत्याशङ्क्याह

नामूर्तेन न मूर्तेन प्रावरीतुं च शक्यते ॥ ७५ ॥
ज्ञानं चाक्षुषरश्मीनां तथाभावे सरत्यपि ।

ज्ञानमिति--अमूर्तशुद्धचित्स्वभावात्मरूपं न चैवंविधस्य आत्मज्ञान-स्यामूर्तेन मूर्तेन वा केनचिदावरणं युक्तम्—अमूर्तस्यावरीतुमशक्यत्वात्, तथा-भाव इति—प्रावरीतुं शक्यते चक्षुःसूर्यादिरश्मीनां हि भौतिकत्वान्मूर्तत्वम्, इति मूर्तैः पटलाभ्रादिभिस्तद्युज्यते एवेत्याशयः ॥ ७५ ॥

इस उक्ति से संविदैक्य का ही सिद्धान्त पुष्ट होता है। हम तो मानते ही हैं कि संवित् स्वातन्त्र्य है तथा स्वातन्त्र्य हो शक्ति रूप में पर्यवसित हो रहा है। इन शक्तियों के अपहस्तन से स्वरूप नाश अवश्यम्भावी है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर यहाँ लिखा गया है कि 'मलो रूपध्वंसायैव प्रकल्पते' अर्थात् मलु विभु (सर्वसमर्थ) शिव और अणुओं के रूप को विध्वस्त करने वाला ही सिद्ध होगा ॥ ७४ ॥

ठीक है मान लिया कि मल के द्वारा इनका अपहस्तन होने से विभु और अणुवर्ग का रूप ध्वंस हो जायेगा। पर अपहस्तन है क्या ? क्या मल इनके रूप का अपहस्तन कर सकता है ? नहीं। यह मात्र आवरण डालता है मल इनका वास्तविक अपहस्तन नहीं कर सकता फिर भी जैसे आँख की आवारक पलकें हैं। पलकों से आँख पर आवरण हो जाता है। पटल तो आवरण ही है। उसी तरह यहाँ भी मल तो आवरण करेगा ही। इस पर अपना मन्तव्य स्पष्ट कर रहे हैं—

न अमूर्त्त आवरण से, न मूर्त्त आवरण से ही ज्ञान आवृत किया जा सकता है। ज्ञान स्वयम् अमूर्त्त है। साथ ही चित् स्वभावात्मक होता है। यदि ऐसा नहीं होता अर्थात् उक्त चित्स्वभावात्मक गुण का अभाव होता अर्थात् मूर्त्त होता तो उसका आवरण हो जाता। जैसे सूर्य रश्मियाँ जो मूर्त्त हैं, गतिशील हैं और स्थूल हैं, इनका आवरण बादल से हो जाता है और आँख की रश्मियाँ

नन्वसौ अमूर्तोऽस्तु मूर्तो वा, कोऽभिनिवेशः स पुनरावरणायायातोऽस्य ज्ञातृस्वभावत्वात् ज्ञेयो भवेत् तथाभूतश्चासौ ताटस्थ्यमवलम्बते भवन्मते ज्ञातृज्ञेयभावस्यैवंरूपत्वात्। एवं च अस्य स्वरूपमावरीतुं न शक्नुयात्—भिन्नवृत्तित्वात्, ततश्चासौ निर्मलत्वात् पूर्णज्ञानक्रिय एव, इति सर्वः सर्वज्ञो भवेत् ? तदाह

स एव च मलो मूर्तः किं ज्ञानेन न वेद्यते ।। ७६ ।।
सर्वगेण ततः सर्वः सर्वज्ञत्वं न किं भजेत् ।

का आवरण पटल से हो जाता है। उसी तरह ज्ञान का आवरण भी मल से हो जाता पर ऐसा होता नहीं। क्योंकि ज्ञान शुद्ध चित्स्वभावात्मक स्वयम् अमूर्त होता है ॥ ७५ ॥

जिज्ञासा होती है कि ज्ञान मूर्त हो या अमूर्त। इसमें हमारा कोई आग्रह नहीं। जब मल आवरण के उद्देश्य से आवृत करने आता है, तब वह ज्ञेय हो जाता है। ज्ञान तो ज्ञातृस्वभाववान् प्रसिद्ध ही है। ज्ञाता ताटस्थ्य का अवलम्बन करता है। ज्ञाता ज्ञेय का ताटस्थ्य आपके मत में भो स्वीकृत ही है। इस प्रकार ज्ञेय मल ज्ञाता का आवरण नहीं कर सकता। क्योंकि उसकी वृत्ति ही भिन्न हो जाती है। भिन्न वृत्ति हो जाने से ज्ञेय ज्ञातृस्वभाववान् ज्ञान का आवरण नहीं कर सकता। ज्ञान में निर्मलता रहती हैं। निर्मलता के फलस्वरूप वह भी पूर्णज्ञान क्रियावान् हो जाता है।

इस तरह से तो इस मान्यता के अनुसार एक महान् दोष आपतित होने लगेगा क्योंकि, सभी अणु भी सर्वज्ञ होने लगेंगे। यह एक अकल्पित अनवस्था हागो। इससे शास्त्रोंकी मान्यतायें भी प्रभावित होने लगेंगी। इस पर कह रहे हैं कि शास्त्रों की मान्यतायें प्रभावित हों, इसका काई महत्त्व नहीं। देखना यह है कि सर्व की सर्वज्ञता की मान्यता में क्या बाधा पड़ती है ? वे यह पूछते हैं कि सर्व अणुवर्ग सर्वज्ञ क्यों नहीं माना जा सकता ? इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए शास्त्रकार इस कारिका का अवतरण कर रहे हैं—

मलो मूर्त इत्यकारप्रश्लेषाप्रश्लेषाभ्यां योज्यं, सर्वगेणेति—मलानावृतत्वात् व्यापकेन सर्वज्ञेन चेत्यर्थः, तत इति—ज्ञत्वस्वभावस्यानिरोधात्, सर्व इति—अणुवर्गः ॥ ७६ ॥

ननु तमसः प्रकाशाभावमात्रमयत्वात् अमूर्तस्यापि प्रकाशं प्रत्यावारकत्वं दृष्टम्, एवं मलस्यापि भविष्यति ? इति चेत्—तदपि नेत्याह

यश्च ध्वान्तात्प्रकाशस्यावृतिस्तत्प्रतिघातिभिः ॥ ७७ ॥

मूर्तानां प्रतिघस्तेजोऽणूनां नामूर्त ईदृशम् ।

केचिद्धि प्रकाशाभावमात्रं तमः प्रतिपन्नाः, अन्ये 'प्रकाशाभावव्यञ्जनीयमारोपितं नीलिममात्रं हि मूर्तिः, इति, एवमप्यनेनावस्थितस्य प्रकाशस्यावृतिः

वह मल मूर्त्त हो या अमूर्त्त ज्ञान से ही वेद्य होता है। मल से अनावृत ज्ञान सर्वग (व्यापक या सर्वज्ञ) होता है। ऐसी स्थिति में अर्थात् ज्ञत्व स्वभाव के अबाधित और अवरोध रहित रहने पर सारा अणुवर्ग सर्वज्ञ क्यों नहीं होता ? इससे इस प्रसङ्ग में किसी प्रकार की आशङ्का के लिये कोई अवसर नहीं रह जाता ॥ ७६ ॥

अन्धकार प्रकाश का अभाव मात्र रूप है। अतः अमूर्त्त है। वह मूर्त नहीं है। अमूर्त्त होते हुए भी यह प्रकाश का आवारक बनता है। यह प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। अमूर्त्त मल के सम्बन्ध में हम ऐसा क्यों नहीं कह सकते। इसका कारण है कि,

ध्वान्त से प्रकाश का आवरण होता है। यह सही है। अन्धकार के मूर्त्त प्रतिघाती परमाणु ऐसा करते हैं। यह मूर्त का प्रतिघ (प्रतिरोधी) गुण है। अमूर्त्त मल अणुओं के तेज को (आवृत नहीं कर सकता)।

वस्तुतः प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है, यह कुछ विद्वान् कहते हैं। कुछ लोगों का कुछ दूसरा हो मत है। उनके अनुसार प्रकाश के अभाव में व्यञ्जनीय आरोपित नीलिमा की मूर्त्ति ही अन्धकार है। यह मूर्त अन्धतमस् प्रकाश का आवारक बन जाता है। यह एक प्रकार से प्रकाश की व्यापक स्थिति का प्रतिबन्ध ही होता है।

कार्या, अपि तु स्थितेरेव प्रतिबन्धः—तन्मूर्त्तत्वात् प्रतिघातिभिस्तमः परमाणुभिर्मूर्तानां प्रतिहननमेव क्रियते—इत्यनयोः प्रतिघात्यप्रतिघातकभावो नावार्यावारकभाव इति नायमत्र दृष्टान्तः ॥ ७७ ॥

नन्वचेतनश्चेतनाधिष्ठितः सन् यदि किंचित् कुर्यात् तदस्तु, को दोषः, चेतनमेव पुनरावतरीतुं कुतोऽस्य सामर्थ्यमस्ति ? इत्याह

न च चेतनमात्मानमस्वतन्त्रो मलः क्षमः ॥ ७८ ॥

आवरोतुं…… … … … ………।

मद्यवत् इति चेत्, तदपि नेह समानमित्याह

… … …. न वाच्यं च मद्यावृतिनिदर्शम् ।

मल और अणु-मुक्ताणु के सम्बन्ध में यह दृष्टान्त खरा नहीं उतरता। अन्धकार प्रतिघाती है। प्रकाश प्रतिघात्य है। वहाँ के लिये यह दृष्टान्त ठीक है। मल और मुक्ताणु या अणु के आवार्य आवारक भाव में यह लागू नहीं होता। प्रकाश और तम में प्रतिघात्य प्रतिघातक भाव सम्बन्ध है जब कि अणु-मुक्ताणु तथा मल में आवार्य-आवारक भाव है। अतः यहाँ यह दृष्टान्त चरितार्थ नहीं होता ॥ ७७ ॥

प्रश्न है कि अचेतन चेतनाधिष्ठित होकर यदि कुछ करे तो करे। कोई बात नहीं। चेतन को आवृत करने का उसका यह सामर्थ्य कहाँ से आता है ? इस सम्बन्ध इस कारिका का दृष्टिकोण है कि,

चेतन आत्मा को अस्वतन्त्र (परतन्त्र) मल आवृत करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसमें शराब की नशा का उदाहरण भी नहीं दे सकते। क्योंकि यह सिद्धान्त है कि जड़ कर्त्ता नहीं हो सकता। सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र परमेश्वर की ये प्रेरिका शक्तियाँ हैं (जो बन्धन और मोचन किया, करती हैं।)

न खलु जडं मद्याद्यपि स्वयं चेतनमात्मानमावृणुयात् किन्तु चेतनाधिष्ठितं, नहि अचेतनं चेतनप्रेरणामन्तरेण किंचिदपि कर्तुं शक्नुयात् ॥ ७८ ॥

तथा च भवन्त एवेत्याह

उक्तं भवद्भिरेवेत्थं जडः कर्त्ता नहि स्वयम् ॥ ७९ ॥
स्वतन्त्रस्येश्वरस्यैताः शक्तयः प्रेरिकाः किल ।

तदुक्तं 'जडस्य स्वतः प्रवृत्तौ निवृत्तौ च सामर्थ्यं नास्ति' इत्युक्तम्, अतः पाशानामपि ईश्वर एव तदा निवर्तकत्वात् पुंभ्यो मोक्षदो—रज्ज्वादिबद्धमेषादिवदिति' इत्यादि ॥ ७९ ॥

ततः किम् ? इत्याशङ्क्याह

अतः कर्मविपाकज्ञप्रभुशक्तिबलेरितम् ॥ ८० ॥
मद्यं सूते मदं दुःखसुखमोहफलात्मकम् ।

शराब नशा तो करता है, पर जड़ है, चेतन आत्मा का आवारक वह नहीं बन सकता। चेतनाधिष्ठित होकर ही वह ऐसा करता है। चेतना की प्रेरणा के बिना अचेतन कुछ नहीं कर सकता। जड़ का यह सामर्थ्य नहीं कि वह प्रवृत्ति या निवृत्ति कर सके। जड़ पाशों के भी ईश्वर ही निवर्त्तक हैं। जैसे पाशबद्ध पशु को स्वामी प्रग्रह विमुक्त कर देता है, उसी प्रकार परमेश्वर उपासक को मुक्ति प्रदान करता है, पशु बँधे रहते हैं। पाशबद्ध होते हैं। स्वामी काम के अवसरों पर उनके बन्धन खोल देता है। स्वामी का यही स्वातन्त्र्य है। जब चाहे अणु के पाशों को ध्वस्त कर उसे मुक्ति दे सकता है ॥ ७८–७९ ॥

इसी उक्त तथ्य का निष्कर्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—

इसलिये कर्मविपाक को जानने वाली परमेश्वर की शक्ति के प्रभाव से प्रेरित मद्य, मदमस्तता, सुख, दुःख और मोहमूर्च्छा आदि परिणाम प्रदान करने में समर्थ प्रतीत होते हैं।

तेन जडमपि मद्यादि परमेश्वरशक्तिप्रेरणया चेतनमात्मानमावृत्य मदयेत्, किन्तु गृहीतसंकोचं प्राणादिमयं, न तु शुद्धचित्स्वभावं–तस्योक्तयुक्त्यावरीतुमशक्यत्वात् ॥ ८० ॥

नन्वेवं मलोऽपि स्वतन्त्रेश्वरशक्तिप्रेरितमेव चेतनमणुवर्गमावृणुयात् ? इत्याशङ्कयाह

न चेशप्रेरितः पुंसो मल आवृणुयाद्यतः ॥ ८१ ॥
निर्मले पुंसि नेशस्य प्रेरकत्वं तथोचितम् ।

इह अनादित्वेऽपि मलस्य बन्धकतायामवश्यमीश्वरप्रेरणमादितरमुपयुक्तम्—अचेतनस्य चेतनाधिष्ठानं विना कार्यकारित्वाभावात्, अतश्चासौ परमेश्वरः कान् प्रति बन्धनाय मलं प्रेरयेत्–किं समलान् उत निर्मलान्, तत्राद्ये पक्षे व्यर्थं तत्प्रेरणं–तत्पूर्वमपि तेषां मलयोगात्, द्वितीयस्मिन् अशक्यं मुक्ताणून् प्रत्यपि प्रसङ्गात्, अत एवोक्तम्

यह परमेश्वर शक्ति की ही प्रेरणा होती है कि वह ऐसा कर लेता है। स्वयं शराब में यह ताकत नहीं। चेतन आत्मा का आवरण कर मद मुग्ध कर देने का क्षमता स्वयं मद्य की नहीं हो सकती क्योंकि वह स्वयं जड है। उसमें भी ध्यान देने की बात है कि संकुचित प्रमाता के संकुचित प्राण आदि को ही वह ऐसा कर सकता है। शुद्ध चित् स्वभाव परमेश्वर का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। उसको आवृत करने में वह नितान्त असमर्थ है ॥ ८० ॥

तो क्या यह भी मान लिया जाय कि स्वतन्त्र ईश्वर प्रेरित होकर ही मल भी चेतन अणुवर्ग को आवृत करता है ? इस पर कह रहे हैं—

नहीं, यह नहीं माना जा सकता। ईश्वर प्रेरित मल पुरुष को आवृत नहीं करता। निर्मल पुरुष को ईश्वर द्वारा आवृत करने को प्रेरणा अनुचित विचार मात्र है।

यह अनादि मान्यता है कि मल बन्धन प्रदान करता है। इसमें ईश्वर की प्रेरणा को कल्पना साधार प्रतीत होतो है। क्योंकि चेतनाधिष्ठान के बिना अचेतन कोई काम कर ही नहीं सकता। मल अचेतन है। इसके पास यह शक्ति सामर्थ्य कहाँ से आ गयी कि यह चेतन को आवृत कर ले।

'ईशस्य निर्मले पुंसि प्रेरकत्वं हि नोचितम् ।' इति ।

प्रत्युत पूर्णज्ञानक्रियात्मनो नैर्मल्यस्याविशेषात् परमेश्वरोऽणवश्च परस्परस्य निरोधाय मलं नियुञ्जीरन्, अणव एव वा परमेश्वरं प्रति–यदेकापेक्षया भूयसां सामर्थ्यातिशयः, यदाहुः

'विप्रतिषिद्धधर्मसमवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्वम् ।' इति ॥ ८१ ॥

तदाह

तुल्ये निर्मलभावे च प्रेरयेयुर्न ते कथम् ॥ ८२ ॥

तमीशं प्रति युक्तं यद् भूयसां स्यात्सधर्मता ।

अब यह सोचना है कि परमेश्वर किन के बन्धन के लिये मल को प्रेरित करता है ? क्या समलों के बन्धन के लिये या निर्मलों के बन्धन के लिये ? पहला पक्ष व्यर्थ है, क्योंकि प्रेरणा के पहले ही वे मल युक्त हैं। दूसरा पक्ष भी उचित नहीं क्योंकि कहा गया है कि, "निर्मल पुरुष को आवृत करने की परमेश्वर प्रेरणा उचित नहीं प्रतीत होती"।

पूर्ण ज्ञान क्रियात्मक नैर्मल्य से विभूषित परमेश्वर और अणु या मुक्ताणुओं ने पारस्परिक निरोध के लिये मल को नियुक्त किया है क्या ? अथवा अपेक्षा कृत अनन्त अणुओं ने संख्या सामर्थ्यातिशय के आधार पर एक परमेश्वर को निरुद्ध करने के लिये ही ऐसा किया है ? क्योंकि कहा गया है कि,

"विप्रतिषिद्ध धर्म के समवाय में अधिसंख्यकों का सधर्मत्व (स्वाभाविक) होता है।" अर्थात् समान रूप से महत्त्वपूर्ण दो बातों के एकत्र समवेत होने पर बहुसंख्यकों का समान कर्तव्य प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। विप्रतिषेध तुल्यबल विरोध को ही कहते हैं। इस प्रकार यह हँसी में उड़ाने की बात नहीं। इस पर गम्भीरता से विचार करने पर ही इसका निर्णय हो सकता है। परमेश्वर और अणुओं में समान नैर्मल्य है। परमेश्वर एक और अणु अनन्त हैं। यह संख्या का बल है। संख्या में अधिक लोगों का कुछ बल तो अधिक होता है। यह कथन सही तो लगता है पर इसमें गाम्भीर्य नहीं।

इदानीमेतदुपसंहरन् प्रकृतमेवानुसरति

तेन स्वरूपस्वातन्त्र्यमात्रं मलविजृम्भितम् ॥ ८३ ॥

निर्णीतं विततं चैतन्मयान्यत्रेत्यलं पुनः ।

अन्यत्रेति प्रथमाह्निकादौ, अत एव पुनरित्युक्तम् ॥ ८१-८३ ॥

न चास्य क्वचिदपि विगीततास्तीत्याह

मलोऽभिलाषश्चाज्ञानमविद्या लोलिकाप्रथा ॥ ८४ ॥

भवदोषोऽनुप्लवश्च ग्लानिः शोषो विमूढता ।

अहंममात्मतातङ्को मायाशक्तिरथावृतिः ॥ ८५ ॥

दोषबीजं पशुत्वं च संसाराङ्कुरकारणम् ।

इत्याद्यन्वर्थसंज्ञाभिस्तत्र तत्रैव भण्यते ॥ ८६ ॥

नन्वसावनुगतोऽर्थः कः ? इत्याशङ्क्याह

अस्मिन् सति भवति भवो दुष्टो भेदात्मनेति भवदोषः ।

मश्चवदस्मिन् दुःखस्रोतोऽणून् वहति यत्प्लवस्तेन ॥ ८७ ॥

वास्तविक तथ्य तो यह कि मल का विजृम्भण स्वरूप-स्वातन्त्र्य का ही चमत्कार है। इसका वर्णन प्रसङ्गवश 'मलमज्ञानमिच्छन्ति' इत्यादि रूपों में पहले आह्निक आदि में किया गया है। स्वाध्याय से इसका अवगम आवश्यक रूप से करना चाहिये ॥ ८१-८३ ॥

इसके प्रति कहीं भी कोई विगीतता या विरोध व्यक्त नहीं किया गया है यही कह रहे हैं—

मल के लिये अभिलाष, अज्ञान, अविद्या, लोलिका प्रथा, भवदोष, अनुप्लव (अनुयायी-सेवक), ग्लानि, शोष, विमूढता, अहंममात्मतातङ्क, माया-शक्ति, आवृति, दोष बीज, पशुत्व, संसाराङ्कुरकारण इत्यादि पर्यायवाची शब्द अन्वर्थता के आधार पर शास्त्रों में यथावसर यथा स्थान प्रयुक्त किये गये हैं। इन शब्द प्रयोगों में प्रतिकूलता का कोई भाव नहीं है ॥ ८४-८६ ॥

भवदोष इति तत्कारित्वात्, मञ्चवदिति 'तत्र तस्येव' इति सप्तम्यन्तोपमानं, प्लव इति तात्कर्म्यात् ॥ ८७ ॥

नन्वेवं सर्वस्यानुगतोऽर्थः किं न दर्शितः ? इत्याशङ्क्याह

शेषास्तु सुगमरूपाः शब्दास्तत्रार्थमूहयेदुचितम् ।

अत एवास्माभिरपि ग्रन्थविस्तरभयादेतन्न व्याकृतम्, इति स्वयमेवाभ्यूह्यम् ॥

नन्वत्र संसाराङ्कुरकारणमिप्यत्र कः सुगमोऽनुगमः—किं संसार एवाङ्कुर उत संसारस्याङ्कुरस्तस्य कारणमिति ? इत्याशङ्कामपनुदन् प्रकृतप्रमेयसंगतिसंदर्शनपुरःसरं क्रमप्राप्तं कार्ममलं प्रस्तौति

अन्वर्थ के अनुगत अर्थ के सम्बन्ध में ग्रन्थकार की उक्ति है कि, मल के होने पर यह विश्व समल सदोष हो जाता है। भेद वाद स्वयं में एक बहुत बड़ा भवदोष है। विश्व एक अभिनय का मञ्च है। उस पर अभिनेता अपनी कला का निर्वाह करता है। विश्व मञ्च पर सारे जीव इस अभिलाष मल के वशोभूत होकर जीवन के जीवन्त नाट्य कर्म का सम्पादन कर रहे हैं। दुःख का सागर उमड़ता है और अणुओं का अगणित समुदाय उसके थपेड़ों की चपेट झेलने के लिये लाचार हो जाता है। कर्मवश उसमें डूबना उतराना इनकी नियति बन जाती है।

'तत्र तस्येव' ५।१।११६ पाणिनीय सूत्र के अनुसार इस श्लोक में प्रयुक्त 'मञ्चवत्' शब्द में सप्तम्यन्त उपमान प्रयुक्त है। भवदोष से अणु वर्गकी डोंगी डूब जाती है जबकि ज्ञानप्लव से वृजिन का संतरण हो जाता है ॥ ८७ ॥

इन शब्दों के अतिरिक्त अन्य सारे बहुत से ऐसे शब्द भी प्रयुक्त होते हैं जिनसे सुगमता पूर्वक इस प्रकार की तथ्याभिव्यक्ति होती है। उनका ऊहन विमर्शव्यापृत विद्वान् पुरुषों को स्वयं करना चाहिये।

ऊपर एक शब्द है—'संसाराङ्कुर कारणम्' अर्थात् 'संसार के अङ्कुर का कारण'। इसमें ऊह के लिये अवकाश है। इसमें सुगम अनुगम की जिज्ञासा स्वाभाविक है। यदि इसकी व्युत्पत्ति पर ध्यान देंगे तो दो विग्रह यहाँ बनेंगे। १—संसार ही अङ्कुर है। उसका कारण। २—संसार का अङ्कुर और उसका कारण। किसे स्वीकार किया जाय ? इसका समाधान कर रहे हैं और इसी के माध्यम से कार्म मल का स्वरूप भी प्रस्तुत कर रहे हैं—

संसारकारणं कर्म संसाराङ्कुर उच्यते ॥ ८८ ॥

चतुर्दशविधं भूतवैचित्र्यं कर्मजं यतः ।

कर्मणः संसारकारणत्वे द्वितीयमर्धं हेतुः, तेन संसारस्य

'शरीरभुवनाकारं मायीयं परिकीर्तितम् ।'

इत्यादिना निरूपितस्य मायीयमलस्याङ्कुर इवाङ्कुरः कारणं—कार्ममलं, तस्यापि कारणमाणवमिति, यदुक्तम्

'मलः कर्मनिमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम् ।' इति ।

निमित्तमभिलाषाख्यम्…………… ……।' इति च ॥ ८८ ॥

एवं यतः कर्मवशादेव विचित्रः संसारः समुद्‌भवेत् अतः सर्वेषां तदुच्छेदायैव यत्न इत्याह

संसार का कारण कर्म है। यह कर्म ही संसार का अङ्कुर है। यह १४ प्रकार का भूत-वैचित्र्य कर्मज ही माना जाता है। संसार तो मायीय है। इस सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा गया है कि,

"शरीर-भुवन का आकार मायीय है"

इस उक्ति के अनुसार संसार मायीय मल है। इस मायीय मल का (अन्य अङ्कुरों की तरह) अङ्कुर (कारण) कार्म मल है। इस कार्म मल का कारण भी आणव मल है। एक स्थान पर कहा गया है कि,

"मल कर्म का निमित्त है। इसके बाद नैमित्तिक…" एक स्थान पर "अभिलाष ही निमित्त है" यह भी कहा गया है। इन उक्तियों से भूत वैचित्र्य को कर्मज मानने का समर्थन होता है। कर्म हो संसार का कारण है। यही संसार का अंकुर है। यह सब ऊहन का आधार है ॥ ८८ ॥

कर्म के वशीभूत होने के कारण ही यह विचित्र संसार उत्पन्न होता है। क्या यह सबका पुनीत कर्त्तव्य नहीं कि इसके उच्छेद के लिये ही प्रयत्नशील रहें ?

अत एव सांख्ययोगपाञ्चरात्रादिशासने ॥ ८९ ॥
अहंममेति संत्यागो नैष्कर्म्यायोपदिश्यते ।

शासन इति—शास्त्रे, इदं हि तत्रोपदिष्टं–यत् यः कश्चित्परब्रह्मणि आहितचित्तः सर्वमपि कुर्वन् 'नाहं किंचित् करोमि' इत्यभिमानादहन्तां संत्यजेत्, तत्र च सङ्गाभावात् 'न ममानेन कृतेन कश्चिदर्थ' इति ममताग्रहमपि, स नैष्कर्म्यं प्राप्नुयात्—येनास्य तदेकनिमित्तः संसार एव न भवेदिति, यद्गीतम्,

'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे काम फलेष्वपि[1] ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ इति ।

इस प्रश्न के उत्तर में सांख्य योग और पाञ्चरात्र आदि शास्त्रों के मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि कल्याण चाहने वाले पुरुषों का कर्त्तव्य है कि जीवन में अहंता और ममता का सम्यक् त्याग हाना चाहिये और नैष्कर्म्य भाव से जोवन यापन करना चाहिये ।

इन शास्त्रों के अनुसार अपने चित्त को परब्रह्म में समाहित करने वाला पुरुष सब कुछ करता हुआ भी 'मैं कुछ नहीं करता हूँ' इस निरहंकार भाव से जीवनयापन करता है और सारे काम भी सम्पादन करता है । उसके अहंकार का इससे उच्छेद हो जाता है ।

कर्म में आसक्ति के अभाव में "इस सक्रियता से मेरा क्या ? इस वृत्ति से ममता भी मिट जाती है । इन सिद्धियों के उपरान्त मनुष्य निष्कर्म भाव से जीवन का संचालन करने में समर्थ हो जाता है । परिणामतः कार्म मल से प्रवर्त्तित संसार उसके लिये भव-दोष-दुष्ट नहीं रह जाता । इसी भाव को पद्मनाभ के मुखपद्म की मकरन्द माधुरी श्रीमद्भगवद्गीता इन शब्दों में व्यक्त करती है—

"मुझे कर्म लिप्त नहीं करते । फलकांक्षा मुझे नहीं होती । फलों में मेरी कामना कभी जातो हो नहीं । जीवन में श्रेय के पथिक यदि इस रूप में मुझे जान लें, तो वे भो कर्म-बन्धन में नहीं पड़ते" (श्रीमद्भगवद्गीता ४।१४)

---

१. श्रीमद्गीतार्थ संग्रहः ४।१४ ईश्वर आश्रम, श्रीनगर (प्र० सं० १९८७) पृ० १२० ।

'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥' इति ।

तथा

'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विदितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।' इति ।

तथा

'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥'

इति च ॥ ८९ ॥

श्री भगवान् और कहते हैं कि,

"कर्म में फलों की आसक्ति का परित्याग कर नित्यतृप्त और निराश्रित साधक कर्म में प्रवृत्त रहने पर भी कुछ नहीं करता"। (श्रीमद्भगवद्० ४।२०)

और भी कहते हैं कि,

"योग में निरन्तर संलग्न (योगमय जीवन जीने वाला) विशुद्ध आत्मवान्, जितात्मा और जितेन्द्रिय साधक अपने को समस्त प्राणिमात्र में एकीभाव से स्थित आत्मा वाला ही मानता है। ऐसा योगी कर्म करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता। वह तत्त्व-द्रष्टा बन जाता है। उसे यह निश्चय हो जाता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। वह शाश्वत तत्त्व में युक्त हो जाता है"। (श्रीमद्भगवद्गीता ५।७–८)

एक स्थान पर ऐसा ही भाव भगवान् और व्यक्त करते हैं कि,

"ब्रह्म में ही समस्त कर्मों का आधान कर, आसक्ति रहित होकर जो कर्म का सम्पादन करता है, वह पाप में अर्थात् कर्मतुल्य परिणामों से (कार्ममल के दोषों से) सदा निर्लिप्त रहकर निष्कलङ्क जीवन जीने में समर्थ हो जाता है। कमल-पत्र पर जल जैसे अपना प्रभाव नहीं डाल पाता, उसी तरह कर्म-कल्मष-कलङ्क-पङ्क से वह प्रभावित नहीं होता"।

(श्रीमद्भगवद्गीता ५।१०)

ननु यद्येवं तर्हि मुक्त एवासौ ? इत्याशङ्क्याह

निष्कर्मा हि स्थिते मूलमलेऽप्यज्ञाननामनि ॥ ९० ॥

वैचित्र्यकारणाभावान्नोर्ध्वं सरति नाप्यधः ।

केवलं पारिमित्येन शिवाभेदमसंस्पृशन् ॥ ९१ ॥

विज्ञानकेवली प्रोक्तः शुद्धचिन्मात्रसंस्थितः ।

अपिश्चार्थे भिन्नक्रमः, तेन 'निष्कर्मापि' इति, ऊर्ध्वमिति-शुद्धमध्वानं, न संसरति-अज्ञाननाम्नो मूलमलस्याणवस्य अवस्थानात्, नाप्यधः शुद्धेतरं, वैचित्र्यकारणस्य कार्ममलस्याभावात्, केवलमसौ

'मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञानकेवलाः ।'

इस तरह श्रीमद्भगवद्गीता के सिद्धान्त कार्ममलों को उच्छिन्न करने और इनसे मुक्त रहने का ही सन्देश देते हैं ॥ ८९ ॥

यदि यह स्थिति उन साधना संलग्न निष्कर्मा मनुष्यों की हो जाती है, तो क्या वे मुक्त हो हो जाते हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत कारिका कर रही है—

वास्तव में ऐसे पुरुष निष्कर्मा हो जाते हैं। यद्यपि उनमें एक मूलमल जिसे अज्ञान कहते हैं", वह तो रह ही जाता है, फिर भी वह फल वैचित्र्य से दूर ही रहता है। इससे उसका कार्म मल अवश्य धुल जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि कोई भी निष्कर्मा अब निम्न गति नहीं पाता। पर ऊपर भी नहीं सरक पाता। केवल पारिमित्य वृत्ति के परिवेश में जीने का आदी हो जाता है। शिवाद्वयवाद का संस्पर्श भी वह नहीं कर पाता। ऐसे लोगों को को विज्ञान केवली की संज्ञा से विभूषित करते हैं। इस स्तर का कोई पुरुष चिन्मात्र में ही संस्थित होता है।

ऊपर सरकने का तात्पर्य शुद्ध अध्वा में प्रवेश से है। कोई विज्ञान केवली शुद्ध अध्वा में प्रवेश नहीं पा सकता। इसी तरह निष्कर्मा पुरुष भी अशुद्ध अध्वा में रहने के लिये विवश है। उनमें अभी अज्ञान नामक मूल आणव मल बैठा हुआ है। उसका निरास कहाँ हुआ है ?

इत्याद्युक्त्युक्त्या शुद्धाशुद्धाध्वमध्यवर्ती शुद्धबोधैकस्वभावोऽपि, स्वातन्त्र्यहानेः—आणवमलांशकृतस्य स्वरूपसंकोचस्य संभवात्, पारिमित्येन—स्वातन्त्र्यवियुक्तबोधस्वभावपरमेश्वराविभेदमप्राप्नुवन्, विज्ञानकेवली—विज्ञानं बोधात्मकं रूपं केवलं स्वातन्त्र्यरहितमस्य इति, प्रकर्षेणोक्तः,—सर्वत्रोद्घोषित इत्यर्थः, यदुक्तम्

'शुद्धबोधात्मकत्वेऽपि येषां नोत्तमकर्तृता ।
निर्मिताः स्वात्मनो भिन्ना भर्त्रा ते कर्तृतात्ययात् ॥
बोधादिलक्षणैक्येऽपि येषामन्योन्यभिन्नता ।
तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः ॥' इति ॥९१॥

नीचे गिरने का अर्थ होता है, कर्म के प्रभाव से विभिन्न कर्मानुसार योनियों में जन्म और मरण रूप फल भोग-वाह में संसरण । निष्कर्मा पुरुष इससे बच जाता है क्योंकि उसमें कार्ममल नहीं रह जाता । वह केवल—

"माया के ऊर्ध्व और शुद्ध विद्या के अधः भाग में विज्ञान केवली पुरुष रहते हैं" । इस उक्ति के अनुसार शुद्ध और अशुद्ध अध्वा के मध्य में रहने के लिये विवश होता है । यद्यपि वह शुद्ध बोध स्वभाव होता है फिर भी स्वातन्त्र्य-हानि के कारण उसमें आणवमलांश के परिणाम स्वरूप स्वात्म संकोच उल्लसित रहता है ।

पारिमित्य का तात्पर्य है—अपरिमेय परमेश्वर से अविभेद की अप्राप्ति ! स्वातन्त्र्य के बोध की हानि के कारण अपने स्वात्मप्रकाश से स्वात्मतादात्म्य-रहित रह जाना ही संकुचित पारिमित्य कहलाता है । इसी लिये इसे विज्ञान केवली कहते हैं । विज्ञान का अर्थ भी बोधात्मक ही होता है । बोध का एक गुण बोधमयता है । इसका गुण स्वातन्त्र्य है । बोध तो रहे पर स्वातन्त्र्य न रहे तो केवल बोध शेष रह गया । इस तरह यह कहा जा सकता है कि स्वातन्त्र्य हानिमय बोध अर्थात् केवल निष्फल बोध शेष रह जाता है । ऐसे पुरुष विज्ञान केवली कहलाते हैं । यह उक्ति सार्वत्रिक उद्घोष के समान है । कहा गया है कि,

"शुद्ध बोध रूप रहने पर भी जिसमें उत्तम कर्तृतामयी ऊर्ध्वगतिशीलता नहीं होती, जो स्वात्म स्वातन्त्र्य भाव से रहित हैं और शैवाद्वय भाव से भिन्न

ननु अस्य किं सर्वदैव शिवाभेदासंस्पर्शः, उत न ? इत्याशङ्क्याह

स पुनः शांभवेच्छातः शिवाभेदं परामृशन् ॥ ९२ ॥

क्रमान्मन्त्रेशतन्नेतृरूपो याति शिवात्मताम् ।

क्रमादिति—शिवाभेदपरामर्शस्य तारतम्यातिशयात्, अत एव तद्दार्ढ्यातिशयात् अक्रमेणापि मन्त्रमहेश्वरत्वमस्य भवेदिति भावः, तदुक्तम्

के समान ही जिनकी निर्मिति है, बोध रूप से एक, पर परस्पर भिन्न हैं, ऐसे ईश्वरेच्छा से अवच्छेद दशा में पड़े अक्षम उपासक विज्ञान केवल कहलाते हैं" ॥ ९०–९१ ॥

इस तरह विज्ञानकेवली स्तर पर विराजमान पुरुष के लक्षण आगम के अनुसार निम्नवत् होते हैं—

१—वह शुद्ध बोधात्मक होता है। २—उसमें कर्त्तृता की उत्तम गतिशीलता नहीं होती। ३—स्वात्म स्वरूप से अभी भिन्न होते हैं। ४—कर्त्तृता का अत्यय हो जाता है। ५—बोध स्तर पर एक होते हैं। ६—उनमें अन्योन्यभिन्नता होती है। और ७—उनमें ईश्वरेच्छा से भेद भिन्नता का सद्भाव रहता है। अतः संकोच का इन्द्रजाल उनको मुक्त नहीं होने देता।

जिज्ञासु यह जानना चाहता है कि इतने उत्कर्ष विन्दु पर पहुँच कर भी शिवाद्वय भाव के संस्पर्श का अधिकारी वह बन पाता है या नहीं बन पाता ?

इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं—कि वह परमेश्वर शिव की इच्छा से शिवाभेदमयता का परामर्श कर लेता है। परिणामस्वरूप परामर्शातिशय के अध्यवसाय से क्रमशः वह क्रमिक उत्कर्ष की ओर अग्रसर होने लगता है। पहले शुद्ध विद्या के परिवेश में प्रवेश के लिये अवरोध रूपा रेखिनी उसे द्वार प्रदान करती है। वह शुद्ध अध्वा की परिधि में पहुँच जाता है। परामर्श की उच्चतर भूमि पर मन्त्रेश्वर पद को सुशोभित करता है। उच्चतर स्तर पर मन्त्र महेश्वर हो जाता है और उच्चतम भूमि पर शिवात्मकता का संस्पर्श कर लेता है। तरप् तमप् रूप तारतम्य क्रम के अतिरिक्त अक्रम भाव से भी परामर्श उसे शैव तादात्म्य प्रदान करने में समर्थ हो जाता है। कहा गया है कि,

'स सिसृक्षुर्जगत्सृष्टेरादावेव निजेच्छया ।
विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान् ॥'

इति । ईशा–मन्त्रेश्वराः, तन्नेतारो–मन्त्रमहेश्वराः इति ॥ ९२ ॥

नन्वस्ति तावद्विज्ञानाकलस्याणवो मलः स च कर्मणः कारणं, तत्कथमसौ स्वकार्यं न जनयेत्—येनास्य पुनः पुनः संसारित्वमेव स्यात्, प्रत्युत मन्त्रादिक्रमेण शिवात्मतां याति, इति कस्मादुक्तम्? इति गर्भीकृताशङ्काशङ्कान्तरमाशङ्कते

ननु कारणमेतस्य कर्मणश्चेन्मलः कथम् ॥ ९३ ॥
स विज्ञानाकलस्यापि न सूते कर्मसंततिम् ।

"सृष्टि की इच्छा रूप सिसृक्षा के कार्य रूप में परिणत करने की वेदना में अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने स्वेच्छा से पुद्गल आठ विज्ञानकेवलो आत्माओं को बोध का महाप्रकाश प्रदान किया था"।

परामर्श का प्रभाव अवर्णनीय होता है। जैसे-जैसे परामर्श प्रौढ़ और परिष्कृत होता जाता है वैसे वैसे क्रमिक उत्कर्ष होता जाता है। तारतम्य से भी मन्त्रेश्वर और मन्त्र महेश्वर बनते हैं और कभी कभी सौभाग्य वश अक्रम भाव से भो ये अवस्थायें प्राप्त हो जाती हैं। लगातार लगन से लगे रहने की संलग्नता होनी चाहिये ॥ ९२ ॥

विज्ञान केवली आत्मा में केवल आणव मल ही अवशिष्ट रहता है। वह कार्म मल का या कर्मवाह का कारण है। वह मल (आणव) अपना कार्य क्यों नहीं उत्पन्न करता। जिससे क्रमिक सांसारिकता ही उल्लसित होती है। यहाँ विज्ञान केवली मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर के क्रम से शिवात्मकता को प्राप्त कर लेता है, यही क्यों कहा गया है। इस रहस्यगर्भ शङ्का का समाधान कर रहे हैं—

यही प्रश्न यह कारिका पूछ रही है कि कर्म का कारण आणव मल विज्ञानाकल को कर्म परम्परा को क्यों नहीं प्रवर्त्तित करता? उत्तर का प्रतिविधान भो स्वयं कारिका कर रही है कि,

एतदेव प्रतिविधत्ते

मैवं स हि मलो ज्ञानाकले दिध्वंसिषुः कथम् ॥ ९४ ॥
हेतुः स्याद्ध्वंसमानत्वं स्वातन्त्र्यादेव चोद्भवेत् ।

दिध्वंसिषुरिति ।

'स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।'

इत्याद्युक्त्या देहाद्यहंभावाभिमानस्वभावभेदान्तरखण्डनात्, अत एव स्वकार्यं-जननासामर्थ्यात् कथं हेतुः स्यादित्युक्तम्, प्रत्युतास्य ध्वंसोन्मुखतात्मना स्वमहिम्ना ध्वंसमानत्वमेव तन्नान्तरीयकं ध्वस्तत्वमेव वोदियात्, नहि निनंक्षु बीजं पुनः प्ररोहमियात्, नापि अस्य नश्यत्तायां नष्टतायां वा निनंशुत्वादेव अन्यत् किंचिदपेक्षणीयं संभवेत् ॥

हाँ आणव मल यहाँ कर्म प्रवर्त्तन नहीं कर पाता। वह विज्ञानाकल दशा में सक्रियता-समर्थ नहीं रह जाता। उस स्तर पर आणव मल दग्ध होता रहता है। विज्ञान केवली वहाँ तटस्थ रहता है। आणवमल में (स्वातन्त्र्य के कारण ही) दिध्वंसिषा जागृत सी रहती है। दिध्वंसिषा मल में होती है। वह दिध्वंसिषु हो जाता है। इसीलिये कहा गया है कि,

"स्वातन्त्र्य की भी अबोधता रहती है"

वास्तव में स्वातन्त्र्य तो रहता है। उसकी जानकारी नहीं रहती। स्वातन्त्र्य की हानि की अवस्था में देहादि अहंभाव रूप अभिमानात्मक भेद का परामर्श वहाँ नहीं होता, अतः वह मल अपना कर्मरूपी कार्य उत्पन्न करने से असमर्थ हो जाता है। एक तरह से वह उस समय अपनी कारणवत्ता खो बैठता है। ध्वंसोन्मुख हो जाता है। इसके फलस्वरूप ध्वंसमानता प्रबल रहती है। ध्वंसमानता का नान्तरीयक व्यापार ध्वस्तता है। यही उदित हो जाती है।

जैसे भुना हुआ बीज अङ्कुर उत्पन्न करने में ही असमर्थ हो जाता है। उसी तरह आणव मल की उस समय तीन अवस्थायें दृष्टिगोचर होती है। १—वह नाश की ओर अग्रसर रहता है। २—नश्यदवस्थ होता है और ३—नष्टता के नजदीक रहता है। फलतः उसमें निनंक्षा के संस्कार उदित रहते हैं। वह स्वयं निनंक्षु रहता है। फिर उससे किसी परिणाम की अपेक्षा ही कैसे की जा सकती है ॥ ९४ ॥

अनेनैव चाभिप्रायेण विज्ञानाकलादिक्रमकल्पना सर्वत्र कृतेत्याह

दिध्वंसिषुध्वंसमानध्वस्ताख्यासु तिसृष्वथ ॥ ९५ ॥
दशास्वन्तः कृतावस्थान्तरासु स्वक्रमस्थितेः ।
विज्ञानाकलमन्त्रेशतदीशादित्वकल्पना ॥ ९६ ॥

अवस्थान्तराणीति—किंचिद्ध्वंसमानत्वकिंचिद्ध्वस्तत्वादिरूपाणि, एतदन्तःकारे च हेतुः स्वक्रमस्थितेरिति, नहि दिध्वंसिषुतादिदशानन्तरं झटित्येवाखण्डतया ध्वंसमानत्वं ध्वस्तत्वं वा प्रादुर्भवेदिति भावः। तेनात्र पञ्चस्वप्यासु दशासु यथासंख्येन विज्ञानाकलादिरूपत्वं कल्पितमिति, ईशाः—मन्त्रेश्वराः, तदीशाः—मन्त्रमहेश्वराः, आदिः-आदिसिद्धः शिवः, अन्यथा हि तदीशादिकल्पनेत्येव स्यात्, एवं च आसामवस्थानां भेदात् सुषुप्ततुर्ययोरपि अनेकरूपत्वमित्यर्थसिद्धम् ॥ ९६ ॥

विज्ञानाकल की क्रम-कल्पना के सम्बन्ध में शास्त्र के विचार निम्नवत् हैं—

तीन दशायें यहाँ विचारणीय है। दिध्वंसिषा के बाद ये आती हैं। १—दिध्वंसिषु अवस्था, २—ध्वंसमानता और ३—ध्वस्तता। इन दशाओं की आन्तर अवस्थाओं में एक क्रम होता है। उसी क्रम के आधार पर उत्कर्ष के तारतम्य से विज्ञानाकल, मन्त्रेश और मन्त्रमहेश्वर आदि कल्पनायें की गयी हैं।

यह तारतम्य अवस्थान्तर का सूचक होता है। जैसे पहले किंचिद् ध्वंसमानता, फिर ध्वंसमानता फिर किंचिद् ध्वस्तता पुनः पूरी ध्वस्तता इत्यादि। यह आन्तर क्रम अनुभूति का विषय है। यहाँ मंडूकप्लुति नहीं चलती। दिध्वंसिषुता के बाद तुरन्त ध्वंसमानता या ध्वंसमानता के बाद तुरन्त ध्वस्तता नहीं हो जाती। इन सबों के आन्तर व्यापार चलते होंगे और क्रमिक रूप से सक्रियता में तारतम्य का उल्लास अपने नये निर्माण रूपों की ओर परिवर्त्तित होते रहे होने की क्रमिकता में चलते रहते-रहते नया रूप ग्रहण करते होंगे।

इस प्रकार विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और आदि सिद्ध शिव की ये पाँच अवस्थायें कल्पित हैं। इन अवस्थाओं में भेद के आधार पर सुषुप्त और तुरीय आदि अवस्थाओं के साधकों की कल्पना भी की जाती है ॥९५-९६॥

अत आह

ततश्च सुप्ते तुर्ये च वक्ष्यते बहुभेदता ।

तस्माद्युक्तमुक्तम्—दिध्वंसिषुर्मलमलः कर्मणो न निमित्तमिति ॥

तदेवाह

अतः प्रध्वंसनौन्मुख्यखिलीभूतस्वशक्तिकः ॥ ९७ ॥

कर्मणो हेतुतामेतु मलः कथमिवोच्यताम् ।

खिलीभूत इति—अखण्डशक्तिः पुनः कर्मणो हेतुतां यायादित्याशयः, एतच्च अभ्युपगम्योक्तम् ॥

वस्तुतस्तु मलस्यैतन्न घटते इत्याह

किं च कर्मापि न मलाद्यतः कर्म क्रियात्मकम् ॥ ९८ ॥

क्रिया च कर्तृतारूपात् स्वातन्त्र्यान्न पुनर्मलात् ।

मलादिति-अकर्तृतात्मकास्वातन्त्र्यरूपादित्यर्थः । कर्तृकर्मत्वतत्त्व एव च कार्यकारणभावः, इति समनन्तरमेवोपपादितम् ॥ ९८ ॥

सुप्त और तुर्य दशाओं में भी अनेकानेक स्तरकृत भेद स्वतः सिद्ध हैं। ये भेद भी आणव मल के कारण होते हैं।

इससे निष्कर्षतः कह सकते हैं मूल आणवमल दिध्वंसिषु होकर कर्म का कारण नहीं बनता। यही बात प्रश्नात्मक रूप के व्यक्त कर रहे हैं—

इसलिये प्रध्वंस के प्रति उन्मुखता के कारण मूल मल का कर्मोत्पादन सामर्थ्य आत्यन्तिक रूप से क्षीण हो जाता है। अतः यह मल कर्म का हेतु कैसे बन सकता है ? कर्म का हेतु तो अखण्ड शक्तिमान् ही हो सकता है ॥ ९७ ॥

एक और भी ऐसी बात है जिस पर ध्यान देना आवश्यक है। वह यह कि जड़ मल से कर्म बनें कैसे ? कर्म तो स्वयं क्रियात्मक होता है। क्रिया भी स्वातन्त्र्य सम्पन्न कर्त्ता से रूप ग्रहण करती है, अस्वतन्त्र मल से तो कभी नहीं। कर्त्ता और कर्म भाव का तत्त्व ही कार्य कारण भाव है। वह यहाँ सम्भव नहीं है ॥ ९८ ॥

ननु यद्येवं तत्कथं

'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।'

इत्याद्युक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

या त्वस्य कर्मणश्चित्रफलदत्वेन कर्मता ।। ९९ ।।
प्रसिद्धा सा न संकोचं विनात्मनि मलश्च सः ।

सेति—चित्रफलप्रदत्वेन कर्मता, स इति—संकोचः, तेन संकोचं विनास्य न तत्तत्फलदाने सामर्थ्यं, संकोच एव मल इत्यस्य तत्कारणत्वमुपचरितं, संकुचितो हि भोक्ता शुभाशुभाद्यात्मकं भिन्नं सत् फलमात्मनि भोग्यत्वेनाभिमनुते, येन देवमनुष्यादिविचित्ररूपतयास्य अवस्थानम् ॥ ९९ ॥

तदाह

विचित्रं हि फलं भिन्नं भोग्यत्वेनाभिमन्यते ।। १०० ।।
भोक्तर्यात्मनि तेनेयं भेदरूपा व्यवस्थितिः ।

जिज्ञासा होती है कि यदि जड़मल से कर्म नहीं बन सकते तो "अज्ञान को ही मल कहते हैं। यह संसार को उत्पत्ति का कारण है" यह शास्त्र की उक्ति है। ऐसा क्यों कहा गया है ? यहाँ पर इसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

मूल मल जन्य कर्म में चित्र विचित्र फल देने का सामर्थ्य है। यही उनकी कर्मवत्ता है। प्रसिद्ध क्रियाशीलता है। यह क्रियाशीलता क्या है ? यह एक संकोच है। विना स्वात्म संकोच के कर्म में चित्र-विचित्र फल प्रदान करने को शक्ति नहीं होती। संकोच ही मल है। इसलिये उसमें कारण भाव उपचारात्मक है। संकुचित भोक्ता शुभ और अशुभ फलों को अपने भोग्य के रूप में देखता है। अनेक योनियाँ जैसे देव और मनुष्य आदि जातियाँ क्या हैं ? यह सारी संकोच को ही चित्र-विचित्र परिणाम हैं ॥ ९९ ॥

यही भाव यहाँ भी व्यक्त किया जा रहा है—

भोक्ता यह अनुभव करता है कि हमें तो इस फल का उपभोग करना ही है। फल भी चित्र-विचित्र प्रकार के सामने आते हैं। भोक्ता स्वयं स्वात्म

अतश्च नास्य स्वसंपत्तावुपादानं सहकारि वा कारणं मलः, किन्तु कार्यकरणे हस्तावलम्बनप्रायः इत्याह

इति स्वकार्यप्रसवे सहकारित्वमाश्रयन् ॥ १०१ ॥

सामर्थ्यव्यञ्जकत्वेन कर्मणः कारणं मलः ।

नहि संकोचं विनास्य विचित्रफलदाने किंचित्सामर्थ्यमभिव्यज्यते इति भावः ॥ १०१ ॥

नन्वेवं विज्ञानाकलानामपि स्वातन्त्र्यसंकोचप्रयुक्तमलद्वययोगात् तत्र 'विज्ञानकेवलो मलैकयुक्त' इत्यादि दुष्येत् प्रत्युत 'तत्कर्मयुक्तः प्रलयकेवल' इत्याद्युक्त्या प्रलयकेवलित्वं प्रसज्जेत् ? इत्याशङ्कते

में इस भेद रूपता का आकलन करने के लिये बाध्य है। यह सारी भेदात्मकता संकोच के प्रभाव से चित्र-विचित्रात्मक फलोपभोगात्मकता को पुष्ट करती है, यही इसकी व्यवस्थिति है ॥ १०० ॥

इसलिये मल को कर्म प्रजनन में उपादान या सहकारी कारण नहीं माना जा सकता। काम करने में हाथ के अवलम्बन को तरह ही यह है— यही कह रहे हैं—

अपने कार्य के प्रसव में सहकारी भाव का आश्रय ग्रहण करता हुआ वह सामर्थ्य के अभिव्यंजक होने के आधार पर हो कर्म का कारण माना जाता है। वस्तुतः संकोच से हो मल विचित्र फल प्रदान में अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन करता है। विना स्वात्मसंकोच के विचित्र फल प्रदान करने में इसके सामर्थ्य का अभिव्यञ्जन नहीं हो सकता ॥ १०१ ॥

प्रश्न है कि इस प्रकार विज्ञानाकल में भी स्वातन्त्र्य संकोच प्रयुक्त दो मलों का योग होता है। इससे यह उक्ति "विज्ञानाकल एक मल युक्त होता है" खण्डित हो जातो है।

साथ ही प्रलयकेवली उस कर्म से भी संयुक्त होता है।

इस उक्ति के अनुसार विज्ञानकेवल में भी प्रलयकेवलता की प्रसक्ति होने लगेगी। कारिका यही प्रश्न कर रही है ?—

नन्वेवं कर्मसद्भावान्मलस्यापि स्थितेः कथम् ।। १०२ ॥

विज्ञानाकलता तस्य सकोचो ह्यस्ति तादृशः ।

केनेदमुक्तं—मलद्वययोगोऽस्येति, तदाह 'तस्येत्यादि' तादृश इति— प्राग्वदेव प्रलयाकलादिदशोचितः कर्मसामर्थ्यव्यञ्जनयोग्य इति यावत् ॥ १०२ ॥

तदेव प्रतिविधत्ते

मैवमध्वस्तसंकोचोऽप्यसौ भावनया दृढम् ॥ १०३ ॥

नाहं कर्तेति मन्वानः कर्मसंस्कारमुज्झति ।

भावनयेति 'अहं-ममेति' संन्यासादिरूपतया अतश्च अस्य नैष्कर्म्यान्न कार्ममलयोगः, इति स्थितं विज्ञानाकलत्वम् ॥ १०३ ॥

ननु संस्कारोच्छेदे पूर्वापरानुसंधानाभावो भवेदित्यस्य प्रमातृत्वमेव न स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

इस प्रकार कर्म सद्भाव से मल की स्थिति का आकलन होता है। ऐसी दशा में विज्ञानाकलता कैसे सिद्ध हो सकती है ? वास्तव में यह संकोच ही ऐसा है जैसा कि प्रलयाकल दशा में कर्म सामर्थ्य का अभिव्यंजन होता है। विज्ञानाकल दशा में नहीं होता। यद्यपि यह संकोच अभी ध्वस्त नहीं हुआ रहता है फिर भी भावना के बल पर ही पुरुष यह मानता है कि 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ। परिणाम स्वरूप विज्ञानकेवली कर्म संस्कार का परित्याग कर देता है।

मैं कर्त्ता नहीं हूँ—इस प्रकार का परामर्श उसमें उसके अहंभाव को ध्वस्त करता है। ममता भी निर्मम होकर अपास्त हो जाती है। यह उसका एक तरह का संन्यास ही होता है। संन्यास में और नैष्कर्म्य में कोई अन्तर लगभग नहीं होता। इसी नैष्कर्म्य के चलते उसमें कार्म मल का योग नहीं हो पाता और उसकी विज्ञानाकलता बरकरार रहती है ॥ १०२–१०३ ॥

फलिष्यतीदं कर्मेति या दृढा वृत्तिरात्मनि ॥ १०४ ॥

स संस्कारः फलायेह न तु स्मरणकारणम् ।

दृढ इति—अनादित्वात्, द्विधा हि आत्मनि भावनात्मा वृत्त्यादिशब्द-व्यपदेश्यः संस्कारः—सादिरनादिर्वा, नाद्यः—अनुभवाहितो यः प्रबोधबलात् प्रबुध्यमानः स्मरणकारणतया प्रमातुरनुसंधातृत्वं पुष्येत्, अन्यः पुनः कर्म-वासनात्मा—यद्वशाद्विचित्रफलदायि कर्म स्यात् ॥ १०४ ॥

प्रश्न यहाँ अभी ज्यों का त्यों है । मान लिया कि संन्यास से संस्कार का उच्छेद हो गया । इससे पूर्व-अपर रूप जो क्रमानुसन्धान है, वह समाप्त हो जाता है । इस दशा में यह प्रमाता कैसे कहला सकता है ? इस आशङ्का का समाधान है कि,

अपने में एक सबल वृत्ति यह बन जाती है कि यह कर्म जो मेरे द्वारा सम्पन्न हो रहा है, अवश्य अपना फल प्रदान करेगा । वह वृत्ति एक प्रकार की भावनात्मक संस्काररूपा होती है । यह कर्म तो फल के लिये ही होता है । यह भावना संस्कार से उत्पन्न होती है । संस्कार केवल स्मरण का कारण नहीं होता ।

वास्तविकता यह है कि स्वात्म में भावनात्मक रूप से पलने वाली वृत्ति ही संस्कार होती है । यह संस्कार सादि है या अनादि ? यह प्रश्न भी यहाँ उपस्थित होता है ।

विचार करने पर जान पड़ता है कि वह सादि नहीं है क्योंकि सादि होने पर अनुभव से संवलित प्रबोध के आधार पर प्रबुध्यमान संस्कार, स्मरण का कारण होने से प्रमाता के अनुसन्धाता भाव को पुष्ट करेगा । फलतः संस्कार का उच्छेद नहीं होगा और विज्ञानाकल भाव संस्कारोच्छेद से ही सिद्ध होता है । इसलिये इसे अनादि कर्म वासनात्मक संस्कार मानना ही उचित होगा । इससे कर्म वासना जन्य चित्र-विचित्र फल प्रदातृत्व स्वाभाविक सा हो जाता है । इसी का उच्छेद विज्ञानाकल स्तर पर होता है, जिससे अधः संसरण अवरूद्ध हो जाता है । आणव मलीय अज्ञान के कारण ऊर्ध्व संसरण भी उसका नहीं हो पाता ॥ १०४ ॥

ननु कर्मसंस्कारश्चेदुच्छिन्नस्तावता कर्मणः किं वृत्तं, यदस्य तत्फल-भागित्वं न स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अप्रध्वस्तेऽपि संकोचे नाहं कर्तेति भावनात् ।। १०५ ।।
न फलं क्षीवमूढादेः प्रायश्चित्तेऽथ वा कृते ।

अप्रध्वस्त इति—संनिहितेऽपि सहकारिणि इति यावत्, न फलमिति—सुकृतदुष्कृतात्मनः कर्मण इत्यर्थाविसेयम्, नहि क्षीवमूढादेः 'इदमहं करोमि' इत्यनुसंधानमस्ति अनुसंधाय च कृतं कृतमेव न भवेदिति किं फलेत्, यदभिप्रायेणैव च

'............ समुत्थानात् क्रियादयः ।'

मान लीजिये कि कर्म संस्कार उच्छिन्न हो गया। इससे कर्म का क्या लेना देना ? कर्म का फल और फलभागिता की क्रमिकता तो ज्यों की त्यों चलती रहेगी ? इस पर आगमिक दृष्टिकोण स्पष्ट कर रहे हैं—विज्ञानाकल प्रमाता में आणव मल अभी बना है, वह प्रध्वस्त नहीं हो सका है। इस स्थिति में भी वह ऐसी भावना करता ही है कि "मैं कर्त्ता नहीं हूँ"। इस भावना से कर्म अपना सुकृत-दुष्कृत रूप फल देने में असमर्थ हो जाते हैं। नपुंसक और मूढ तो 'कर्म करता हूँ' यह सोच ही नहीं सकते। प्रायश्चित्त करने पर भी फल के अभाव से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

'मैं कर्त्ता नहीं हूँ' इस प्रकार के विचार से उसके कर्म पुण्य या पाप रूप फल कैसे दे सकते हैं ? फल तो कर्मवासना से होते हैं। यहाँ वह उच्छिन्न है। वह सोचता है 'मैं तो यह कर ही नहीं रहा हूँ। तो फिर कर्म ही नहीं रहा, फल की बात तो अपने आप ध्वस्त हो जाती है।

नपुंसकों और मूढों की भी यही दशा है। वे कुछ करने सोचने में असमर्थ हैं। उनका करना न करना सब बराबर है। एक उक्ति है कि,

"......समुत्थान से क्रियायें आदि होती हैं"। यहाँ समुत्थान साभिप्राय विशेषण के रूप में प्रयुक्त है।

इत्यादि अन्यैरुक्तम्। प्रायश्चित्तेऽपि कृते 'नाहमत्र कर्ता' इति निवृत्ति-भावनात् तत्तद्विषयानुसंधानशैथिल्यादेव न तत्तत् फलदायि स्यात्, यदाहुः

"पापं कृत्वा तु संतप्य तस्मात्पापाद्विमुच्यते।
नैवं कुर्यामहमिति निवृत्या तु स पूयते ।।' इति ॥१०५॥

नन्वेवं-सत्तया फलदाने कर्म न प्रयोजकं किन्तु अभिसंधानादित्यायातं ? सत्यमेतत्, इत्याह

यन्मयाद्य तपस्तप्तं तदस्मै स्यादिति स्फुटम् ।। १०६ ।।
अभिसंधिमतः कर्म न फलेदभिसन्धितः ।

जहाँ तक प्रायश्चित्त का प्रश्न है—उसमें भावना ही काम करती है। व्यक्ति सोचता है—'मैं इस अपुण्य कार्य में कर्त्ता नहीं था' इस भावना और उस पर आधृत पूजन में निवृत्ति को भावना आती है। इससे विषय के अनुसन्धान में शैथिल्य आ जाता है और कर्म फल उच्छिन्न हो जाता है।

इसी सन्दर्भ को ध्यान में रखकर विचारकों ने यह कहा है कि,

"पाप कर्म करने पर भी यदि उसके संताप से पुरुष संतप्त हो जाय तो, उस पाप से वह विमुक्त हो जाता है। 'अब मैं ऐसे कार्य में प्रवृत्त नहीं होऊँ' इस निवृत्ति परक भाव से वह पवित्र हो जाता है"।

श्रीमद्भगवद्गीता के 'अपि चेत्सुदुराचारः' श्लोक से भी इसी प्रकार की व्यंजना होती है ॥ १०५ ॥

शङ्का, होती है कि ऐसी स्थिति में तो प्रतीत होता है कि कर्म, फल प्रदान करने का कारण नहीं, वरन् कर्म का अभिसन्धान ही फल प्रयोजक है। यहाँ क्या सत्य है ? इस पर अपना विचार प्रकट कर रहे हैं—

आज मेरे द्वारा यह तप आचरित हुआ, 'यह उसके लिये फलप्रद हो' यह संकल्पात्मक अभिसन्धि तपस्वी करते हैं। इस प्रक्रिया से यद्यपि कर्म अपने द्वारा किया हुआ है फिर भी अपने को नहीं फल देता। अभिसन्धि ही इसकी प्रयोजिका है।

स्फुटमिति दार्ढ्येन, कर्मेति तपोरूपं, न फलेदिति कर्तुः तद्धि परस्मै स्तादित्यभिसंहितमिति कथं स्वत्र फलदायि स्यात्, यदाहुः

'नासमीहितं फलं भवति।' इति ॥ १०६ ॥

नन्वेवं कर्मफलयोर्वैयधिकरण्यात् कृतनाशाकृताभ्यागमचोद्यं कथङ्कारं परानुद्यते ? इत्याशङ्क्याह

तथाभिसंधानाख्यां तु मानसे कर्म संस्क्रियाम् । १०७ ॥

फलोपरक्तां विदधत्कल्पते फलसम्पदे ।

तपःप्रभृति हि कर्म तथा परत्रैव फलतु इत्यभिसंधानात्मकं मनसि संस्कारं समर्पयत् फलसम्पदे कल्पते। तथैव फलदानकुशलतामियादित्यर्थः, यथाभिसंधानमेव हि कर्मफलव्यवस्थेत्यभिप्रायः, यदाहुः

यह तो अनुभूत सत्य है। महामृत्युञ्जय मन्त्र का जप पण्डितवर्ग करता है। फल रुग्ण पर पड़ता है और वह भला चंगा हो जाता है। संकल्प जिसके लिये होता है, वही फल पाता है। इस प्रक्रिया में अभिसन्धि ही मुख्य हेतु है। कर्त्ता दूसरा होता है और फल दूसरे को मिलता है। कर्त्ता रूप कर्म-साधक को नहीं मिलता। कहा गया है कि,

"जिसको हम नहीं चाहते वह फल हमें नहीं मिलता"। इसमें अभि-सन्धि ही मूल कारण है। ऐसे कर्म को अभिसंहित कर्म कहते हैं॥ १०६ ॥

इस तरह कर्म कहीं और फल कहीं को कर्म और फल का वैयधि-करण्य कहते हैं। इसमें एक ने किया वह निष्फल होता है और एक ने नहीं किया, वह फल भाग् होता है। इस विपर्यय प्रेरित कर्म फल के सम्बन्ध में अपना विचार प्रस्तुत कर रहे हैं—

यह मानसिक संस्क्रिया है, जिसे हम अभिसन्धान (संकल्प) कहते हैं। यह कर्म संस्क्रिया फलोपरक्त होती है। इसकी सक्रियता फलसम्पत्ति को प्रत्यक्ष कर देती है।

तप जब से प्रारम्भ होता है, तब से ही तप का कर्म दूसरे स्थान पर फल प्रदान करे, मन में ऐसा अभिसन्धान होता है। ऐसा मानसिक संस्कार

'यद्यथा चाभिसंधत्ते तत्तत्स्य तथा फलेत् ।'

इति, ततश्च नैतच्चोद्यं तद्धि एवं भवेत् यदि स्वत्रैव फलाभिसंधाने परत्र फलेदिति ॥ १०७ ॥

नन्वेवमभिसंधानमात्रायत्तत्वे कर्मफलयोः तद्व्यवस्थैव त्रुट्येत्—यत् सर्व एवाफलाभिसंधानेन यत्तत्कर्म कुर्वाणोऽपि न तत्फलभागी भवेदिति कृतं स्वर्निरयाभ्यामिति ? सत्यमेतत्-यद्यत्र कश्चित् तीव्रमभिनिविष्टो भवेत्, तदाह

यस्तु तत्राति दार्ढ्येन फलसंस्कारमुज्झति ॥ १०८ ॥

स तत्फलत्यागकृतं विशिष्टं फलमश्नुते ।

यः पुनस्तत्रानुसंधाने कर्मफलसंस्कारमपि दार्ढ्येनोज्झति

कर्म की क्रियाशीलता के साथ जुड़ा होता है। परिणामतः फल की सम्पत्ति का प्रकल्पन हो जाता है। निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि 'यथा-भिसन्धान' कर्मफल की व्यवस्था सर्वमान्य है। कहते हैं कि,

"जो जैसा अभिसन्धान करता है। वह वैसा ही फलित होता है"।

इसलिये कृतनाश और अकृताभ्युपगम से ये प्रेरित नहीं अपितु ये अभिसन्धानानुगत होते हैं। यहाँ ऐसी कोई नई स्थिति और कल्पित नहीं हो सकती है कि यदि तपश्चर्या स्वात्मार्थ हा और फलाभिसन्धान भी स्वात्म में ही हो किन्तु फल दूसरी जगह उत्पन्न हो। ऐसा नहीं माना जा सकता है ॥ १०७ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि यह तो सिद्ध है कि कर्म और फल ये दोनों अभिसन्धान पर आधृत हैं और उसी के अधिकार में हैं। इस मान्यता के अनुसार तो कर्मफल व्यवस्था ही भग्न हो जायेगी ? अब तो अफलाभि-सन्धान से काम करने वाला कोई भी व्यक्ति उसके फल का भागी नहीं बन सकता है। ऐसी अवस्था में स्वर्ग और नियम की व्यवस्था भी व्यर्थ सिद्ध हो जाती है। इस तर्क के समर्थक ग्रन्थकार भी हैं। आवश्यकता इस बात को है कि अभिसन्धान तीव्र और उच्चकोटि का होना चाहिये—

जो इस अवसर पर फल संस्कार का सबल उत्सर्ग करता है, वह उस फल त्याग जन्य विशिष्ट फल का उपभोग करता है—

'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।'

इत्याद्युक्त्या तदासङ्गं जह्यात्, स तस्य फलस्य अनासङ्गेन जनितं विशिष्टं लोकोत्तरं फलमश्नुते मायोत्तीर्णं पदमासादयेदित्यर्थः, यद्गीतम्

'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।' इति ।

ननु यद्येवं तद्धीवरादेः प्रजागरणमात्रेणैव शिवरात्रिफलभागित्वश्रुतिः, अकामत एवापेयपानादि कुर्वतां प्रायश्चित्तस्मृतिश्च कथं संगच्छताम्, नहि तेषामेतदनुसंधानमस्ति 'यदेतदर्थं वयमेवं कुर्म' इति ? अत्रोच्यते, कुत्र नामात्रानुसंधानमुपयुक्तम् किं कर्मणः स्वरूपे किं वा फले, न तावत्फले—नहि ब्रह्महत्यया निरयो मे भूयादित्यभिसंधाय कश्चित् ब्राह्मणं हन्यात्, एवं हि

"कर्म फल पर आश्रित न रह कर जो कार्य करता है" और इस भगवदुक्ति के अनुसार आसक्ति का परित्याग कर देता है, वह अनासक्ति जन्य विशिष्ट लोकोत्तर फल का उपभोग करता है। परिणामतः मायोत्तीर्ण पद की प्राप्ति कर लेता है। श्रीमद्भगवद्गीता कहती है कि,

"बुद्धि युक्त योगी कर्मज फल का परित्याग कर जन्म बन्ध से विनिर्मुक्त हो जाता है और अनामय पद को उपलब्ध हो जाता है"।

इस सम्बन्ध में विशेष विचार की आवश्यकता है। कर्म जीवन का सूत्र है। इसे संस्कारतः परित्याग करने पर कहीं के, किसी प्रकार के, किसी के कर्म कोई फल दे सकते हैं ? जैसे धीवर रात्रि जागरण करता है। जागरण कर्म के फल में वह आसक्त नहीं है फिर भी जागरण कर्म से ही उसे शिव-रात्रि के रात्रिजागरण का फल तो मिल ही जायेगा।

बिना इच्छा के ही बहुत से लोग अपेय-पान करते हैं। उन्हें प्रायश्चित्त स्मृति की अब कोई आवश्यकता ही नहीं होगी ! पीने वालों को इस अनु-सन्धान से क्या लेना देना कि, "यह कर्म हम इस उद्देश्य से करते हैं ?

अब जरा अनुसन्धान का विचार करें। यह होता कहाँ है ? क्या कर्म का अनुसन्धान होता है ? या फल का ? फल का अनुसन्धान तो व्यवहार के विपरीत है। कोई हत्यारा मुझे नरकगामी होना पड़ेगा—नरक रूप फल मिलेगा—यह सोच कर ब्रह्महत्या नहीं करता। यदि वह ऐसा सोच ले तो हत्या से उसकी निवृत्ति ही हो जाये।

ततोऽस्य निवृत्तिरेव स्यात्—वस्तुतः सर्वस्यैव लोकस्य निरयभीरुत्वात् प्रत्युत निष्कण्टकीकरणाद्यभिसमीहितं दृष्टमपि फलं ततोऽस्य न स्यात्, तदैव कण्टकान्तरोत्पादस्य शतशो दर्शनात्, नापि कृपादानात् किंचित्फलं भवेत्। तत्र कृपामात्रेणैव प्रवृत्तेः फलानभिसंधानात्, अथ स्वरूपे तदत्रास्त्येव, नहि धीवरादेः जागर्मीत्यभिसंधानं नास्ति—क्षीवमूढादिवदस्य अस्वस्थवृत्तित्वाभावात्, किन्तु अज्ञत्वात् न तथा दाढर्येन, येनास्य परिमितफलभाक्त्वप्रतिपादनम्, एवं सौगतमतेऽपि कस्यचन कृमिविशेषस्य प्रसङ्गात् चैतन्यभट्टारकं प्रदक्षिणयतोऽस्त्येव तथा प्रक्रमणे समुत्थानम्, नहि तूलस्येवास्य वातादिप्रेरणादेवंविधत्वम्। अतश्च

वस्तुतः यह लोक, निरय-भीरु होता है। इससे तो 'हत्या के बाद मैं निष्कण्टक हो जाऊँगा' यह फल भी अब अवरुद्ध हो जायेगा। अन्य सारे उपद्रवों और कण्टक रूप भावी भयों की अनुभूतियों के ऊहापोह से वह और परीशान हो जायेगा। इसमें कृपादान के विचार भी अनपेक्षित से हो जाते हैं।

विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि ऐसे स्थलों में कर्म में प्रायः अनासक्ति ही रहती है। धीवर जगता है। वह जान रहा होता है कि मैं जाग रहा हूँ। क्षीबों और मूढों की भाँति इसमें कोई अस्वस्थ वृत्ति नहीं रहती वरन् मूर्खता ही रहती है। मूर्खता में कृत भी अकृत हो जाता है। उन्हें फल की परिमिति प्राप्ति का यही कारण है।

सौगत मत की एक घटना से इस तथ्य का समर्थन होता है। कोई कीट है। उसका नाम नहीं ज्ञात है। उसे कृमिविशेष कह लें, यही अच्छा हैं। वह रेंग रहा है। बात गौतम के समय की है। उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हो चुकी है। जातक कथा के अनुसार उस समय बुद्ध अवतरित हो चुके हैं। उन्हें अब चैतन्य भट्टारक कहा जा रहा है। कीट ने उनकी प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा का फल प्रक्रमण समुत्थान अनिवार्य है। इसका कुछ अर्थ होता है। किसी के द्वारा किसी बुद्ध पुरुष के प्रक्रमण में समुत्थान निहित रहता है। प्रदक्षिणा का यही लक्ष्य होता है। वह निरुद्देश्य नहीं होती। बुद्ध पुरुष के प्रक्रमण का समुत्थान रूप फल प्रक्रमणकर्त्ता को मिलता है।

एक दूसरा उदाहरण प्रक्रम का है। रूई कहीं रखी हुई है। हवा बही। वायु की गति से प्रेरित रूई उड़ी और किसी पुरुष के चारों ओर दो चार फेरे ले सकी। इसे उड़ने की विवशता ही कहेंगे। इस प्रक्रमण में रूई की इच्छा नहीं थी। इसमें समुत्थान की कल्पना नहीं की जा सकती। यह प्रक्रमण निरुद्देश्य और परप्रेरित जाड्य का ही प्रतीक है।

न्याय्योऽस्य भगवदाधिपत्येन वस्तुबलोपनीतो जन्मान्तरे सद्गतिप्रतिलम्भः, अपेयपानादावपि अपेयत्वानभिसन्धेरकामस्य समान्येन 'इदं पिबामि' इत्यभिसंधानमस्ति—येनापरोक्ष्यकारित्वादिनास्य प्रायश्चित्तं स्मृतं, किंतु सकामापेक्षया न्यूनम्, यन्मनुः

'प्रायश्चित्तमकामानां सकामानां तथैव च ।
विहितं यदकामानां द्विगुणं तत्सकामतः ॥' इति ।

तस्मादनुसंधानानुप्राणितैव कर्मफलव्यवस्था इत्यलं बहुना ॥ १०८ ॥

इस लिये यह मानना ही उचित है कि १—सर्वत्र भगवत् सत्ता व्याप्त है। २—प्रत्येक कार्य में उसी की प्रेरणा और इच्छा भी निहित है। ३—वस्तु के बल से उपनीत फलवत्ता की सम्भावना होती है। ४—जन्मान्तर वाद और ५—फलानुसार सङ्गति की प्राप्ति भी अवश्य होती है। वस्तु और भावना की बलवत्ता का महत्त्व निश्चित इस रूप से मानने योग्य है।

किसी व्यक्ति ने अपेय (मदिरा आदि) का पान कर लिया। उसका इरादा या उद्देश्य नहीं था। पर पीना घटित हो गया। वह अकाम पुरुष सामान्य भाव से 'मैं यह पी रहा हूँ' यह मान कर पी गया। उसने यह नहीं सोचा कि पहले यह तो जान लूँ कि यह क्या है? परीक्षा करनी चाहिये थी। उसने नहीं किया। उसका फल उसे मिलेगा। उसके लिये प्रायश्चित का विधान भी है। हाँ जो जान कर अपेय पी रहा है, उसकी अपेक्षा कम प्रायश्चित्त करना होगा। भगवान् मनु ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि,

"चाहे अकाम हो या सकाम, पाप का प्रायश्चित्त तो करना ही है। हाँ यह निश्चय है कि अकाम की अपेक्षा सकाम को दूना प्रायश्चित अनिवार्यतः करणीय है"।

उक्त विचार मन्थन से यह सिद्ध हो जाता है कि कर्म फल की व्यवस्था अनुसन्धान (सोद्देश्यता) पर निर्भर करती है। उद्देश्य से अनुप्राणित होती है ॥ १०८ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति

अनया परिपाट्या यः समस्तां कर्म संततिम् ॥ १०९ ॥

अनहंयुतया प्रोज्झेत् ससंकोचोऽपि सोऽकलः ।

अनयेति—फलत्यागपर्यन्तरूपया, समस्तामिति—शुभामशुभां च, अनहंयुतयेति—तदनासक्ततयेत्यर्थः, अकल इति—विज्ञानाकलः ॥ १०९ ॥

ननु एवं कश्चित् द्वेषवशादपि आत्मीयं दुष्कृतमस्मै स्तात् इति शत्रुविषयमभिसंदध्यात् येन कृत्वापि दुष्कृतं न तत्फलभाग्भवेदिति कर्मफलव्यवस्थाया विसंस्थुलत्वमेवापतेत् ? तदाह

नन्वित्थं दुष्कृतं किंचिदात्मीयमभिसंधितः ॥ ११० ॥

परस्मै स्यान्न विज्ञातं भवता तात्त्विकं वचः ।

इस सिद्धान्त की दृष्टि से कर्मक्षेत्र में यह ध्यान रखना चाहिये कि, विज्ञानाकल के स्तर लिये सारी कर्म परम्परा अहंकार रहित भाव से पूरी की जाय और कर्मफल त्याग का दृढ़ निश्चय हो। ऐसा करने से पुनः कर्मफल से प्राप्त संकोच उसे ग्रस्त नहीं कर सकेगा। अन्यथा उस स्तर से पतन की सम्भावना बनी रहती है। अतः अनासक्त भाव से कर्म करने वाला संकोच संवलित रहने पर भी विज्ञानाकल का स्तर पा लेता है ॥ १०९ ॥

इस सम्बन्ध में एक बात यह भी सोचने योग्य है। एक आदमी किसी का शत्रु है। वह शत्रुतावश प्रायः विद्वेषण आदि का अभिचार करता या करवाता है। यह एक सन्दर्भ है। इस दुष्कृत का फल तो दूसरे को ही मिलेगा—यह निश्चित है। काम तो शत्रु या अभिचारकर्त्ता पुरोहित ने किया और वह फलभागी भी नहीं हुआ। इससे लगता है कि कर्मफल व्यवस्था ही विसंस्थुल है। अस्थिर या कहीं घटने से, कहीं न घटने से विषम है। इसका समाधान है कि,

कर्म फल की अवस्था अभिसन्धान पर निर्भर करती है। इस नियम को इस प्रसङ्ग में ध्यान में रखना चाहिये। जो व्यक्ति अभिसन्धि से अपना दुष्कृत दूसरे पर अभिचारित करता है, वह निश्चय ही कर्मफल व्यवस्था

इत्थमिति—अभिसंधानमात्रायत्तत्वेन कर्मफलव्यवस्थायाः, अविज्ञात-कर्मफलव्यवस्थाकस्यैतत् चोद्यमित्युक्तम् 'न विज्ञातम्' इत्यादि ॥ ११० ॥

एतदेव उपपादयति

तस्य भोक्तुस्तथा चेत्स्यादभिसंधिर्यथात्मनि ॥ १११ ॥

तदवश्यं परस्यापि सतस्तद्दुष्कृतं भवेत् ।
पराभिसंधिसंवित्तौ स्वाभिसंधिर्दृढीभवेत् ॥ ११२ ॥

अभिसंधानविरहे त्वस्य नो फलयोगिता ।
न मे दुष्कृतमित्येषा रूढिस्तस्याफलाय सा ॥ ११३ ॥

यथा तस्य दुष्कृतकर्तुरात्मनि 'एतदस्मै स्यात्' इत्यभिसंधानमस्ति, तथैव चेत् तद्भोक्तृत्वेन अभिमतस्य परस्य स्तान्मम एतदित्यनुसंधानं स्यात् तद्भवेदेवं, यतः सुकृतदुष्कृतात्मकस्य परस्य सम्बन्धिन्यामेवमभिसंधानसंवित्तौ

के विज्ञान से अपरिचित है। यह बात विज्ञानाकल के प्रसङ्ग में की जा रही है। वह तो मायीय स्तर से ऊर्ध्व स्तर पर रहता हुआ अहंकार का परित्याग कर सारा कर्म संपादन करता है। शुभाशुभ फल त्याग के महाभाव से प्रभावित होकर काम करता है और अभिचार करने वाला शत्रुभाव से फलाकाङ्क्षा पूर्वक कार्य करता या कराता है। इस प्रसङ्ग में विसंस्थुलत्व की यह शङ्का व्यर्थ है ॥ ११० ॥

उक्त तथ्य का ही उपपादन कर रहे हैं—

एक पुरुष है। वह स्वयं दुष्कृत करता है। दुष्कृत का फल उसे मिलता है। अतः वह भोक्ता माना जायेगा। उसके अपने स्वात्म में यह अभिसन्धि होती है कि 'इसका फल उसे मिले'। इसी सन्दर्भ में इसका फल मुझे ही मिले' यह दूसरा (भोक्तृत्व के लिये अभिमत) भोक्ता भी सोचे तो दोनों अभिसन्धियों का अन्वय सम्भव हो जाता है।

द्वितीय अभिसन्धीयमान भोक्ता की संवित्ति प्रथम अभिसन्धाता की अभिसन्धि को बल प्रदान करतो है। फल भोग का अर्पण सुकृत दुष्कृत दोनों अवस्थाओं में सम्भव है।

तदर्पणविषयस्यात्मीयमभिसंधानं दृढीभवेत्, तत्फलभागिवेत्न अवष्टम्भभाग्भवेदित्यर्थः, यस्य पुनरेवमात्मीयमभिसंधानमेव नास्ति तस्य कुतस्तत्फलभागित्वं भवेत्, प्रत्युत मा मे दुष्कृतं भूयादिति विरुद्धमनुसंधानमस्य स्वरसत एव प्ररोहमुपागतं संभाव्यते, वस्तुतो हि सर्व एवायं लोकः पापभीरुः तच्चास्य फलभाव एव निमित्तमिति कुतः परानुसंधानमात्रादेव परस्य दुष्कृतफलभावत्वं भवेदेवम्, इत्युक्तं स्यात्, यत् कर्तुः अभिसंधानात् कर्म फलेत् तदर्पणविषयस्य च पराभिसंधौ स्वाभिसंधानविरहान्न फलोदयः इति ॥ ११३ ॥

कर्तुरपि अनुसंधानाभावे पुनः किं तत्कृतं कर्म स्वस्मै परस्मै वा फलेत्, उताफलमेव इत्यन्तःकृत्य संक्षेपेणाभिप्रेतमेव पक्षमुपक्षिपति

पराभिसन्धिविच्छेदे स्वात्मनामभिसंहितौ ।
द्वयोरपि फलं न स्यान्नाशहेतुव्यवस्थितेः ॥ ११४ ॥

यदि अभिसन्धान ही न रहे फलभागिता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इस आत्मीय अनुसन्धान के अभाव में विरुद्ध भावोद्रेक भी सम्भव है। वह सोच सकता है कि "मैं इस दुष्कृत का भागी क्यों बनूँ ? महामुनि वाल्मीकि के प्रसङ्ग में उनके पितरों और स्वजनों में यह विरुद्ध भावोद्रेक विचारणीय है।

सत्य तो यह है कि मानव मात्र पापों से डरता है। इसमें हेतु, फलवत्ता ही है। 'पाप का फल मुझे होगा' यही सोच कर पाप से विरत रहने की प्रवृत्ति पनपती है। इस लिये दुष्कृत कर्त्ता के अभिसन्धान मात्र से दूसरा दुष्कृत का फलभागी कैसे हो सकता है—यह एक विचारणीय प्रश्न है। उस विषय में उसकी अभिसन्धि भी अनिवार्यतया आवश्यक है ॥ १११-११३ ॥

कर्मफल विषयक यह विचार बड़ा रहस्यात्मक है। हमने कोई काम किया। उसके विषय में कुछ सोचा ही नहीं। कोई अनुसन्धान नहीं हुआ। अब सवाल उठता है कि वह कृत कर्म अपने को या दूसरे किसी को फल देगा या निष्फल ही रह जायेगा ? इस जिज्ञासा के समाधान के लिय स्वात्मसमर्थित पक्ष उपस्थापित करते हैं—

यहाँ दो स्थितियाँ हैं। पहली यह कि स्वात्म में कृत कर्म विषयक अभिसन्धि का अस्तित्व ही नहीं है। दूसरी ओर दूसरा कोई ऐसा नहीं है जो उस कर्म का अनुसन्धान करे। इसे पराभिसन्धि-विच्छेद कहेंगे और पहली अवस्था को अनभिसंहिति मानेंगे।

द्वयोरिति अर्पणक्रियाकर्तृविषययोः, नाशहेतुः—स्वपरानुसंध्यभाव-लक्षणः ॥ ११४ ॥

नन्वेतदीयं दुष्कृतं मे भूयादित्यनुसंधानं यथा परस्य नास्ति तथा सुकृतं मे भूयादित्यपि मा भूदिति कथमुक्तम् 'यन्मयाद्य तपस्तप्तम्' इत्यादि इत्याशङ्क्याह

सुखहेतौ सुखे चास्य सामान्यादभिसंधितः ।
निर्विशेषादपि न्याय्या धर्मादिफलभोक्तृता ॥ ११५ ॥
दुःखं मे दुःखहेतुर्वा स्तादित्येष पुनर्न तु ।
सामान्योऽप्यभिसंधिः स्यात्तदधर्मस्य नागमः ॥ ११६ ॥

सर्वो हि लोकः सुखस्पृहयालुर्दुःखजिहासुश्च इति सर्वेषां सुखं तद्धेतुं वा प्रति सामान्यात्मनापि अभिसंधानं न्याय्यं, न दुःखं तद्धेतुं वा प्रतीति युक्तमुक्तम् 'परस्य सुकृतफलभागित्वमेव भवेत् न दुष्कृतफलभागित्वमपि' इति, निर्विशेषा-

---

दोनों अवस्थाओं में अर्पक और अर्प्य कर्त्ताओं में से किसी को कोई फल नहीं मिल सकता। यहाँ फलनाश का कारण विद्यमान है। अनुसन्धान ही कर्म फल का हेतु होता है। यहाँ स्वपरानुन्धान का सर्वथा अभाव है। अतः फलाभाव स्वाभाविक है ॥ ११४ ॥

इसका पाप मुझे लग जाय यह अनुसन्धान किसी दूसरे में होना असम्भव सा है। उसी तरह 'सुकृत मुझे हो' यह अनुसन्धान भी नहीं होना चाहिये। पर लोग कहते हैं "आज मैंने जो पुण्य कमाया, वह उसे मिल जाय"। इस स्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत श्लोक में किया गया है।

सुख बड़ा मोहक होता है। उसी तरह सुख के साधन भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। इनमें आकर्षण के कारण सुख और सुख हेतु दोनों के विषय की अभिसन्धि सामान्य बात हो जाती है। यहाँ किसी प्रकार का बैशिष्ट्य नहीं होता। दूसरा व्यक्ति यह नहीं सोचता है कि उसने जो तपश्चर्या की, उसका पुण्य मुझे मिल जाय फिर भी तपस्वी की इच्छाशक्ति से यह हो भी जाय तो निर्विशेष भाव की ही प्रधानता यहाँ होगी। यह प्रेरित फलभोक्तृत्व न्याय्य प्रतीत होता है।

दिति – अनेनाद्य तपस्तप्तं तपो मे भूयादित्येवंरूपत्वविरहादपि इत्यर्थः ॥११६॥

एवमेतत् प्रसङ्गादभिधाय, प्रकृतमेवानुसरति

प्रकृतं ब्रूमहे ज्ञानाकलस्योक्तचरस्य यत् ।
अनहंयुतया सर्वा विलीनाः कर्मसंस्क्रियाः ॥ ११७ ॥

उक्तचरस्येत्यनेन--प्रागुक्तं कार्ममलाभावोपपादकं निखिलमेव प्रमेयम-स्मारितम्, अतश्चास्य विज्ञानाकलस्य कार्म एव मलो नास्ति इति तत्सामर्थ्य-व्यञ्जकत्वात्मकनिजकरणीयायोगात् दिध्वंसिषुः मलः तत्त्वादेव किंचिद्-ध्वंसमानत्वादिक्रमेण ध्वंसमानत्वं तन्नान्तरीयकं ध्वस्तत्वं च यायात् ॥ ११७ ॥
तदाह

तस्मादस्य न कर्मास्ति कस्यापि सहकारिताम् ।
मलः करोतु तेनायं ध्वंसमानत्वमश्नुते ॥ ११८ ॥

कोई यह नहीं सोचता कि उसका दुख या उसके दुख के सभी साधन मेरे हो जाँय। यह सामान्य अभिसन्धि या सोच भी किसी को नहीं होती। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भले ही धर्मादि फल भोक्तृता किसी में हो जाय, प्रेरित अधर्म फल भोक्तृता तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है ॥ ११५–११६ ॥

प्रसङ्ग वश कर्म सम्बन्धी प्रक्रिया की चर्चा आवश्यक रूप से को गयी है। जहाँ तक विज्ञानाकल पुरुष का प्रश्न है, उसी की प्राकरणिकता है। वही प्रकृत है। उसी के सम्बन्ध में ग्रन्थकार अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत कर रहे हैं—

पहले विज्ञानाकलत्व परिभाषित है। वहाँ कहा गया है कि उसमें कार्म मल नहीं होता। वे सारे प्रमेय जो कार्म मल उत्पन्न करते हैं, वहाँ निष्प्रभावो होते हैं। उसका दिध्वंसिषु मल ध्वंसमानत्वादि क्रम से ध्वस्त हो जाता है। विना ध्वंसमानता प्राप्त किये ध्वस्तता असम्भव होती है किन्तु यहाँ वह अनिवार्यतया होती है। इसका कारण अनहंकार भाव का प्राबल्य ही है। उसी के फलस्वरूप सारी कर्म संक्रिया विलीन हो जाती है। श्लोक ९५–९६ में इसका विशद विवेचन है ॥ ११७ ॥

तेनेति—सहकारित्वाकरणेन ॥ ११८ ॥

ननु मलश्च ध्वस्तत्वे 'सर्वमहम्' इति सर्वत्राहंभावोदयात् कर्मणि तत्फले च तथाभावात् अस्य पुनरपि कार्ममलयोगः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अपध्वस्तमलस्त्वन्तः शिवावेशवशीकृतः ।
अहंभावपरोऽप्येति न कर्माधीनवृत्तिताम् ॥ ११९ ॥

कर्माधीनवृत्तित्वाभावे शिवावेशवशीकृतत्वं हेतुः ॥ ११९ ॥

इस लिये विज्ञानाकल पुरुष के कर्म शेष नहीं रह पाते—ध्वस्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति नहीं रह जातो कि कोई कर्म सहकारी भाव से मलोत्पत्ति करा सके, सहकारिता के अभाव में ध्वंसमानता का उल्लास यहाँ स्वाभाविक हो जाता है। दिध्वंसिषुता का क्रमिक परिणाम ध्वस्तता है। अतः कार्म मल का ध्वस्त हो जाना पुरुष को विज्ञाज्ञाकल अवस्था में प्रतिष्ठित कर देता है ॥ ११८ ॥

यहाँ एक नया विचार जन्म लेता है। मल के ध्वस्त हो जाने पर उसे महाभाव में अवस्थित हो जाना चाहिये। यह सब कुछ, यह सारा प्रसार मैं ही हूँ—'मदभिन्नमिदं सर्वम्' के अनुसार सर्वत्र अहन्ता की अहमात्मकता का उल्लास होना ही चाहिये। ऐसी दशा में यह कर्म और यह कर्मफल मैं ही हूँ—यह भाव भी स्वभावतः समुदित होना चाहिये। फलतः कार्म मल से उसका संस्कारतः संयोग हो जायेगा। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि विज्ञानाकल में कार्म मल का अभाव हो जाता है ? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

विज्ञानाकल पुरुष के तीन ऐसे स्तर हैं, जो एक साथ उल्लसित रहते हैं। परिणाम स्वरूप उसका कार्म मल-संयोग नहीं होता। वे तीन स्तर हैं—

१—उसके मल ध्वंसमानता और किंचिद्ध्वस्तता के क्रम से पूर्णतया ध्वस्त हो जाते हैं। २—आन्तरिक रूप से वह शैव समावेश में विराजमान हो जाता है। एक तरह से शिवावेश वशीकृत अन्तःकरणवाला साधना का धनी बन जाता है और ३—अहंता के परामर्शभाव में परायण रहता हुआ भी कर्माधीन वृत्तिता से वंचित रहकर विज्ञान का आकलन करता है। कर्माधीन वृत्तिता से वंचित रहने में शिवावेशवशीकृतत्व ही कारण होता है ॥ ११९ ॥

एवमेतन्मलस्य संसाराङ्कुरकारणत्वं तत्प्रसङ्गेन च संसाराङ्कुरस्य स्वरूपं गर्भीकृतप्रागुक्तसकलप्रमेयया श्रीमालिनीविजयोक्त्या संवादयति

उक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे च तदेतत्परमेशिना ।
मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ॥१२०॥
धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदुःखादिलक्षणम् ।

तत्र कर्मसूत्रं व्याचष्टे

लक्षयेत्सुखदुःखादि स्वं कार्यं हेतुभावतः ॥ १२१ ॥

लक्षयेदिति--स्वसत्ताप्रयोजकोकारेण तथा व्यवस्थापयेदित्यर्थः, कथं चास्य तल्लक्षकत्वम् ? इत्याशङ्क्योक्तं 'हेतुभावत' इति ॥ १२१ ॥

मालिनो विजयोत्तर तन्त्र के एतद्विषयक विचार प्रस्तुत कर रहे हैं—

श्री पूर्वशास्त्र में स्वयं परमेश्वर शिव द्वारा कहा गया है कि 'मल ही अज्ञान है। सभी विचारक, अज्ञान को मल कहने की इच्छा करते हैं अर्थात् यह सर्ववादि सम्मत सिद्धान्त है। वही संसार के अङ्कुर का कारण है ॥१२०॥

धर्म और अधर्मात्मक कर्म सुख और दुःख के जनक होते हैं। प्रायः कर्म का यह सूत्र ही है कि अपने कार्य ही सुख और दुःख की उत्पत्ति में कारण होते हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि सुखी और दुःखी प्राणियों को देख कर सभी यह अनुमान लगाते हैं कि जैसा बोया वैसा ही काट रहा है। जैसी करनी वैसी भरनी का महावरा भी बहु प्रचलित है। हेतु भाव से लक्षक सुखादि-परिणामों द्वारा कृत-कर्म के जिस फल का जो कारण बनता है, वह प्रयोजक होता है। एक तरह से वह निमित्त होता है।

उसका प्रयोजन ही फल प्रदान करना है। कर्म की सत्ता अपने प्रयोजकी भाव से ऐसी व्यवस्था कर देती है, जिससे यह लक्षित होने लगता है कि इस कर्म का फल पुण्य और इसका फल पाप है। यह लक्षकता कैसे व्यक्त होती है ? इस का समाधान श्लोक का 'हेतु भाव' शब्द करता है। प्रयोज्य रोगी को रोग मुक्ति के प्रयोजन के लिये उससे संकल्प लेकर मन्त्र प्रयोग होता है। मन्त्र प्रयोग रूप कर्म में प्रयोजकीभाव की सत्ता प्रतिष्ठित है। रोग की दिध्वंसिषुता, किञ्चिद् ध्वंसमानता, ध्वंसमानता, किञ्चिद् ध्वस्तता

ननु 'नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति' इति न्यायात् नियमेन कथंकारं कार्यं हेतुर्व्यवस्थापयेत् ? इत्याशङ्क्याह

नहि हेतुः कदाप्यास्ते विना कार्यं निजं क्वचित् ।
हेतुता योग्यतैवासौ फलानन्तर्यभाविता ॥ १२२ ॥

का नाम योग्यता, इत्युक्तं 'फलानन्तर्यभाविता' इति अत एव नैयायिकादयः सामग्र्या एव कारणत्वमभ्युपागमन्--समग्राणि कारणमिति नावश्यमित्यादि पुनरसमग्रापेक्षयोक्तम् ॥ १२२ ॥

ननु यद्येवं तत् कार्यात् पूर्वं सामग्र्यन्तरनुप्रविष्टस्यापि वह्न्यादेः किं कारणत्वं स्यान्न वा ? इत्याशङ्क्याह

और पूर्णध्वस्तता के क्रम से यह लक्षित होने लगता है कि कर्म (मन्त्र प्रयोग रूप) सुख प्रद है। श्री पूर्व शास्त्र का यह सिद्धान्त पूर्णतया व्यवहार पर आधृत है ॥ १२१ ॥

एक मान्यता है कि "प्रायः कारण अनिवार्य रूप से कार्यरूप में परिणत नहीं हो पाते"। इसके अनुसार हेतु नियमतः कार्य व्यवस्थापन नहीं कर सकता। यदि कर्म ही सुख दुःखादि का हेतु है तो यह हेतु भाव नियम से सुख दुःख उत्पन्न ही कैसे कर सकते हैं ? इसका उत्तर है कि,

हेतु अपने कार्य के विना हेतु ही नहीं माना जा सकता। हेतुता की परिभाषा ही यह है कि उसमें यह योग्यता होनो चाहिये जिससे उसके बाद फलोत्पत्ति हो। यही हेतुता की योग्यता है। मिट्टी के लोंदे से घट निर्माण में सामग्री वाद का सिद्धान्त नैयायिक विद्वान् स्वीकार करते हैं। यह सामग्रीवाद का समर्थक है। हेतु है तो फल भी अवश्यम्भावी है।

जहाँ तक 'नावश्यं कारणानि' की बात है वहाँ असमग्र कारण में कार्य असम्भव है। इसी दृष्टिकोण से ऐसा कहा गया है। सामग्री की पूर्णता में में कार्य तो होना ही है। इसमें सन्देह की कोई बात ही नहीं है ॥ १२२ ॥

कार्य से पहले की सामग्री में अन्तः प्रविष्ट अग्नि तत्त्व आदि की कारणता मान्य है या नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में परम्परा का महत्त्व प्रदर्शित कर रहे हैं—

पूर्वकस्य तु हेतुत्वं पारम्पर्येण······

तेन सुखदुःखादेर्लक्षणम्, इति षष्ठीतत्पुरुषगर्भमेतत् व्याख्यानम्।

अत्रैव बहुव्रीहिगर्भं व्याख्यानान्तरं दर्शयति

···किं च तत्।

लक्ष्यते सुखदुःखाद्यैः समाने दृष्टकारणे ॥ १२३ ॥
चित्रैर्हेत्वन्तरं किंचित्तच्च कर्मेह दर्शनात्।

'किं च तत्' इत्यनेन पूर्वत्रानवक्लृप्त्या नायं व्याख्याविकल्पः किं तु आवृत्त्या समुच्चय इति द्योतितं, प्रतिपुरुषं समानेऽपि सेवाध्ययनादौ दृष्टे कारणे यत् सुखदुःखादीनां वैचित्र्यं तेन तदन्यथानुपपत्त्या तत्र तत्किंचिददृष्टसंज्ञं हेत्वन्तरं लक्ष्यते—अनुमीयते इत्यर्थः, कार्यविशेषजनकत्वाच्च तेन विशिष्टेन

कार्य से पूर्व हेतु में पारम्पर्य की दृष्टि अपेक्षित है'। इस वाक्य में 'सुखदुःखादि का लक्षण' अर्थ में सम्बन्ध कारक का आश्रय लेकर तत्पुरुष समास प्रयुक्त है।

तत्पुरुष समास उभयपद प्रधान होता है। दोनों पदों को सम्बन्ध कारक की षष्ठी विभक्ति जोड़ती है। जैसे दशरथपुत्र शब्द के विग्रह 'दशरथ का पुत्र' में दशरथ और पुत्र दोनों पदों को 'का' विभक्ति जोड़ती है।

बहुव्रीहि समास अन्य पदार्थ प्रधान होता है। जैसे पीताम्बर भगवान् विष्णु को कहते हैं। इसका विग्रह वाक्य होता है—'पीत अम्बर है जिसका'। पीत और अम्बर दोनों की प्रधानता नहीं है। अपितु विष्णु रूप अन्य पद प्रधान हो गया।

'सुख दुःख आदि लक्षण है जिसका' यह विग्रह करने पर तृतीय पद कर्म प्रधान हो जाता है। यह कर्म क्या है, कैसा है, कैसे लक्षित होता है? इन तर्कों के उत्तर में यही बहुव्रीहि समास समर्थित अर्थ सार्थक होता है। इसीलिये कारिका कहती है कि वह सुख दुःख आदि लक्षणों से लक्षित सामान्यतया सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

कोई पुरुष किसी सेवा में कार्य रत है। कोई स्वाध्याय संलग्न है। इस प्रक्रिया में सुख और दुःख के विचित्र रूप सामने आते हैं। इस वैचित्र्य के

केनचित् भाव्यमित्याह 'तच्च कर्म' इति, विशिष्टत्वेऽपि कर्मेति कुतो निर्ज्ञातं पिशाचाद्यप्यस्तु ? इत्याशङ्क्योक्तम्—इह दर्शनादिति, इह सर्वत्रैव हि कर्म-वैचित्र्यात् कार्यवैचित्र्यं दृश्यते इत्याशयः ॥ १२३ ॥

एतदेव उपपादयति

स्वाङ्गे प्रसादरौक्ष्यादि जायमानं स्वकर्मणा ॥ १२४ ॥

दृष्टमित्यन्यदेहस्थं कारणं कर्म कल्प्यते ।

यतः स्वाङ्गे विचित्रं प्रसादरौक्ष्यादि स्वेन पांसुलेपाद्यात्मा कर्मणा

आधार पर हम एक नये कारण की कल्पना करते हैं। उसे 'अदृष्ट' कहते हैं। मीमांसा कहती है—उसके विना इस वैचित्र्य के दर्शन नहीं हो सकते।

किसान गन्ने को गुड़ाई करता है। कुदाल से उस के दायें पैर का अंगूठा कट जाता है। पूछने वाला पूछ सकता है—बायें पैर का अंगूठा क्यों नहीं कटा ? दायें पैर में भी अंगुष्ठ ही क्यों कटा, कनिष्ठिका क्यों नहीं कटी ? इन विचित्र घटनाओं में एक नये कारण की कल्पना करते हैं, जिसे 'अदृष्ट' कहते हैं। यह हेत्वन्तर कार्य विशेष का जनक होता है। उसमें कुछ वैशिष्ट्य है। इसलिये वह विशेष कर्म घटित हो जाता है।

यह बात सामान्यतया व्यवहार में दृष्टि पथ में आती ही रहतो है। कर्म की विचित्रता और कार्य की विचित्रताओं में 'अदृष्ट' की विचित्र कल्पना भी इस कार्मिक इन्द्रजाल को और भो विस्मय जनक बना देता है ॥ १२३ ॥

इस तथ्य को इस प्रकार भी समझा जा सकता है—

किसी ने अपने शरीर में अङ्गराग का उपलेपन किया। किसी दूसरे ने अपने शरीर पर श्मशान विभूति का उपलेप किया। दोनों को देखने से उनके शरीर पर पड़ा प्रभाव भी दीख पड़ेगा। एक का शरीर प्रसाद सिद्ध पुष्टि से पुलकित होगा। दूसरे का देह द्युति-दिव्यता-विहीन शुष्क और रुक्षता से रूषित। ऐसा हो जाना भी स्वाभाविक है। यह सब दोनों प्राणियों के अपने किये का फल है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध तथ्य है।

द्रष्टा इन दोनों को देख कर कहीं अन्यत्र गया। एक पुरुष के सर्वाङ्ग सौन्दर्य से आकर्षक स्निग्ध शरीर को देखा और साथ ही एक रूक्ष राक्षसोपम

जायमानं दृष्टम्, अतो 'दृष्टवददृष्टकल्पना' इति न्यायात् अत्रापि कर्मैव न तु पिशाचादि कारणं कल्प्यते, किं तदन्यदेहस्थं—देहान्तरोपचितमित्यर्थः ॥१२४ ॥

न चैतावतैव अत्र वैषम्यमुद्भाव्यमित्याह

इहाप्यन्यान्यदेहस्थे स्फुटं कर्मफले यतः ॥ १२५ ॥

कृषिकर्म मधौ भोगः शरद्यन्या च सा तनुः ।

इहापि—शरीरक्षणिकत्वे सर्वेषामविवादात् 'अन्यदेहस्थं कर्म अन्यदेहस्थं फलम्' इति नास्ति विमतिः, यतः—कृषिकर्म वसन्ते तत्फलं शरदीति, एतच्च अवस्थावैचित्र्यात्, शरीरभेद एव घटते, इति युक्तमुक्तम्,–अन्यदेहस्थं कर्म कारणं कल्प्यते इति ॥ १२५ ॥

नन्वेवं कृतनाशाकृताभ्यागमचोद्यमापतेत् ? इत्याशङ्क्याह

अनुसंधातुरेकस्य संभवस्तु यतस्ततः ॥ १२६ ॥

तस्यैव तत्फलं चित्रं कर्म यस्य पुरातनम् ।

नररूप धारो पशु पुरुष को देख लिया। ये अन्यदेहस्थ कार्य अदृष्ट कर्म की कल्पना का आकलन अवश्य करने को बाध्य करते हैं। उसने सोचा यह इनके किये का ही फल होगा।

इसी आधार पर 'दृष्टवत् अदृष्टकल्पना' नीति निर्धारित की जाती है। यहाँ भी कर्म कारण माना जाना चाहिये। किसी पिशाचादि के प्रभाव की कल्पना के लिये यहाँ कोई अवकाश नहीं ॥ १२४ ॥

व्यवहार जगत् में भी इस प्रकार के वैषम्य सबको प्रभावित करते हैं। जैसे—

किसान वसन्त ऋतु में गन्ना बोता है। उसका फल उसे शरद् ऋतु में दूसरे आकार प्रकार में मिलता है। जगत् का जीवन भी तो क्षणिक है। 'अन्य देह कृत कर्म अन्यदेह गत फल' के नियम का आधार भी यही कर्म-फल वैचित्र्यवाद ही है। पहला कर्म ही कारण बन जाता है और फल प्रत्यक्ष हो जाते हैं ॥ १२५ ॥

येनैव मया प्रागुक्तं स एवाहमद्य भोक्ष्ये; इत्यनुसंधानैक्यात् कर्मकलयोर्वैय-धिकरण्याभावात् न कृतस्य नाशो नापि अकृतस्याभ्यागमः, इति युक्तमुक्तम् अन्यान्यदेहस्थे कर्मफले इति ॥ १२६ ॥

ननु भवेदेवं यद्यनुसंधानमेव स्यात्, नहि जन्मान्तरीये कर्मणि ऐहिके च फले कस्यचित् तदस्ति ? इत्याशङ्क्याह

ऐसे स्थलों में विपरीत कल्पनायें भी फूलने फलने लगती हैं। यह भी तो कहा जा सकता है कि पहले किये हुए का नाश हो गया और अकृत का अभ्यागम हो गया ? इस विषमता दूषित शङ्का का समाधान अनुसन्धाता के अनुसन्धान से सम्बन्धित है। यही कह रहे हैं—

यदि एक ही अनुसन्धाता न हो तो अन्य देहस्थ कर्म और अन्य देहस्थ फल रूप कृतनाश और अकृत का अभ्यागम रूप पूर्व श्लोकोक्त वैयधिकरण्य रहेगा। पर अनुसन्धाता के एक रहने पर यह अवस्था नहीं होगी। जैसे—

'मैंने ही यह बोया और मैं ही यह काट रहा हूँ' इसका अनुसन्धाता एक ही है, अनुसन्धान उसी में है, उसी का है। इस लिये यहाँ एक अनुसंधाता होने के कारण यह सम्भव है अर्थात् न कृत का नाश है और न अकृत का अभ्यागम है। जहाँ अन्यान्य देहस्थ कर्म और फल है, वहाँ यह सम्भव नहीं है। अतः १२५ वीं श्लोकोक्ति सत्य है।

इसीलिये उसी अवस्था में कर्म फल वैचित्र्य का सिद्धान्त भी चरितार्थ होता है। पुरातन कर्म की विचित्र फलवत्ता जागतिक फलक पर निरन्तर प्रतिफलित होती रहती है ॥ १२६ ॥

जहाँ तक अनुसन्धान का प्रश्न है, वह जन्मान्तरीय कर्म और ऐहिक फल में तो किसी को नही होता। एक अनुसन्धाता के एकानुसन्धान में वैचित्र्य की कल्पना अनावश्यक है। इसी तथ्य का समर्थन दृष्टान्त द्वारा कर रहे हैं—

क्षीवोऽपि राजा सूदं चेदादिशेत्प्रातरीदृशम् ॥ १२७ ॥
भोजयेत्यनुसन्धानाद्विना प्राप्नोति तत्फलम् ।
इत्थं जन्मान्तरोपात्तकर्माप्यद्यानुसन्धिना ॥ १२८ ॥
विना भुङ्क्ते फलं हेतुस्तत्र प्राच्या ह्यकम्पता ।

नहि क्षीवस्य राजादेरेवमनुसंधिः संभवति—यन्मया ह्य एवमादिष्टः सूदो येनाद्य तथा तदादेशफलमेवं भोगः प्राप्त इति, भोजयेति--भोगं कुरु इत्यर्थः, एवमिहापि अनुसंधानमन्तरेण जन्मान्तरीयात् कर्मणः फललाभो भवेदिति न कश्चिद्दोषः, ननु अनुसंधानमात्रायत्तैव कर्मफलव्यवस्था इति समन्तरनेवोक्तं, तदधुनैव कथं विपर्यास्यते ! इत्याशङ्क्योक्तं 'हेतुस्तत्र प्राच्या ह्यकम्पता' इति, पूर्वं हि तत्र 'एवमहं करोमि' इति दृढनिरूढोऽनुसंधिरभूत् यत्संस्कारदार्ढ्यादिह तत्फलमिति इह च स एव प्रयोजको नहि फलतत्संबन्धादौ क्वचिदसावुपादेयः, इति समनन्तरमेवोपपादितम्, एवं फलदानोन्मुखस्य कर्मणः प्राच्यानुसंधान-

---

एक राजा है। यद्यपि वह क्षीव है, फिर भी आदेश देने का अधिकारी तो वह है ही। अपने पाचक को प्रातःकाल उसने रुचिकर पक्वान्न भोजन का आदेश दिया। उसने विशेष प्रकार के विशिष्ट भोजन पकाने और जिमाने की बात भी समझा दी। इस अवस्था में भोजन रूप फल की प्राप्ति राजा को समयानुसार होती है। यह सोचने की बात है। आदेश के उपरान्त यहाँ अनुसन्धान अनावश्यक है। उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती। आदेश के बाद उसका फल प्रस्तुत होता है। राजा भी खाता है और पाचक की भोजन करता है। कोई अन्तर नहीं पड़ता।

इसी के अनुसार जन्मान्तर में कर्म का सम्पादन हुआ। वह कर्म भी अनुसन्धान के बिना भी फल की सुलभ समुत्पत्ति करता है। इसमें फल प्राप्त करने वाले के मन में कोई संकोच नहीं उत्पन्न होता। इसे 'प्राच्या अकम्पता' कह सकते हैं। जन्मान्तर में अनुसन्धाता के मन में दृढ़ निरूढ अनुसन्धि हुई थी कि 'मैं ऐसा कर रहा हूँ।' उसी संस्कार की दृढ़ता का यह परिणाम होता है कि उसे उस कर्मफल की प्राप्ति हो जाती है। फलदानोन्मुख कर्म में

संस्कारस्य दार्ढ्यमवश्यंभावि—अन्यथा तथात्वायोगात्, ततश्च तदनुन्मुखस्य तथा तद्दार्ढ्यं न संभवेत्, इति तत् केनचिदुपायेन फलदानाय निरोद्धुमपि शक्यं—तत्र हि अन्तः प्रतिबन्धोपनिपाताद्यपि संभाव्यते इति भावः ॥ १२८ ॥

तदाह

अत एव कृतं कर्म कर्मणा तपसापि वा ॥ १२९ ॥
ज्ञानेन वा निरुध्येत फलपाकेष्वनुन्मुखम् ।

अत इति—फलौन्मुख्ये कर्मणः प्राच्यानुसन्धिनिष्कम्पस्यावश्योपयोगात्; कर्मणेति–क्रियादीक्षादिना, निरुध्येत इति—फलदानायोग्यं कुर्यादित्यर्थः ॥१२९॥

अत एव फलदानोन्मुखं कर्मानिरोध्यमेवेत्याह

आरब्धकार्यं देहेऽस्मिन् यत्पुनः कर्म तत्कथम् ॥ १३० ॥
उच्छिद्यतामन्त्यदशं निरोद्धुं नहि शक्यते ।

प्राच्य अनुसन्धान की दृढ़ता अनिवार्यतः अवश्यं भाविनी है। अन्यथा ऐसा नहीं हो सकता। किसी उपाय से वह फल प्राप्ति रोकी भी नहीं जा सकती। उस आन्तरिक स्पन्द में प्रतिबन्ध के उपनिपात की व्यवस्था आकलनोय है ॥ १२८ ॥

इस जानकारी के फल स्वरूप जागरूक आत्मन् सजग हो जाते हैं। फल के औन्मुख्य का ज्यों ही उसे आकलन हुआ, वह उसके निरोध के उपाय में व्यापृत हो जाता है। क्रिया, दीक्षा, जप, पूजन और तपस्या के द्वारा अथवा गुरु गम्भीर प्रतिबोध के माध्यम से स्वात्मको फल पाक के प्रति अनुन्मुख रखने में समर्थ हो जाता है। परिणामस्वरूप उसके प्राच्य कर्म अब फल देने में अयोग्य हो जाते हैं ॥ १२९ ॥

यदि फल में कर्म की उन्मुखता हो चुकी है और जीव उससे ग्रस्त हो गया है, तब तो यह सम्भव नहीं है। अर्थात् इस में फल रूप कार्य के आरब्ध हो जाने पर वह अनिरोध्य हो जाता है। यह तथ्य प्रस्तुत कारिका से प्रतिपादित है—

कथमुच्छिद्यतामिति—न कथंचिदपि उच्छेत्तुं शक्यम् इत्यर्थः, अत्र हेतुः—आरब्धकार्यमिति, यद्धि यावत् कार्यमेवारब्धं न प्रवृत्तं तावत्तदारम्भकत्वमेव अस्य अन्तरा केनचिदुपायेन प्रतिबध्यते, इति युक्तः तन्निरोधः, यत्पुनस्तदारब्धुमेव प्रवृत्तं तस्य प्रवृत्तत्वादेव किं निरुध्यते, इत्युक्तम्—अन्त्यदशां निरोद्धुं नहि शक्यते इति, यदभिप्रायेणैव

'.................प्रारब्धं कं न शोधयेत् ।' इति ।
'.................येनेदं तद्धि भोगतः ॥'

इत्यादि सर्वत्रोद्घोष्यते, सद्योनिर्वाणदीक्षादि पुनरासन्नमरणादेरेव भवेदिति तत्रापि दत्तप्रायफलत्वात् ततः पराङ्मुखमेव कर्म शोध्यमिति न कश्चिद्दोषः, तदुक्तम्

'दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम् ।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्वे नियोजयेत् '॥' इति ॥१३०॥

इस जीवन में और प्राप्त इस शरीर में यदि प्राच्य कर्म फलवान् हो जाता है या उसका यदि आरम्भ भी हो जाता है तो उसका उच्छेद नहीं हो सकता । यह रोग अन्तिम अवस्था में असाध्य हो जाता है । जब तक उसका आरम्भ न हो सका हो, तब तक तो निरोध हो ही सकता है । क्योंकि अभी उसका आरम्भ न होने से उसका प्रतिकार उसे अनुन्मुख बना देता है ।

इसी अर्थ को ध्यान में रखकर इस सम्बन्ध में कहा गया है कि,

—"प्रारब्ध के शोधन की प्रक्रिया न करे' ।

अथवा

"फल रूप में प्रारब्ध होने के कारण इसका भोग से ही क्षय हो सकता है ।"

आसन्न मरण वाले व्यक्ति को निर्वाण दीक्षा दी जाती है । यह क्रिया उस समय होती है, जब प्रायः कर्म फल समाप्त हो हो चुका होता है । एक प्रकार से वह अब कर्मफल पराङ्मुख ही हो चुका होता है । उसके शोधन में किसी प्रकार के दोष की सम्भावना नहीं होती । कहा गया है कि,

"शिष्य को जरा ग्रस्त जानकर या व्याधि से परिपीडित देखकर उत्क्रान्ति प्रक्रिया से पर तत्त्व में उसे नियोजित कर देते हैं ।" इसमें कोई दोष नहीं होता है ॥ १३० ॥

ननु देहारम्भकजात्यायुष्प्रदकर्म आरब्धकार्यत्वात् मा नाम निरोधि, यत् पुरद्यतनं प्राक्तनं वा अस्मिन्नेव देहे दिनैर्मासैः संवत्सरैर्वा भोगमात्रलक्षणं कार्यमारप्स्यते तत् किं निरोद्धुं शक्यते न वा ? इत्याशङ्क्याह

तत्रैव देहे यत्त्वन्यदद्यगं वा पुरातनम् ॥ १३१ ॥

कर्म तज्ज्ञानदीक्षाद्यैः शण्ढीकर्तुं प्रसह्यते ।

अन्यदिति—सद्य एव अनारब्धकार्यं, शण्ढीकर्तुमिति—फलदानयोग्यता-पहस्तनेन ध्वंसयितुमित्यर्थः, इति – न तु तथा क्रियते

'..............प्रारब्धेकं न शोधयेत् ।' इति ।

सामान्येनोक्तेः, एवं विशेषस्य चावचनात्, आदिशब्दात् मन्त्रौषधादि, तदुक्तम्

'ये त्विहागन्तवः प्रोक्तास्ते प्रशाम्यन्ति भेषजैः ।
जपहोमप्रधानैश्च.................................... ॥' इति ।

प्रश्न होता है कि शरीर, और जाति आयुप्रद कर्म जब प्रारब्ध बन कर फल प्रदान करने लगते हैं, तो निरोध्य नहीं रह जाते । यह तो समझ में आने वाली बात है, परन्तु वर्त्तमान या अबतक इसी देह में प्रतिदिन या मासिक और वार्षिक रूप से भोग भूमि में कोई कर्म फलवान् प्रतीत हो, उसका निरोध सम्भव है या नहीं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

इसी सन्दर्भ में यह बात निश्चित रूप से कहना है कि इस शरीर में अन्य (तत्काल अनारब्ध) अद्यग (वर्त्तमान जीवन कृत) अथवा पुरातन (पुराकृत) कर्म जिनके फल अभी प्रारब्ध नही हो सके हैं, वे तत्फल निरोधक ज्ञान-दीक्षा द्वारा बलपूर्वक षण्ठ किये जा सकते हैं । उनकी फलदान विषयक योग्यता का निवारण कर उन्हें ध्वस्त किया जा सकता है ।

यद्यपि 'प्रारब्ध फलवान् कर्म का शोधन न करें' यह सामान्य कथन है, पर विशेष रूप से इसका कोई निर्देश न होने के कारण यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐसा किया जा सकता है । एक आगमिक उक्ति है कि,

"जो इस जीवन के आगन्तुक रोग हैं, वे ओषधियों से निरस्त किये जा सकते हैं । इसके अतिरिक्त आगन्तुक मल जप-होम-प्रधान विशिष्ट प्रक्रियाओं से प्रशान्त किये जा सकते हैं" ।

रसायनादि पुनरारब्धकार्यस्य आयुष्प्रदस्यैव कर्मणः साहायकं कुर्यात् येनैत-
च्चिरस्यानुपरतकार्यौन्मुख्यमास्ते यद्वशादवश्यंभाविनोऽपि कालमृत्योरभियुक्तानां
किंचित्कालं प्रतिबन्धात्मा जयः स्यात् तदुक्तम्

'रसायनतपोजापयोगसिद्धैर्महात्मभिः ।
कालमृत्युरपि प्राज्ञैर्जीयतेऽनलसैर्जनैः ।।' इति ।

विषादि पुनः प्रयुज्यमानं क्षीणायुष्येव प्रतपति नान्यस्मिन्, परं तत्र दुष्कृतभाजः
प्रयोक्तुरभिमानमात्रं 'मयेदं कृतम्' इति मन्यते इति, एवं चेदं देहकृतारम्भक-

---

जहाँ तक रस रसायनों का प्रश्न है, उनके सम्बन्ध में कहा गया है कि,
"रसायनों से तप, जप और योग सिद्ध महापुरुषों द्वारा और प्राज्ञ जागरूक साधकों द्वारा कालमृत्यु से भी ग्रस्त रोगी को बचाया जा सकता है और स्वयं काल मृत्यु को भी जीता जा सकता है।"

यह ध्यान में रखने की बात है कि ये सारे या इन जैसे उपाय मात्र तात्कालिक प्रतिबन्धक होते हैं और आयु प्रदान करने वाले कर्मों के प्रारब्ध कार्य के सहायक हैं। इससे कार्य के प्रति अनवरत उन्मुखता बनी रह सकती है।

विष आदि के प्रयोग आयुष्प्रद नहीं होते। वे आयुष्य को क्षीण करते हैं। विष की ज्वाला उस प्रयोज्य को जला देती है। यह कल्पना भी की जा सकती है कि जो स्वयं क्षीणायुष्य था। संयोग वश उस पर विष का प्रयोग हुआ। शोधित विष रसायन होते हैं। वे क्षीणायुष्य पुरुष के लिये आयुष्प्रद भी सिद्ध होते हैं। क्षीणायुष्य पुरुष यदि कोई तप करें या रसायन के प्रयोग करें या विष प्रयोग करें तो भी इसमें कोई विशेष बात नहीं होती। मात्र उनके जीने की या मरने की आकांक्षा ही यह काम करा लेती है।

जहाँ तक द्वेषवश विष प्रयोग की बात है। यह दुष्कृत कर्म है। विष प्रयोक्ता के मन का यह कुत्सित अभिमान कि, 'मैंने विष दिया' उसे ले डूबता है। जिसकी आयु बची ही नहीं, वह तो विष से प्रभावित होता ही है।

देह में रोग है। एतदर्थ भेषजादि के प्रयोग उचित हैं। पर ये देह में प्रारब्ध कार्य परम्परा में ही अपना सामर्थ्य दिखा पाते हैं। कभी निष्प्रभावी भी

कर्मविषयतया भेषजादिसाध्येऽपि अर्थे यस्याः सामर्थ्यं न दृष्टं कस्तां प्रति अदृष्टेऽपि अर्थे समाश्वास इति किं दीक्षया इति न वाच्यं, नहि भेषजादिभिर्नवं किंचित् क्रियते यदेतदनाश्वासाय पर्यवस्येत्, इत्यलमवान्तरेण ॥ १३१ ॥

ननु को नामास्य ध्वंस ? इत्याशङ्क्याह

तथा संस्कारदाढर्यं हि फलाय दृढता पुनः ॥ १३२ ॥
यदा यदा विनश्येत कर्म ध्वस्तं तदा तदा ।

तथेति—प्राक्प्ररूढानुसंधानानुसारेणेत्यर्थः, एवं प्ररोहमुपागतो हि तत्संस्कारः फलनिमित्तमिह स्यात् इत्युपपादितम्, यत्तु संस्कारस्यैव फलोपजननप्रयोजकं दाढर्यमपाक्रियते तदकार्यकारित्वात् उच्यते—कर्म ध्वस्तमिति निरुद्धमिति उच्छिन्नमिति शण्ढीकृतमिति च, यत्तद्भ्यां च नात्र कालनियमः

होते हैं। यह निश्चय भी नहीं होता कि इनसे लाभ होगा या नहीं। यह भी सोचने की बात है कि जब देह गत रोगादि के शमन में इनकी सामर्थ्य सन्दिग्ध है, तो अदृष्ट प्रारब्ध कार्यों के प्रति ये क्या कर सकते हैं ?

ऐसे अवसरों पर लोग निर्वाण दीक्षा में भी सन्देह करने लगते हैं। यह ठीक नहीं। भेषज आदि कोई नयी बात नहीं करते। वे तो अपने गुण धर्म के अनुसार प्राकृतिक उपचार मात्र हैं। उनके प्रति किसी आश्वासन आदि का क्या उपयोग ? इस विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलता है कि देहस्थ नये या पुरातन कर्मों के प्रारब्ध कार्यों को ज्ञान की दीक्षा आदि माध्यमों से बलपूर्वक उनकी फलदान की योग्यता का अपहस्तन कर ध्वस्त किया जा सकता है। उन्हें निर्मूल करने में हठ किया जा सकता है ॥ १३१ ॥

ध्वस्त करने का या ध्वंस करने का यहाँ क्या अर्थ है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

उसके फल के प्रति दाढ्य या फल-संस्कार की दृढ़ता का विमर्श ही उनके मिटने का कारण बनता है। संस्कार ही फल के कारण होते हैं। मनमें यह दृढ़ तरङ्गें उठने लगती हैं कि मेरी दीक्षा ने कर्म को ध्वस्त कर दिया। दीक्षा से उनका प्रारब्ध फल रुक गया, वह नष्ट हो गया, अब उसमें फल प्रदान करने का सामर्थ्य न रहा आदि-आदि विचारों के स्पन्दन प्रारब्ध होने पर हथौड़े को चोट देते हैं ? क्रमशः वे कर्म ध्वस्त हो जाते हैं। इसमें कोई समय

कश्चिदित्युक्तम्, एवं मोहवशात् कृतमपि कर्म ज्ञानदीक्षादिना सर्वेषां विनापि भोगमक्रमेणैव विनाशमियादिति पिण्डार्थः ॥ १३२ ॥

तदाह

अतो मोहपराधीनो यद्यप्यकृत किंचन ॥ १३३ ॥
तथापि ज्ञानकाले तत्सर्वमेव प्रदह्यते ।

किंचनेति—शुभाशुभं वा, ज्ञानकाल इति—संवित्साक्षात्कारक्षण इत्यर्थः ॥ १३३ ॥

किमत्र प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

उक्तं च श्रीपरेऽहानादानः सर्वदृगुल्वणः ॥ १३४ ॥
मुहूर्तान्निर्दहेत्सर्वं देहस्थमकृतं कृतम् ।

सीमा निर्धारित नहीं है। जब-जब इस प्रकार की प्रक्रिया से प्राक्तन संस्कार नष्ट होते हैं, तब यह ध्वंस भी प्रारम्भ हो जाता है। यही प्रसह्यवाद है। हठपूर्वक इस कार्य में लगना श्रेयस्कर होता है। यही ज्ञानदीक्षा आदि का महत्त्व है ॥ १३२ ॥

वही कह रहे हैं—

इस लिये मोह मुग्ध पुरुष जो कुछ भी करते हैं, वह मूढता के आवरण में होने के कारण कृत होने पर भी अकृत के समान होते हैं। कृत भी और अकृत भी। ज्ञान-दीक्षा के बाद उनके मोह भंग हो जाते हैं। मोह भंग होना दीक्षा का चमत्कार है। मोह अन्धकार है। उसके नष्ट हो जाने पर वहाँ प्रकाश खिल उठता है। प्रकाश में ज्ञान की ज्वालायें फूट पड़ती हैं। इनमें सूखे इन्धन की तरह वह सब कुछ दग्ध हो जाता है, जिसने विराट् को अणु बना कर रख दिया था। यह वह अवस्था होती है, जिसे संवित्साक्षात्कार कहते हैं। जीवन का वह परम सौभाग्यशाली क्षण होता है ॥ १३३ ॥

इस विषय में आगमिक प्रमाण भीउपलब्ध हैं। श्रीपर शास्त्र में उल्लेख है कि जिस समय सर्वत्र संविद् साक्षात्कार हो जाता है, साधक को सारा

इह कश्चित् सर्वदृक्—सर्वमेव संविद्रूपतया जानानः, अत एव विगलित-भेदत्वात् अहानादानः, अत एवोल्वणः—त्यक्तहेयोपादेयविभागः, क्षणादेव सर्वं दुष्कृतं सुकृतं च देहस्थं निर्दहेत्—ज्ञानाग्निसात् कुर्यात् इत्यर्थः ॥ १३४ ॥

ननु यस्य सर्वमेव संविन्निष्ठं तस्य कथं कर्मापि देहस्थं संभवेत् ? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य स्वयमेव देहस्थपदं व्याचष्टे

देहस्थमिति देहेन सह तादात्म्यमाश्रिता ॥ १३५ ॥

स्वाच्छन्द्यात्संविदेवोक्ता तत्रस्थं कर्म दह्यते ।
देहैक्यवासनात्यागात् स च विश्वात्मतास्थितेः ॥ १३६ ॥

अकालकलिते व्यापिन्यभिन्ने या हि संस्क्रिया ।
संकोच एव सानेन सोऽपि देहैकतामयः ॥ १३७ ॥

उल्लास संविद्रूप ही परिलक्षित होने लगता है। सारा भेदवाद विगलित हो जाता है। उसके लिये न कुछ हेय रह जाता है और न कुछ उपादेय। वह तासदिव्यकाञ्चन-पुरुष का एक प्रतीक रह जाता है। उसके ज्ञान के नेत्र खुल जाते हैं। देह से सम्बन्धित सभी कृत और अकृत भस्मसात् हो जाते हैं ॥१३४॥

जिस पुरुष को संवित्साक्षात्कार हो जाता है, वह संविन्निष्ठ हो जाता है। उस समय स्वाभाविक है कि उसके देहस्थ कर्म भी न हों। ऊपर देहस्थ कर्म की चर्चा है। उसका विश्लेषण आवश्यक है। यहाँ वही प्रस्तुत है—

संविद् का तादात्म्य देह के साथ भी होना संवित्साक्षात्कार का परिणाम है। संवित् तत्त्व स्वातन्त्र्य-संवलित होता है। साधक का शरीर भी संविद्रूप ही हो जाता है। उस संविद्रूप देह में कर्म रह भी कैसे सकता है ? संविद् तो स्वयं आग है। इसमें कर्म जाल का जल जाना स्वाभाविक है।

उस समय देहस्थ वासना का परित्याग हो जाता है। अनात्म में आत्माभिमान नष्ट हो जाता है और विश्वमयता का उल्लास हो जाता है। विश्वमयता की इस भावना में स्वात्माभिमान के मुख्य रहने के कारण पाशबद्धता विगलित हो जाती है और साधक धन्य हो उठता है।

संविदेवेति - सर्वो हि भाववर्गः संवित्स्फार एवेति भावः, तत्रस्थमिति-देहावच्छिन्नसंविन्निष्ठमित्यर्थः, कर्मणश्च इयान् दाहो—यद्देहाहंभावसंस्कार-गुणीभावो नाम इति, स च वैश्वात्म्यमाश्रितायां संविदि आत्माभिमानस्य मुख्यत्वात् भवेदित्युक्तम्—स च विश्वात्मतास्थितेरिति, नहि अद्वयैकपरमार्थे नित्ये व्यापके च संविद्रूपे कश्चिदतिरेकेण देहादिसंस्कारो न्यायः, स हि संकोच एव सति स्यात्, संकोचश्च देहाद्यैकरूप एवेति युक्तमुक्तं—सर्वमेव संविदैकात्म्येन जानतः कर्मदाहो भवेदिति, यदभिप्रायेणैव

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥'

इत्यादि गीतम् (श्रीमद्भगवद्गीता ९।२७) ॥ १३७ ॥

एतदुपसंहरन् अन्यदवतारयति

एतत्कार्ममलं प्रोक्तं येन साकं लयाकलाः ।
स्युर्गुहागहनान्तःस्थाः सुप्ता इव सरोसृपाः ॥ १३८ ॥

काल से अनाकलित, सर्वत्र व्याप्त और भेदवाद के स्तर से ऊपर अभिन्नता की अवस्था के महाभाव में किसी कल्पनातीत संस्कार सम्पन्नता की बात करना भी 'संकोच ही माना जा सकता है। संकोच में देहात्मभाव जागृत रहता है। फिर भी एक विचित्रता यहाँ यह रहती है कि देहावच्छिन्न संविन्निष्ठ स्थिति में भी संविदैकात्म्य के कारण कर्म भस्मसात् होता रहता है। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रख कर भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता (९।२७) में यह उद्घोष किया है कि—

"तुम जो कुछ करते हो, जिन कर्मों का सम्पादन करते हो, जो कुछ भोजन करते हो, जो यागादिकर्म करते हो, यज्ञ, दान और तप रूप धर्म की तीन महाशाखाओं का आश्रय लेकर जो कर्म कर रहे हो, यह सब मुझको अर्पित कर दो।"

इस अर्पण से कर्तृताभिमान नष्ट होता है, कर्म-निष्कर्म बन जाता है और कर्म-जाल दग्ध हो जाता है ॥ १३५-१३७ ॥

ऊपर कर्मफलोपभोग में लगे लोगों के कर्म फल की जिन बातों का विश्लेषण किया गया है—वे सभी कार्म मल के अन्तर्गत आती हैं। कार्ममल-युक्त

ततः प्रबुद्धसंस्कारास्ते यथोचितभागिनः ।
ब्रह्मादिस्थावरान्तेऽस्मिन् संसरन्ति पुनः पुनः ॥ १३९ ॥

येनेति—कार्मेण मलेन, द्विमलबद्धा हि प्रलयाकलाः, गुहागहनं—मायागर्भः, एतेनेयदन्तमेषां व्याप्तिरित्यपि सूचितम्, तत इति मायान्तरवस्थानानन्तरं सृष्टिप्रारम्भे इत्यर्थः, संस्कारः—कर्मवासनात्मा तद्वैचित्र्यादेव चैषां यथोचितभागित्वमुक्तम्, संसरन्तीति—अर्थादघोरेशसंसृष्टाः, उक्तं च प्राक्

लयाकल प्रमाताओं की दशा का शब्द चित्र सा उकेरते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि, ऐसे प्रमाता गुहा गहनान्तस्थः निष्क्रिय जीवों की तरह ही होते हैं। ऊपर देहस्थ शब्द प्रयुक्त है। यहाँ गुहागहनान्तस्थ शब्द का प्रयोग किया गया है। ये दोनो स्थितियाँ कर्मवैचित्र्य की ओर ही अध्येता का ध्यान आकृष्ट करती हैं।

कार्म मल से ग्रस्त प्राणी मानो सुषुप्ति की तमसावृत सीमा में समा सा जाता है। सुप्त दशा सरीसृप अवस्था के समान है। सरीसृप जड़ता के आवरण में जीते और मरते हैं। कार्यमल ग्रस्त भी सोये सरीसृप ही हैं। इस अवस्था में सभी अपने प्रबुद्ध संस्कारों के अनुसार यथोचित फलवत्ता का उपभोग कर ब्रह्मा से लेकर स्थावर सृष्टि तक संसृति की गतिशीलता के शिकार हो जाते हैं। प्रबुद्ध संस्कार शब्द से उस प्रमाता की व्यष्टि अवस्था के विकसित और अविकसित रूपों का आकलन होता है। कार्ममल की ग्रस्तता में दोहरी मार पड़ती है। आणव मल था ही, अब कार्ममल की ग्रन्थि उस जीव को माया के गर्भ की कारा का कलङ्क झेलने के लिये बाध्य कर देती है। माया का गर्भ ही गुहागहन अवस्था कहलाती है।

प्रलयाकल जीवों की स्थिति का यह एक छोर है। अब तो समस्या यही होती है कि यह सुषुप्ति भी समाप्त कैसे हो? जब तक मोह निद्रा का वह उन्माद उस पर सवार है, वहाँ से बच निकलने का कोई उपाय नहीं। हाँ सृष्टि के प्रारम्भ में वह क्षण उपस्थित होता है। कर्म का वासनात्मक आवरण उसे उसके अनुरूप सृजन का पथ प्रदान करता है। अघोरेश की सृष्टि में पुद्गल बन कर वह संसरण करता है। कहा गया है कि,

'तद्दिनप्रक्षये विश्वं मायायां प्रविलीयते ।
क्षीणायां निशि तावत्यां गहनेशः सृजेत्पुनः ॥'
इति ॥ १३९ ॥

नन्वेषामविशेषेण अधः संसरणमेव किं स्यात् उत ऊर्ध्वमपि ! इत्या-शङ्क्याह

ये पुनः कर्मसंस्कारहान्यै प्रारब्धभावनाः ।
भावनापरिनिष्पत्तिमप्राप्य प्रलयं गताः ॥ १४० ॥
महान्तं ते तथान्तःस्थ-भावनापाकसौष्ठवात् ।
मन्त्रत्वं प्रतिपद्यन्ते चित्राच्चित्रं च कर्मतः ॥ १४१ ॥

अप्राप्येति—तत्प्राप्तौ हि विज्ञानाकलत्वमेषां भवेदिति भावः, तथान्तः-स्थेति—कर्मसंस्कारहान्यनुसारेण दत्तवासनेत्यर्थः, चित्रादिति—काकाक्षि-

---

"ब्रह्मा के दिन के अन्त में यह विश्व माया में विलीन हो जाता है। वह रात होती है। रात्रि के व्यतीत होने पर वही अघोरेश पुनः तदनुरूप संसृति का चक्र चालू कर देते हैं। इससे उबरने का एक मात्र रामबाण उपाय नैष्कर्म्य और सर्वात्मना समर्पण है ॥ १३८-१३९ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या प्रलयाकल अवस्था में पड़े लोगों का इस प्रकार अधः पतन होता ही रहेगा ? या इनके ऊर्ध्व की ओर उठने अर्थात् मलनिर्मूल होने का अवसर भी मिलेगा या नहीं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

कर्म संस्कार को हटाने के लिये प्रारब्ध भावना वाले प्रलयाकल, भावना के परिणाम को विना प्राप्त किये ही यदि प्रलयप्रलीन हो जाते हैं, तो भी उनमें अन्तःस्थ भावना के परिपाक की वह शुभ्रता उद्दीप्त रहती है, जिसके बल पर स्तरीय वैचित्र्य की दृष्टि से उन्हें उसका विचित्र फल भी मिलता है। वे प्रलयाकल दशा से उबर कर मन्त्रत्व प्राप्त कर लेते हैं। इसे इस तरह समझें—

कर्म जागतिक उत्कर्ष का हेतु होता है। इससे आध्यात्मिक उत्कर्ष नहीं होता। पूर्व कृत कर्मों के संस्कार जीव पर अपना इन्द्रजाल फैला कर

न्यायेन भावनापरिपाकसौष्ठवस्य कर्मणश्च विशेषणत्वेन योज्यम्, अत एव मन्त्रत्वमपि साञ्जननिरञ्जनादिभेदात् चित्रमित्युक्तम्—कारणस्य वैचित्र्यात् कार्यमपि तथैव भवेदिति भावः, मन्त्राणां च प्रलयाकलोपादानत्वे न अन्यथा संभाव्यम्, यदाहुः

'मन्त्राणां च प्रलयाकलानां सतामनुगृहीतानाम् ।' इति,

उसे अधः संसरण को ओर प्रेरित करते हैं। उन संस्कारों को मिटाने के लिये उस जोव को भावना की प्रबल तल्लीनता चाहिये। अभ्यास का अध्यवसाय चाहिये। मान लीजिये, किसी जोवधारी ने प्रबल इच्छाशक्ति से, अभिनिवेश-पूर्वक इसके लिये प्रयत्न करना प्रारब्ध कर दिया। उसे सफलता का अहसास हुआ। तज्जन्य उत्साह भी उसे इस ओर अग्रसर करने लगा। अभी उसकी इच्छा शक्ति के परिणाम मिलने शेष थे। उसके प्रयत्न चालू अवश्य थे पर वह शिखर उसे नहीं मिला था, जहाँ उसे जाना था।

तभी उसकी मृत्यु हो गयो ! भावना जहाँ की तहाँ धरी रह गयी और सारा प्रयत्न वहीं समाप्त हो गया। यदि वह शिखर उसे मिल गया होता तो प्रलयाकल से वह विज्ञानाकल पद को प्राप्त कर लेता पर दुर्भाग्य वश ऐसा नहीं हो सका। ऐसे बहुत सारे प्रलयाकल पुरुष जिस अधूरी अवस्था में रह जाते हैं, उनकी आन्तरिकता में पूर्वकृत प्रयासों के कारण भावना का परिपाक होता रहता है। यह एक आन्तर अनुभूति है, जिसका आकलन कोई विचारवान् पुरुष कर सकता है।

उस भावना के परिपाक-क्रम में एक सहज निखार होता है। उसे शास्त्र की भाषा में सौष्ठव कहते हैं। कर्मविपाक के उस निखार के परिणाम स्वरूप वे प्रारब्ध भाव वाले लोग मन्त्रत्व को प्राप्त कर लेते हैं। मन्त्र पुरुष दो प्रकार के होते हैं। १—साञ्जन और २—निरञ्जन। स्तर के अनुरूप कोई साञ्जन मन्त्र बन जाता है कोई निरञ्जन। यह एक वैचित्र्य परिपूर्ण दशा है। एक तरफ उसकी कर्म संस्कार की हानि के प्रयासों के परिणाम का भावना परिपाक सौष्ठव और कर्म वैशिष्टय रूप सौष्ठव और दूसरी ओर उसके कर्म। दोनों दृष्टियाँ काकाक्षिन्याय से यहाँ एकत्र घटित हो जाती हैं। वह

श्रीपूर्वशास्त्रे च मन्त्रमहेश्वराणां विज्ञानकला, मन्त्रेश्वराणां सकला उपादानत्वेनोक्ता, इति पारिशेष्यात् मन्त्राणां प्रलयाकलोपादानत्वं सिद्धम् ॥ १४१ ॥

इदानीं प्रकृतमेवोपसंहरति

अस्य कार्ममलस्येयन्मायान्ताध्वविसारिणः ।
प्रधानं कारणं प्रोक्तमज्ञानात्माणवो मलः ॥ १४२ ॥

प्रधानमिति—तत्तत्सामर्थ्यव्यञ्जकत्वात्, नहि एतत्सहकारित्वमन्तरेणास्य स्वकार्यप्रसवे किंचित्सामर्थ्यं भवेदिति भावः, यदुक्तम्

'जन्माभिजनिका शक्तिः कर्मणो न मलं विना ।
अणुरज्ञानरहितः क्वचिज्जातो न दृश्यते ।।' इति ॥१४२॥

साञ्जन या निरञ्जन कुछ भी हो सकता है। कहा गया है कि कारण की विचित्रता के अनुसार ही कार्य में विचित्रता आती है।

"मन्त्रपद के उपादान प्रलयाकल होते हैं" श्री पूर्व शास्त्र के अनुसार सकल मन्त्रेश्वरों के और विज्ञानाकल मन्त्रमहेश्वरों के उपादान होते हैं" ॥ १४०–१४१ ॥

इस विषय का उपसंहार कर रहे हैं—

इस कार्म मल का महाप्रभाव संसृतिप्रदा महामोहा माया के अन्तिम अध्वा पर्यन्त है। इसका भी प्रधान कारण आणवमल है। आणवमल सर्वदा अज्ञानात्मक होता है।

यहाँ प्रमुख रूप से तीन बातें सामने आती हैं। १—कार्म मल संसृति के बन्धन में डालता है। उसका विस्तार मायान्त अध्वा पर्यन्त है। २—इसका अर्थात् कार्म मल का प्रधान कारण आणव मल है। ३—आणव मल अज्ञानात्मक होता है। यह कहा गया है कि,

"कर्म में वह शक्ति कदापि नहीं होती जो जन्म की अभिजनिका हो अर्थात् संसृति के चक्र में डालने वाली हो। यह शक्ति तो मल से आती है। मल से संवलित कर्म ही कार्ममल के मूल में विद्यमान हैं। मल स्वयम् अज्ञान रूप होता है। अज्ञान सम्पन्न पुरुष अणु कहलाता है। अणु अज्ञान से रहित हो यह कभी सम्भव नहीं।"

ननु भवतु नामैतत्, यत्पुनरस्य

'ईश्वरेच्छावशक्षुब्धभोगलोलिका..............।'

इत्यादौ क्षुब्धत्वं प्राक्प्रस्तावितं, तत् किमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

क्षोभोऽस्य लोलिकाख्यस्य सहकारितया स्फुटम् ।
तिष्ठासायोग्यतौन्मुख्यमीश्वरेच्छावशाच्च तत् ॥ १४३ ॥

इस लिये यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आणव मल के सहकार के बिना कार्म मल अपने फलरूप कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता । वही कार्म मल का प्रधान कारण है ॥ १४२ ॥

यह सारा विचार विमर्श एक ओर आणव को प्रधान कारण मानता है । कार्ममल द्वारा जन्माभिजनिका शक्ति का प्रयोग संसृति संसरण में तभी किया जा सकता है जब वहाँ आणव मल हो । अज्ञानता हो ।

दूसरी ओर "ईश्वर की इच्छा के वशीभूत होने के कारण उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है और भोगलोलिका उत्पन्न हो जाती है ।" यह कहा गया है । इन दोनों में यह बड़ा अन्तर ईश्वरेच्छा कृत क्षोभ से होता है । क्षोभ को बात तो पहले ही प्रस्तावित है । यह है क्या ? इस शङ्का का समाधान है कि,

लोलिका नामक इस भोगभावना का क्षोभ कार्म मल से होता है । इसके सहकारी रूप से स्फुट यहाँ कई कारण हैं । पहला कारण तिष्ठासा-योग्यतौन्मुख्य है । दूसरा कारण ईश्वर की इच्छा भी है । फलस्वरूप क्षोभ होता है ।

यह ध्यान देने की बात है कि ईश्वरेच्छा तो संवित्स्वातन्त्र्य है । उसकी कारणता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । उसी के वश में यह सारा विश्वात्मक प्रसार है । जीव जब अज्ञान रूप आणव मल से आवृत हो जाता है, उस समय उसके कार्म मल में एक प्रकार की जन्माभिजनिका शक्ति आ जाती है ।

सहकारितयेति—अर्थात्कार्मस्य मलस्य ॥ १४३ ॥

नन्वेतद्वस्तुसामर्थ्यादेव सिद्ध्येदित्यत्रेश्वरेच्छायाः किं प्रयोजनम् ? इत्याशङ्क्याह

न जडश्चिदधिष्ठानं विना क्वापि क्षमो यतः ।

नन्वेवमीश्वरः स्वेच्छया व्यतिरिक्तानणून् प्रत्येव मलं नियुञ्ज्यादिति इह भेदवाद एव परापतेत् ? इत्याशङ्क्याह

अणवो नाम नैवान्यत्प्रकाशात्मा महेश्वरः ॥ १४४ ॥
चिदचिद्रूपताभासी पुद्गलः क्षेत्रवित्पशुः ।

परिणामतः उसकी भोग में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। कर्म के अखाड़े में उतर कर वह ताल ठोंक कर संघर्ष के लिये खड़ा होता है। वह उसकी तिष्ठासा है। खड़े होने का अभिलाप है। अभिलाष भी तभी सक्षम होता है, जब उसमें योग्यता हो। उसमें औन्मुख्य हो। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इसमें प्रलयाकल पुरुष का औन्मुख्य सहकारी कारण होता है। और अघोरेश गुहागहनेश रूप ईश्वर की इच्छा का महत्त्व तो मूल में बैठा ही हुआ है ॥ १४३ ॥

ईश्वरेच्छा की कारणता के सम्बन्ध में यह शङ्का की जाती है कि जब प्रलयाकल कर्म प्रवृत्त रहता है तो असिद्धि और सिद्धि दोनों वस्तु के के सामर्थ्य के अनुसार स्वाभाविक रूप से ही सम्भव हैं। ईश्वरेच्छा को इस सन्दर्भ में प्रयोजन रूप से स्वीकार करना अनावश्यक है। इस सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टिकोण क्या है ? वही प्रस्तुत है—

शास्त्र कहता है कि चिदधिष्ठान के बिना जड़ किसी प्रकार कहीं भी सक्षम नहीं होता। यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये कि ईश्वरेच्छा को बात मान लेने पर वह अपने मन से अलग-अलग अणुओं को अलग-अल मल से नियोजित करने लगेंगे तथा भेदवाद की शाश्वत सम्भावना प्रबल हो जायेगी। क्योंकि,

अणुरूप पुद्गल पुरुष प्रकाश रूप महेश्वर के अतिरिक्त कुछ दूसरे नहीं हैं। महेश्वर से वह कई कारणों से पृथक् प्रतीत होते हैं। वे कारण हैं—१—अणु

नहि अणवो नाम प्रकाशात्मनो महेश्वरादन्यत् किंचित् यत् स एव स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मनि चिदचिद्रूपतामवभासयन् 'पुथ हिंसासंक्लेशनयो:' इत्यस्य किपि कृते, पुथा—हिंसया परताबुद्धया क्लेशेन च गलतीति पुद्गलः, कर्मबीजप्ररोहावहं क्षेत्रं शरीरमेवात्मत्वेन जानानः पाश्यत्वात् पशुरित्युच्यते इत्यर्थः तदुक्तम्

'…………**शिव एव गृहीतपशुभावः।'** इति ॥ १४४ ॥

नत्वेवं पशुभावग्रहणेऽस्य चिदचिद्रूपतावभासनेन किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

चिद् और अचित् दोनों रूपों में भासित होता है जब कि महेश्वर केवल चिन्मय हैं। २—अणु पार्थक्य प्रथा से प्रथित रहता है। जब कि महेश्वर अभेद अद्वयतत्त्व है! ३—अणु अपने शरीर को स्वात्म रूप से स्वीकार करता है। इसीलिये क्षेत्रवित् कहलाता है। ४—अनात्म में आत्माभिमान के पाश से बँध कर पशु बन गया होता है जब कि महेश्वर सर्वव्यापक विभु प्रकाश मय और अकाल कलित परम पुरुष हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि परमेश्वर स्वात्मस्वातन्त्र्य से स्वात्म में हो चिदचित् रूपता के आभासन की क्रीड़ा करता है। पृथक्ता की भावना एक प्रकार की स्वात्मंहिसा है। संस्कृत धातु पुथ् का अर्थ भी हिंसा है। परमेश्वर ही पुथा अर्थात् परता की भावना के क्लेशरूपी हिंसा से सदा गलता रहता है। वही पुद्गल कहलाने लगता है। इसोलिये सीमित शरीर को जानने के कारण क्षेत्रवित् हो जाता है। गीता का क्षेत्रज्ञ शब्द शरीर क्षेत्र के ही सन्दर्भ को व्यक्त करता है। कहा गया है कि,

"…………शिव ने स्वयं पशुभाव स्वीकार कर लिया है।"

इस उक्ति के अनुसार वही अज्ञानावृत पाशबद्ध पशु कहलाने लगता है। इस श्लोक में महेश्वर भाव और अपने अपने आप स्वीकृत विस्मयोत्पादक अन्य भावों को विभिन्न १—चिद्चिद्भासी, २—पुद्गल, ३—क्षेत्रवित् और ४—पशु इन चार पारिभाषिक शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है ॥ १४४ ॥

सचमुच विचित्र बात है। इधर महेश्वर है। उधर पाशव भाव में खेल रहा है। चिदधिष्ठान भी और जड़ भी, अचित् भी। इस चिदचिद्भास-मानता से होगा क्या? इसका उत्तर है कि,

चिद्रूपत्वाच्च स व्यापी निर्गुणो निष्क्रियस्ततः ॥ १४५ ॥

भोगोपायेप्सुको नित्यो मूर्तिवन्ध्यः प्रभाष्यते ।

अचित्त्वादज्ञता भेदो भोग्याद्भोक्त्रन्तरादथ ॥ १४६ ॥

निर्गुण इति—सत्त्वादयो हि जडस्य प्रकृत्यादेरेव भवन्तीति भावः, अत एव तद्वृत्तयोऽप्यस्य न संभवन्तीत्युक्तं 'निष्क्रिय' इति, एवं च ततो निर्गुणत्वादेवेति व्याख्येयम्, भोगोपायेप्सुक इति—भोगस्योपायान् कारणादीन् आप्तुमिच्छति तदेकासक्त इति यावत्, मूर्तिवन्ध्य इत्यमूर्त इत्यर्थः, अज्ञतेति—जडे हि देहादावस्य आत्माभिमानः इति भावः, अतश्च

चिद्रूप से तो यह सर्वव्याप्त रहता है। निर्गुण रहता है। निष्क्रिय भी रहता है और भोगों के उपायों के द्वारा भोग की इच्छा भी करता है। नित्य और निराकार रहता है। वही सर्वज्ञ जब अचिद् भाव से भावित होता है, तो अल्पज्ञता और अज्ञता का वरण कर लेता है। भेदवाद उल्लसित हो उठता है। भोग्यों और भोक्ताओं के वर्ग में सम्मिलित होकर पृथक् इकाई बन जाता है—

निर्गुण कहने का यहाँ विशेष अभिप्राय है। वस्तुतः सत्त्व, रज और तमस् ये तीनों गुण जड़ प्रकृति पुरुष में ही सम्भव हैं। चिन्मय परम पुरुष के ये गुण नहीं हो सकते।

वृत्तियाँ भी इन तीन गुणों से ही प्रभावित होती हैं। सत्त्व प्रधान पुरुष सात्त्विक प्रवृत्ति के अनुसार सद्व्यवहार और सदाचार अपनाता है। राजस सुख भोग प्रवृत्त और तामस निन्द्य कर्मों में सक्रिय होता है। ये तीनों प्रकार की क्रियायें चिद्रूप परमेश्वर में नहीं होतीं। अतः वह निष्क्रिय होता है। नैर्गुण्य का ही एक रूप है निष्क्रियभाव।

नित्य वही होता है, जो अकाल कलित होता है। मूर्त्ति अनित्य की होती है। वह तो रूपं रूपं प्रतिरूपं वर्त्तमान अमूर्त्त पुरुष निराकार परमेश्वर ही होता है।

भोगोपायों द्वारा उसकी भोगलिप्सा उसके अचिद्भाव का परिस्पन्द है। इससे उसमें अज्ञता आती है। अज्ञता का अर्थ है, अनात्म में आत्माभिमान और स्वात्म में अनात्म बोध। इसके परिणाम स्वरूप जहाँ वह

जाड्यादेव निखिलविश्वक्रोडीकारप्रभवनशीलत्वाभावात् भेदप्रथात्मकमायीयमलगर्भीकृतत्वाच्च सर्वतो व्यावृत्त इत्युक्तं 'भोग्यात् भोक्त्रन्तराच्चास्य भेदः' इति, तदुक्तम्

'अणवश्चिदचिद्रूपाः........................।' इति,

तथा

'पशुर्नित्यो ह्यमूर्तोऽज्ञो निर्गुणो निष्क्रियोऽप्रभुः ।
व्यापी मायोदरान्तःस्थो भोगोपायविचिन्तकः ॥ इति ॥१४६॥

एवं तदनतिरेकेऽपि अतिरेकायमाणानामणूनाम् ईश्वरेच्छावशादेव मलः प्रबोधमियात्, येनैषां कर्मवैचित्र्यात् तत्तत्संसाराविर्भावो भवेत्, तदाह

तेषामणूनां स मल ईश्वरेच्छावशाद् भृशम् ।
प्रबुध्यते ... ... ॥

निखिल विश्व को आत्मसात् करता था, अब भेद प्रथा की व्यथा की अकथ कथा से प्रथित होता है। उस पर मायीय मल की छाया पड़ जाती है और अब वह अपने सर्वरूप से व्यावर्तित अकेला चना भाड़ फोड़ने के फेर में फँस जाता है, कहा गया है कि,

"..........अणु चिद्रूप और अचिद्रूप भी होता है।"

तथा, यह आगमिक प्रामाण्य है कि,

"पशु नित्य और अमूर्त्त होते हुए भी अज्ञ और जड़ होता है। निर्गुण है। अतएव निष्क्रिय भी है। व्यापक होते हुए भी माया के गर्भ में निवास स्वीकार करता है। भोगों के लिये विभिन्न उपाय भी अपनाता है ॥ १४५-१४६ ॥

अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्त की तरह व्यवहारवादी आचरण करने वाले अणुओं के मल का निराकरण अर्थात् अज्ञान की सुषुप्ति से जागरण परमेश्वर की इच्छा से ही होता है। यह बात ते है। इसी के फलस्वरूप इनके विचित्र कर्म होते हैं और तदनुरूप संसार का आविर्भाव भी होता है। इसी तथ्य को यह श्लोक व्यक्त कर रहा है—

न चैतत् युक्तिमात्रसिद्धमेव, इत्याह

... ... तथा चोक्तं शास्त्रे श्रीपूर्वनामनि ॥ १४७ ॥

तदेव पठति

ईश्वरेच्छावशादस्य भोगेच्छा संप्रजायते ।
भोगेच्छोरुपकारार्थमाद्यो मन्त्रमहेश्वरः ॥ १४८ ॥
मायां विक्षोभ्य संसारं निर्मिमीते विचित्रकम् ।

तदुक्तं तत्र

'ईश्वरेच्छावशादस्य भोगेच्छा संप्रजायते ।
भोगसाधनसंसिद्धयै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ।
जगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभिः ॥' इति ॥१४८॥

न च मायापि तदतिरिक्ता काचित्संभवतीत्याह

माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ॥ १४९ ॥
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथाहि स तया कृतः ।

उन अणुओं के मल ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही दूर होते हैं। उनमें स्वात्ममहाभाव की जागृति होती है। श्री पूर्वशास्त्र में यह स्पष्ट रूप कहा गया है कि, ईश्वर की इच्छा से ही इसमें भोग की इच्छा उत्पन्न होती है। भोगेच्छुओं के उपकार के लिये आद्य मन्त्र महेश्वर माया में विक्षोभ उत्पन्न करते हैं और चित्र-विचित्र संसार का निर्माण करते रहते हैं। यही बात श्रीपूर्वशास्त्र इन शब्दों में व्यक्त करता है--

"ईश्वरेच्छा वश इसमें भी भोग की इच्छा उत्पन्न होती है। भोगेच्छु अणु की भोगसाधनों की संसिद्धि के लिये मन्त्रेश्वर ने माया में आविष्ट होकर अपनी शक्तियों से विश्व को उत्पन्न कर दिया।" इसीलिये परमाद्भु-तोद्भव का हेतु उसे मानते हैं ॥ १४७–१४८ ॥

जहाँ तक माया का प्रश्न है, वह भी उससे अनतिरिक्त ही है, अतिरिक्त नहीं। वही कह रहे हैं—

यन्नाम हि निखिलजगदुल्लासनक्रीडाशालिनः परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणो अपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति माया शक्तिरुच्यते, तथाहि तयैवायं भेदावभासः समुल्लासितः, अत एव कारणे कार्योपचारात्सैव भेदावभास इत्युच्यते ॥ १४९ ॥

तदाह

आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ॥ १५० ॥
गर्भीकृतानन्तभाविविभासा सा परा निशा ।

इह हि बहिरुल्लिलसिषामात्रत्वेन आसूत्रितप्रायत्वात् विभागमप्राप्तोऽत एव आद्यो यो भेदावभासः सा परा निशा—महती मायेत्यर्थः, अत एव बहिर्मुखतायां भाविनो विभासस्य शिम्बिकाफलवत् अस्यां गर्भीकारोऽस्ति इत्युक्तं—गर्भीकृतानन्तभाविविभासेति ॥ १५० ॥

माया भी उसी देवाधिदेव परमेश्वर की अव्यतिरेकिणो शक्ति है । शिव का भेदावभास स्वातन्त्र्य ही माया है । उसी के द्वारा किया हुआ मायाकार्य ही विश्व है । विश्व का अवभास ही भेदावभास है ।

निखिल विश्व के उल्लास की क्रीडा में लगे परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का परिणाम ही भेदावभास है । माया का अर्थ है—अपूर्णताप्रथा के द्वारा आत्महनन ! अनात्म स्वीकरण । फल है उसका, कारण में कार्य का भेदात्मक उपचार ॥ १४९ ॥

यही कह रहे हैं—

आद्य भेदावभास में ऐसा विभाग अनुपेत था । अनन्तरभावी विभाव अभी जिसके गर्भ में ही थे, यह 'परानिशा' शब्द से व्यपदेश्य है । इसे 'महती माया' कहना भी उचित होगा । मटर को नयी फली भोजपुरी में 'पतुआ' कही जाती है । 'पतुआ' को चोरने पर बीज के बिन्दुओं की जगह दीख पड़ती है । वह गर्भ है–भावी मटर के बीज का । यही दशा विश्व के गर्भ में विकसित होने की है । माया वह फली है, जिसमें भावी विश्व के अनन्त अनन्त विस्तार बिन्दु रूप में पलते हैं ॥ १५० ॥

एवमस्याः शक्तिरूपतामभिधाय

'सा चैका व्यापिनी सूक्ष्मा निष्कला जगतो निधिः ।
अनाद्यन्ताशिवेशानी व्ययहीना च कथ्यते ॥'

इत्यागमार्थगर्भीकारेण तत्त्वरूपतामपि अभिधातुमाह

सा जडा भेदरूपत्वात् कार्यं चास्या जडं यतः ॥ १५१ ॥

व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात् ।
शिवशक्त्यविनाभावान्नित्यैका मूलकारणम् ॥ १५२ ॥

भेदरूपत्वादिति—अयमेव हि जडस्य स्वभावो यत् 'इदमत्र इदानीं भाति' इति परिच्छिन्नतया प्रकाश्यते इति, यदुक्तं प्राक्

'परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम् ।'

माया का वह शक्ति रूप है। इसके विषय में आगम की उक्ति है कि,

"वह एका व्यापिनी शक्ति है। सूक्ष्म है। निष्फल है। विश्व की यह निधि रूपा है। आदि अन्त से रहित है। शिवा ईशाना और अव्यया इसके पर्याय हैं।" इस उक्ति से इसकी शक्तिरूपता का आकलन होता है। अब इसकी तत्त्वरूपता का वर्णन कर रहे हैं—

भेदरूप होने के कारण यह जड़ा है। इसके कार्य भी जड़ात्मक होते हैं। विश्व की हेतु है। इसलिये यह सर्वत्र व्यापिनी है। सूक्ष्मा है। इसका एक ही कार्य पुरुष के लिये भोगसाधन की संसिद्धि है। शिव शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध है। अतः यह शिव की तरह नित्य है। एकमात्र इसे ही मूल कारण कहते हैं।

भेद पार्थक्य प्रथा ही है। जड़, भेदवादिता के प्रतीक होते हैं। जड़ का स्वभाव होता है—'यह वस्तु यहाँ भासित है' यह वस्तु सम्बन्धिनी अनुभूति वस्तु-वस्तु से परिच्छेद कर देती है। एक तरह से टुकड़ों में बाँट देती है। इसे परिच्छिन्न प्रकाशन कहते हैं। कहा गया है कि,

"जड़ का यह निश्चित लक्षण है—परिच्छिन्न प्रकाशन"।

योगी लोगों द्वारा दिया हुआ इसका नाम माया है। यह वस्तु-वस्तु में भेद विधान करती है।

ततश्च मीयते हेयतया परिच्छिद्यते योगिभिः इत्येवमस्या अभिधानम्, अत एवाशिवेत्युक्तम्, यदाहुः

'.................................**अशिवा भेदप्रथाप्रदा ।**' इति,

अजाड्ये च अस्याः कार्यमपि तथा स्यादित्युक्तम् 'कार्यं चास्या जडं यतः' इति, कलादेर्मायाकार्यस्य अजाड्ये हि एकस्मिन्नेव देहे चेतनानेकत्वं पुरुषोपादानानर्थक्यं च प्रसजेत्, विश्वहेतुत्वादिति—पुंभोगाय कार्यं, करणात्मनो विश्वस्यानेकस्रोतोमुखेन कारणात् इत्यर्थः, यदुक्तम्

'व्यापिनी पुरुषानन्त्यभोगाय कुरुते यतः ।
सर्वकार्याणि सर्वत्र स्रोतोभिर्विश्वधामभिः ॥' इति,

ततश्च सर्वत्र मातीति, सूक्ष्मा—सर्वजनावेद्येति यावत् इह हि अर्वाग्दर्शिभिः कार्यान्यथानुपपत्त्या परिकल्प्यते इति भावः, शिवशक्त्यविनाभावादिति—शिवस्तावन्नित्यः शक्तिश्च तदविनाभूतत्वात् तद्धर्मधर्मिणीत्युक्तम्

इसलिये इसे,

"......अशिवा और भेद प्रथा प्रदा कहते हैं" । यह भेदों में रूपायित है । अतः जड़ है ।

परमात्मा की शक्ति माया के (अजड़) रहते हुए भी इसके कार्य जड़ात्मक ही होते हैं । कला आदि माया के कार्य हैं । इनकी अजाड्य दशा मानने पर एक देह में ही चेतनानेकत्व तथा अणु पुरुष के उपादान बनने की व्यर्थता के दोहरे दोष की सम्भावता से इन्कार नहीं किया जा सकता ।

जहाँ तक इसे व्यापिनी मानने का प्रश्न है, इसलिये स्वीकार करना आवश्यक है कि पुरुषों के भोग के लिये कार्यकारणात्मक विश्व में सर्वत्र अनेक भोग स्रोतों को प्रस्तुत करने में कारण यही बनती है । कहा भी गया है कि,

"यह व्यापिनी है । अनन्त पुरुषों के अनन्त भोगों को प्रस्तुत करने के लिये सार्वत्रिक रूप से विश्वमय स्रोतों के माध्यम से वे सारे कार्य करती है, जिनसे उसका लक्ष्य पूरा हो सके ।"

(मा धातुगत) मीयते योगिभिः विग्रह के अनुसार यह माया कहलाती है । याति सर्वत्र इस विग्रह के अनुसार सर्वत्र होने से सूक्ष्मा कहलाती है ।

'नित्येति' अत एवानाद्यन्तेति व्ययहीनेति चोक्तम्, ततश्च माशब्दवाच्या-द्विनाशरूपान्निषेधात् यातेति, शिवश्च एक एव स्वतन्त्रः पदार्थः शक्तिश्चास्य आत्मभूता इति 'अभिन्नादभिन्नमभिन्नम्' इति न्यायात् सापि एकैवेत्युक्तम्—एकेति, अत एव निरंशत्वात् निष्कला इत्युक्तं, शिवश्च शक्तिवशादेव अन्तरेवावस्थितमपि विश्वं बहिरवभासयेदित्युक्तं—मूलकारणमिति, अत एव—जगतो निधिरिति ईशानीति चोक्तम्, ततश्च मात्यस्यां विश्वमिति स्वात्माभिन्नमपि भावमण्डलं शिवो यया मिमीते भिदा व्यवस्थापयति इति च ॥ १५२ ॥

सूक्ष्मा होने के कारण सामान्यतया सब लोगों के लिये यह वेद्य नहीं रह जाती। जो सूक्ष्मदर्शी लोग नहीं होते, वे तो यही मानते हैं कि यही एकमात्र कारण है जिससे सारे कार्य सम्पन्न होते हैं।

विना उसके, जहाँ उत्पत्ति हो वहाँ विना भाव होता है। जैसे विना कपड़े के आदमी रह सकता है। यहाँ विनाभाव है। जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ अविनाभाव है। जैसे पञ्चमहाभूतों के विना शरीर नहीं बन सकता। उसी तरह शिव नित्य हैं। शक्ति विना शिव के रह नहीं सकती। इसलिये यहाँ अविनाभाव है। शिव की धर्म भी और धर्मवाली भी माया ही है। अतः अनादि है और अनन्त भी है।

'मा' का अव्यय अर्थ निषेध भी है। निषेध विनाश को कहते हैं। अतः माया विनाश मयी भी है। उसको 'या' प्रापणे गतौ च के अनुसार विनाश को पाती भी है, और विनाश से गति शील भी है और विनाश से गयी हुई अर्थात् अतीत भी है। इन विभिन्न अर्थों को यह स्वात्म में समाहित करती है।

शिव स्वतन्त्र तत्त्व है। शक्ति उसका प्राण है। अतः 'अभिन्न से जो अभिन्न ही होता है, वह अभिन्न ही होता है। इस नियम के अनुसार वह एक ही है। उसको 'एक' मानने का यही कारण है। निरंश होने से निष्कल भी है।

शक्ति के वशीभूत होने पर ही शिव अन्तस् में अवस्थित विश्व का बाह्य अवभासन करते हैं। इसलिये शिव को नहीं अपितु शक्ति को ही मूल कारण मानते हैं। यही कारण है कि पहले इसे संसार की निधि भी कहा गया है। ईशानी कहने का भी यही तात्पर्य है।

नन्वन्यैः प्रकृतेर्मूलकारणत्वमुक्तं तत्कथमिह मायाया एवमभिधानम् ? इत्याशङ्क्याह

अचेतनमनेकात्मसर्वं कार्यं यथा घटः ।
प्रधानं च तथा तस्मात् कार्यं नात्मा तु चेतनः ॥ १५३ ॥

अत्र पञ्चावयवं परार्थमनुमानं निर्दिष्टं, तद्यथा—प्रधानं कार्यमचैतन्ये सति अनेकत्वात्, यत् अचैतन्ये सत्यनेकं तत्सर्वं कार्यं, यथा घटः, यन्न कार्यं तदचैतन्ये सति अनेकं न भवति, यथात्मा, अचैतन्ये सत्यनेकं च

'माति अस्यां विश्वं' 'शिवो यया भाव मण्डलं मिमीते' इन विग्रहों के अनुसार भी यह माया है ॥ १५१-१५२ ॥

कुछ दूसरे शास्त्रकार प्रकृति को मूल कारण मानते हैं। यहाँ माया को ही मूल कारण माना गया है। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर 'प्रधान कार्य है' इस प्रतिज्ञा वाक्य द्वारा दे रहे हैं—

अचेतन और अनेकात्म कार्य होता है। जैसे घड़ा। वह प्रधान भी होता है और उससे होने वाला कार्य भी। आत्मा कार्य नहीं है। वह चेतन है। यहाँ कार्य पर बल दिया है, क्योंकि इसके कारण का विचार करना है। इसे इस तरह समझें—परार्थ अनुमान पञ्चावयव (५ प्रकार से होने वाला) होता है। १—अचैतन्य को स्थिति में भो अनेक होने के कारण कार्य प्रधान है। २—अचैतन्य में भी अनेक होने वाला कार्य है। जैसे घड़ा कार्य है। अचैतन्य में भी अनेक है। ३—जो कार्य नहीं होता वह अचैतन्य की स्थिति में भी अनेक नहीं होता। जैसे आत्मा। यह अनेक नहीं होता। ४—अचैतन्य में भी वह अनैक्य सम्पन्न होता है। जैसे विश्व। ५—वह अनेक है। अतः कार्य है। इन विश्लेषणों से स्पष्ट होता है कि माया कैसे मूल कारण मानी जा सकती है। इसे प्रसङ्ग वश विस्तार से समझने भी आवश्यकता है।

न्याय शास्त्र के अनुसार दृष्टान्त, सिद्धान्त और अवयव परस्पर आश्रित हैं। सिद्धान्त के लिये दृष्टान्त की अपेक्षा होती है और सिद्धान्त के निर्णय के

तस्मात् कार्यमिति, बहुशश्च एतद्वेदवादिभिरुपपादितम्, इति—इह ग्रन्थविस्तरभयात् न वितानितं, यत् पतिताधातादानेन को नाम पौरुषोत्कर्षं

लिये अवयव का तत्त्वज्ञान आवश्यक होता है। अवयव ५ प्रकार के होते हैं। १—प्रतिज्ञा, २—हेतु, ३—उदाहरण, ४—उपनय, और ५—निगमन।

अनुमान भी स्वार्थ और परार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। जैसा कि शब्दतः प्रकट है 'स्व' के लिये किया गया अनुमान स्वार्थानुमान और परस्मै कृत परार्थानुमान। प्रस्तुत सन्दर्भ में दो पक्ष हैं। १ पहला पक्ष प्रकृति को मूल कारण मानता है। २—दूसरा माया को ही मूल कारण कहता है। यहाँ एक दूसरे के तर्क परार्थानुमान कहलायेंगे।

न्यायसूत्र १।१।३३ 'साध्य निर्देशः प्रतिज्ञा' के अनुसार साध्य (साधनीय धर्म विशिष्ट धर्मी) का निर्देश करना वाद की अवतारणा में आवश्यक है। हमने स्थापना की है कि माया मूल कारणम् अस्ति। माया ही मूल कारण है। क्योंकि इसी से प्रेरित शिव अन्तःस्थित विश्व को बहिः अवभासित करते हैं। विश्व का बाह्यावभास इसका कार्य है। माया कारण है और विश्व कार्य है।

कार्य की दृष्टि से प्रतिज्ञा वाक्य है—'प्रधानं कार्यम्'। उसका साधर्म्य हेतु है—क्योंकि अचेतन्य होने पर भी अनेक है। उदाहरण है घड़ा। अचैतन्य होने पर भी जो अनेक होता है, वह सब कार्य होता है। जैसे घड़ा। घड़ा अचैतन्य आवृत है और अनेक है। शरीर भी उदाहरण हो सकता है। अचेतन होने पर अनेक है। अतः कार्य है। उदाहरण साधर्म्यात् साध्य साधनं हेतुः न्याय सूत्र १।१।३४ तथा वैधर्म्यात् १।१।३५ दोनों के अनुसार साधर्म्य का उदाहरण घड़ा या शरीर है। तथा वैधर्म्य के अनुसार दृष्टान्त आत्मा है। इसमें तर्क देते हैं कि जो कार्य नहीं होता वह अचैतन्य स्थिति में भी अनेक नहीं होता। आत्मा कार्य नहीं है। क्योंकि अचैतन्य में भी आने पर प्रति शरीर व्याप्त रहने पर भी अनेक नहीं होता।

अब उपनय की बात आती है। यह एक प्रकार से ऐसा है, यह दृष्टान्त है। इस तरह साधर्म्योपनय करते हैं। जैसे अचेतन भी है और अनेक भी है। निगमन हो जायेगा कि 'अचैतन्ये सति अनेकं तस्मात् कार्यम्' अचेतन और अनेक होना हेतु के सन्दर्भ में कहा गया है। निगमन सम्बन्धी का न्याय सूत्र है—हेत्वपदेशात् पुनर्वचनं निगमनम् १।१।३६।

इति माया पुनरचैतन्येऽपि एका इत्यस्याः कारणत्वमेव न कार्यत्वमपीति सिद्धम्, ततश्च कारणस्य पूर्वभावित्वात् सर्वत्र तत्त्वाद्यध्वोपदेशे प्रथममस्या एव निर्देशः ॥ १५३ ॥

तदाह

अत एवाध्वनि प्रोक्ता पूर्वं मया द्विधा स्थिता ।

तस्याश्च तत्त्वग्रन्थिरूपतया द्विधावस्थानमित्युक्तम्—द्विधा स्थितेति, कारणस्य हि उच्छूनेन अनुच्छूनेन च रूपेण भाव्यमिति भावः ॥

यहाँ शास्त्रीय ऊहापोह की आवश्यकता १५२ वें श्लोक के शिवशक्त्य-विनाभावात् के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये आ पड़ी। साध्य धर्म विशिष्ट धर्मी का बोधक वाक्य है—'शिव शक्त्यविनाभावात् माया मूल कारणम्'। श्री-राजानक जयरथ ने इसीलिये 'विवेक' में तद्धर्मधर्मिणी शब्द लिखकर इसका संकेत दिया है।

१५३ वें श्लोक में पञ्चावयव प्रतिपादक नय का ही सूत्रात्मक उल्लेख है। एक अनुष्टुप् में यह मुक्तामणि पिरोना अप्रमेय प्रातिभ पुरुष की शुद्ध विद्या का चमत्कार है। श्री जयरथ यहाँ थोड़ा उग्र होते दीख रहे हैं। प्रतिवादी पर प्रहार करते हुए दो बातें चुभने वाली बोलने के लिये बाध्य हो जाते हैं। १—पहला व्यंग्यात्मक प्रहार है—बहुशश्च एतद्वेदवादिभिरुपपादितम्। दूसरा वाक्य कुछ अप्रिय सा हो गया है—पतित अर्थात् गिरे हुए को पुनः चोट पहुँचाने में पौरुष का उत्कर्ष नहीं माना जाता।'

सब के बाद निष्कर्ष रूप से कह रहे हैं कि, माया अचैतन्य में भी एक है। अतः इसमें न केवल कारणत्व ही है अपि तु कार्यत्व भी है। कारण पूर्वभावी होता ही है। इसलिये तत्त्वादि अध्वा के सन्दर्भ वर्णन में माया का नाम सर्व प्रथम आता है॥ १५३ ॥

ग्रन्थकार कहते हैं कि मैंने स्वयं अध्ववर्णन में इसे दो प्रकार की निर्दिष्ट किया है। दो प्रकार की लिखने का कारण है। यह कभी कारण की उच्छूनता (उत्तुंगता आपीनता) से रूषित और कभी अनुच्छूनता से रूषित होती है।

ननु समनन्तरमेवोक्तं—यन्नाम माया देवस्याव्यभिचारिणी शक्तिरिति तत् कथमसौ भेदनिरूपिणं तत्त्वभावमियात्? नन्वत्यल्पमिदमुच्यते—यन्मायावत् पारमेश्वर्य एव शक्तयः कलादिरपि तत्त्वग्राम इति, यदभिप्रायेणैव

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं .... ।'

इत्याद्युद्घोष्यते, अत आह

यथा च माया देवस्य शक्तिरभ्येति भेदिनम् ॥ १५४ ॥

तत्त्वभावं तथान्योऽपि कलादिस्तत्त्वविस्तरः ।

एतदेवोपपादयति

निरुद्धशक्तेर्या किंचित्कर्तृतोद्वलनात्मिका ॥ १५५ ॥

नाथस्य शक्तिः साधस्तात्पुंसः क्षेप्त्री कलोच्यते ।

कभी कभी तथ्य के प्रकाशन में वचन-विरोध सा उपस्थित हो जाता है। जैसे पीछे के वर्णन में माया को देवाधिदेव की अव्यभिचारिणी शक्ति कहा गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में उसे, कारण, कार्य और भेद निरूपक तत्त्व भी कहा जा रहा है। ऐसा क्यों? एक मर्म की सूक्ष्म बात यह भी कही गयी है कि माया की तरह परमेश्वर को कलादि शक्तियाँ भी तत्त्व ग्राम के अन्तर्गत आकलित हैं। कहा भी गया है कि,

"................परमेश्वर की शक्तियाँ ही सम्पूर्ण जगत् हैं।"

इस प्रकार के उद्घोष के आधार के सम्बन्ध में अपना निर्णय प्रस्तुत कर रहे हैं कि,

जैसे यह माया शक्ति भेदवादिता को स्वात्मसात् कर उल्लसित है, उसी तरह कालादि कञ्चुक भी और धरान्त उल्लास भी तत्त्व भाव को प्राप्त करते हैं॥ १५४॥

स्वरूप गोपन स्वातन्त्र्य-शक्ति के चमत्कार से होता है। इस दशा में सर्व शक्तित्व भी निरुद्ध हो जाता है। नाथ वही रहता है। अन्तर यह आ जाता है कि शक्ति निरुद्ध हो जाती है। अब वह सीमित पुरुष हो गया है। उसमें फिर भी एक उद्वलनात्मिका कर्तृता की शक्ति होती है। माया पुरुष को अशुद्ध अध्वा के गर्त्त में धकेलने का काम करती है। इसीलिये उसे क्षेप्त्री कहते हैं।

निरुद्धशक्तेरिति स्वरूपस्य गोपितत्त्वात्, अधस्तादिति प्राणादिप्रमातृतायां, कलाशब्दस्य च अत्र प्रवृत्तावधः प्रक्षेप एव निमित्तम् ॥ १५५ ॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति

एवं विद्यादयोऽप्येते धरान्ताः परमार्थतः ॥ १५६ ॥
शिवशक्तिमया एव प्रोक्तन्यायानुसारतः ।

प्रोक्तन्यायानुसारत इति प्रोक्तं न्यायमनुसृत्येत्यर्थः, तेन यथा नाथस्य किंचित्कर्तृतोद्वलनात्मिका शक्तिः कलोच्यते, तथा किंचिद्वेदनात्मिका शक्तिर्विद्येत्यादि ॥ १५६ ॥

नन्वेवं कलादेस्तत्त्वग्रामस्य शिवशक्तिमयत्वमेव यद्यस्ति, तर्त्हि कस्य माया कारणं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

तथापि यत्पृथग्भानं कलादेरीश्वरेच्छया ॥ १५७ ॥
ततो जडत्वे कार्यत्वे पृथक्तत्त्वस्थितौ ध्रुवम् ।
उपादानं स्मृता माया क्वचितत्कार्यमेव च ॥ १५८ ॥

'कल' धातु का एक अर्थ विक्षेप भी है । विक्षेप अर्थ के प्राधान्य की दृष्टि से इस क्षेप्त्री शक्ति का नाम ही 'कला' प्रचलित हो गया । प्रक्षेप तो होता है, पर यह अधः प्रक्षेप होता है । इसमें पुंस्तत्त्व की प्राणादि प्रमातृता की प्राप्ति ही नित्य रहती है । यही उसका निम्नस्तरीय स्वरूप है ॥ १५५ ॥

यही दशा विद्या से लेकर धरापर्यन्त तत्त्वों की भी है । पारमार्थिक दृष्टि से ये सभी शिवशक्तिमय ही हैं । पञ्चावयव परार्थानुमान की दृष्टि से ही इनको शिवशक्तिमयता सिद्ध हो जाती है । इस तरह जैसे नाथ को किंचिदुद्वलनात्मिका शक्ति कला कहलाती हैः उसी तरह किंचिद्वेदनात्मिका शक्ति 'विद्या' कहलाती है ॥ १५६ ॥

प्रश्न है कि यदि कला आदि तत्त्व समूह का शिवमयत्व ही सत्य तथ्य है तो, माया फिर किसकी कारण मानी जायेगी ? इसका उत्तर है कि,

तथापीति—शिवशक्तिमयतायामपीत्यर्थः, ततः—ईश्वरेच्छाकृतात् पृथग्भानात्, तेन कलादेर्भेदरूपत्वात् जडत्वं ततः कार्यत्वं ततोऽपि पृथक्त्वेनावस्थानमिति, ततश्चात्र मायायाः कारणत्वं युक्तमित्युक्तम् 'उपादानं स्मृता माया' इति, क्वचिदित्यव्यक्तादौ, तत्कार्यमिति कलादि ॥ १५८ ॥

ननु पृथग्भानं नाम भागासिद्धो हेतुः नहि पक्षीकृतस्य पृथिव्यादेरिव कलादेरपि अर्वाग्दर्शिनः प्रति तदस्ति इत्याशङ्क्याह

तथावभासचित्रं च रूपमन्योन्यवर्जितम् ।
यद्भाति किल संकल्पे तदस्ति घटवद्बहिः ॥ १५९ ॥

ईश्वरमय होने पर भी उनका पृथक् अवभासन होता है। यह ईश्वरेच्छा पर ही निर्भर है। ईश्वरेच्छा द्वारा भान होने के कारण पहले उनमें जड़त्व, पुनः कार्यत्व और पृथक् तत्त्वदशा—यह तीन स्थितियाँ होती हैं। इस स्थिति में माया उपादान कारण होती है। कला आदि तो उसके कार्य ही हैं। इनमें जड़त्व भेदमयता के कारण आता है। कार्यत्व माया के कारण होने से होता है। तत्त्वरूप पृथक् स्थिति उनकी योग्यता और ईश्वरेच्छा से होती है ॥ १५७–१५८ ॥

अलग आभास रूप जो पृथक् भान होता है, वह जड़त्व का हेतु माना गया है। पर इसको यदि न्याय की कसौटी पर कसें। तो यह हेतु खरा नहीं उतर सकता। यहाँ यह भागासिद्ध हेतु है - यही प्रतीत होता है। पक्ष रूप पृथ्वी आदि की तरह कला आदि में वह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। इस पर अपना विचार व्यक्त कर रहे हैं—

इस प्रकार पृथक् अवभासमान चित्रात्मक यह सारा प्रस्तार जिसमें जड़ और चेतन तिलतण्डुलवत् चित्रविचित्र श्वेत श्याम और रतनार रंगों में रंग-बिरंगे लग रहे हैं, परस्पर विरोधी के समान हैं। एक दूसरे से वर्जना के संस्कार इनमें हैं। स्वतन्त्र विकल्प संकल्प में भासित हैं। घड़ा जैसे बाहर भासमान है। उसी तरह यह विस्मयजनक चित्र भी बाहर ही अवभासित है।

यत् किल तथा पृथगवभासेन चित्रं—जडत्वकार्यत्वादिना नानात्मकम्, अत एव परस्परापोढं रूपं स्वतन्त्रविकल्पादाववभासते तद्घटवद्बहिरस्ति, 'नहि भातमभातं भवति' इति न्यायात् वस्तुसदेवेत्यर्थः, तेनायमत्र प्रयागः—तन्मात्रादि तत्त्वजातं बहिरस्ति संकल्पादौ पृथग्भानात्, यत्संकल्पादौ पृथग्भवति तत् बहिरस्ति, यथा घटादि, यन्न बहिरस्ति तन्न पृथग्भाति, यथा परमात्मा, पृथग्भाति च तन्मात्रादि तत्त्वजातं, तस्माद्बहिरस्ति इति, परमात्मनश्च 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इत्यादौ पृथगवभासः स्थितोऽपि विद्युद्द्योतवत् न प्ररोहमुपगच्छेत्

'स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मान..... ....।'

इत्यादिन्यायेन मूलभूतानवच्छिन्नाहंविमर्शमयत्वस्य तिरोभावाभावात्, यद्वा 'विशेषा अभिधेयाः प्रमेयत्वात् सामान्यवत्' इति न्यायेन केवलान्वय्येवायम्, न चात्र अस्तितायां साध्यायां

एक नियम है। उसका अर्थ है "भात अभात नहीं होता"। इसके अनुसार जो बाहर है, वह सत्य है। असत् नहीं हो सकता। इस आधार पर नैयायिक मतानुसार पञ्चावयव प्रयोग इस प्रकार होंगे—

१—तन्मात्रा आदि तत्त्व समूह बाहर है। क्योंकि संकल्प में इनका पृथक् भान हो रहा है।

२—जो संकल्प में पृथक् भासित होता है, वह बाहर होता है, जैसे घड़ा !

३—जो बाहर नहीं है, वह पृथक् भासित नहीं है। जैसे परमात्मा।

४—तन्मात्रा आदि पृथक्-पृथक् भासित हैं, अतः बाहर हैं।

परमात्मा का 'यह आत्मा सकृत् विभात है' इस उक्ति के अनुसार पृथक् अवभास निश्चित है। फिर भी बिजली के उद्योत की तरह प्ररोह को प्राप्त नहीं होता। कहा गया है कि,

'स्वातन्त्र्य शक्ति से ही आत्मा मुक्त-अमुक्त रहता है.................।"

इस नियम के अनुसार, मूलभूत अनवच्छिन्न अहं विमर्श मयत्व का तिरोभाव असम्भव है। इसलिये परमात्मा में सारा बाह्यावभास ओत-प्रोत है—यह निश्चित है।

'नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः ।

धर्मो विरुद्धो भावस्य सा सत्ता साध्यते कथम् ॥'

एक न्याय है—"विशेष अभिधेय हैं। क्योंकि ये प्रमेय हैं। जैसे सामान्य।" इसके अनुसार, यह केवलान्वयी हेतु है। यहाँ अस्तित्व साध्य है। इसे थोड़ा समझना है। किसी धर्मी में धर्म के अनुमान में अनुमेय धर्म साध्य कहलाता है। जैसे 'शब्द अनित्य है' यह स्वार्थानुमान की प्रतिज्ञा हमने की। इसमें हेतु दिया कि 'क्योंकि वह उत्पत्ति वाला है' उत्पत्ति से शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है। साध्य धर्मी शब्द है और घट उसका दृष्टान्त है। अनित्यत्व ही साध्य धर्म है। यहाँ साधर्म्य हेतु का प्रयोग किया गया है। इसी आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि जो उत्पत्तिमान् होते हैं, वे अनित्य होते हैं। जैसे घड़ा। इस प्रयोग में साधर्म्य हेतु का उदाहरण घट है। यह अन्वयदृष्टान्त है।

कभी व्यतिरेक दृष्टान्त का प्रकरण भी आता है। जैसे—जीवित शरीर निरात्मक नहीं है, क्योंकि उसमें प्राण होता है। जो प्राणात्मक नहीं है, वह जीवित (चेतन) नहीं है। जैसे घट। यहाँ अन्वय दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता। पृथ्वी दूसरे तत्त्वों से भिन्न है क्योंकि वह गन्धवती है। यहाँ केवल व्यतिरेकी अनुमान है। अनुमान का तीसरा स्वरूप केवलान्वयी है। साध्य धर्म का साधक अनुमान ही केवलान्वयी अनुमान कहलाता है। जिस पदार्थ का अभाव कभी नहीं होता। जैसे पदार्थ है। उसका वाचक शब्द है। उसमें वाच्यत्व धर्म शाश्वत विद्यमान है। उसका सामान्याभाव कभी नही होता।

प्रस्तुत सन्दर्भ में शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वद्वरेण्य राजानक जयरथ ने केवलान्वयी अनुमान में प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण का एक साथ प्रयोग कर यह सिद्धान्त प्रदर्शित किया है—

'विशेष अभिधेय होते हैं। क्योंकि वे प्रमेय हैं। जैसे सामान्य।' इसी तरह हम परम आत्मा के सम्बन्ध में अनुमान कर सकते हैं। वह केवलान्वयी अनुमान ही हो सकता है।

इत्याद्युक्तयुक्त्या भावाभावोभयधर्मस्य हेतोः असिद्धविरुद्धानैकान्तिकतायाम-हेतुत्वमिति वाच्यम्—बहिष्ठनिष्ठायाः सत्तायाः साधनात् ॥ १५९ ॥

ननु खपुष्पादेः संकल्पादौ पृथग्भानेऽपि नहि बहिरस्तिता, इत्यनैकान्तिकोऽयं हेतुः ? इत्याशङ्क्याह

खपुष्पाद्यस्तितां ब्रूमस्ततो न व्यभिचारिता ।

तत इति—अपुष्पादेरपि बहिरस्तित्वात् ॥

ननु विरुद्धमिदमभिधानं—खपुष्पादि-नास्तितायाः सर्वप्रमातृसाक्षिकत्वात्, नैतत्, इत्याह

जैसे – परमात्मा का पृथगवभास होता है। क्योंकि उसमें मूलभूत अनवच्छिन्न अहं विमर्श की सत्ता के तिरोधान का सर्वथा अभाव होता है। जैसे सामान्य सृष्टि प्रसार। यहाँ साध्य धर्म पृथगवभासमानता है। वह सामान्य सृष्टि प्रसार में भी है। इससे चिदंश का अभाव कभी नहीं होता। यह निगमन भी हो जाता है।

अब एक नई समस्या आ खड़ी होती है। शिव का अस्तित्व धर्म ही साध्य है। प्रश्न यह होता है कि,

"असिद्ध में भाव धर्म नहीं होता। धर्म को उभयाश्रय होना चाहिये। तभी साधर्म्य सिद्ध होता है। भाव का विरुद्ध धर्म होने पर सत्ता की सिद्धि कैसे हो सकती है।"

इस उक्ति के अनुसार भाव और अभाव धर्म के कारण असिद्धत्व, विरुद्धत्व और अनैकान्तिकत्व रूप दोष हेतु में हो सकते हैं। शैवमत इसके उत्तर में यही कहता है कि त्रिक मान्यता के अनुसार 'सत्ता' अन्तर की तरह बाह्यनिष्ठ भी है और स्वतः सिद्ध वस्तुतत्त्व भी है ॥ १५९ ॥

प्रश्न होता है कि संकल्प में आकाश कुसुम का भी अस्तित्व सिद्ध है। उसका पृथक् भान होता ही है। फिर भी उसका बाह्य अस्तित्व सिद्ध नहीं है। इसलिये पञ्चावयव वाक्य प्रयोग में यदि पृथगवभास को हेतु मानेंगे तो यह हेतु अनैकान्तिक ही माना जायेगा ? इस पर अपना विचार प्रस्तुत कर रहे हैं कि,

खपुष्पं कालदिङ्मातृसापेक्षं नास्तिशब्दतः ॥ १६० ॥

धरादिवत्... ... ... ।

नास्तीति काकाक्षिवद्योज्यम्—तेनायमत्र प्रयोगः, खपुष्पादि कालदिङ्मातृसापेक्षनास्तित्वं नास्तिशब्दप्रयोगविषयत्वात्, यन्नास्तिशब्दप्रयोगविषयः तत् कालदिङ्मातृसापेक्षनास्तित्वं, यथा धरादि, यन्न कालदिङ्मातृसापेक्षनास्तित्वं तन्न नास्तिशब्दप्रयोगविषयो, यथा संवित्, नास्तिशब्दप्रयोगविषयश्च खपुष्पादि, तस्मात् कालदिङ्मातृसापेक्षनास्तित्वमिति, यत् पुनरिदमिदानीम् इह न वेद्मि इत्यादि संविदि कालाद्यपेक्षया नास्तित्वं व्यवह्रियते तद्वेद्योपाधिनिबन्धनमित्युक्तं बहुशः ॥ १६० ॥

आकाश-कुसुम के अस्तित्व की बात स्वीकार करने पर भी कोई वैचारिक व्यभिचार नहीं आ सकता। क्योंकि आकाश कुसुम काल, दिक् और प्रमाता सापेक्ष नहीं है—यह बात नहीं हैं। क्योंकि शब्दतः उसका प्रयोग है। जैसे धरा आदि।

इसमें पञ्चावयव प्रयोग का यह स्वरूप है। जो शब्दके प्रयोग का विषय नहीं है, वह काल, दिक्-प्रमाता सापेक्ष नहीं है। जैसे धरा आदि सूक्ष्म तत्त्व। जो कालदिक् प्रमातृसापेक्ष निषेधतामय नहीं है, वह नास्ति शब्द प्रयोग का विषय नहीं हो सकता। जैसे संवित्।

नास्ति शब्द के प्रयोग का विषय है, जैसे—आकाश कुसुम। अतः ख पुष्प कालदिक् मातृ सापेक्ष नास्तित्व युक्त है। कभी-कभी यह अनुभव होता है कि 'इस समय यह विषय में नहीं समझ सका'। इस वाक्य प्रयोग से संविद् में भी काल की अपेक्षा प्रतीत होती है। यह भी लगता है कि संविद् सुषुप्त है—इस समय नहीं है। इसे क्या कहा जाय? क्या माना जाय? इस जिज्ञासा का समाधान है कि उस समय भी संविद् वहाँ है किन्तु वेद्य की उपाधि से प्रतिबद्ध बुद्धि की यदि पहुँच मर्म के मान तक नहीं है तो इसमें संविद् शक्ति का क्या दोष? उपाधि की प्रभाव शालिता का ही यह चमत्कार है ॥ १६० ॥

ननु यद्येवं तत् कृतमत्यन्ताभावव्यवहारेण ? इत्याशङ्क्याह

... ...**तथात्यन्ताभावोऽप्येवं विविच्यताम् ।**

एवमिति—खपुष्पादिनास्तित्ववत्, तेनायमत्र प्रयोगः—अत्यन्ताभावः कालदिङ्मातृसापेक्षो—नास्तिशब्दविषयत्वात्, यन्नास्तिशब्दविषयः तत्

प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ऐसी बात है और संविद्, निरपेक्ष शाश्वत चिन्मय तत्त्व स्वीकार कर ली जाय तो अत्यन्ताभाव की शास्त्रीय मान्यता का क्या होगा ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

त्रैकालिक संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगितात्मक अत्यन्ताभाव होता है। अभाव की प्रतियोगिता संसर्ग से अवच्छिन्न हो और त्रैकालिक हो वहाँ अत्यन्ताभाव होता है। जैसे भूतल पर घड़ा नहीं है। यह अभाव है। इसे संसर्गाभाव कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है।

१—प्रागभाव। पहले घड़े का अभाव था। यह कोई नहीं कह सकता कि अभाव कब से था। अतः इसे अनादि मानते हैं।

२—प्रध्वंसाभाव—प्रणाश के उपरान्त अभाव। जैसे—घड़ा फूट गया। उसके रहने का अभाव हो गया। वह कब तक रहेगा यह कहना असम्भव है। वह अनन्त है।

३—तीसरा संसर्गाभाव अत्यन्ताभाव है। यह अभाव प्रतियोगी सापेक्ष है। अतः घटात्यन्ताभाव का प्रतियोगी घट है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में उक्त नियमानुसार अभाव का प्रतियोगी घड़ा नहीं हो सकता है। भूतल में घट का अभाव है। वहाँ भूतल आश्रय है। घटाभाव का प्रतियोगी घट ही है। भूतल में जो घट था, उसका फूटने पर अभाव हो जाता है। वैचारिक घट में भौतिक घट का अभाव है अर्थात् नास्ति शब्द व्यपदेश्य है। यह एक प्रातिभ ऊहात्मक चमत्कार है।

वायु में रूप का सम्बन्ध नहीं है—यहाँ भी अभाव है। वायु आश्रय है। रूप का संसर्ग नहीं है। दुःख का आत्यन्तिक अभाव मोक्ष है। अभाव भी लाभदायक होता है। दुःख के अभाव को ही अपवर्ग कहते हैं। अपवर्ग दुःख के आत्यन्तिक अभाव में ही होता है।

कालादिङ्मातृसापेक्षं, यथा प्रागभावादि, यन्न कालादिङ्मातृसापेक्षं तत् न नास्तिकशब्दविषयो, यथा संवित्, नास्तिशब्दविषयश्च अत्यन्ताभावः, तस्मात् कालदिङ्मातृसापेक्ष इति ।।

एवं तन्मात्रादावुपपादिते तत्त्वजाते प्रसङ्गात् देहभुवनाद्यपि उपपादयति

यत्संकल्प्यं तथा तस्य बहिर्देहोऽस्ति चेतनः ।। १६१ ।।

चैत्रवत्सौशिवान्तं तत् सर्वं तादृशदेहवत् ।

यस्य देहो यथा तस्य तज्जातीयं पुरं बहिः ।। १६२ ।।

अतः सुशिवपर्यन्ता सिद्धा भुवनपद्धतिः ।

इसका पञ्चावयव प्रयोग करके इसे समझें—

प्रतिज्ञावाक्य—

अत्यन्ताभाव काल, दिक् और प्रमाता सापेक्ष होते हैं।

हेतु—

क्योंकि नास्ति शब्द का विषय है।

उदाहरण—जो नास्ति शब्द का विषय होता है, वह काल, दिक् और मातृ सापेक्ष होता है। जैसे प्रागभाव आदि।

उपनय—जो कालदिक् और मातृ सापेक्ष नहीं होता, वह नास्तिशब्द का विषय नहीं होता'। जैसे संवित्।

निगमन—अत्यन्ताभाव नास्ति शब्द विषय है। अतः काल, दिक् और प्रमाता सापेक्ष है।

इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि संवित् शक्ति नास्ति का विषय नहीं है और अत्यन्ताभाव का क्षेत्र नास्ति शब्द का विषय है। यह सारा का सारा अवभास चित्रात्मक है। घट के समान बाहर व्यक्त है, नानात्मक है और भेद भिन्न है। यह 'ख पुष्प' के समान नहीं है। तथा जैसे 'भूतल में घट नहीं है' इस प्रयोग में अत्यन्ताभाव है, वैसा अत्यन्ताभाव चिदंश युक्त इस विश्वचित्र में नहीं है। इससे सारे तत्त्ववर्ग जैसे तन्मात्राओं आदि की स्थिति भी प्रतिपादित हो जाती है तथा माया को उपादान कहना सत्य सिद्ध हो जाता है।

संकल्प्यमित्यागमतः, तथेति देहित्वेन, चेतन इति चेतनाधिष्ठितः, तादृशदेहवदिति चेतनाधिष्ठितबाह्यदेहयुक्तमित्यर्थः, यथेति शुद्धाशुद्धादिरूपः, तज्जातीयमिति तदनुरूपमित्यर्थः, इदं चात्र प्रयोगद्वयम् सौशिवान्तं तत्त्वजातं चेतनाधिष्ठितबाह्यदेहयुक्तं यथा चैत्रादि, यन्न चेतनाधिष्ठित-बाह्यदेह-युक्तं तन्न प्रमाणमूलतया संकल्पविषयो, यथा घटादि, प्रमाणमूलतया संकल्प-

---

अब प्रसङ्गवश देह और भुवन आदि का विचार भी प्रस्तुत कर रहे हैं—

आगमिक दृष्टि से यह सारी सृष्टि संकल्पात्मक मानी जाती है। परमेश्वर की इच्छा से ही बाह्य उल्लास आकृति ग्रहण करता है और व्यक्त होता है, जो संकल्प्य है, वह देही हो जाता है। उसका बाह्य देह चेतन होता है अर्थात् चेतनाधिष्ठित होता है। जैसे चैत्र। चैत्र का संकल्पोल्लास हुआ; तो चैत्र संकल्प्य चेतन अर्थात् चेतनाधिष्ठित हुआ। यह सूक्ष्म अव्यक्त संकल्प शरीर वाला चैत्र होगा।

इस आधार पर धरा से सौशिव पर्यन्त सारा उल्लास भी तादृश देहवान् होगा अर्थात् चेतनाधिष्ठित बाह्य देह वाला होगा। जिस आत्मा का जैसा देह होगा चाहे शुद्ध या अशुद्ध, उसी तरह का तज्जातीय उसका बाह्य-पुर भी होगा। इसी को अनुरूप विशिष्टभुवनयोगी कहा जायेगा। जैसे पृथ्वी पर जन्म लेने वाला चैत्ररूप शरीरी। उसको अनुरूप पार्थिव चैत्र नामक शरीर मिल जाता है। इसलिये सुशिवान्त भुवन पद्धति सिद्ध हो जाती है।

यह सारा शुद्ध और अशुद्ध उल्लास संवित् शक्ति का चमत्कार है। शुद्ध के अनुरूप ही अशुद्ध भुवन व देह, देही को मिलते हैं। परमेश्वर की इच्छा ही संवित् है। उसी में बाह्य उल्लास का आदि स्पन्द सक्रिय हो उठता है। उन्मेष का उल्लास होता है और संकल्प शरीर का अव्यक्त आकलन हो जाता है। वह चिन्मय होता है। वही चिन्मय देह चेतनाधिष्ठित बाह्य देह का उद्गम है। इस तरह हम कह सकते हैं कि सौशिव पर्यन्त यह सारा तत्त्वसमुदाय शुद्धाशुद्ध पार्थिव प्रपञ्च भी चेतनाधिष्ठित ही है। जैसे चैत्र मैत्र आदि देह भी चेतनाधिष्ठित हैं। इसको स्पष्ट करने के लिये यहाँ भी

विषयश्च सौशिवान्तं तत्त्वजातं, तस्मात् चेतनाधिष्ठितबाह्यदेहयुक्तमिति । सुशिवान्ता देहिनोऽनुरूपविशिष्टभुवनयोगिनो—देहित्वात्, यो देही सोऽनुरूप-विशिष्टभुवनयोगी, यथा पृथिवीगतः पार्थिवदेहः चैत्रादिः, यो नानुरूपपिशिष्ट-भुवनयोगी स न देही, यथा परः शिवः देहिनश्च सुशिवान्ताः तस्मादनुरूप-विशिष्टभुवनयोगिन इति ॥ १६१-१६२ ॥

पाँचों अवयवों की प्रयोग पद्धति की कसौटी का प्रयोग करके देखना उत्तम होगा । जैसे,

सौशिवान्त तत्त्वसमूह चेतनाधिष्ठित बाह्य देहयुक्त हैं । जैसे चैत्र आदि । जो चेतनाधिष्ठित बाह्यदेहयुक्त नहीं है, वह प्रमाणमूलकता पूर्वक संकल्प का विषय नहीं होता । जैसे घट आदि । क्योंकि प्रमाणमूलकता घट में नहीं है ।

२—प्रमाणमूलकता पूर्वक संकल्प का विषय सौशिवान्त तत्त्व समूह है । अतः चेतनाधिष्ठित बाह्य देह युक्त है । प्रमाण मूलकता का तात्पर्य अभी प्रमाण अवस्था की सूक्ष्मता से है । अभी वह देही प्रमेय का अनुरूप स्वरूप नहीं पा सका है । उसका बाह्य देह शुद्ध है, अशुद्ध नहीं । यह सारा सौशिवान्त उल्लास पहले शुद्ध रहता है । फिर अशुद्ध रूप धारण करता है । इन दो विचार विन्दुओं को समझने के लिये पञ्चावयव प्रयोग इस प्रकार होंगे—

सुशिवान्त प्राणी अनुरूप विशिष्ट भुवन योगो हैं । क्योंकि देह-धारी हैं ।

जो देहधारी होता है, वह अनुरूप विशिष्ट भुवन योगी होता है । जैसे पृथ्वी में पार्थिव देह युक्त चैत्र मैत्र आदि ।

जो अनुरूप विशिष्ट भुवन योगी नहीं होता । वह देही नहीं होता । जैसे परमशिव ।

सौशिवान्त देही हैं । अतः अनुरूप विशिष्ट भुवन योगी हैं ।

उक्त पञ्चावयव प्रयोग के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जिसका जैसा शरीर है, उसका तदनुरूप तज्जातीय पुर भी है, जो बाह्य रूप से व्यक्त है । अतः सुशिव पर्यन्त भुवन पद्धति स्वतः सिद्ध है ॥ १६१–१६२ ॥

नन्वेवमणूनां प्रतिनियतभुवनभोगित्वमेव सिद्धं, तत्सर्वेषामेवाणूनां सर्वं एवाविशेषेण भोग्यत्वादध्वा बन्धक इति विरुद्धयेद् ? इत्याशङ्क्याह

आत्मनां तत्पुरं प्राप्यं देशत्वादन्यदेशवत् ॥ १६३ ॥
आत्मनामध्वभोक्तृत्वं ततोऽयत्नेन सिद्धयति ।

तत्पुरमिति—तत्तत्तत्त्वगतं निखिलमित्यर्थः, प्राप्यमिति—भोग्यत्वयोग्यत्वात्, अयत्नेनेति—प्रमाणान्तरानपेक्षित्वनेत्यर्थः, अयं चात्र प्रयोगः—तत्तद्भुवनजातमणूनां भोग्यं—देशत्वात्, यो देशः सोऽणूनां भोग्यो, यथा ग्रामादि योऽणूनां न भोग्यः स न देशो, यथा द्वितीयोऽणुः, तत्तद्भुवनजातं च देशः तस्मादणूनां भोग्यम् इति ॥ १६३ ॥

इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि अणु प्रतिनियत भुवनों में अनुरूप देह के माध्यम से अनुरूप भोग के लिये विवश हैं। यहाँ एक जिज्ञासा यह होती है कि जब समस्त अणुवर्ग सामान्य रूप से भोग भागने के लिये विवश है, तो यह अध्वाही भोग्य सिद्ध हो जाता है। भोग्य होने से यह बन्धप्रद सिद्ध होता है। इस विरुद्धता के सम्बन्ध में सोचना है कि,

देह धारण करने पर आत्मा का यह निवास हो जाता है। देह प्राप्ति का सम्बन्ध देश से होना स्वाभाविक है। जैसे अन्य देशाध्वा में गति होती है, वही गति इसकी होनी अनिवार्य है।

इससे देह और देश के अनुसार अध्वाबद्ध भाव से आत्मा भोग और भोक्तृत्व दोनों का अधिकारी हो जाता है। यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि भोग और भोक्तृत्व अध्वा के अनुरूप ही सम्भव है।

इस वास्तविक बोध को न्याय की कसौटी पर कसते हैं—

वे भुवन (जहाँ अणु जन्म धारण करते हैं) अणुओं के भोग्य हैं। क्योंकि देश हैं।

जो देश होता है, वह अणुओं का भोग्य होता है। जैसे गाँव आदि।

जो अणुओं का भोग्य नहीं होता, वह देश नहीं होता। जैसे दूसरा अणु।

निगमन—वह सारा भुवन वर्ग देश है। अतः अणुओं का भोग्य है ॥ १६३ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवानुसरति

सा माया क्षोभमापन्ना विश्वं सूते समन्ततः ॥ १६४ ॥

दण्डाहतेवामलको फलानि किल यद्यपि ।

तथापि तु तथा चित्रपौर्वापर्यविभासनात् ॥ १६५ ॥

मायाकार्येऽपि तत्त्वौघे कार्यकारणता मिथः ।

यद्यपि सा माया क्षुब्धा सती अक्रमेण विश्वं सूते तथा प्रतिशास्त्रं भेदाभिधानात् तेन तेन प्रकारेण चित्रस्य पौर्वापर्यस्यावभासनात् कलादावपि तत्त्वौघे कार्यकारणता भवेत्—इति वाक्यार्थः। किलेत्यागमे। यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे

इतना निगमन करने के उपरान्त अब मुख्य सन्दर्भ को पुनः वैचारिक ऊह का विषय बना रहे हैं—

वह माया जो इन सारे प्रपञ्चों के मूल में है, क्षुब्ध होकर सर्वत्र विस्तृत विश्व का सृजन करती है।

यह व्यवहार सिद्ध तथ्य है कि दण्ड से आहत आँवले का पेड़ फल ही प्रदान करता है। फिर भी कुछ ऐसी विचित्र स्थिति आती है कि विचारक व्यक्ति का फल की ओर से ध्यान हट कर दूसरी ओर चला जाता है। पहले दण्ड का प्रहार हुआ। आहत होने से फल वृन्त से टूटे और नीचे आ गिरे। उस गिराव में कोई पहले और फिर बाद की क्रमिकता की बात निहित रहती है। यह पौर्वापर्यविभास कहलाता है। पूर्व और पर की परम्परा यहाँ होती है। दण्ड हेतु बनता है और फल गिरना कार्य है।

यही दशा माया के कार्यों की भी होती है। तत्त्वों के समुदाय में कार्य कारण भाव का वैचित्र्य-विलास शाश्वत उल्लसित है।

ध्यान देने की बात है कि माया जब क्षुब्ध होती है तो विश्व प्रसव में कोई क्रम नहीं अपनाती। फिर भी कार्य में पौर्वापर्य भाव का होना स्वाभाविक लगता है। सभी शास्त्र इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। शास्त्रों में ऐसे भेदवाद का पर्याप्त वर्णन है।

'मायातत्त्वं जगद्बीजं नित्यं विभु तथाव्ययम् ।
तत्स्थं कृत्वात्मवर्गं तु युगपत् क्षोभयेत् प्रभुः ॥
हेलादण्डाहतायास्तु बदर्या वा फलानि तु ।
तिर्यगूर्ध्वमधस्तात्तु निर्गच्छन्ति समन्ततः ॥'

(स्वच्छ० ११।६०) इति ।

न केवलं माया कारणं, कलादिक्षित्यन्तं विश्वं च कार्यं, यावत् तत्कार्ये कलादावपि एवंरूपत्वम्—इत्यपिशब्दार्थः। तच्चैषां पारस्परिकमित्युक्तं मिथ' इति । तेन यदेव कार्यं तदेव कारणं, यदेव कारणं तदेव कार्यमिति यथा—मायापेक्षया कला कार्यं विद्यापेक्षया च कारणमिति ॥ १६५ ॥

माया की तरह ही कलादि तत्त्वों की भी यही स्थिति है। माया हेतु है। कलादि कार्य हैं। इनमें पूर्व और अपर भाव की सर्वत्र चित्रता का उच्छलन स्पष्ट है। मिट्टी से घड़ा बनता है। घड़ा मिट्टी से अलग नहीं रहता। आकृति बदलती है। श्री स्वच्छन्द शास्त्र (१।६०) की उक्ति है कि,

"माया तत्त्व संसार का बीज है। यह नित्य है, विभु है और अव्यय तत्त्व है। आत्म वर्ग (ज्ञान क्रियारूप) को वहाँ प्रतिष्ठित कर प्रभु पुनः ज्ञानशक्ति से उसका अवलोकन कर अक्रम भाव से ही माया में क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं। क्षोभ का रूप भी बड़ा विचित्र होता है।

डण्डे की चोट से फलों की भरभराहट के समय कुछ फलियाँ ऊपर कुछ तिरछी, आड़ी और बहुत सारी नीचे की ओर उछाल होने को विवश होती हैं।"

इस प्रकार माया के क्षोभ से बदरी फल की चोट के परिणाम की तरह कल्पादि कार्य परमेश्वर के स्वात्मफलक पर फैल जाते हैं। मूल कारण अघोरेश, फिर माया और माया के कार्य रूप कलादि भी आगे की सृष्टि में क्रमशः कारण होते हैं।

यह सारा का सारा जागतिक कार्य कारण प्रवाह पारम्परिक है। परस्पर कारणता और कार्यता का यह वैचित्र्य चराचर में चारुता का संचार करता है। जो कारण रहता है, वही कार्य हो जाता है। जो कार्य होता है, वही कारण हो जाता है। जैसे माया की अपेक्षा कला कार्य है और विद्या की अपेक्षा वही कला कारण भी है ॥ १६४–१६५ ॥

ननु प्रतिशास्त्रं यदि तात्त्वीयस्य कार्यकारणभावस्य भेदेनाभिधानं तत् तर्हि कतरस्येहोपदेशः—इत्याशङ्क्याह

सा यद्यप्यन्यशास्त्रेषु बहुधा दृश्यते स्फुटम् ॥ १६६ ॥
तथापि मालिनीशास्त्रदृशा तां संप्रचक्ष्महे ।

सेति कार्यकारणता ॥ १६६ ॥

नन्वाचैतन्येऽपि मायाया एकत्वात् कार्यत्वं पराकृत्य कारणत्वमेवोक्तम् । एवं कलादीनामपि वाच्यम्, आचैतन्ये सति एकत्वाविशेषात् । तत्र आचैतन्यं 'परमतमप्रतिषिद्धम् अनुमतमेव',—इति भङ्ग्याभिधायैकत्वं प्रतिक्षेप्तुमनेकत्वमुपपादयति

प्रतिशास्त्र में तत्त्वों से सम्बन्धित कार्य कारण भाव का वर्णन है और अन्य शास्त्रों में तो बहुधा स्फुट रूप से इसका वर्णन किया गया है। शास्त्रकार यह स्पष्ट कर रहे हैं कि मैं मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अनुसार ही यहाँ कार्य कारणता का निरूपण कर रहा हूँ। इससे अन्य शास्त्रों की अपेक्षा मालिनीशास्त्र का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है ॥ १६६ ॥

मालिनी विजयोत्तर तन्त्र अधिकार १।२६–२७ के अनुसार माया कला तत्त्व को उत्पन्न करती है। उससे विद्या उत्पन्न होती है। क्रमशः विद्या से धरा तत्त्वपर्यन्त सृष्टि होती है। अतः माया संसार को मूल कारण मानी जाती है। इस तरह कलादि वसुधान्त कार्य और माया कारण सिद्ध हो जाती है।

अचेतन का भाव ही आचैतन्य होता है। आचैतन्य भावापन्न रहने पर भी इसे एक ही तत्त्व मानते हैं। ऊपर के दिशानिर्देश के विरुद्ध इससे कार्यत्व का अपसारण कर इसे कारण ही मानना उचित है। एकत्व सामान्य के आधार पर कलादि को भी कारण कहते हैं। स्व० ११।६० में इसे जगद् बीज माना गया है।

माया एक तत्त्व है। कला आदि भी एक-एक तत्त्व हैं। इनमें भी एकत्व है। अतः ये भी कारण कहे जा सकते हैं। क्योंकि एकत्व सामान्यतः सब में है। जहाँ-जहाँ एकत्व है, वहाँ-वहाँ कारणत्व है। इस अन्वय व्याप्ति

कलादिवसुधान्तं यन्मायान्तः संप्रचक्षते ॥ १६७ ॥
प्रत्यात्मभिन्नमेवैतत् सुखदुःखादिभेदतः ।

संप्रचक्षते इत्यग्रे ॥ १६७ ॥

ननु कलादीनां स्वरूपाभेदेऽपि सुखदुःखादिभेदे किं हीयेत,—इत्याशङ्क्याह

एकस्यामेव जगति भोगसाधनसंहतौ ॥ १६८ ॥
सुखादीनां समं व्यक्तेर्भोगभेदः कुतो भवेत् ।

जगतीति जनिमरणधर्मिणि अनपवर्गे,—इत्यर्थः । भोगसाधनसंहताविति कलादिक्षित्यन्तायाम् । सममिति युगपत्साधारणतयेति यावत् । इह कारण-

---

का खण्डन कहीं नहीं है । अप्रतिषिद्ध परमत स्वीकृति योग्य होता है । अतः सर्वानुमत ही कहना चाहिये । किन्तु यह आगम इसे नहीं मानता । यह कहता है कि,

कला से वसुधा पर्यन्त यह सारा प्रसार प्रत्यात्म भिन्न है । इसका प्रमाण सुख और दुःख आदि हैं, जो प्रत्यक्षतः प्रत्यात्म भिन्न दीख पड़ते हैं । इनका यहाँ प्रसङ्गतः कथन मात्र है । इसका प्रतिपादन यथा सन्दर्भ आगे के प्रकरणों में किया गया है ॥ १६७ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि कलादि को अभिन्न मानने पर भी सुख और दुःख आदि के प्रभाव में क्या कोई अन्तर आ सकता है ? इस पर कह रहे हैं कि,

वास्तव में यह जगत् जन्म और मरण धर्मा है । कला से क्षितिपर्यन्त भोग के सारे साधन संहत हैं, अभिन्न हैं । वही हैं । सामान्यतः सब से साथ लगे हुए हैं । होना तो यह चाहिये कि भोग साधनों के साथ-साथ सर्वसुलभ होने के कारण सुख दुःख आदि भेद न हों पर भेद प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं ? यहीं प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसा क्यों ? यह नियम है कि कारण भेद

भेदात् कार्यभेदः,—इति तावदविवादः। तच्च प्रत्यात्मं कलादिवसुधान्तं भोगसाधनं चेदभिन्नं तत् कुतस्त्योऽयं सुखादिभोगस्य भेदः,—इति ॥ १६८ ॥

नन्वसौ कर्मभेदाद्भविष्यति, सुखादीनां कर्म निमित्तं, तच्च प्रत्यात्मभिन्नमित्याशङ्क्याह

न चासौ कर्मभेदेन तस्यैवानुपपत्तितः ॥ १६९ ॥

तस्यैवेति कर्मभेदस्य। एवं हि आत्मनां भेदेऽपि कलादिक्षित्यन्ता भोगसंहतिरेकैव,—इत्युक्तम्। तच्चानादित्वात्। संसारस्य युगपदेव सा सर्वैरात्मभिः संबद्धाः—इत्यर्थसिद्धम्। सा च तथा संबद्धा सती सममेव सर्वैरात्मभिः कर्मणि प्रयुज्यते,—इत्यविशेषेण सर्वान् प्रति कर्माददाना कथं कर्मभेदं विदध्यात्; ततश्चात्मनां भेदेऽपि न कर्मणो भेदः,—इति तत् कार्यतोऽपि सुखादीनां भेदो नास्ति ॥ १६९ ॥

एवं कलादिक्षित्यन्ता भोगसाधनसंहतिः प्रत्यात्मभिन्नैव येन सुखदुःखादिभेदो भवेत्, तदाह

से कार्यभेद होते हैं। भोग साधनों के प्रत्यक्ष अभिन्न होने के कारण भोगभेद कैसे होता है? कहाँ से ये भेद उत्पन्न हो जाते हैं? इसको देख कर यह कहना पड़ता है कि कलादि बसुधान्त भोगसाधन प्रत्यात्म भिन्न हैं ॥ १६८ ॥

यह सोचना कि कर्मभेद से सुख दुःख आदि भोग भिन्न होते हैं। कहाँ तक प्रामाणिक है। इसकी कोई उपपति नहीं प्राप्त होती। आत्माओं के भिन्न होने पर भी कला से लेकर धरा पर्यन्त भोग-संहति वही है। संसार अनादि है। सभी आत्माओं से यह भोग-संहति साथ ही सम्बद्ध है। सभी आत्माओं द्वारा कर्म में साथ ही समान रूप से प्रयुक्त भी होती है। सामान्यभाव से सभो को कर्ममय जीवन प्रदान करने वाली वह, कर्म भेद कैसे उत्पन्न कर सकती है।? इसलिये यह कहना उचित है कि आत्माओं में भेद रहने पर भी कर्म में भेद नहीं है। कर्म ही कारण हैं। जब इनमें ही भेद नहीं हैं तो कार्य में भी भेद नहीं हो सकते। प्रत्यात्मभिन्नता ही इसमें कारण है ॥ १६९ ॥

उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि कला से धरापर्यन्त भोगसाधन संहति प्रत्यात्मभिन्न है। इसी के फलस्वरूप सुख दुःखादि भेद उत्पन्न होते हैं। इस श्लोक में इसी का प्रतिपादन कर रहे हैं कि,

तस्मात् कलादिको वर्गो भिन्न एव कदाचन ।
ऐक्यमेतीश्वरेच्छातो नृत्तगीतादिवादने ॥ १७० ॥

यत् भोगकारिका:

'वसुधादिकलाप्रान्ता भोगसाधनसंहतिः ।
नियता प्रति भोक्तारं परिज्ञेया मनीषिभिः ॥

अन्यथा हि सुखादीनां दृष्टो भेदो न युज्यते ।
योक्ष्यते कर्मणो भेदान्न भेदे यदि योज्यते ॥

संबद्धा युगपत् सा तु कुर्वती कर्म कर्तृभिः ।
कथं भिन्नानि कर्माणि कर्तृभेदात् करिष्यति ॥' इति ।

अयं चात्र प्रयोगः। कलादितत्त्वजातं प्रत्यात्मभिन्नं सुखदुःखादि-भेदित्वात्, यत् सुखदुःखादिभेदि तत् प्रत्यात्मभिन्नं, यथा देहादि, यन्न प्रत्यात्मभिन्नं तन्न सुखदुःखादिभेदि यथा माया, सुखदुःखादिभेदि च कलादि-तत्त्वजातं तस्मात्प्रत्यात्मभिन्नमिति ॥

कला से क्षिति पर्यन्त तत्त्ववर्ग प्रत्यात्मभिन्न है। ईश्वरेच्छा से नृत्त, गीत, वादन आदि अवसरों पर इसमें ऐसा चमत्कार होता है कि, ये प्रत्यात्म एक हा जाते हैं। भोग कारिकायें यही प्रतिपादित करती हैं कि,

"वसुधा से कलापर्यन्त भोगसाधन संहति प्रति भोक्ता नियत है। यदि ऐसा न होता तो सुख आदि के प्रत्यक्ष भेद भी नहीं होते। कर्म भेद से सुखादि भेद नहीं क्योंकि युगपत् सम्बद्धा भोगसंहति भिन्न कर्म करायेगी। यह सब एकमात्र कर्त्ता के भेद से ही ऐसा करा लेगी।"

इसे पञ्चावयव प्रयोग की कसौटी पर कसा जाना चाहिये। १—प्रतिज्ञा-कला आदि तत्त्ववर्ग प्रत्यात्मभिन्न है। सुख दुःख आदि भेद के कारण यह सिद्ध है। २—जो सुख दुःख आदि हैं, वे प्रत्यात्मभिन्न हैं। जैसे देह आदि। उदाहरण-३—जो प्रत्यात्मभिन्न नहीं है, उससे सुख दुःखादि भेद नहीं होते। जैसे माया। उपनय, ४—कला आदि तत्त्व वर्ग सुख दुःख आदि भेद भिन्न हैं। अतः प्रत्यात्मभिन्न हैं। निगमन-५—अतः कला आदि तत्त्ववर्ग प्रत्यात्मभिन्न है और सुख दुःख आदि भेदयुक्त है।

नन्वेवमात्मभेदात् कलादीनामपि भेदः,—इत्युक्तम्, इह च आत्मभेद एव न तात्त्विकः,—इति कथमेषामपि असौ स्यात्,—इति चेत् बाढमित्याह 'कदाचन। ऐक्यमेतीश्वरेच्छातो नृत्तगोतादिवादने'। ऐक्यमेतीति तावत्यंशे भेद विगलनात्; यद्यपि सर्वेषां प्रमातॄणां प्रमेयानां च एकचित्तत्त्वमयत्वमेव सतत्त्वं, तथापि मायाशक्तिसमुल्लासितोऽयं दृढनिरूढो भेदावभासो वर्त्तते; तत्रापि तु प्रतिप्रसवभङ्गया क्वचिदंशे सृष्टमेषामैक्यं चकास्ति, सर्वत्रैवं किं न स्यादि-त्युक्तम् 'इश्वरेच्छातः' इति ॥ १७० ॥

अत एव शिवाद्वयमयत्वादेषां शुद्धत्वमपि संभवेदित्याह

एषां कलादितत्त्वानां सर्वेषामपि भाविनाम् ।
शुद्धत्वमस्ति तेषां ये शक्तिपातपवित्रिताः ॥ १७१ ॥

भाविनामिति वक्ष्यमाणत्वात् कलादीनाम्। शुद्धत्वं कस्यास्ति इत्युक्तं तेषामिति। ते च के इत्युक्तं 'ये शक्तिपातपवित्रिताः' इति ॥ १७१ ॥

ननु कलादीनां भोगसाधनत्वाविशेषात् शुद्धयशुद्धयोः को भेदः,— इत्याशङ्क्याह

इसे थोड़ा और समझने की आवश्यकता है। यह मान्य है कि आत्म-भेद से कलादितत्व वर्ग भिन्न है। तो क्या आत्मा में ही भेद क्या तात्त्विक है? इसमें यह तत्त्ववर्ग की भिन्नता कैसे? इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि आत्मैक्य ईश्वरेच्छाधीन है। नृत गीत आदि आदि अवसरों पर भेद विगलित हो जाते हैं। भेदावभास माया का चमत्कार है ॥ १७० ॥

शिवाद्वय सिद्धान्त प्रतिपादक इस शास्त्र के अनुसार इनकी शुद्धता को विभिन्न परिस्थितियाँ प्रमाण हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इन कला आदि तत्वों की अशुद्ध अध्वा में गणना होने पर भी उन आत्माओं में प्रकृति प्रयुक्त ये तत्त्व नितान्त शुद्ध हो जाते हैं, जिनके ऊपर गुरुदेव, आराध्य देव या समाराध्या परमाम्बा का शक्तिपात हो जाता है। शक्तिपात से वे नितान्त पवित्र हो जाते हैं ॥ १७१ ॥

कला आदि सभी तत्त्व भोगों के साधन हैं। इनमें कोई विशेषता इस सम्बन्ध में नहीं है। फिर यह शुद्धि और अशुद्धि की समस्या कहाँ से आ खड़ो हो गयी? इसके समाधान के सम्बन्ध में ग्रन्थकार के विचार हैं कि,

कला हि शुद्धा तत्तादृक् कर्मत्वं संप्रसूयते ।
मितमप्याशु येनास्मात् संसारादेष मुच्यते ॥ १७२ ॥

तादृगिति परमेश्वरार्चनध्यानादिविषयम् ॥ १७२ ॥
एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति

रागविद्याकालयतिप्रकृत्यक्षार्थसंचयः ।
इत्थं शुद्ध इति प्राच्य गुरुर्मानस्तुतौ विभुः ॥ १७३ ॥

इत्थमिति कलावत् । तेन रागो भगवत्येवाभिष्वङ्गं संप्रसूयते, विद्यापि तद्विषयमेव विवेकम्, कालश्च तदुपदेशादिविषयमेव कलनम्, नियतिश्च तदाराधनादावेव नियमनम्, एवमन्यत् स्वयमभ्यूह्यम् । न चैतदस्मदुपज्ञमेवेत्याह इतीत्यादि । 'गुरुः' श्रीविद्याधिपतिः 'मानस्तुतौ' प्रमाणस्तोत्रे ॥ १७३ ॥

वस्तुतः माया से प्रथमतः प्रसूत कला तत्त्व अशुद्ध नहीं होता । वह नितान्त शुद्ध है । तदनुरूप ही शुद्ध कर्मपरम्परा को उत्पन्न करता है ।

परिणामतः इस प्रकार के शुद्ध कर्म जैसे परमेश्वर की पूजा, ध्यान जप आदि कम मात्रा में भी किये जाने जाने पर शुभ फल देते हैं । इनको करने वाला साधक इस संसार सागर को पार कर लेता है, मुक्त हो जाता है ॥ १७२ ॥

इसका आगमिक प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं कि,

विद्या, राग, काल और नियति रूप ये चारों तत्त्व जो कला से उत्पन्न होते हैं, ये भी और साथ ही प्रकृति, इन्द्रियाँ और इनके विषय भी शुद्ध ही होते हैं । यही तथ्य मेरे गुरु सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीविद्याधिपति ने अपने 'मानस्तुति' नामक प्रमाणसूत्र ग्रन्थ में प्रकाशित किये हैं । यही कारण है कि 'राग' से भगवत्प्रेम और भगवदासक्ति ही उत्पन्न होती है । विद्या शुद्ध-विवेक उत्पन्न करती है । काल भगवद्विषयक उपदेशों का आकलन करता है । नियति उसके (आराध्य के) आराधन जैसे फलों में लगाती है और अन्य प्रकृति से विषय पर्यन्त तत्त्व भी तदनुकूल प्रवृत्तियों का प्रवर्त्तन करते हैं । इस प्रकार एक शुद्ध प्रसर क्रम का प्रवाह चिदाकाश के स्वात्म-फलक धरातल पर बह निकलता है । इसे अशुद्ध-असत्य मानने का कोई आधार नहीं ॥ १७३ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह

एवमेषा कलादीनामुत्पत्तिः प्रविविच्यते ।

तदाह

मायातत्त्वात् कला जाता किंचित्कर्तृत्वलक्षणा ॥ १७४ ॥

तदुक्तम्

'असूत सा कलातत्त्वं यद्योगादभवत् पुमान् ।
जातकर्तृत्वसामर्थ्यो··· ··········· ··················॥' इति ।

(मा० १।२७) ॥ १७४ ॥

नन्वात्मा स्वत एव ज्ञाता कर्ता चेत्युक्तं, तदस्य कलया किंचित्कर्तृत्वं जन्यते,—इति किमेतदित्याशङ्क्याह

**माया हि चिन्मयाद्भेदं शिवाद्विदधतो पशोः ।
सुषुप्ततामिवाधत्ते तत एव ह्यदृक्क्रियः ॥ १७५ ॥**

प्रसङ्गवश इन बातों की चर्चा यहाँ हुई। मूल बात जो कहने की है, यह है कि, ये कला आदि तत्त्व सचमुच विवेचनीय हैं। सबसे पहले कला को लें। यह माया से उत्पन्न है। कला यह काम करती है कि सर्वकर्तृत्व सम्पन्न को किंचित्कर्तृत्व सम्पन्न कर देती है। मालिनो विजयोत्तर तन्त्र १।२७ के अनुसार भी "सबसे पहले माया ने कलातत्त्व को उत्पन्न किया। इसी कला के योग से पुरुष पारम्परिक कर्तृत्व से संवलित हो जाता है" ॥ १७४ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा तो स्वयमेव ज्ञाता है, स्वतः कर्त्ता है। उसमें कला से किंचित्कर्तृत्व आ जाता है—यह बात कहाँ से आ गयी ? इसका उत्तर है कि,

माया वह शक्ति है, जो चिन्मय शिव से और पशु से भेद का विधान करती हुई चिन्मय पर सुषुप्ति का इन्द्रजाल सा तान देने का मानो दायित्व वहन करती है। परिणामतः न दृक् और न क्रिय, अतः वह 'अदृक्क्रिय' हो जाता है।

चिन्मयात् शिवाद्भेदं विदधतीति स्वरूपं गोपयन्तीत्यर्थः। अत एवास्याचिन्मयत्वात् मूर्छितप्रायतामाविष्कुर्यादित्युक्तं 'सुषुप्ततामिवाधत्ते' इति। तत एवेति सुषुप्तताधानात् 'अदृक्क्रियः' इति तिरोहितपूर्णज्ञानक्रिय इत्यर्थः ॥ १७५ ॥

नन्वेवं जडमेव जगत् स्यात् तदपि वा न स्यात्, दृक्शक्तितिरोभावेन तथात्वाप्रथनात्; तदेतदाशङ्क्याह

कला हि किंचित्कर्तृत्वं सूते स्वालिङ्गनादणोः ।
तस्याश्चाप्यणुनान्योयं ह्यञ्जने सा प्रसूयते ॥ १७६ ॥

यहीं उसकी पार्थक्य प्रथा का प्रथन सा हो जाता है। मानो चिन्मय सो सा जाता है। एक तरह से मानो चिद्धर्म रूप चेतना अचेतन हो चुकती है। उसकी सक्रियता समाप्त सी होने लगती है। पूर्णज्ञान अपूर्णज्ञान में और सर्वक्रिया अपूर्ण क्रिया में परिवर्त्तित हो जाती है ॥ १७५ ॥

दृक् शक्ति के तिरोभाव से चिन्मयत्व का प्रथन नहीं हो सकता। फलतः चिन्मय अचिन्मयवत् हो जायगा। तब जगत् भी नितान्त जड़ होगा अथवा यह भी नहीं होगा। चिन्तन के इस स्तर पर माया और कला के कर्तृत्व सामने आते हैं।

माया चिन्मय को 'तिरोहित पूर्णज्ञानक्रिय' बना देती है अर्थात् पूर्णज्ञान और पूर्णक्रियत्व से वंचित कर देती है। कला अणु को अपने आलिङ्गन पाश की पेशल सुखानुभूति में सुला लेती है और उसे कुछ-कुछ करने की सक्रियता का अवलेप लगा देती है।

इधर अणु इसी सक्रियता में अपने को कुछ करने वाले के अहंभाव से मदमत्त होकर कला का आलिङ्गन करता है। कला अणु का और अणु कला का परस्पर आलिङ्गन करते हैं। इस 'अञ्जन' में अर्थात् पारस्परिक आसक्ति मय संलेष में, जिस तत्त्व का प्रसव होता रहता है, वही कला तत्त्व है। यह माया द्वारा प्रसूत होता है।

नन्वणोः कलालिङ्गनमस्तु, अन्यथा ह्यस्य किंचित्कर्तृत्वं नोदियात्, अण्वालिङ्गनेन पुनरस्याः कोऽर्थः,—इत्याशङ्क्योक्तम् अन्योन्यमित्यादि । 'अञ्जनं संश्लेषः ॥ १७६ ॥

सद्योनिर्वाणदीक्षोत्थपुंविश्लेषे हि सा सती ।
श्लिष्यन्त्यपि च नो सूते तथापि स्वफलं क्वचित् ॥१७७॥

एतदेव निदर्शनद्वारेणोपपादयति

यतः सा कला संश्लिष्यन्त्यपि सती, सद्योनिर्वाणदीक्षायां कलात ऊर्ध्वं नियोजनात् पुंसि विश्लेषिते तथापि दीक्षान्तरवत् संस्कारमात्रेणापि क्वचिदपि अणौ किंचित्कर्तृत्वाद्यात्मकं स्वफलं 'नो सूते' न जनयतीत्यर्थः ॥ १७७ ॥

ननु कला स्वशक्त्यैव कार्यं जनयेदिति किमस्याः पुंश्लेषेणेत्याशङ्कां निदर्शनदृशा उपशमयति

कला के आलिङ्गन से ही अणु में किंचित्कर्तृत्व का भाव उदित होता है। अणु के आलिङ्गन से जो पारस्परिक संश्लेष होता है, उसी क्षण की ताक में माया रहती है और इस प्रकार कला का शाश्वत प्रसव-प्रसार प्रवर्त्तित रहता है। इस प्रसव का प्रसूति स्थान वही 'संश्लेष' बनता है ॥ १७६ ॥

उक्त तथ्य का आन्तरिक निरीक्षण करने पर कुछ विचित्र तथ्य भी अभिव्यक्त होते हैं। जैसे—

कभी-कभी ऐसा होता है कि कला अपने आनन्द आलिङ्गन में अणु को लेकर संश्लेष सुख में सराबोर है। इधर उसने तात्कालिक निर्वाण-दीक्षा ले ली। इधर संश्लेष और उधर दीक्षा। तब एक नई घटना घटित होती है। दीक्षा से अणु कला के स्तर से ऊपर नियोजित होता है। तब संश्लेष विश्लेष के कारण शिथिल हो जाता है। फलतः कला अपना फल नहीं दे पाती और अणु किंचित्कर्तृत्व के अभिशाप से बच जाता है ॥ १७७ ॥

जिज्ञासा होती है कि कला एक शक्ति तत्त्व है। अपनी शक्ति से कार्य का प्रसव करने में समर्थ है। यहाँ पुरुष संश्लेष की चर्चा का क्या कारण है? इस जिज्ञासा का भी शमन अन्तः साक्ष्य भरी आगमिक उक्ति से कर रहे हैं कि,

उच्छूनतेव प्रथमा सूक्ष्माङ्कुरकलेव च ।
बीजस्याम्ब्वग्निमृत्कम्बुतुषयोगात् प्रसूतिकृत् ॥ १७८ ॥

यथा बीजस्य प्रथमावस्थात्मिकोच्छूनता, तदनु सूक्ष्मो वाङ्कुरांशो जलादियोगादेव स्वकार्यं कुर्यात्, तथा मायाकार्यं कलादि पुंयोग एवेति युक्तमुक्तं 'पुंविश्लेषे कला एवं फलं न संप्रसूयते' इति। अग्नीति तेजोमात्र-मत्र विवक्षितम् ॥ १७८ ॥

ननु तन्तुसंयोगजनिते पटे यथैकोऽपि तन्तुरनुपादानं न स्यात्, तथा

'तद्वन्मायाणुसंयोगाद्व्यज्यते चेतना कला ।' (मतङ्ग ९।१५)

इत्याद्युक्त्या मायाणुसंयोगजायाः कलायाः मायोपादानकारणं न त्वणुरिति कथं निश्चिनुमः,—इत्याशङ्क्याह

जैसे बीज वपन कर देते हैं। उसके उपरान्त उस पर जल, मिट्टी खाद आदि और वातावरण का प्रभाव पड़ता है। उसमें एक प्रकार की फूलने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। उस पहली आन्तरालिक उद्बुभूषिष्यद्भाव दशा को, बाह्य उल्लिलषिषात्मक संस्फुरणशील उत्फुल्लता को और सूक्ष्म अङ्कुर की कलात्मकता को पूर्ण स्फुटतम अङ्कुर रूप कार्य का कारण मानते हैं।

इसी तरह माया पुरुष संयोग से कला की उत्पत्ति होती है। कला की उत्पत्ति में वही भावदशा होती है, जैसी बीज की उच्छूनता और अङ्कुर की बाह्य उल्लास की लोलिका में होती है। इससे यह भो सिद्ध होता है कि पुरुष विश्लेष दशा में भी कला अपना कार्य करने में समर्थ रहती है। श्लोक १७७ में 'क्वचित्' शब्द के प्रयोग का यही तात्पर्य है ॥ १७८ ॥

तन्तुओं के संयोग से पट की उत्पत्ति होती है। धागे के ताने बाने से कपड़ा तैयार होता है। उसमें केवल सूत्रों का अनुरूप आतान ही काम करता है। सारे धागों में एक धागा भी अनुपादेय नहीं होता। मतङ्गशास्त्र ९।१५ के अनुसार भी "माया और अणु संयोग से वैसी ही चेतना कला व्यक्त होतो है"। अतः यह सिद्ध है कि माया और अणु के संयोग से कला रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। माया यहाँ उपादान कारण है, अणु नहीं। पर यह निश्चय कैसे हो कि अणु उपादान कारण नहीं ? इस अनिश्चय रूप चिन्ता का निराकरण करते हुए कह रहे हैं कि,

कला मायाणुसंयोगजाप्येषा निर्विकारकम् ।
नाणुं कुर्यादुपादानं किंतु मायां विकारिणीम् ।। १७९ ।।

नाणुमुपादानं कुर्यादिति अणुरस्या उपादानकारणं न भवेदित्यर्थः। अत्र हेतुः—निर्विकारकमिति। उपादानकारणं हि स्वरूपविकारमासाद्य कार्यानुगामित्वेन वर्तते, यथा घटादौ मृत् नैवमस्याः, तस्या चिदेकरूपतया नित्यत्वात्; अतश्चोभयसंयोगजत्वेऽपि अस्या मायैवोपादानकारणमित्युक्तम् 'किंतु मायां विकारिणीम्' इति, तत्तद्वृत्तिपरिणामभेदभिन्नामित्यर्थः ॥ १७९ ॥

ननु मा भूत् कलायाः निर्विकारत्वादणुरुपादानकारणं, मायैवेति तु कुतोऽयं नियमः, संयुक्तानां हि मलमायाकर्मणां संसारकारणत्वमित्युक्तं; तदेतदाशङ्क्याह

यह निश्चय है कि कला मायाणुसंयोग से उत्पन्न होती है। फिर भी यह निर्विकार अणु को उपादान कारण नहीं बना पाती। बस्तुतः इस प्रसार क्रम में विकार हो कार्य और कारण बनते हैं। चूंकि माया विकारिणी है। अतः विकारिणी माया ही उपादान कारण बनती है।

उपादान कारण जब कार्यरूप में परिणत होता है तो निश्चय ही स्वात्म स्वरूप में विकार वाला हो जाता है। जैसे मिट्टी उपादान कारण है। घड़ा कार्य है। इस कार्य दशा में मिट्टी विकारवती बन गयी है।

अणु चिदेकरूप है। नित्य है। उसमें विकार की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस लिये मायाणु संयोगजा होने पर भी कला का उपादान कारण विकारवती माया ही हो सकती है। अणु नहीं। माया ही विभिन्न प्रवर्त्तनों में भेदभिन्नता का आलिङ्गन करती है। अणु का तो मात्र स्वात्म-प्रच्छादन ही होता है ॥ १७९ ॥

निर्विकार होने के कारण कला का उपादान कारण अणु नहीं होता हो, तो न हो, कोई बात नहीं। माया ही उपादान कारण है—इसमें भी तो कोई नियामक नियम नहीं है। पहले तो यही कहा गया है कि मल, माया और माया के कर्म ही संसार के कारण हैं। इस विचिकित्सा का निराकरण है कि,

मलश्चावारको माया भावोपादानकारणम् ।
कर्म स्यात् सहकार्येव सुखदुःखोद्भवं प्रति ॥ १८० ॥

एषां हि समानेऽपि संसारकारणत्वे प्रतिनियतकार्यकारित्वं, यन्मलस्य ज्ञानक्रियावरणमेव कार्यम्; अतश्चैतावतैव उपक्षीणसामर्थ्योऽयं कथमिव किंचित्कर्तृत्वोत्तेजनामयीं तद्विरुद्धां कलामपि जनयेत्। सुखादीनां च वैषयिकत्वेन सत्त्वादिगुणमयस्रक्चन्दनाद्युपादानकानां सहकारितयैव कर्म निमित्तम्; अतश्च पारिशेष्यात् कलादिक्षित्यन्तानां भावानामुपादानकारणं मायेति विभागः ॥ १८० ॥

मल केवल आवरण डालते हैं। यह आवरण विशेष रूप से ज्ञान पर पड़ता है। परिणामतः क्रिया भी निर्मल नहीं रह पाती।

माया भाव अर्थात् भूत सर्ग की उपादान कारण है। भाव का अर्थ व्यापार, क्रिया अथवा भू धात्वर्थ आधृत भूत मात्र होता है। जो कुछ उत्पन्न है, उद्भूत है या जन्मजात है—वह भाव पदार्थ है। इन सबकी उपादान कारण माया है।

कर्म सुख दुःख की उत्पत्ति का अहंकारी कारण है। इस प्रकार संसार के तीन कारण सिद्ध हैं। १—मल, २—माया और ३—कर्म। तीनों कारण अवश्य हैं पर उनके कार्य अलग-अलग निर्धारित हैं, प्रतिनियत हैं। ज्ञान क्रिया का आवारक मल है। आवरण का प्रतिनियत काम यह करता है। इसी में इसकी सारी शक्ति लग जाती है। किसी भी तरह किंचित्कर्तृत्व की उत्तेजना से उद्दीप्त कला का प्रजनन नहीं कर सकता। माया ही कला से क्षित्यन्त तत्त्वों की मूल कारण है।

सुख दुःख आदि तो वैषयिक हैं। 'जैसा साधन वैसा फल' इस नियम के अनुसार सुन्दर हार धारण, शीतलोपचार चन्दन आदि के उपलेप ही सुख सत्त्व के उपादान होते हैं। अतः कर्म सहकारी कारण हो सकते हैं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कला से क्षितिपर्यन्त समस्त भाव वर्ग की उपादानमयी उत्पादिका माया शक्ति ही है ॥ १८० ॥

एवमावारकतया मलेन संच्छन्नचैतन्यस्य अणोः किंचिज्ज्ञत्व-कर्तृत्वसमुद्वलननिमित्तेन केनचिद्भाव्यं, तच्च न तावत् कर्म, तस्य भोगोत्पत्तावेव परिदृष्टशक्तित्वात्; अतश्च पारिशेष्यात् कलैवेत्याह

अतः सच्छन्नचैतन्यसमुद्वलनकार्यकृत् ।
कलैवानन्तनाथस्य शक्त्या संप्रेरिता जडा ॥ १८१ ॥

'चैतन्यम्' इति चितिक्रियाकर्तृत्वमित्यर्थः। ननु जडा च कला चैतन्यं चोपोद्वलयतीति विप्रतिषिद्धमेतत्,—इत्याशङ्क्योक्तम् 'अनन्तनाथस्य शक्त्या संप्रेरिता' इति ॥ १८१ ॥

ननु यद्येवं तदीशशक्तिरेव एतत् समुद्वलयतु, किं कलयेत्याशङ्क्याह

न चेशशक्तिरेवास्य चैतन्यं वलयिष्यति ।
तदुपोद्वलितं तद्धि न किंचित्कतृतां व्रजेत् ॥ १८२ ॥

आवारकता मल की विशेषता है। अणु आवरण से आवृत शिव ही है। चैतन्य समाच्छादित हो जाने से वह अणु हो गया है। परिणामतः उसमें किंचित् कर्तृत्व और किंचिज्ज्ञत्व आदि खण्डित गुणों का उपोद्वलन होता है। इसका निमित्त मल ही हो सकता है। कर्म निमित्त कैसे माना जायगा। कर्म की शक्ति भोगोत्पत्ति के परिप्रेक्ष्य में परिलक्षित होती है। अतः पारिशेष्यतः कला ही निमित्त मानी जा सकती है—यही इस कारिका का कथ्य है—

कला आवृत्त चैतन्य अणु में कुछ-कुछ करने और कुछ-कुछ जानने के चैतन्य भाव को पुष्ट करती है। यह जड़ कला का कार्य है। देखने में यह विरोधाभास लगता है कि कला जड़ भी है और चेतनभाव का उपोद्वलन भी करती है, अनन्तनाथ की शक्ति से संप्रेरित होने के कारण यह विरोध निरस्त हो जाता है ॥ १८१ ॥

प्रश्न है कि यदि यह ईशशक्ति सम्प्रेरित होकर यह कार्य करती है तो स्वयम् ईश्वर अनन्त की ही शक्ति यह कार्य क्यों नहीं करती ? कला से क्या प्रयोजन ? इसका उत्तर है कि,

यदि ईश्वर अनन्त की शक्ति ही यह कार्य करती तो वह चैतन्य किंचित्कर्तृत्व की दिशा में अग्रसर भी न होता। वास्तविकता यह है कि

एकेन तच्छब्देन ईशशक्तिः परामृष्टा, अन्येन चैतन्यम्। इह यदि नाम मुक्ताणूनामिव बद्धाणूनामपि परमेश्वरः कलादिनिरपेक्षतया स्वशक्त्यैव कर्तृत्वादि उपोद्वलयेत्, तत् सर्वदा सर्वत्र च स्यादित्युक्तं 'न किञ्चित्कर्तृतां व्रजेत्' इति। यदाहुः

'पाशं विना न शंभुर्व्यञ्जयति यतो न सर्वविषयं तत्।
न च विगताञ्जनसङ्गं मुक्ताणुगकर्तृ-शक्तिमिव॥'

इति॥ १८२॥

ननु भोगे कर्त्तव्ये पुंसः कर्तृत्वम्,—इति नास्ति विप्रतिपत्तिः; कला पुनः कतरत् कारकम्,—इति नैव जानोमः। न तावत् कर्म चैतन्योपोद्वलकारितया भुजिक्रियां प्रत्यविषयत्वात्, नापि करणं, तद्धि कर्तृप्रयोज्यं भवति;

मुक्ताणु साधकों के समान ही बद्धाणु पुद्गलों में भी कर्त्तृत्व आदि का उपोद्बलन परमेश्वर ही कलादिनिरपेक्ष अपनी शक्ति से सम्पन्न करते हैं। इस लिये सर्वत्र समान रूप से उसका प्रभाव पड़ता है। कला शक्ति बोच में परमेश्वर से प्रेरित होकर ही सही जब कलात्मक उपोद्बलन करती होती है, तभी किंचित्कर्त्तृत्व का अभिशाप भी गले पतित कर देती है।

आगमिक दृष्टि भी यही है—

"पाश के विना भगवान् भूतभावन भी विश्व को अभिव्यक्त नहीं करते। कारण यह है कि शिव सदा सर्वत्र सर्वविषयक तत्त्व है। पाश ऐसे नहीं होते। ये सर्वविषयक नहीं, अपितु किंचिद्विषयक होते हैं। मुक्ताणुओं में कर्त्तृत्व शक्ति अभिव्यक्ति परक उपोद्बलन नहीं करती है। जब कि कञ्चुकों द्वारा कुछ-कुछ कला-खण्डित कर्त्तृत्व ही अभिव्यक्त होता है" ॥ १८२॥

भोग की प्रक्रिया में पुरुष का कर्तृत्व पुलकित होता है। प्रश्न है कि कला कौन सी कारक है? क्या यह कर्म है? कर्म हमेशा क्रिया के द्वारा कर्त्ता का ईप्सिततम कारक होता है। कला अणु के अभीष्ट चैतन्य का उपोद्बलन करती है। भोग को क्रिया से इसका कुछ लेना देना नहीं। यह उसकी अविषय होती है। 'अणुः भुनक्ति' इस वाक्य में क्रिया से चैतन्य के उपोद्बलन का कर्म सम्बन्धित नहीं है।

इदं पुनः कर्तुरपि प्रयोजकम्,—इति कथं विद्यादिवत् कारणतामियात् । तत्रास्याः कारकान्तरवत् कर्तृत्वं दूरापेतम्,—इत्यभिप्रेत्य करणत्वमेवाशङ्क्य दूषयति

सेयं कला न करणं मुख्यं विद्यादिकं यथा ।
पुंसि कर्तरि सा कर्त्री प्रयोजकतया यतः ॥ १८३ ॥

मुख्यमिति बुद्ध्याद्यन्तःकरणापेक्षया परमित्यर्थः ।

'करणेन येन भोग्यं करोति पुरुषः प्रचोद्य महदादीन् ।
भोग्ये भोगं च पुनः सा विद्या तत् परं करणम् ॥' इति ।

पुंसि कर्तरि' इति विषये, प्रयोज्यनिष्ठो हि प्रयोजकव्यापारः । एवं च उभयोरपि कर्तृत्वे प्रयोजकव्यापारविशिष्टः प्रयोज्य एव पुमान् साक्षात् क्रियां प्रति स्वातन्त्र्ययोगात् प्रधानभूतः कर्तेति । तदुक्तम्

कलाकारण भी नहीं हो सकती । करण साधकतम कारक होता है । इससे क्रिया की सिद्धि होती है । करण कर्तृ-प्रयोज्य होता है । कला अणुकर्त्ता की प्रयोजिका शक्ति है । विद्या तो कारण बन सकती है । क्योंकि विद्या से किंचित्ज्ञत्त्व के स्तर की ओर गति अनिवार्य है । इन स्थितियों में यह कहा जा सकता है कि,

यह कला इन विद्या आदि कञ्चुकों की तरह मुख्य करण नहीं बन सकती । पुरुषकर्त्ता के विषय में यही कर्त्री हो जाती है । क्योंकि प्रयोजक व्यापार प्रयोज्य निष्ठ ही होता है । कहा गया है कि,

"पुरुष जिस साधन से महत् आदिकों को प्रेरित कर भोग्य बना लेता है, उसी तरह विद्या भोग्य में महदादि को प्रभावित कर भोग का अवसर प्रदान करती है । विद्या यहाँ परम कारण बन जाती है ।"

इस तरह पुरुष भी कर्त्ता है और कला भी कर्त्री है, यह सिद्ध हो जाता है । प्रयोजक व्यापार विशिष्ट प्रयोज्य पुमान् साक्षात् क्रिया में स्वातन्त्र्य के कारण प्रधान कर्त्ता कहलाता है ।

कर्तृशक्तिं व्यनक्त्यस्य कला सातः प्रयोजिका ।
ततः कलासमायुक्तो भोगेऽणुः कर्तृकारकम् ।।'

इति ।। १८३ ।।

एवं पुंस्कलयोः प्रयोज्यप्रयोजकतया

'इत्येतदुभयं विप्र संभयानन्यवत् स्थितम् ।
भोगक्रियाविधौ जन्तोर्निजगुः कर्तृकारकम् ।।'

इत्याद्युक्त्या एककर्तृकारकीभूतत्वेनालक्ष्यान्तरत्वेऽपि भगवदनुग्रहात् कस्यचित् यदानयोर्विवेकज्ञानं जायते, तदासौ मायापुंविवेकः सर्वकर्मक्षयात् विज्ञानाकलता च भवेद्येनायं पुमान् मायाधो न संसरेदिति, तदाह

अलक्ष्यान्तरयोरित्थं यदा पुंस्कलयोर्भवेत् ।
मायागर्भेशक्त्यादेरन्तरज्ञानमान्तरम् ।। १८४ ।।

कहा गया है कि—

"पुरुष की कर्त्तृशक्ति को कला अभिव्यक्त करती है। अतः कला प्रयोजिका कर्त्री है। इसी लिये कला से संवलित अणु, भोग में कर्त्ता कहलाता है" ।। १८३ ।।

पुरुषतत्त्व और कलातत्त्व दोनों के प्रयोज्य प्रयोजक भाव के कारण,

"ये दोनों परस्पर सम्भूत होकर तादात्म्यवत् स्थित हैं। जीव की भोग की पारम्परिक प्रक्रिया के क्रम में इस यामल को कर्तृकारक ही कहा गया है"।

इस उक्ति के अनुसार एक कर्त्तृकारकत्व दोनों को प्राप्त है। यहाँ अन्तर अलक्ष्य है। भगवत् कृपा से किसी के विवेक जागृत हो जाने की दशा में जब उसे यह निश्चय हो जाता है कि यह माया का स्वरूप है और यह पुरुष का स्वरूप है। उस समय उसके सभी कर्मों का क्षय हो जाता है। कर्मक्षय होने पर एक मलावृत रह जाने के कारण वह विज्ञानाकल दशा को पा लेता है। इससे वह माया के नीचे की संसृति के अभिशाप से मुक्त हो जाता है। वही कह रहे हैं—

तदा मायापुंविवेकः सर्वकर्मक्षयाद्भवेत् ।
विज्ञानाकलता मायाधस्तान्नो यात्यधः पुमान् ॥ १८५ ॥

मायागर्भेशोऽनन्तः । शक्त्यादीति आदिशब्दात् तदुपदिष्टं ज्ञानादि । तदुक्तम्

'किंतु कारणवक्त्राब्जसमुद्भूतेन सुव्रत ।
ज्ञानचक्षुः प्रदीपेन सम्यगालोक्य सादरम् ॥
अयं पुमानियं चैषा कला दोषालया शुभा ।
अनयोरन्तरं ज्ञात्वा स्वस्थो निर्वात्यसंशयः ॥' इति ।

आन्तरमिति प्रकृतिपुरुषविवेकापेक्षया अन्तरङ्गमित्यर्थः ॥ १८५ ॥

प्रयोज्य प्रयोजक का अन्तर अब प्रतीत नहीं होता । पुरुष और कला तत्त्व एक से अनन्य रूप में दीख पड़ते हैं । माया को स्वान्तर में धारण करने वाले परमेश्वर अनन्त के अनुग्रह से अथवा उनके द्वारा उपदिष्ट शास्त्रीय आगमिक ज्ञान से प्रकृति पुरुष विवेक और अपेक्षित अत्यन्त अन्तरङ्ग अन्तर्दृष्टि पूरित ज्ञान का प्रकाश हो जाता है । माया और पुरुष का महत्त्वपूर्ण विवेक हो जाता है । परिणाम स्वरूप समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है । यही दशा विज्ञानाकल की होती है । विज्ञानाकल दशा प्राप्त हो जाने पर माया के नीचे संसरण नहीं हो पाता । यह माया के ऊपर और सद्विद्या से नीचे का एक प्रकार का मध्यावस्थान होता है । कहा गया है कि,

"हे सुव्रत ! कारण स्तरीय शैवी मुख रूप कमल से समुद्भूत ज्ञान के नेत्रों के प्रदीप से साधक आस्था पूर्वक यह आकलन करने लगता है कि यह पुरुष तत्त्व है और यह कला तत्त्व है । उसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह जडत्व दोष से ग्रस्त है तथापि परमेश्वर की शक्ति से प्रेरित होने के कारण चैतन्यात्मक भी है । अतएव शुभा है । यह आकलन परमेश्वर के अनुग्रह से होता है । अब दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है और साधक स्वस्थ होकर निःसंदिग्ध अगम्य आनन्द की अनुभूति में खो जाता है ।" यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दशा है ॥ १८४–१८५ ॥

ननु प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानादेव सर्वकर्मक्षयः सिद्धः,—इति किं माया-पुंविवेकेनेत्याशङ्क्याह

धीपुंविवेके विज्ञाते प्रधानपुरुषान्तरे ।
अपि न क्षीणकर्मा स्यात् कलायां तद्धि संभवेत् ।। १८६ ।।

'धीपुंविवेके' इति तद्रूपे प्रधानपुरुषविवेके इत्यर्थः। बुद्धिद्वारेण हि प्रकृतेः पुरुषस्य चाविवेको विवेको वा भवेत् । तत्र प्रतिसंक्रान्तायाश्चिच्छायायाः कर्तृत्वाभिमानो हि अविवेकः, तस्यामेव विगलितविषयवृत्तिपरिणामरूपत्वात् निष्कम्पदीपशिखाप्रख्यायाश्चित एवाकर्तृत्वाभिमानो विवेकः,—इति । एवं मायाया अपि कलाद्वारक एव पुंसो विवेकः,—इत्युक्तम् । अपिर्भिन्नक्रमः तेन विज्ञातेऽपीत्यर्थः । कलायामिति सत्यां, कलैव हि किंचित्कर्तृत्वाभिव्यञ्जनात् कर्मणः साक्षात् निमित्तमिति । उक्तं च

जहाँ तक सभी कर्मों के क्षय का प्रश्न है, यह तो प्रकृति पुरुष विवेक से ही सम्भव है। यह माया और पुंस्तत्त्व के विवेक की बात कहाँ से आ गयी ? इस जिज्ञासा का समाधान है कि,

धी (बुद्धि) के द्वारा पुरुष सम्बन्धी विवेक होता है। इसी माध्यम से प्रधान और पुरुष को आन्तरीयकता की जानकारी होती है। ऐसा होने पर भी कर्म क्षय नहीं होता। कला के ज्ञान से अनिवार्यतः यह हो जाता है।

इस सन्दर्भ में विचारणीय विन्दु यह है कि बुद्धि के माध्यम से जब कोई किसी तथ्य को जानने के लिये प्रयास करता है, तो उसके दो प्रकार के फल सामने आते हैं। इसमें अविवेक भी सम्भव है। और विवेक भी।

अविवेक उस समय होता है, जब उसमें प्रतिसंक्रान्त चिति शक्ति की छाया में कर्त्तृत्व का अभिमान होता है। जब विषयों के प्रति रागात्मिका वृत्ति के विगलन के फलस्वरूप निष्कम्प दीपशिखा के समान देदीप्यमान चित् तत्त्व में अकर्त्तृत्व का अभिमान होता है, तब वास्तविक विवेक होता है।

माया पुरुष विवेक में पुरुष का विवेक कला के माध्यम से ही होता है। कला ही कर्म की साक्षात् निमित्त है। किंचित्कर्त्तृत्व का अभिव्यंजन कला से ही होता है। कहा गया है कि,

'गुणतत्त्वोर्ध्वभोग्यस्य कर्मणोऽनुपलम्भतः ।
कैवल्यमपि साख्यानां नैव युक्तसंमक्षयात् ॥'
इति ॥ १८६ ॥

एवं प्रकृतिपुरुषविवेके प्रकृत्यन्तं पुंसः कर्मक्षयो भवेत्, कलापुंविवेके तु मायान्तं, येनास्य तदधःसंसरणं न स्यात्, तदाह

अतः सांख्यदृशा सिद्धः प्रधानाधो न संसरेत् ।
कलापुंसोर्विवेके तु मायाधो नैव गच्छति ॥ १८७ ॥

सांख्यदृशेति सांख्यदर्शनवत् प्रकृतिपुरुषविवेकेनेत्यर्थः । स चास्मद्दर्शनोक्तप्रकृत्यादिधारणाक्रमेण सिद्ध-,—इत्यवगन्तव्यम् । अन्यथा हि अस्य पुनरपि तदधः संसरणं स्यात् । तदुक्तं प्राक्

'सांख्यवेदादिसंसिद्धान् श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे ।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यक् मुक्तिरीदृशी ॥'
(त० ६।१५२) इति ॥ १८७ ॥

"गुणतत्त्व की ऊर्ध्व स्थिति में कर्म का उपलम्भ नहीं होता । इसलिये सांख्य दिशा निर्देश कैवल्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि कर्म का संक्षय अभी नहीं हुआ होता है" ॥ १८६ ॥

प्रकृति पुरुष विवेक में पुरुष के कर्मक्षय होने पर भी अधःसंसरण स्वाभाविक है क्योंकि प्रकृति त्रिगुणमयी होती है। विशुद्ध कैवल्य के लिये निस्त्रैगुण्य अवस्था अनिवार्य है। पर माया पुंविवेक होने पर माया से अधःसंसरण नहीं हो सकता और विज्ञानाकलता सुरक्षित रहती है। यही कह रहे हैं—

सांख्यदर्शन भी यही कहता है कि प्रकृत्यन्त में पुरुष के कर्मक्षय होने के कारण प्रकृति से नीचे साधक का संसरण नहीं होता । इस दशा में भी त्रैगुण्य को विजृम्भा से साधक सुरक्षित नहीं रहता ।

माया पुरुष विवेक में माया के चित् शक्ति-प्राधान्य के कारण चिन्मयत्व का प्रकाश तमस् का प्रणास करने में सदा सक्षम रहता है । फलस्वरूप माया से निम्न स्तर पर उतर आने की कत्तई सम्भावना नहीं होती ।

ननु यद्येवं तन्मायोर्ध्वं पुनः कदा गच्छेत्,—इत्याशङ्क्याह

मलाद्विविक्तमात्मानं पश्यँस्तु शिवतां व्रजेत् ।

ननु त्रिविधेऽपि विवेकदर्शने द्रष्ट्रा तावद्भाव्यं, स च शुद्धबोधस्वभाव एवेति कथं कस्यचित् कदाचिदेव एतद्भवेत्,—इत्याशङ्क्याह

सर्वत्र चैश्वरः शक्तिपातोऽत्र सहकारणम् ।। १८८ ।।

ननु अत्र शक्तिपातश्चेदविशिष्टः तत् विवेकत्रयात्मनि तत्कार्येऽयं कुतस्त्यो विशेषः,—इत्याशङ्क्याह

मायागर्भाधिकारीयो द्वयोरन्त्ये तु निर्मलः ।

"श्रीतं० ६।१५२ के अनुसार श्रीकण्ठ सृष्टि के दिवसारम्भ में वेदों और सांख्यों की दृष्टि से सिद्धों को संसृति प्रदान करते हैं। इनकी सम्यक् मुक्ति नहीं होती ॥ १८७ ॥

मान लिया कि माया से अधः संसरण मायापुरुष विवेक के अनन्तर नहीं होता। फिर भी यह जिज्ञासा तो यहाँ स्वाभाविक है कि इनका ऊर्ध्व संसरण कब होता है ? उत्तर स्पष्ट है कि,

अपने को मल से सर्वथा निर्मुक्त कर लेना शिवता की उपलब्धि के लिये मुख्य शर्त्त है। प्रकृति पुँविवेक, मायापुरुषविवेक और मलनिर्मुक्त आत्म विवेक इन स्थितियों में द्रष्टाभाव की, साक्षीभाव एवं शुद्ध बोध स्वभाव की अनिवार्यतः आवश्यकता होती है। वह किस को कब हो—इसका निश्चय नहीं रहता। इसलिये इस दर्शन की मान्यता है कि ईश्वर तो सर्वत्र व्यापक है। शुद्धबोध के लिये शक्तिपात आवश्यक है। शक्तिपात से इस साक्षी भाव और शुद्धबोध स्वभाव को सिद्धि हो जाती है ॥ १८८ ॥

ऊपर सामान्य शक्तिपात की चर्चा है। उसे परिभाषित नहीं किया गया है। प्रकृति पुरुषविवेक, माया पुरुष विवेक और मल से विविक्तता के विवेक के सन्दर्भों में शक्तिपात कहाँ सहकारी कारण हो सकता है? यह विचार स्वभावतः साधक के हृदय में उठता है। ग्रन्थकार की दृष्टि है कि

मायागर्भादिकारिणोऽनन्तादेः। द्वयोरिति प्रकृतिमायाविवेकयो-; अत एव नात्र मोक्षपर्यन्तत्वम्। 'अन्त्य' इति मलविवेके, 'निर्मल' इति मोक्षपर्यन्तवृत्तित्वात्॥

नन्वियं मायैवास्तु किमस्यास्ततोऽन्यत्वेनेत्याशङ्क्याह

सेयं कला कार्यभेदादन्यैव ह्यनुमीयते ॥ १८९ ॥
अन्यथैकं भवेद्विश्वं कार्ययेत्यन्यनिह्नवः ।

कार्यभेदादिति; माया हि अणोर्मूर्छितप्रायतां विदध्यात्, इयं पुनः किंचित्कर्तृतामिति। अन्यैवेति अर्थान्मायातः। अन्यथेत्यादिनात्र व्यतिरेकः। एकमिति मायातत्त्वं; ततश्च तस्मादेव किंचित्कर्तृत्वादीनि विश्वानि कार्याणि जायेरन्,—इत्यन्यस्य स्थितस्यापि निखिलस्य विद्यादेस्तत्त्वजातस्यापह्नवः प्रसजेदित्युक्तम् 'इत्यन्यनिह्नवः' इति॥ १८९॥

इन तीनों में मल का विवेक महत्त्वपूर्ण है। प्रकृति पुरुष विवेक और माया पुरुष विवेक की अनुभूति के स्तर पर कर्मक्षय की स्थिति नहीं आती। मल विवेक मोक्षपर्यन्त काम करता है। वस्तुतः शक्तिपात इसी विवेक के उल्लसित होने पर होना चाहिये। यह शक्तिपात मायागर्भ अधिकारी-अधीश्वर अनन्त-भट्टारक ही कर सकते हैं। इसके बल पर मल में तात्कालिक नैर्मल्य उल्लसित हो जाता है।

जहाँ तक कला और माया का प्रश्न है, कार्य की दृष्टि से दोनों में भेद प्रथा का प्रथन हो जाता है। कार्य को देखते हुए यहाँ कला की अपेक्षा माया से कुछ दूसरी ही प्रतीति होती है। माया अणु को मूर्छित प्रायः अवस्था में डाल कर प्रसन्न होती है। वहीं कला उसको कुछ-कुछ करने वाला कर्त्तापन प्रदान करती है। इसी लिये माया से कला कुछ दूसरा ही तत्त्व अनुमित होती है। अन्यथा यदि ऐसा न होता तो एक माया तत्त्व ही उल्लसित रहता। माया से ही किंचित्कर्त्तृत्व आदि सारे कार्य सम्पन्न होने लगते! फिर कला विद्या, राग, काल और नियति तत्त्वों की उपयोगिता ही समाप्त हो जाती। अन्य सारे तत्त्वों का एक तरह से अपह्नव हो हो जाता॥ १८९॥

ननु कलायाः श्रीमतङ्गादौ किंचित्कर्तृताधायकत्वमुक्तं, तथा च तत्र

'ईषदुन्मीलितात्मानः कलया विद्धमूर्त्तयः ।
प्रस्पन्दमानास्तरलाः प्रयान्त्युच्छूनतां मुने ॥' (म० ९।९)

इत्याद्यस्ति । श्रीपूर्वशास्त्रे पुनः सामान्येन कर्तृताधायकत्वमेव । यदुक्तं तत्र

'........................तद्योगादभवत् पुमान् ।
जातकर्तृत्वसामर्थ्यो.............................. ॥'

(मा० १।२७) इति ।

इह च तदधिकारेणैव तत्त्वक्रमनिरूपणं प्रक्रान्तम्,—इति कथमिव अस्यास्तद्विरुद्धं किंचित्कर्तृताधायकत्वमुक्तमित्याशङ्क्याह

इति मतङ्गशास्त्रादौ या प्रोक्ता सा कला स्वयम् ॥ १९० ॥
किंचिद्रूपतयाक्षिप्य कर्तृत्वमिति भङ्गितः ।

'इति उक्तेन किंचित्कर्तृत्वाधायकत्वात्मना प्रकारेण श्रीमतङ्गशास्त्रादौ या कला प्रोक्ता, सा पुंसि पूर्णकर्तृतानुपपत्तेः स्वसामर्थ्यादेव किंचिद्रूपत्वमाक्षिप्य

मतङ्ग शास्त्र ९।९ और मा० त० १।२७ के अनुसार यह स्पष्ट है कि "ईषदुन्मीलित आत्मिक स्तर वाले जब कला के आकलन के विषय बन जाते हैं, तो उनमें एक विस्मयजनक प्रस्पन्दमानता, एक प्रकार की तरलता आ जाती है, जिससे उनमें उन्मुक्त उच्छूनता आ जाती है" ।

अथवा "कला के सामञ्जस्य से पुरुष किंचित्कर्तृत्व की शक्ति से संवलित हो जाता है ।" यहाँ उक्त सन्दर्भ में तत्त्वक्रम निरूपण का मूल ही एक दम उलझ जाता है । किंचित् कर्त्तृताधायकत्व अलग और किंचित् कर्त्तव्याधायकत्व अलग व्यापार है । इन शास्त्रों में कला की चर्चा है । वह स्वयम् किंचिद्रूपता का आक्षेप करती है । उसमें विचित्र भङ्गी के द्वारा कर्त्तृत्व भी आ जाता है । क्योंकि पुरुष के स्तर पर पूर्णकर्त्तृत्व की कल्पना भी नहीं की

कर्तृत्वमिति सामान्यरूपया भङ्ग्या अर्थादिह श्रीपूर्वशास्त्रे प्रोक्ता,—इति वाक्यार्थः । आदिशब्दात् मृगेन्द्रादौ । यदुक्तं तत्र

'कर्तृशक्तिरणोर्नित्या विभ्वी चेश्वरशक्तिवत् ।
तमश्छन्नतयार्थेषु नाभाति निरवग्रहा ॥
तदनुग्राहकं तत्त्वं कलाख्यं तैजसं हरः ।
माया विक्षोभ्य कुरुते प्रवृत्यङ्गं परं हि तत् ॥
तेन प्रदीपकल्पेन तदा स्वच्छचितेरणोः ।
प्रकाशयत्येकदेशं विदार्य तिमिरं घनम् ॥
कलयत्येष यो धातुः संख्याने प्रेरणे च सः ।
प्रोत्सारणं प्रेरणे सा कुर्वती तमसा कला ॥
इत्येतदुभयं विप्र संभूयानन्यवत् स्थितम् ।
भोगक्रियाविधौ जन्तोर्निजगुः कर्तृकारकम् ॥'

इति ॥ १९० ॥

जा सकती । कला वहीं अपनी कला का प्रयोग कर किंचित् रूपता का आक्षेप करतो है । परिणाम स्वरूप वहीं किंचित्कर्त्तृत्व भी आ जाता है ।

मृगेन्द्र तन्त्र में कहा गया है कि,

"अणु में कर्त्तापन की शक्ति ईश्वर शक्ति की तरह नित्य और विभुतामयी स्थिति में रहती है, किन्तु मल से आच्छादित होकर निरवग्रह होते हुए भी वह भात (प्रकाशित) नहीं हो पाती । यहाँ अनुग्राहिका कला अपना चमत्कार दिखाती है । यह शिवमयी तेजस्विता ही है । माया ही है वह मानो । एक प्रेरक विक्षोभ वहाँ उत्पन्न होता है । प्रवृत्ति की प्रक्रिया व्यापृत हो उठती है । एक दीपक सा जल उठता है । चिति के प्रकाश का प्रसारक यह प्रदीप अणु के एक-एक देश को प्रकाशित करने लगता है । मलावरण की बनी तैमिरिक सत्ता विच्छिन्न हो उठती है । अणु इस एक देश प्रसार की चकाचौंध में कुछ-कुछ आकलन करता है । विधाता का कुछ संस्थान उसे प्रतीत होता है । कुछ प्रेरणा का प्रकलपन होता है । इसमें अणु का आकलन मिल जाता है । कल के धात्वर्थ यहाँ चरितार्थ हो जाते हैं ।

ननु किंचिद्रूपविशिष्टमपि कर्तृत्वं कथमज्ञस्य भवेत्,—इत्याशङ्क्य किञ्ज्ञेयत्वाधायिनस्तत्वान्तरस्यापि उत्पत्तिं प्रतिजानीते

किंचिद्रूपविशिष्टं यत् कर्तृत्वं तत्कथं भवेत् ॥ १९१ ॥

अज्ञस्येति ततः सूते किंचिज्ज्ञत्वात्मिकां विदम् ।

'ततः' इति प्रकृतत्वात् कला । तदुक्तम्

'ज्ञानं विना न कर्तृत्वं कस्यचिद्दृश्यते यतः ।
अतः कलातः संजातमविद्यारूपमप्रथम् ॥' इति ।

उस समय कला अपना काम करती है। कुछ तमस् और कुछ चिति-ज्योत्स्ना की चाँदनी छन कर नई छटा बिखेरती है। कला उसे कुछ साफ करती है। एक नयी प्रेरणा का पीयूष पिलाती है। अणु उसमें रम रहता है। प्रोत्सारण और संप्रेरण की यह प्रक्रिया कुछ ऐसी घुली मिली होती है कि उसमें अन्तर का आकलन नहीं हो पाता। भोग के भोगने की भावात्मकता में अपने को ही कर्त्ता मानने लगता है।"

मृगेन्द्रतन्त्र के इस प्रतिपादन से अणु, उसकी शाश्वत कर्तृत्वशक्ति, उस पर पड़ने वाले आवरण की दशा, अनुग्राहिका तैजस् कला शक्ति, माया का विक्षोभ, स्वच्छ चिति के प्रदीप से अणु के एक देश का प्रकाश कला का आकलन, प्रोत्सारण और प्रेरण, अणु की प्रवृत्ति, व्यापार और उसके कर्तृत्व पर और सूक्ष्म जगत् की क्रिया शीलता पर पूरा प्रकाश पड़ता है ॥ १९० ॥

सामने यह समस्या भी है कि जो अज्ञ है, उसमें किंचित् विशिष्ट कर्तृत्व हो भी नहीं सकता। कुछ-कुछ करने वाला कर्त्तापन भी ज्ञान रहने पर ही हो सकता है। इसके समाधान के लिये कला से ही कुछ-कुछ जानने वाली शक्ति की आधायक पृथक् तत्त्वान्तरात्मिका शक्ति जिसे विद्या [अविद्या] कहते हैं— की सत्ता भी स्वीकार की जाती है।

कहा गया है कि,

"ज्ञान के विना कर्तृत्व असम्भव है। जब जानकारी ही नहीं रहेगी तो जन्तु कुछ कर भी कैसे सकता है ? वास्तव में यह कहीं नहीं दृष्टिगोचर होता। इसलिये कला से उत्पन्न अविद्या रूप अप्रथित (कुछ-कुछ संवित्तिमय)

किञ्चिज्ज्ञत्वेऽपि पूर्णेन हि ज्ञत्वेन पूर्णमेव कर्तृत्वं व्याप्तमिति भावः ॥ १९१ ॥

ननु आत्मनः सांख्यैः कर्तृत्वं नाभ्युपेयते—इति तदुपपादकं कलातत्त्वं यदुक्तं तदास्तां, ज्ञत्वं पुनरस्य बुद्ध्यादिद्वारेण तैरुपपादितम्,—इति किमनेनेत्याशङ्क्याह

बुद्धिं पश्यति सा विद्या बुद्धिदर्पणचारिणः ॥ १९२ ॥
सुखादीन् प्रत्ययान् मोहप्रभृतीन् कार्यकारणे ।
कर्मजालं च तत्रस्थं विविनक्ति निजात्मना ॥ १९३ ॥

मोहशब्देनात्र तमोऽपि उपलक्ष्यते । तेन तमोमोहप्रभृतीन् विपर्यय-शक्तितुष्टि-सिध्याख्यान् पञ्चाशत्प्रत्ययानित्यर्थः । यदुक्तम्

'तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः ।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः ॥'

(विष्णु पु० १।५।५) इति ।

तत्त्वान्तर की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं ।" यह सही है कि किंचिज्ज्ञत्व भी पूर्णज्ञत्व और पूर्ण कर्त्तृत्व से व्याप्त होता है ॥ १९१ ॥

सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा में कर्त्तृत्व स्वीकार नहीं किया जाता । यहाँ उसी कर्त्तृत्व का उपपादक कला तत्त्व मान्य है । यह मान्यता किसी तरह गले में उतर भी रही थी । यह नई 'ज्ञत्व' की बात कैसे कही गयी है क्योंकि सांख्य में यह तो बुद्धि आदि गुणों से समर्थित की जाती है । इसी जिज्ञासा के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि,

विद्या बुद्धि को देखती है । बुद्धि के व्यापार का विवेचन करतो है । वास्तव में बुद्धि एक दर्पण है । इसमें सुख दुःख तमस् और मोह आदि की छाया पड़ती है । इस छाया में व्यक्त होने वाले तत्त्व प्रत्यय कहलाते हैं । विष्णु पुराण १।५।५ के अनुसार "तम मोह, महामोह तामिस्र और अन्ध ये ५ अविद्या के पर्व हैं" शास्त्रों में इन्हें प्रत्यय भी कहते हैं । इनकी संख्या ५० है । ये तुष्टि और सिद्धि के विपर्यय रूप होते हैं ।

करणमेव कारणं, तेन कार्यकारणे भूतेन्द्रियाणि 'विविनक्ति' इति इदं सुखं न दुःखमोहावित्याद्यात्मना विवेकेन जानातीत्यर्थः। अत एव निजात्मना अन्यव्यावृत्तेन प्रातिस्विकेन रूपेणेत्युक्तं। तदुक्तम्

'विद्या विवेचयत्यस्य कर्म तत्कार्यकारणे।'

(मा० १।२८) इति॥ १९३॥

ननु पुंसस्तत्तत्प्रत्ययविशिष्टायां बुद्धौ वेद्यायामस्तु नाम विद्या करणं, विषयोपलब्धौ पुनरस्यानया कोऽर्थः, तत्र हि बुद्धिरेव तथास्तीत्याशङ्क्याह

बुद्धिस्तु गुणसंकीर्णा विवेकेन कथं सुखम्।
दुःखं मोहात्मकं वापि विषयं दर्शयेदपि॥ १९४॥

गुणसंकीर्णेत्यनेन तन्नान्तरीयकं जाड्यमपि अस्या उक्तम्। उक्तं च

'त्रैगुण्यात्मा विवेकेन शक्ता दर्शयितुं नहि।
विषयाकारमात्मानमविविक्ता यतः स्वयम्॥' इति॥ १९४॥

विद्या पञ्चभूतात्मक कार्य रूप विषयों और इन्द्रिय रूप करण के परिवेश में पलने वाले उन प्रत्ययों के साथ ही वहाँ उल्लसित कर्म प्रपञ्च का विवेचन करती है। स्वयं प्रातिस्विक रूप से यह जान लेती है कि यह जागतिक सुख दुःख और मोह के ही मोह मुग्धकारी रूप हैं। यह निजात्मक विवेक शुभ्र के जागरण का पूर्वरूप है।

"मालिनीविजयोत्तर तन्त्र १।२८ में परमेश्वर ने स्वयं यह कहा है कि "माया ने जातकर्तृत्व सामर्थ्यमयी विद्या को उत्पन्न किया। विद्या अणु के कार्य कारण परिवेश में उसके कर्म का विवेचन करती है।" बुद्धि के दर्पण में विद्या का यही विधान विवेचन किंचिज्ज्ञत्व है॥ १९२–१९३॥

उक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि अणु में विद्यमान प्रत्ययों का बुद्धि के दर्पण में देखना, विवेचन करना विद्या का काम है। यहाँ विद्या करण बनती है। विषय की उपलब्धि में बुद्धि गुणों से संकीर्ण बन जाती है। उसमें विवेक शक्ति की ऊर्जा क्षीण हो जाती है। वह उस समय सुख, दुःख अथवा मोहमय विषयों को देख कर जडत्व का आलिङ्गन कर लेती है। इसलिये,

ननु सांख्यमतमजानानैरिव भवद्भिरेतदुक्तं—तद्गुणसंकीर्णत्वात् बुद्धिः सुखाद्यात्मकं विषयं विवेकेन कथं दर्शयेदिति; ते हि वरणात्मना तमसा सर्वतः समावृतमपि रजसा शनैस्तदपसारणात् क्वचिदेव प्रवर्तितं सदविशेषेण प्रकाशक-मपि सत्त्वं क्रमेण नियतं सुखादि प्रकाशयेत्,—इति त्रिगुणैव बुद्धिः क्रमेण सुखाद्यात्मनो विषयस्य विवेकेन प्रदर्शिका,-इत्यभ्युपाजग्मुः। सत्यं, सुखाद्यात्मकं विषयं बुद्धिर्दर्पणवदेव दर्शयेत्; किन्तु गुणसंकीर्णत्वात् न विवेकेनेत्यभिदध्मः। बुद्धिर्हि त्रिगुणत्वेऽपि नीलादिवैलक्षण्येण सत्त्वभागस्योद्रेकात् प्रतिसंक्रान्तमपि कथं दुःखादि विविक्तयाध्यवस्येत; नहि तदानीं दुःखादेरपि दर्शनं येन ततो विवेकेन सुखादेरध्यवसायः स्यात्। न च दर्शनमात्रमेव विषयसंवेदनं येन भवेदपि विवेकः, तस्य हि अध्यवसायो जीवितम्। यदुक्तम्

"त्रैगुण्यमयी विषय विमुग्ध बुद्धि अणु के स्वात्म कलुष का विवेक के बल पर दर्शन नहीं करा सकती। क्योंकि वह स्वयं तटस्थ नहीं रह पाती है"॥ १९४॥

सांख्य दर्शन की अपनी स्वतन्त्र दृष्टि है। गुणों से संकीर्ण रहने वाली बुद्धि भी सुख आदि विषय समूह का विवेचन करती है। 'तमस् आवरणात्मक होता है, इससे पूरी तरह आवृत सत्त्व को पहले रजस् से बुद्धि निरावृत करने का प्रयत्न करती है। फिर सत्त्व गुण क्रमशः उसे प्रकाशमान करता है' ऐसा सांख्यवादी मानते हैं, इस तरह त्रिगुणात्मिका बुद्धि ही सुख आदि विषयों की प्रदर्शिका सिद्ध होत है।

उक्त दृष्टिकोण को इस तरह प्रस्तुत करना चाहिये!

सुखादि विषय वर्ग को बुद्धि ठीक उसी तरह प्रदर्शित करती है, जैसे दर्पण अपनी छाया को प्रदर्शित करता है! पर यह ध्यान देने की बात है बुद्धि गुणों से युक्त है। गुण संकीर्णता के फलस्वरूप दर्पण की तरह है। विवेकपूर्ण विवेचन नहीं कर सकती है।

बुद्धि त्रिगुणात्मिका है। यह निर्विवाद सत्य है। जब नीलत्व आदि वैशिष्ट्य से विशिष्ट सत्त्व उद्रिक्त होता है तो उसमें दुःख आदि प्रति संक्रान्त होते हैं। उस समय बुद्धि दूसरे दुःख आदि का विवेचन नहीं कर सकती है। विवेक वहाँ काम नहीं कर पाता। नीलादि सत्त्वोद्रेक में प्रतिसंक्रान्त जब दुःख आदि भी विविक्त रूप से प्रतिभात नहीं होते तो सुख आदि के अध्यवसाय

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् । (सां० ५ का०) इति ।

न चेयं पूर्वदृष्टात् दुःखादेरस्य विवेकं कर्तुं शक्नुयात् जाड्यादेव अनुसंधातुमशक्यत्वात्; तस्मात् स्वच्छायां बुद्धौ प्रतिसंक्रान्तस्यापि सुखादेः केनचिद्विवेकेन भाव्यं, तच्च परं कारणं विद्याख्यम्,—इत्युक्तमेव । तदाह

की बात भी अपने आप समाप्त हो जाती है । और दर्शन मात्र को विषय का संवेदन नहीं कह सकते । विवेक का प्राण अध्यवसाय है ।

कहा गया है कि,

'प्रतिविषयाध्यवसाय दृष्ट है ।' (सा० ५ का०)

सांख्यकारिका के इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि विषय सन्निकृष्ट इन्द्रियाधीन अध्यवसायात्मकज्ञान प्रत्यक्ष होता है । यह ज्ञान ही बुद्धि का व्यापार है । बुद्धि के ऊपर तो गुणात्मकता का आवरण रहता है । पहले तम का आवरण हटता है । चक्षु आदि इन्द्रियों के कारण चित्तवृत्ति विषयाकार होती है । इन्द्रियाँ ही इस व्यापार में कारण बनती हैं । उस समय तम का आवरण हटता है और एक प्रकार सत्त्वात्मक का प्रकाश फूटता है । इस प्रकाश में बुद्धि और पदार्थ का आन्तर सन्निकर्ष दृढ़ हो जाता है । पदार्थ दृष्ट होता है । इसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । दृष्ट का अर्थ ही प्रत्यक्ष होता है, यही यहाँ लक्ष्य है और प्रतिविषयाध्यवसाय उसका लक्षण है ।

इस लक्षण में दो शब्द हैं । १—प्रतिविषय और २—अध्यवसाय । प्रति विषय का विग्रह होता है जो विषयों-विषयों के प्रति वर्त्तन करता हो अर्थात् उनकी ओर उन्मुख हो । ऐसी इन्द्रियाँ होती हैं । यही प्रति-प्रति विषयों की ओर उन्मुख दीख पड़ती हैं । इनका विषयों के प्रति वर्त्तन इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से होता है । इसी इन्द्रियार्थ सन्तिकर्ष में अध्यवसाय होता है ।

अध्यवसाय बुद्धि का व्यापार है । यह एक प्रकार का ज्ञान ही है । जब इन्द्रियाँ विषय से सन्निकृष्ट होती हैं, तब वहाँ बुद्धि वृत्ति जागृत होती है । बुद्धि में तम का आवरण हट जाता है । एक नया प्रकाश उदित होता है, इसे सत्त्वोद्रेक कह सकते हैं । सत्व प्रकाश (ज्ञान) रूप होता है । बुद्धिसत्व के उद्रेक से अध्यवसाय प्रत्यक्षज्ञानात्मक प्रमाणरूपता को प्राप्त कर लेता है ।

स्वच्छायां धियि संक्रामन्भावः संवेद्यतां कथम् ।
तया विनैति साप्यन्यत्करणं पुंसि कर्तरि ॥ १९५ ॥

संवेद्यतामिति विवेकेनाध्यवसेयतामित्यर्थः । तयेति विद्यया । सापीति बुद्धयपेक्षया । कर्तरीति विषयाध्यवसाये ॥ १९५ ॥

ननु बुद्धिरुभयतो निर्मलदर्पणप्रख्येति तस्या एकतः पुंश्छाया प्रतिसंक्रान्तं भावजातमध्यवस्येत्—इति किं विद्याख्येन कारणान्तरेण भाव्यम्, तदाह

ननु चोभयतः शुभ्रादर्शदशोयधोगतात् ।
पुंस्प्रकाशाद्भाति भावः

एतदेव परिहरति

मैवं तत्प्रतिबिम्बनम् ॥ १९६ ॥
जडमेव हि मुख्योऽथ पुंस्प्रकाशोऽस्य भासनम् ।
बहिःस्थस्यैव तस्यास्तु बुद्धेः किं कल्पना कृता ॥ १९७ ॥

बुद्धि पहले देखे हुए या अनुभूत दुःख आदि से इसका विवेक नहीं कर सकती। क्योंकि वह जड़ है। जड़ में किसी विषय के अनुसन्धान का सामर्थ्य नहीं होता। इसलिये स्वच्छ बुद्धि में प्रतिसंक्रान्त सुखादि का अनुसन्धान किसी विवेक के माध्यम से ही हो सकता है। उसका सबसे प्रधान कारण विद्या तत्त्व ही है। वही कह रहे हैं—

स्वच्छ बुद्धि में संक्रमण करता हुआ भाव विद्या (विवेक) के बिना संवेद्यता को प्राप्त नहीं कर सकता। बुद्धि की अपेक्षा वह विद्या ही पुरुषकर्त्ता के विषयाध्यवसाय में करण बनती है ॥ १९५ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि बुद्धि उस दर्पण के समान है, जो अत्यन्त निर्मल है। उसके एक ओर पुरुष की छाया प्रतिसंक्रान्त होकर भाववर्ग का अध्यवसाय कर लेगी। किसी विद्या नामक करण की कोई आवश्यकता नहीं। इसी का समाधान कर रहे हैं कि,

उभयतः निर्मल दर्पण सदृश बुद्धि में पुरुष के प्रकाश की छाया के कारण भावानुसन्धान स्वाभाविक है—यह कथन सर्वथा सत्य की कसौटी

इह जडत्वात् बुद्धेः स्वयं विषयप्रकाशनं तावन्नोचितम्—इत्युक्तम्—प्रतिसंक्रान्तेऽपि पुंस्प्रकाशे जाड्यमस्या न निवर्तते, प्रतिबिम्बस्य निजाधिकरणैकयोगक्षेमत्वमेव भवेदित्युपपादितमेव प्राक् । बहिर्हि दर्पणादौ प्रतिबिम्बतश्चेतनोऽपि चैत्रादिर्दर्पणस्य मा नाम चैतन्यमाधात्, प्रत्युत तत्र स्वयमचेतनवन्न किंचिदपि कर्तुं प्रभवेत् । एवं जडायां बुद्धौ प्रतिसंक्रान्तोऽपि-पुंस्प्रकाशस्तदेकयोगक्षेमत्वात् जाड्यमेवासादयेत्,—इति कथं सोऽपि विषय-प्रकाशनकुशलः स्यात् । अथ स्वयमेवासौ विषयस्य प्रकाशकोऽस्तु इत्युक्तं 'मुख्योऽथ पुंस्प्रकाशोऽस्य भासनम्' इति; एवं तर्हि विषयस्यापि साक्षात् बाह्यस्यैव प्रकाशनमस्तु, किमन्तरालपरिकल्पितेन बुद्धितत्त्वेन,—इत्युक्तं 'बुद्धेः किं कल्पना कृता' इति ॥ १९७ ॥

एवं हि मुख्यमात्मप्रकाशमपेक्ष्य तदतिरिक्तं न किंचिदपि प्रकाशेत,—इति सर्वं प्रकाश एवेत्यभेद एव सर्वतः परिस्फुरेत्,—इति ग्राह्यग्राहकभावाद्यात्मा सकलोऽयं भेदव्यवहारः समाप्तः; स एव चेह विचारयितुं प्रक्रान्तः,—इति प्रतिज्ञातार्थविरुद्धमिदमभिधानं भवेदित्याह

पर खरा नहीं उतरता। क्योंकि जड़ में कोई प्रतिबिम्ब भी जड़ ही होगा। फलस्वरूप विषय का प्रकाशन बुद्धि से नहीं किया जा सकता। पुरुष की छाया के प्रतिसंक्रान्त हो जाने पर भी बुद्धि की जड़ता तो वहीं उसी में विद्यमान रहेगी। इस लिये उसमें कोई प्रतिबिम्बन जड़वत् माना जायेगा। पुरुष का छायात्मक प्रकाश ही यदि विषय का प्रकाशन कर लेता हो तो वह भी बाह्य विषय का ही प्रकाशन हो सकता है। ऐसी स्थिति में फिर बुद्धि की क्या आवश्यकता ? यह कल्पना मात्र आन्तरालिक परिकल्पन मात्र है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मुख्य आत्म प्रकाश है। उसी की आधार शिला पर विषय प्रकाशन सम्भव है ॥ १९६–१९७ ॥

इस मान्यता के अनुसार प्रकाश के अतिरिक्त कुछ भी प्रकाशित नहीं होता। सब में स्वात्मप्रकाश का प्राधान्य है। सब कुछ प्रकाश रूप ही है। सर्वत्र अभेद भाव व्याप्त है। यह ग्राह्य ग्राहक रूप सारा भेद व्यवहार इस अवस्था में स्वतः अमान्य हो जाता है। यही बात यहाँ प्रमुख रूप से विचारणीय है। प्रस्तुत प्रसङ्ग बुद्धि का था। यहाँ प्रकाश की अभेदवादिताका गुणगान करना क्या प्रकरण विरुद्ध नहीं होगा ?—इस पर कह रहे हैं कि,

अभेदभूमिरेषा च भेदश्चेह विचार्यते ।

एवं पर एव प्रकाशः स्वातन्त्र्यात् स्वं रूपं गोपयित्वा यदा संकुचितात्मतामवभासयति, तदा सकल एवायं भेदव्यवहारः समुल्लसेत्, येनायं पुमान् इन्द्रियप्रणालिकया बुद्धौ प्रतिसंक्रान्तं सुखदुःखाद्यात्मकं विषयं विद्यया परस्परवैविक्त्येन जानाति,—इति बुद्धयादिकल्पने न कश्चिद्दोषः, तदाह

तस्माद्बुद्धिगतो भावो विद्याकरणगोचरः ॥ १९८ ॥

ननु विद्याख्यस्य करणस्य वेद्य एव भावो गोचरः, स च बाह्य एव इति कथमेवमुक्तमित्याशङ्क्याह

भावानां प्रतिबिम्बं च वेद्यं धीकल्पना ततः ।

साक्षात्तद्वेदने ह्युक्त एव दोषः ॥

वस्तुतः विश्व सृष्टि का यह चित्रफलक अभेद का प्रख्यापक है । इसी फलक पर भेद का अनुसन्धान किया जा सकता है । पर-प्रकाश अपने स्वातन्त्र्य के बल पर अपने रूप का गोपन करता है । इसी अपनी शक्ति से संकोच का वरण करता है और संकुचित भावदशा को अभिव्यक्त करता है । फलस्वरूप यह सारी पार्थक्य प्रथा प्रथित हो जाती है । बाह्य व्यवहारों का समुल्लास हो जाता है । इससे प्रभावित पुद्गल पुरुष इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि में प्रतिसंक्रान्त सुख दुःख आदि विषयों को अशुद्ध विद्या के आधार पर परस्पर विविक्त रूप से अलग-अलग रूपों में जानने लगता है । इस लिये आत्मा के प्रकाश के सन्दर्भ में बुद्धि का विचार कर लेने से किसी अप्राकरणिक आदि दोष की सम्भावना नहीं है ।

विद्या करण से वेद्य भाव ही 'इन्द्रिय ग्राह्य होते हैं । वे बाह्य भी होते हैं क्योंकि बुद्धि में पहले भावना पड़ी । उसमें प्रतिबिम्ब का निर्माण हुआ और इसके बाद विषयों का बुद्धि गत प्रकल्पन होता है । यह इनका साक्षात् वेदन नहीं माना जा सकता । साक्षात् वेदन का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर 'प्रकाश के अतिरिक्त कुछ भी प्रकाशित नहीं होता' इस मूल मान्यता के ध्वस्त होने का दोष उपस्थित हो जायेगा ॥ १९८ ॥

ननु एवमणोः किंचिज्ज्ञत्वोत्पत्त्या किंचित्कर्तृत्वं तावदुपपादितम्; तदत्र समानेऽपि किंचित्त्वे कस्मादिदमेव किञ्चिज्जानाति करोति च,—इत्याशङ्क्य तदुपपादकं रागतत्त्वं तावदाह

किंचित्तु कुरुते तस्मान्नूनमस्त्यपरं तु तत् ॥ १९९ ॥
रागतत्त्वमिति प्रोक्तं यत्तत्रैवोपरञ्जकम् ।

कलाविद्ययोर्हि किंचित्त्वमपूर्णत्वमात्राभिधायि,—इत्युक्तम्; इदं पुनस्तथात्वेऽपि प्रतिनियतवस्तुपर्यवसायि,—इत्यवश्यमत्रास्य केनचिदपरेण निमित्तेन भाव्यं, यद्वशात् तत्रैव अणोरासङ्गो भवेत् । किं च तदित्युक्तं 'तत्तु रागतत्त्वमिति प्रोक्तम्' इति । उक्तं च

'रागोऽनुरञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि ।'
(मा० १।२८) इति ॥ १९९ ॥

इस प्रकार विद्या कञ्चुक के प्रभाव से अणु में किंचिज्ज्ञत्व का उपपादन हो जाता है। कला से उसे किंचित्कर्तृत्व पहले ही प्राप्त हो गया होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि ज्ञत्व और कर्त्तृत्व दोनों में सामान्य रूप से किंचित्व बैठा हुआ है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यह किंचित् ज्ञत्व और कर्त्तृत्व अणु का ही धर्म कैसे हो जाता है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि,

अणु जब कुछ करता है, तो वह जो कुछ करता है, वह अपूर्ण ही होता है। वह जब कुछ जानता है, तो यह भी निश्चित है कि उसका वह जानना भी अपूर्ण है। कला और विद्या दोनों के माध्यम से अणु की क्रिया और जानकारी के अलावा निश्चय ही बहुत कुछ बच रहता है। उसे वह न तो कर सकता है और न ही जान पाता है। हाँ कुछ नियतवस्तु पर्यवसायी कर्त्तृत्व और ज्ञत्व में वह सीमित रह जाता है।

अतः एक ऐसा तत्त्व मानना आवश्यक हो जाता है जो अणु में कुछ करने और कुछ जानने का व्यासङ्ग पैदा करता है। शास्त्र की भाषा में उसे 'रागतत्त्व' कहते हैं। वही अणु को उन-उन प्रतिनियत वस्तुओं में उपरञ्जित करता है। कहा गया है कि,

"राग अणु पुरुष को अशुचि भोगों में अनुराग प्रदान करता है" मा० १।२८ ॥ १९९ ॥

नन्ववैराग्यलक्षणो बुद्धिधर्मोऽत्र सांख्यैर्निमित्तमुक्तम्,—इति किमनेनान्येन रागतत्त्वेनेत्याशङ्क्याह

न चावैराग्यमात्रं तत्तत्राप्यासक्तिवृत्तितः ॥ २०० ॥

विरक्तावपि तृप्तस्य सूक्ष्मरागव्यवस्थितेः ।

तदिति रागतत्त्वम् । तत्रापीति अवैराग्ये । एवमवैराग्यासङ्गेऽपि एतदेव निमित्तमिति भावः । कस्यचिच्च निवृत्तविषयाकाङ्क्षस्य अवैराग्याभावोऽपि सूक्ष्मेक्षिकयाभिष्वङ्गो भवत्येव 'किंचिन्मे भूयात्' इति प्रतिपत्तेरविरहात्; तद्रागतत्त्वस्यैव अयं महिमा—यद्बुद्धाववैराग्यादीनां सर्वेषामेव धर्माणां बहिष्पर्यन्ततया विशेषेणोल्लास—इति । तदुक्तम्

'धर्मादयोऽप्यभिष्वङ्गवासनाया एव पल्लवाः इति समस्तोऽयं रागवर्गः; ते तु विशेषोल्लासात्मनो बुद्धिधर्मत्वेन गणिताः ।' इति ।

सांख्य मतानुयायी विद्वर्ग की मान्यता है कि बुद्धि में एक अवैराग्य नामक धर्म होता है, जिससे अणु पुरुष विषय में प्रवृत्त होता है । अलग से रागतत्त्व मानने की क्या आवश्यकता ? इस जिज्ञासा का समाधान है कि,

रागतत्त्व अवैराग्य मात्र नहीं है । इसमें अर्थात् अवैराग्य में भी आसक्ति वृत्ति का बीज विद्यमान रहता है । विरक्ति में भी तृप्त पुरुष में सूक्ष्म रूप से राग की स्थिति बनी रहती है । अवैराग्य का अभाव ही वैराग्य है । सूक्ष्मेक्षिका से देखने पर यह जान पड़ता है कि उसके मन में भी 'मुझे यह-यह चीजें होतीं' ऐसे विच्छाराङ्कुर उठते रहते हैं । यह राग का ही महत्त्व है कि बुद्धि में वैराग्य आदि सारे धर्मों का बाह्य उल्लास हो पाता है । कहा गया है कि,

"जितने भो धर्म हैं वे सभी आसक्ति रूप कामना के पल्लव रूप हैं । जहाँ अभिषङ्ग होता है, वहाँ नये विचार अङ्कुरित होते रहते हैं । इन्हें 'रागवर्ग' कहते हैं । राग के परिवेश में हो ये प्रतिष्ठित होते हैं ।

वासना के पल्लव रूप के धर्म बाह्य रूप से भी उल्लसित होते रहते हैं । इन्हें बुद्धि के धर्म रूप में ही परिगणित करते हैं । क्योंकि ये बुद्धि में पुष्पित पल्लवित होकर ही विकसित हो पाते हैं ।"

एवं द्वेषोऽप्यस्यैव प्रसरः। तत्रापि अनिष्टप्रहानादावभिष्वङ्गस्यैव संभवात्; तस्माद्यत्र क्वचनोपादेये हेये वा 'किंचिन्मे भूयात्' इति सामान्येनाभिष्वङ्गमात्रं रागतत्त्वमन्यस्तु पुनः तस्यैव प्रपञ्चः,—इति प्राङ्निरूपितप्रायमित्यलं बहुना ॥ २०० ॥

नन्वणोः कलया किंचिद्रूपतां, विद्यया विविक्तविषयतां, रागेण नियतवस्तुपर्यवसायितां च नीतं कर्तृत्वं 'अकरवं करोमि करिष्यामि' इति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या कालेनापि कलितम्-—इति तदुपपादकं कालतत्त्वमप्याह

कालस्तुट्यादिभिश्चैतत् कर्तृत्वं कलयत्यतः ॥ २०१ ॥
कार्यावच्छेदि कर्तृत्वं कालोऽवश्यं कलिष्यति ।

यह भी निश्चित है कि द्वेष भी राग का ही प्रसरात्मक रूप है। द्वेष में दुश्मन की हानि जैसे भी हो, इस तरह का आग्रह-ग्रहिल अभिष्वङ्ग होता ही है।

इसलिये चाहे हेय में हो या उपादेय में हो, कहीं भी 'कुछ मुझे हो' इस प्रकार का सामान्यतः उत्पन्न होने वाला भाव अभिष्वङ्ग है—यही रागतत्त्व है। इसके अतिरिक्त अन्य इसी प्रकार के अभिष्वङ्गी भाव 'रागतत्त्व' के ही प्रपञ्च कहे जा सकते हैं ॥ २०० ॥

अणु कला से प्रभावित होकर सर्व-कर्त्तृत्व से किंचित्-कर्त्तृत्व के स्तर पर आने को विवश हो जाता है। विद्या से वह विविक्त विषयता वाली बुद्धि के निर्देश मानने लगता है। राग से नियत वस्तु पर्यवसायी अनुराग प्राप्त करता है। उसे कृधातु के लङ्, लट् और लृट् लकार गत काल के परिवेश में अपने कर्त्तृत्व की स्मृति और प्रतीति बनी रहती है। इस तरह वह काल से कलित भी हो जाता है जो कभी काल से नित्य अकलित होता है।

अब वह यह पाता है कि इस तुटि में, इस क्षण में, इस चषक में, इस नाडी या घड़ी मुहूर्त्त में मैंने यह क्रिया की, यह क्रिया मैं कर रहा हूँ और उस समय मैं वह काम कर लूँगा। इस सोच में अपने कर्त्तृत्व की कलना करता रहता है। उसका कर्त्तापन कार्य से अवच्छिन्न होता रहता है। वह परिमित प्रमाता होता है। अतः काल उसे अवश्य कलना का विषय बना लेता है। इसमें सन्देह नहीं।

अनु कर्तृत्वं नाम चेतनस्य स्वातन्त्र्यं, तच्च तदनतिरिक्तमिति कथमस्य नित्यस्य सतः कालेन योगः,—इत्याशङ्क्योक्तं 'कार्यावच्छेदि' इति। द्विधा हि कर्तृत्वं शुद्धं मायीयं च। तत्राद्यमनवच्छिन्नाहंपरामर्शमयं कार्यानारूषितमेव; अन्यच्च घटक्रिया पटक्रिया,—इत्यादिकार्यारूषितम्। एतेनास्य कलनयापि भाव्यमित्येवमुक्तम् 'अवश्यम्' इति; भावाभावाभासक्रमजीवितत्वात् कार्यक्रियाया इत्यर्थः। एवमेतन्मुखेन परिमितोऽपि प्रमातानेन कलित एव, इत्यर्थसिद्धम्। तदुक्तम्

कालोऽपि कलयत्येनं तुटयादिभिरवस्थितः।'

(मा० १।२९) इति ॥ २०१ ॥

इस आकलन में यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है कि कर्त्तापन चेतन के स्वातन्त्र्य को कहते हैं। तथा यह भी सत्य है कि स्वातन्त्र्य या कर्त्तृत्व चेतन का धर्म है। चेतन का धर्म चेतन के अतिरिक्त नहीं होता। ऐसी अवस्था में वह नित्य भी माना जाता है। फिर इस नित्य स्वातन्त्र्य संवलित कर्त्तृत्व को अनित्य काल से प्रभावित होने को अप्रकल्प्य घटना कैसे घट जाती है? माहेश्वर राजानक जयरथ इस पर अपने विचार व्यक्त करते हुए यह स्पष्ट कर रहे हैं कि कर्त्तृत्व दो प्रकार का होता है। १—शुद्ध और दूसरा २—मायीय। शुद्ध कर्त्तृत्व अनवच्छिन्न और अहं परामर्शात्मक होता है। यह कार्य से अनारूषित होता है। दूसरा मायीय कर्त्तृत्व है। यह घट और पट के समान खण्डित और व्यापारात्मक होता है। यह छोटी छोटी क्रियाओं से रूषित, संम्पृक्त और प्रभावित होता है।

खण्डित व्यापार सम्पन्नता के फल स्वरूप इसकी कलना स्वाभाविक रूप से होने लगती है। कार्य क्रिया का प्राण तथा भाव और अभाव क्रम का अवभास ही है। इसी आधार पर इसकी कलना सम्भव है। कभी घटाभाव था, पटाभाव था और अब घट और पट दोनों का अस्तित्व दृष्टिगोचर होने लगा है। यही अभाव और भाव की कलना के क्षण हैं। मा० १।२९ के अनुसार यह सिद्ध है कि "काल रूपी कंचुक भी तुटि आदि समय के अवच्छेदों में अवस्थित रहता हुआ भाव-अभाव रूप व्यापार का आकलन करने कराने में समर्थ होता है" ॥ २०१ ॥

ननु तामर्थक्रियामर्थयमानो जनः किंचिदुपादत्ते, किंचिच्च जहाति,—इति नास्ति विमतिः; कुतः पुनरयं नियमो—यत् पाकार्थी वह्निमेवादित्सति न लोष्टं, स्वर्गार्थी च ज्योतिष्टोममेव न श्येनम्—इति तदवश्यमत्र केनचिन्निमित्तेन भाव्यं, तच्च किमित्याशङ्क्याह

नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले ॥ २०२ ॥

नियतिर्हि 'अस्मादेव कारणात् इदमेव कार्यं भवेत्' इति नियममादध्यादित्युक्तम् 'विशिष्टे कार्यमण्डले योजनां धत्ते' इति। तदुक्तम्

'नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम्।' (मा० १।२९) इति।

अतश्च नियतामर्थक्रियामर्थयता नियतमेव वस्तु उपादातव्यम्—इति न कश्चिद्दोषः ॥ २०२ ॥

नन्विह तत्त्वानां कार्यकारणभावनिरूपणस्य प्रक्रान्तत्वात् कलायास्तावन्मायाकार्यत्वमुक्तं; विद्यादितत्त्वचतुष्टयं पुनः

प्रश्न है कि उस अर्थ क्रिया को अपना विषय बनाने वाला जीव कुछ प्राप्त करता है, कुछ छोड़ता है। यह स्पष्ट है। जहाँ किसी नियम की बात आती है वहाँ कोई कारण होता है। पाक क्रिया में लगा व्यक्ति आग की इच्छा करता है, लोष्ठ की नहीं, अथवा स्वर्ग इच्छा रखने वाला ज्योतिष्टोम यज्ञ ही करे श्येन याग न करे—इस विधान में कोई निमित्त तो होना ही चाहिए। वह क्या है ? इस निमित्त के विषय में यह विचार व्यक्त कर रहे हैं कि,

विशिष्ट कार्य व्यापार के समूहात्मक संभार में योजना का विधान करने वाले तत्त्व का नाम ही नियति है। यही निमित्त बनता है। 'इस कारण से यही कार्य करना है' इस प्रकार का नियम यही नियति, निर्धारित करती है। मा० १।२९ के अनुसार "स्वकर्म में पुद्गल पुरुष को नियति हो नियोजित करती है"। इस तरह यह नियम बन जाता है कि नियत अर्थ क्रिया को करने वाले पुरुष द्वारा नियत वस्तु का उपादान करना चाहिये। इस निर्धारण से उपादान और हान में कोई विप्रतिपत्ति नहीं रह जाती ॥ २०२ ॥

'तस्मात् कला समुत्पन्ना विद्या रागस्तथैव च ।
कालो नियतितत्त्वं च पुंस्तत्त्वं प्रकृतिस्तथा ॥' (स्व० ११।६३)

इत्यादिश्रीस्वच्छन्दशास्त्रस्थित्या कलावत् किं मायाया एव कार्यमुत न,—इत्याशङ्क्याह

विद्यारागोऽथ नियतिः कालश्चैतच्चतुष्टयम् ।
कलाकार्यं............

अत्र च नियतिः कालः,—इत्ययं क्रमः श्रीपूर्वशास्त्रानुगुण्येनोक्तः; तत्र हि नियतेरन्तरं कालस्य निर्देशः । पूर्वं पुनः कालस्य प्रथमं निर्देशेऽयमाशयः—यत् नियतेः कार्यकारणविषयनियमव्यापारः तच्च प्राग्भावि कारणं, पश्चाद्भावि कार्यम्,—इति कालावच्छेदमन्तरेण कथं भवेदिति । यद्वा युगपदुत्पादात् एषां न क्रमविवक्षा,—इत्येवमुक्तम् । यद्यपि श्रीपूर्वशास्त्रे

तत्त्वों के कार्यकारण के सन्दर्भ में कला को माया का कार्य स्वीकार करते हैं । विद्या, राग, काल और नियति के सम्बन्ध में स्वच्छन्द तन्त्र ११।६३ में कहा गया है कि,

"उससे कला उत्पन्न हुई । साथ ही विद्या, राग, काल और नियति, पुरुष और प्रकृति तत्त्व भी उत्पन्न हुए ।" स्वच्छन्द तन्त्र की इस उक्ति के अनुसार क्या ये तत्त्व भी माया के ही कार्य हैं ? इस सम्बन्ध में सिद्धान्त यह है कि,

विद्या, राग, नियति और काल ये चारों कला के कार्य हैं । इसमें राग के बाद नियति का क्रम श्री पूर्व शास्त्र के अनुसार लिखा गया है । काल को पहले रखना सोद्देश्य है । स्थिति यह है कि कारण पहले होता है । कार्य उसके बाद होता है । नियति का व्यापार प्रतिनियत वस्तु में नियोजन है । वह विना काल के हो नहीं सकता । यह भी हो सकता है कि काल और नियति एक साथ उत्पन्न होते हैं । अतः इनमें क्रम-कथन की कोई अपेक्षा ही न समझी गयी हो ।

'..................विद्यारागो ततोऽसृजत्:' (मा० १।२७)
इत्येतावदेवोक्तं तथापि नियतिकालयो: कार्यत्वेन संमतत्वात् कारणान्तरस्य साक्षादनभिहितत्वात् 'तत एव' इति एवकारेण अव्यक्तान्तमस्या: कलाया एवाविशेषेण कारणत्वस्याभिधानात् अविशिष्टाप्रतिषिद्धं कलाया एव कारणत्वं पर्यवस्येदित्युक्तम् 'एतच्चतुष्टयं कलाकार्यम्' इति।

ननु भोक्तृभोग्यरूपतया विश्वं तावत् द्विविधं तत्रैतत् कलादि किं भोक्तृपक्षपतितमुत अन्यथा,—इत्याशङ्क्याह

............भोक्तृभावे तिष्ठद्भोक्तृत्वपूरितम् ।। २०३ ।।

भोक्तृभावावस्थाने हेतु: भोक्तृत्वपूरितम्' इति भोक्तृत्वं हि आणवादिनोपक्रान्तमपि कलादिना किंचित्कर्तृत्वाधानेन पूरितमुपबृंहितं कार्यपर्यन्तीकृतमिति

श्री पूर्व शास्त्र १।२७ में एक उक्ति और भी है कि विद्या और राग को उसके बाद बनाया। वहाँ केवल विद्या और राग तत्त्व का ही निर्देश है। नियति और काल का नहीं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि, नियति और काल को कार्य रूप से मन मानता हो है फिर किसी कारणान्तर के अभिधान की क्या आवश्यकता? अत: सामान्यतया कला को हो चारों का कारण मानने के अतिरिक्त किसी कुतर्क की आवश्यकता नहीं। कला के कारण मानने की बात का कहीं खण्डन भी नहीं किया गया है और न हीं इस सम्बन्ध में किसी विशिष्ट सिद्धान्त की चर्चा ही है। इसलिये विद्या, राग, काल और नियति इन चारों को कला का कार्य मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं। कला ही इन चारों की कारण है—यह निर्विवाद सत्य है।

इतने ऊहापोह के बाद एक नयी समस्या सामने आती है। यह विश्व दो प्रकार का है। १—भोक्ता रूप और २—भोग्य रूप। प्रश्न यह है कि ये कला आदि भोक्ता पक्ष में आयेंगे या भोग्य पक्ष में? इसका उत्तर दे रहे हैं कि,

कला आदि भोक्तृ-भाव में ही अवस्थित हैं। ये भोक्तृत्व से ही पूर्ण हैं। इनमें किंचित्कर्तृत्व आदि का आधान है। इससे ये सभी कार्य पर्यन्त उपवृंहित हैं।

यावत्; अत एवैषां तद्धर्मत्वात् भोक्तर्येवावस्थानम् । तथा च—पर एव प्रमाता मायया प्रथममपहृतैश्वर्यसर्वस्वः सन्, पुनरपि तदैश्वर्यसर्वस्वमध्यात् कलादिमुखेन प्रतिवितीर्णकिंचिदंशः परिमितताम‌श्नुवानः पशुः—इत्युच्यते । तत्र कलाविद्ययो-स्तावत् तद्धर्मत्वं निर्विवादसिद्धम् । नहि ज्ञत्वकर्तृत्वयोः प्रमातृधर्मत्वे कश्चिद्विवादः, रागोऽपि तद्धर्म एव भोग्यं प्रति प्रवृत्तिहेतुत्वात्, भोग्यधर्मत्वे हि अस्य न कश्चिदपि वीतरागः स्यात्, भोग्यस्य सर्वान् प्रति अविशेषेण रञ्जक-त्वात् । उक्तं च

यद्यपि इनका भोक्तृत्व आणव आदि मलों से उपक्रान्त है फिर भी इनमें कर्त्तृत्व रूप भोक्तृत्व के होने से इनका भोक्तापक्ष में अवस्थान है—यह निश्चित है ।

इसे इस प्रकार विचार पूर्वक निश्चय करना चाहिये कि कोई सन्देह न रह जाय । सोंचे पहले होता क्या है ?

पर-प्रमाता परमेश्वर सबसे पहले माया के इन्द्रजाल से प्रभावित होता है । उसका सर्वस्व, उसका ऐश्वर्य और स्वातन्त्र्य ही अपहृत हो जाता है । यह उसी की शक्ति है । परप्रमाता से कोई वैर भो इसका नहीं किन्तु सर्वस्व का अपहरण करने में यह संकोच नहीं करती । इसीलिये इसे निर्वैरपरिपन्थिनी कहते हैं । अब परप्रमाता यद्यपि पूर्ण ऐश्वर्य सम्पन्न नहों रहा फिर भी उसके ऐश्वर्य सर्वस्व के बोच से कला आदि के माध्यम से कुछ अंश का अवदान पाता रहता है । परिणाम स्वरूप सीमित परिवेश में जीने को बाध्य हो जाता है । सीमित परिवेश के भोगों का भोग कर पाता है । पाश बद्ध हो जाता है और 'पशु' कहलाने लगता है ।

कला और विद्या से उसे किंचित्कर्तृत्व और किंचिज्ज्ञत्व की उपलब्धि में तो कोई विवाद ही नहीं है । यह तो सीमित प्रमाता का धर्म ही हो जाता है । जहाँ तक राग का प्रश्न है वह भी भोग्य के प्रति प्रवृत्ति का हेतु है । यह प्रमाता का धर्म ही है । भोग्य धर्म मानने पर तो कोई वीतराग कहलाने का अधिकारी ही नहीं रह जायेगा । भोग्य सामान्य रूप से सब का उपरञ्जन करते हैं । सभी उसके प्रति अनुरक्त होते हैं । कहा गया है कि,

'यज्जनिताभिष्वङ्गे भोग्याय नरि क्रिया स रागोऽत्र ।
भोग्यविशेषे रागे नहि कश्चिद्वीतरागः स्यात् ॥' इति ।

कालोऽप्येवं—प्रथमं हि असौ 'कृशोऽहमभवं स्थूलो वर्ते स्थूलतरश्चाश्वगन्धाघृतोपयोगेन भविष्यामि' इत्येवं क्रममासूत्रयन् प्रमातृसंलग्नत्वेनैव परिस्फुरेत् । स एव पुनरेवं कालेन कलितः सन्, स्वापेक्षया भूताद्यात्मक्रमावभासनपुरःसरं स्वसहचारि मेयमपि कलयेत् 'यदिदमासीत्, वर्तते, भविष्यति' इति । नियतेश्च कार्यकारणयोर्नियमनं रूपं, कार्यकारणभावश्च कर्तृत्वमात्रपर्यवसाय एवेत्युक्तं प्राक् । कर्तृत्वं च प्रमातुर्धर्मः,—इति तन्नियमनादियमपि तथा मातुरेव, 'इदमेवास्मि करोमि' इत्यभिमानात् । एवं कालरागनियतिविद्याः कलानिमि-

---

"भोग्य भाव में आसक्त पुरुष में जो भोगने का प्रेरक तत्त्व, है वह राग है। यदि हम इसे भोग्य का धर्म ही मान लें तो संसार में ऐसा कोई पुरुष नहीं बच सकता जो 'वीतराग' कहा जा सके" ।

काल की भी यही स्थिति है। प्रमाता सोचता है कि "मैं कृश हो गया था। अब थोड़ा सुधार हो रहा है, कुछ चरबी चढ़ रही है। अब मैं घी और अश्वगन्धा चूर्ण के औषधि-योग का सेवन कर रहा हूँ। इससे भी मोटा हो जाऊँगा।" इस विचार में एक क्रम परिलक्षित हो रहा है। यह क्रम प्रमाता के प्रमातृ भाव से संलग्न होकर ही परिस्फुरित होता है।

इस प्रकार यह प्रमाता काल से कलित हो जाता है। अपनी अपेक्षा पञ्चमहाभूतों के रूप में सर्वत्र क्रमावभास पूर्वक अपने सहचारी 'मेय' का भी आकलन करने लगता है। वह सोचता है कि 'यह वस्तु मेरे पास थी। अब वह पुनः मेरे पास है। संयोग वशात् न होने पर पुनः अवश्य हो जायेगी'। इस वैचारिकता के क्रम में भी काल प्रमाता से ही संलग्न प्रतीत होता है।

नियति का रूप तो एक दम साफ है। वह कार्य कारण का नियमन करती है, यह पहले ही कहा जा चुका है कि कार्य कारण-भाव कर्तृत्व पर्यवसायी है, कर्तृत्व भी प्रमाता का ही धर्म है। इसके नियमन से नियति उसी से

त्तकाः । 'अहमिदानीमिदमेव जानामि करोमि' इति विमर्शः प्रमातुरेव उचितो न प्रमेयस्येति युक्तमुक्तं 'कलादि भोक्तृभावे तिष्ठत्' इति । एतद्योगादेव हि परस्याः संविदः परं भोक्तृत्वलक्षणं पारिमित्यं समुदियात् ॥ २०३ ॥

तदाह

माया कला रागविद्ये कालो नियतिरेव च ।
कञ्चुकानि षडुक्तानि संविदस्तत्स्थितौ पशुः ॥ २०४ ॥

कञ्चुकानीति आवारकत्वात् । तत्स्थिताविति तच्छब्देन कञ्चुकपरामर्शः । तदुक्तम्

'माया कलाशुद्धविद्या रागः कालो नियन्त्रणा ।
षडेतान्यावृतिवशात् कञ्चुकानि मितात्मनः ॥' इति ॥ २०४ ॥

संलग्न हो जाती है, प्रमाता सोचता है, यह वस्तु है। यह मैं हूँ। यह काम कर रहा हूँ। इसमें कर्तृत्व का अभिमान यही सूचित करता है।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि विद्या, काल राग और नियति कला के ही कार्य हैं। सब की मूल कारण कला ही है। 'मैं अभी यह वस्तु इसी प्रकार का है—यह जानता हूँ। तदनुकूल व्यापृत होता हूँ" यह विमर्श प्रमाता में ही होता है। प्रमेय में तो किसी प्रकार सम्भव ही नहीं। इसलिये कलादि को भोक्ताविश्व के ही पक्ष में मानना उचित है। इसी कलादि भोक्तृत्व के योग से परासंविद् में भोक्तृत्व लक्षण पारिमित्य की कल्पना की जा सकती है ॥ २०३ ॥

उक्त विश्लेषण से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि माया, कला, विद्या, राग और नियति ये छः कञ्चुक हैं। ये संवित्तत्त्व के आवारक रूप हैं। इन्हीं कञ्चुकों से कंचुकित-संवित् पुरुष 'पशु' कहलाता है। यही कञ्चुक है। पाश हैं। ये आवारक होते हैं। आवृत पुरुष ही पाशबद्ध कहलाता और पाशबद्ध पुरुष ही पशु हो जाता है। कहा गया है कि,

"माया, कला, अशुद्ध विद्या, राग, काल और नियति ये छः आवारक होने के कारण कञ्चुक हैं। ये मितात्मा को आवृत कर पाशबद्ध बना देते हैं" ॥ २०४ ॥

ननु सर्वत्र देहपुर्यष्टकादिरेव वेद्यरूपः पशुरिति, भोक्तेति, अणुरिति चोच्यते यस्येदमन्तरङ्गमावरणं कञ्चुकषट्कम्। यदुक्तम्।

'मायासहित कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम्।'(परमा० श्लो० २७) तत् कथमिहोक्तं संविदः षट् कञ्चुकानीत्याशङ्क्याह

देहपुर्यष्टकाद्येषु वेद्येषु किल वेदनम्।
एतत्षट्कससंकोचं यदवेद्यमसावणुः ॥ २०५ ॥

यद्वेद्येषु देहादिषु मध्ये प्रमात्रेकरूपत्वाद् अवेद्यमेतेन मायादिना षट्केन ससंकोचं परिमिततामापादितं विदितक्रियाकर्तृरूपं वेदनं, सोऽयमणुः किलागमेषु उच्यते इत्यर्थः। इदमेव च पञ्चविंशं पुंस्तत्त्वमित्युच्यते, यत् श्रीपूर्वशास्त्रेषु पुमानिति, अणुरिति, पुद्गलमिति चोक्तम्। परस्या एवं संविदश्चोक्तयुक्त्या मायावशात् पुंस्त्वं जातम्—इति। तत एवास्य पुंस्तत्त्वस्य श्रीस्वच्छन्दशास्त्रादौ तत्र तत्रागमे जन्मोक्तम्—इति अत्राप्येतदवसेयम्, तदुक्तं श्रीमृगेन्द्रेऽपि

प्रश्न उपस्थित होता है कि देह और पुर्यष्टक (बुद्धि, अहंकार, मन, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) आदि वेद्य मात्र को पशु, भोक्ता अथवा अणु कहते हैं। इन्हीं का अन्तरङ्ग आवरण यह कञ्चुक वर्ग है। परमा० श्लो० २७ में कहा गया है कि,

"माया के सहित छः कञ्चुक अणु के अन्तरङ्ग हैं" पर यहाँ तो संविद् के ये आवारक लिखे गये हैं। उसी का उत्तर दे रहे हैं—

देह और पुर्यष्टकों में जिन्हें हम वेद्य मानते हैं, इनमें एक वेदन का भाव पुलकित रहता है। वही एकमात्र प्रमाता का वेदन होता है। इन माया आदि छः कंचुकों से संकुचित होने पर वेदन परिमित हो जाता है। अवेद्य हो जाता है। अवेद्यवेदन ही अणुत्व है। ऐसा जीव अणु कहलाता है।

यही पचीसवाँ पुरुष तत्त्व है। श्री मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में यही अणु, पशु और पुद्गल कहा गया है। परा संवित् तत्त्व ही संकुचित होने के फलस्वरूप माया के प्रभाव से पुंस्त्व की उपाधि से भूषित हो जाता है। इन्हीं से इसका जन्म होता है—यह स्वच्छन्दशास्त्र में निर्दिष्ट है। मृगेन्द्र शास्त्र कहता है कि,

'ग्रन्थिजन्यकलाकालविद्यारागान्यमातरः ।'

इत्यादि सामान्येनोपक्रम्य

'पुंस्तत्त्वं तत एवाभूत् पुंस्प्रत्ययनिबन्धनम् ।' इति ।

एतच्च श्रीपूर्वशास्त्रे तथानभिधानात् नात्र स्वकण्ठेनोक्तम् ॥ २०५ ॥

नन्वनयैव परिपाट्या कञ्चुकषट्कस्य किं सर्वत्र वृत्तान्तः संभवेन्न वा — इत्याशङ्क्याह

उक्तं शिवतनुशास्त्रे तदिदं भङ्ग्यन्तरेण पुनः ।

तदेवाह

आवरणं सर्वात्मगमशुद्धिरन्याप्यनन्यरूपैव ॥ २०६ ॥

आवरणं संस्कारकारणत्वेनोक्तमाणवं मलम् ।

तदुक्तं तत्र

'तस्मात्सर्वात्मगता तेभ्यस्त्वन्या विभात्यनन्येव ।
संसाराङ्कुरकारणमाणवं चेतसोऽशुद्धिरिति ॥' इति ॥ २०६ ॥

"माया की ग्रन्थि से कला, काल, विद्या, राग और नियति नियन्त्रित प्रमाताओं के बाद पुंस्त्व के प्रत्यय से निबन्धित पुँस्तत्त्व की उत्पत्ति हो जाती है ॥ २०५ ॥

क्या छः कञ्चुकों का यह क्रम इसी रूप में सर्वत्र अपना काम करता है ? शिवतनु शास्त्र इसका समर्थन करता है । वह कहता है कि आवरण सर्वात्मग है । इससे अशुद्धि उत्पन्न होती है । अणु की यह अशुद्धि अनन्यरूप होने के कारण 'आणव मल' कहलाती है । वहाँ कहा गया है कि,

"कंचुकों की आवारकता सर्वात्मगता होती है । यह उनसे अन्य प्रतीत होती हुई भी अनन्यरूपा ही है । यही चेतस् की अशुद्धि होती है । संसार के उन्मेष की यह कारण है । इसीलिये इसे आणव मल कहते हैं" ॥ २०६ ॥

ननु कथमेकस्या एव अस्या अन्यत्वमनन्यत्वं च स्यादित्याशङ्क्याह

शिवदहनकिरणजालैर्दाह्यत्वात् सा यतोऽन्यरूपैव ।
अनिदंपूर्वतया यद्रञ्जयति निजात्मना ततोऽनन्या ।। २०७ ।।
सहजाशुद्धिमतोऽणोरीशगुहाभ्यां हि कञ्चुकस्त्रिविधः ।

दाह्यत्वादित्यनेनास्या अपायित्वमुक्तम् । भिन्नस्यैव हि आगमापायौ भवतः—इति भावः । 'यतः' इति सर्वातिमभ्यः । यद्वा विज्ञानामृतसरिताप्लाव्यत्वादिति पाठो ग्राह्यः । तदुक्तं तत्र

'विज्ञानामृतसरिता शिवशशिनः स्यन्दमानयामलया ।
प्रप्लाव्य यतस्तेभ्यो निरस्यतेऽधस्ततः साऽन्या ।।' इति ।

नये सिरे से यहाँ एक समस्या उपस्थित हो जाती है । एक वस्तु एक ही होती है । अन्य होते हुए भी अनन्य रहना कुछ समझ में आने वाली बात नहीं । इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है ।

शैव बोध की आग की लपटों से यह कुतर्क जलाने योग्य है । जो चीज जलायी जायेगी—वह अलग ही रहेगी । आवारकतामयी यह अशुद्धि ही वह चीज है, जो दाह्य है । इसलिये इसे अन्य कहना उचित ही है । यह भी ध्यान देने की बात है कि यह इदन्ता की पार्थक्य प्रथा से रहित है । अनिदंपूर्व है, आदि रूप से प्राप्त है । निजात्मक रूप से रंजित करती है । इसलिये यह अन्य भी नहीं है । इस तरह हमारे सामने दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं । १—यह अन्य और अनन्य दोनों है । इस मान्यता में कोई दोष नहीं और २—कि अणु का यह कञ्चुक रूपी बन्ध तीन प्रकार का होता है । १-ईश द्वारा २-माया और ३—मलाधिका शक्ति द्वारा । ईश और माया के साथ यह कंचुक तीन प्रकार का हो जाता है ।

"विज्ञानामृत से सराबोर सरिता शिव रूप अणु में यामल भाव को प्रस्यन्दमान करती है । यह ऐसा आप्लावन उपस्थित करती है कि सभी आत्माओं से इसे दूर बहा ले जाती है । जैसे बहाकर कोई तृण अलग कर दिया जाय । यही नहीं, कोई वस्तु जैसे नीचे गिरा दी जाती है, उसी तरह अणु को यह नीचे गिरा देती है । इस तरह यह अन्य रूप ही है ।" यह

पूर्वत्र पुनः कञ्चुकानां दाह्यत्वमुचितमित्येवमुक्तम् 'अनिदंपूर्वतया' इत्यनादिकालानुबन्धित्वात्' अत एवास्याः सहजत्वात् ताम्रकालिमावद् असंलक्ष्यभेदत्वेनानन्यत्वम् । तदुक्तं तत्र

'श्लिष्टा यस्मादात्मस्वनादिकालानुबन्धिनी चितिवत् ।
वृत्त्यानुरञ्जयन्ती तस्मात् प्रतिभात्यनन्येव ।।' इति ।

एवमाणवमलावरण(व)तोऽपि अणोः, ईशः, तदीया मलाधिष्ठायिका निरोधशक्तिः, गुहा कर्मणोऽवस्थितिस्थानं माया, ताभ्यां सह त्रिविधो मलः ईशशक्तिमायाख्यः प्रावरणप्रायत्वात् कञ्चुकरूपो बन्धः । तदुक्तं तत्र

'एवं महता तमसा सहजेनाविद्धचेतसः पुंसः ।
परमेश्वराद्गुहातः प्रवर्त्तते कञ्चुकस्त्रिविधः ।।' इति ।

पाठ 'शिवदहनकिरणजालैर्दाह्यत्वात्' के स्थान पर रखना ही उचित प्रतीत होता है । अनिदंपूर्व विशेषण भी युक्तियुक्त है ।

इसी के साथ अनन्यत्व का कथन भी युक्तियुक्त है, जैसे ताँबे में उसकी लाली लिये मैल की कालिमा ताँबे से अलग नहीं होती । इन दोनों में भेद परिलक्षित नहीं होता । कहा गया है कि,

"आत्मवर्ग में अनादिकाल से अनुबन्धिनी होने के कारण और अणु की अन्तरङ्ग होने से यह अत्यन्त श्लिष्ट होती है । चिति की तरह अन्तर्गर्भ-विमर्शात्मक नाद में अनन्यता की वृत्ति के अनुरञ्जन की तरह यह भी अणु का अनुरञ्जन करती है । इसी तरह यह अनन्य भी प्रतीत होती है ।"

उक्त विश्लेषण के अनुसार यह सिद्ध हो जाता है कि आणव मल से आवृत अणु का कञ्चुक ईश, उसकी मलाधिष्ठायिनी निरोधशक्ति और गुहा (माया) के साथ आकलित होने पर तीन प्रकार का हो जाता है । कहा गया है कि,

"महत् और तमस् मयी सहज अशुद्धि से आविद्ध-चैतन्य पुलकित पुरुष कञ्चुक परमेश्वर, निरोधिनी और माया से मिल कर तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है ।"

एवं बन्धत्रयभाज एव हि कलायोगयोग्यता भवेदिति भावः। अत एव

'त्रिबद्धचित्कलायोगा............................।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥ २०७ ॥

अत एवाह

तस्य द्वितीयचितिरिव

स्वच्छस्य नियुज्यते कला श्लक्ष्णा ॥ २०८ ॥

अनया विद्धस्य पशोरुपभोगसमर्थता भवति ।

विद्या चास्य कलातः शरणान्तर्दीपकप्रभेवाभूत् ॥ २०९ ॥

सुखदुःखसंविदं या विविनक्ति पशोर्विभागेन ।

रागश्च कलातत्त्वाच्छुचिवस्त्रकषायवत् समुत्पन्नः ॥ २१० ॥

त्यक्तं वाञ्छति न यतः संसृतिसुखसंविदानन्दम् ।

एवमविद्यामलिनः समर्थितस्त्रिगुणकञ्चुकबलेन ॥ २११ ॥

गहनोपभोगगर्भे पशुरवशमधोमुखः पतति ।

इस उक्ति के अनुसार बन्धन दुहरा ही नहीं अपितु तिहरा हो जाता है। तिहरे बन्धन से आबद्ध में ही कला-योग की योग्यता होती है। उससे संवलित ही अणु होते हैं। कहा गया है कि,

"तीन प्रकार से अणु पुरुषों का चैतन्य आविद्ध हो गया होता है। कलायोग की योग्यता वहीं होती है।"

इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि अणु वर्ग का कञ्चुक तीन प्रकार का होता है ॥ २०७ ॥

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि,

चिति के दो रूप यहाँ स्पष्ट हैं। १—त्रिविध कंचुकों से कंचुकित चिति और दूसरा २—स्वच्छ चिति। यह स्वच्छ चिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी कंचुकित अवस्था ही द्वितीय चिति कही जाती है। द्वितीय चिति से ही कला का प्रथमतः नियोजन होता है। उस समय कला भी बड़ी सुकुमार होती है।

द्वितीयेति स्वाभाविक्या एकस्याः चितेः उक्तयुक्त्या कञ्चुकत्रयेणावृतत्वात्। स्वच्छस्येति स्वभावतः। श्लक्ष्णेति प्रथममुद्भिन्नत्वात्, सूक्ष्मेत्यर्थः। अस्याश्च किंचित्प्रकाशत्वेन शरणान्तर्दीपकप्रभेवेत्युक्तम्। शुचिवस्त्रस्थानीय आत्मा। अविद्यामलिन इति अविद्यया आणवेन मलेन तदुपलक्षिताभ्यामीशशक्तिमायाभ्यां च 'मलिनः' संच्छादितपूर्णज्ञानक्रिय इत्यर्थः। त्रिविधकञ्चुकबलेनेति त्रिविधस्य कलाविद्यारागात्मनः कञ्चुकस्य बलेन किंचिज्ज्ञत्वकर्तृत्वाद्युपोद्वलकेन सामर्थ्यविशेषेणेत्यर्थः। एवमाणवादिकञ्चुकत्रयेण सह षट् कञ्चुकानीत्यत्र भङ्ग्यन्तरत्वम्। कालनियत्योस्तु अनभिधानेऽयमाशयो—यत् कलादिशुद्ध्यैतत्तत्त्वशुद्धिरिति। यद्गुरुवृत्तिः

'कलादिभिरेव शुद्धैस्तत् शुद्धं द्रष्टव्यम्।
इत्यभिप्रायतोऽनभिधानं नाभावात्॥' इति।

इससे विदिक्रिया के अभिमान से अभिभूत पशु में उपभोग का समर्थ भाव उत्पन्न होता है। कला के कारण विद्या की वही दशा हो जाती है, जैसे दूर के दूसरे घर में टिमटिमाते दीपक की क्षीण प्रभा होती है। यह विद्या विविक्त भाव से पशु को सुख और दुःख आदि की अनुभूतियों से भर देती है। राग भी कला से उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जैसे श्वेत वस्त्र में कषाय रंग का उपरंजन हो जाय। राग के प्रभाव से पशु संसृति के सुखों की अनुभूति का आनन्द कभी छोड़ना नहीं चाहता।

इस प्रकार अविद्या से मलिन और तीनों कंचुकों की मलिनता के कारण पशु माया के गर्भ में विवश होकर गिरने को बाध्य हो जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ कला, विद्या और राग नामक तीन कंचुकों का ही उल्लेख है। इस प्रकार पहले के ईश, शक्ति और माया के त्रिविध कंचुक तथा कला, विद्या और राग इन तीनों को मिलाकर पशु छः कंचुकों से कंचुकित होने के लिये लाचार हो जाता है। अभी काल और नियति अलग हैं। गुरुतन्त्रवृत्ति में लिखा है कि,

"कलादि तत्त्वों के शुद्ध होने पर इन दोनों की शुद्धि हो जाती है। इसलिये यहाँ इनका उल्लेख न होना इनके अभाव की सूचना नहीं देता अपितु अप्रभावी होने के कारण ही इनका उल्लेख नहीं किया गया है।"

'अधोमुखः' इति मायीयभोगौन्मुख्यात् ॥ २११ ॥

ननु प्रकृतेऽपि एवं मलस्यावारकत्वात् कञ्चुकत्वमेव वक्तुं युक्तम्— इति कथं 'षट्कञ्चुकानि' इत्युक्तमित्याशङ्क्याह

एतेन मलः कथितः कम्बुकवदणोः कलादिकं तुषवत् ॥ २१२ ॥

एतेनेति मायादीनां षण्णामेव कञ्चुकत्वाभिधानेन। कम्बुकवदित्यन्तश्चान्तस्त्वात्। एवं मलावृतस्य सतो हि पुंसः प्रतिप्रावरणप्रायं कञ्चुकषट्कमिति, अत एवोक्तं तुषवदिति। तदुक्तम्

'एवं च पुद्गलस्यान्तर्मलः कम्बुकवत् स्थितः।
तुषवत् कञ्चुकानि स्युः··· ···················· ॥'इति ॥ २१२ ॥

एतदेवोपसंहरति

एवं कलाख्यतत्त्वस्य किंचित्कर्तृत्वलक्षणे।
विशेषभागे कर्तृत्व चर्चितं भोक्तृपूर्वकम् ॥ २१३ ॥

कलायास्तावत् किंचिद्रूपताविशिष्टं कर्तृत्वं लक्षणं, तत्र विशेषभागेऽर्थादवस्थितं विशेष्यांशरूपं यत् कर्तृत्वं तद्भोक्तृरूपं चर्चितं, विद्याद्युत्पादक्रमेण उक्तयुक्त्या भोक्तृत्वाधायकत्वेन विचार्य उक्तमित्यर्थः ॥ २१३ ॥

अधोमुख गिरने का तात्पर्य है कि भोगवाद में मायीय भोगों की ओर ही उन्मुखता स्वाभाविक होती है ॥ २०८–२११ ॥

मलों और कंचुकों में अन्तर का निर्देश करते हुए कह रहे हैं कि,

मल अणु के लिये कम्बुक सदृश होते हैं। कम्बुक सीपी को कहते हैं। सीपी में जैसे मोती आन्तरिक रूप से घिरा हुआ रहता है, उसी तरह अणु मलों से आवृत रहता है। वहीं कला आदि कंचुक चावल पर भूसी की तरह प्रतिप्रावरणवत् अर्थात् ऊपरी आवरण के समान होते हैं। कहा गया है कि,

"पुद्गलों का अन्तर्मल कम्बुक की तरह होता है और कंचुक तुष की तरह होते हैं" ॥ २१२ ॥

इस विषय का उपसंहार कर रहे हैं कि कला किंचित्कर्तृत्व रूपा होती है। कला का कर्तृत्व यदि विशेष्य है, तो किंचित्त्व उसका विशेषण। कर्तापन के इस विशेष भाग में जो कर्तृत्व है, वह भोक्ता रूप कर्तृत्व है—यह कहा

नन्वत्र विशेषभागावस्थितं किंचित्त्वमित्याशङ्कयाह

विशेषणतया योऽत्र किञ्चिद्भागस्तदोत्थितम् ।
वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला ॥ २१४ ॥

इह कर्तृत्वस्य स्वयमनवच्छिन्नत्वेऽपि किंचिद्विषयत्वात् किंचिद्रूपत्वं जातम्—इति किंचित्त्वं वेद्यपक्ष एव तिष्ठेत्, ततश्च तदंशप्रयोजकीकारेणोल्लसितं सद् भाविवेद्यविशेषापेक्षया वेद्यसामान्यात्मकं भोग्यरूपं प्रधानं कला सूयते बहीरूपतया व्यक्ततां नयेदित्यर्थः। तदुक्तम्

'तत एव कलातत्त्वादव्यक्तमसृजत् .... ।' (मा० १।३०) इति।

तच्च भिन्नं प्रतिपुंनियतत्वादनेकमिति यावत्। कलादीनां च तथात्वेऽपि स्फुटं तदपेक्षया स्थूलमित्यर्थः ॥ २१४ ॥

गया है। इसका कारण है। विद्या और राग आदि की उत्पादक होने के नाते इसमें भोक्तृत्व भाव स्वाभाविक है, ऐसा मानकर ही भोक्तृत्वपूर्वक कर्त्तृत्व की बात कही जा सकती है ॥ २१३ ॥

इसमें विशेषण रूप जो किंचित्त्व है, कर्त्तृत्व का ऐसा अंश है, जिससे कर्त्तृत्व के अनवच्छिन्न रहने पर भी यह उपस्थित हो गया है। अर्थात् परमेश्वर का कर्त्तृत्व अनवच्छिन्न कर्त्तृत्व है। वही कर्त्तृत्व अणु भोक्ता में आता है, तो किंचिद्विशिष्ट होकर आता है। यह ध्यान देने की बात है कि वह किंचित्त्व वेद्य पक्ष में उपस्थित होता है।

विशेष्य भाग में ही विशेषण भाग उत्थित होता है। कर्त्तृत्व भोक्तृभाव वाला है और किंचित्त्व भोग्य भाव वाला है, अर्थात् भोक्तृभाव का अंश है। भोक्तृभाव प्रयोजक कर्त्ता है। उसमें यह उल्लसित है। इसके दो रूप हैं। १—भावी विशेष वेद्य की अपेक्षा वेद्यसामान्यात्मक प्रधान रूप और २—प्रति पुरुष भिन्न रूप। इन्हीं दोनों रूपों में वेद्य मात्र को कला उत्पन्न करती है। मा० विजयोत्तरतन्त्र (१।३०) में कहा गया है कि,

"उसी कला तत्त्व से अव्यक्त को उत्सृष्ट किया है।" सूक्ष्म कला से यह स्फुट अर्थात् स्थूल सृष्टि होती है ॥ २१४ ॥

ननु भोक्तृभोग्ययोः परस्परसापेक्षत्वात् कथं नाम क्रमेणोत्पत्तिः संगच्छतां, नहि भोग्यं विना भोक्तृत्वमेव किंचिद्भवेत्, भोक्तृत्वं विनापि भोग्यमिति तत् कथं भोक्तृत्वं प्रसूय भोग्यं कला सूते—इत्युक्तमित्याशङ्क्याह

सममेव हि भोग्यं च भोक्तारं च प्रसूयते ।
कला भेदाभिसंधानादवियुक्तं परस्परम् ॥ २१५ ॥

भोक्तारमिति भोक्तृगतं भोक्तृत्वमित्यर्थः । यतस्तद् भोक्तृभोग्यात्मकमुभयं परस्परावियुक्तं सापेक्षमित्यर्थः । वस्तुतो हि अनयोः

'भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ।' (स्प० १।४)

इत्याद्युक्तेः अद्वयमयत्वेन अभेदेऽपि मायीयं भेदमभिसंधाय परस्परमपेक्षालक्षणमवियुक्तत्वं दर्शितमित्युक्तं 'भेदाभिसंधानात्' इति ॥ २१५ ॥

ननु अनयोरेवमवियोगेन कोऽर्थः,—इत्याशङ्क्याह

भोक्तृभोग्यात्मता न स्याद्वियोगाच्च परस्परम् ।

वियोगादिति परस्परसापेक्षत्वाभावात् ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि भोक्तृभाव और भोग्य भाव परस्पर सापेक्ष हैं। इनको क्रमपूर्वक उत्पत्ति का क्या औचित्य है? भला भोग्य के विना भोक्तृत्व होगा ही कैसे? भोक्तृत्व के विना भोग्य भाव भी निष्प्रयोजन ही है। तो कला कैसे पहले भोक्तृत्व को उत्पन्न कर भोग्यत्व का प्रसव करतो है? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं कि,

कला भोग्य और भोक्ता दोनों को एक साथ ही उत्पन्न करतो है। भोक्ता में भोग्यभाव अवियुक्त भाव से अवस्थित रहता ही है। अभेद ही रहता है, पर मायीय भेद का अभिसंधान करके ही अवियुक्त भाव से कला इन्हें उत्पन्न करती है।

वस्तुतः इन दोनों में,

"भोक्ता ही भोग्य भाव से सर्वज्ञ और सर्वत्र स्थित होता है" इस उक्ति के अनुसार शाश्वत अद्वयभाव ही रहता है॥ २१५ ॥

इस अवियुक्तता का अर्थ है कि यदि परस्पर सापेक्षता का अभाव रहेगा, तो भोक्तृभोग्यात्मकता की सिद्धि ही कैसे हो सकती है?

नन्वेवंविधा भोक्तृभोग्यात्मतापि मा भूदित्याशङ्कयाह

विलीनायां च तस्यां स्यान्मायास्यापि न किंचन ।। २१६ ।।

भोक्तृभोग्यात्मतालक्षणे हि क्षोभे प्रलीने संसार एव न भवेदिति भावः ।

यदुक्तम्

"निजाशुद्धयासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः ।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात् परमं पदम् ॥'

(स्प० १।९) इति ॥ २१६ ॥

ननु कथमेतदुक्तम् अन्यत्र हि पूर्वं कलातो भोक्तृरूपं रागविद्यायुग्म-प्रकृतितत्त्वमिति क्रमेण भोक्तृभोग्योत्पाद उक्त इत्याह

ननु श्रीमदरौरवादौ रागविद्यात्मकं द्वयम् ।
सूते कला हि युगपत्ततोऽव्यक्तमिति स्थितिः ।। २१७ ।।

तत इति रागविद्यायुग्मप्रसरादनन्तरमित्यर्थः । तदुक्तम्

यदि यही मान लें कि इस प्रकार की भोक्तृभोग्यात्मकता की कोई आवश्यकता नहीं । पूर्वपक्ष-समर्थित इस अपेक्षा रहित भोक्ता भोग्यभाव की मान्यता से तो सिद्धान्त ही दूषित हो जायगा । भोक्तृ-भोग्यात्मभाव एक प्रकार का क्षोभ है। इसके अर्थात् इस क्षोभ के न रहने पर फिर यह संसार ही नहीं रहेगा । न माया ही रहेगी, न क्षोभ का परिणाम ही कुछ रहेगा । इसी आधार पर स्पन्द १।९ में कहा गया है कि,

"अपनी अशुद्धि से असमर्थ अणु ही अपने जागतिक कर्त्तव्यों की पूर्ति का अभिलाषी होता है। यदि एतद्विषयक अणु का क्षोभ ही समाप्त हो जायेगा तो परिणामतः तब यह संसार कहाँ रहेगा ? उस समय तो परमपद हस्तामलकवत् स्वतः प्राप्त हो जायेगा" ॥ २१६ ॥

कला से भोक्तृ रूप राग विद्यात्मक द्विक के प्रसार के बाद प्रकृति तत्त्व की क्रमिकता पूर्वक भोक्तृभोग्योत्पत्ति की बात श्री रौरव शास्त्र में कही गयी है। उसका भाव स्पष्ट है। कला ने राग और विद्या को साथ ही और उसके बाद अव्यक्त को उत्पन्न किया ।

"स्कन्धोऽपरः कलायास्तु यस्मादेताः प्रजज्ञिरे ।
विद्यारागप्रकृतयो युग्मायुग्मक्रमेण तु ।।'

तथा च श्रीरुरौ

'कलातत्त्वाद्रागविद्ये द्वे तत्त्वे संबभूवतुः ।
अव्यक्तं च ततः……… ………………………… ।।' इति ।

वाक्यभेदेन पाठः । एषां हि सममेवोत्पादे रागविद्याव्यक्तानि संबभूवुरित्येकवाक्यतैव स्यात् । पूर्वं पुनर्व्याख्यातृभेदमवलम्ब्य 'मायातोऽव्यक्तकलयोः' इत्याद्युक्तम् । तत्र हि वार्तिककारस्तच्छब्देन मायां व्याख्यातवान् । वृत्तिकारस्तु आनन्तर्यमिति ॥ २१७ ॥

एतदेव प्रतिविधत्ते

**उक्तमत्र विभात्येष क्रमः सत्यं तथा ह्यलम् ।
रज्यमानो वेद सर्वं विदंश्चाप्यत्र रज्यते ॥ २१८ ॥**

कहा गया है कि,

"कला का स्कन्ध कुछ दूसरा हो है। उसी से विद्या-राग की युग्म तथा प्रकृति की अयुग्म उत्पत्ति होती है।"

रुरु शास्त्र में कहा गया है कि,

"कला तत्त्व से ही राग और विद्या ये दोनों उत्पन्न हुए। उसके बाद अव्यक्त उत्पन्न हुआ।"

इन कथनों की एकवाक्यता में कोई अन्तर नहीं है। रागविद्या और अव्यक्त के साथ उत्पन्न होने में तत्त्वभेद-भिन्नता की प्रतीति होती है। पहले के व्याख्याकारों ने तो माया से ही अव्यक्त और कला की उत्पत्ति की बात कही है। वार्त्तिककार ने 'तत्' (श्लोक २१६) शब्द से 'माया' अर्थ ही स्वीकार किया है। वृत्तिकार ने अनन्तर भाव को मुख्यता दी है ॥ २१७ ॥

इसी का प्रतिविधान कर रहे हैं—

विद्या और राग उभय की उत्पादिका कला है अवश्य, पर दोनों में क्रमवैचित्र्य का एक अन्योन्याश्रित क्रम भी दृष्टिगत होता है। ग्रन्थकार ने

उच्यते इति वक्तव्ये, बुद्धिस्थतया सिद्धतामभिप्रेत्य निर्विलम्बमेव एतद्दत्तोत्तरमित्युक्तम्, सत्यम्, एष त्वदभिमतः क्रमोऽत्र विभाति । तथा हि— अलमत्यर्थं रागविद्ययोरपि परस्परं क्रमोऽस्तीत्यर्थः । सर्व एव हि पुमान् रज्यन् वा सर्वं वेत्ति, विदन् वा सर्वत्र रज्यतीत्यसावपि क्रमः कथं न भवेत् ॥ २१८ ॥

ननु यद्येवं तत् कथं भोक्तृभोग्ययोर्युगपदुत्पादो भवतैवोक्तः—इत्याशङ्क्याह

तथापि वस्तुसत्तेयमिहास्माभिर्निरूपिता ।
तस्यां च न क्रमः कोऽपि स्याद्वा सोऽपि विपर्ययात् ॥२१९॥

तथापीति, एवमेषां क्रमसंभावनेऽपीत्यर्थः । वस्तुसत्तेति, वस्तुनोर्भोक्तृभोग्ययोः सत्ता पारमार्थिकः संभव इत्यर्थः । 'न क्रम' इति परस्परसापेक्षत्वात् । यदुक्तमनेनैव अन्यत्र

पूर्वपक्ष की बात को ध्यान में रखकर ही कहा है कि किसी प्रमेय में अनुरक्त होकर पहले उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह भी सत्य तथ्य है कि किसी पदार्थ को जानने के बाद ही उसमें अनुरक्ति होती है। दोनों अवस्थाओं में कला से उत्पन्न होने में और इनकी क्रमिकता का कोई प्रश्न उपस्थित नहीं होता। व्यवहारतः यहाँ क्रम स्वतः सिद्ध है ॥ २१८ ॥

प्रश्न होता है कि यदि यहाँ क्रम स्वीकृत किया जाता है, तो पहले का घोषित मत कि कला से भोक्ता और भोग्य की एक साथ उत्पत्ति होती है— इसका खण्डन होने लगेगा। इस पर अपना मत व्यक्त कर रहे हैं कि,

इन दोनों को उक्त क्रम सम्भावना को देखते हुए भी वस्तुसत्ता के सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं की जा सकती। भोक्तृभाव और भोग्यभाव दोनों वस्तुधर्म के पारमार्थिक सत्य हैं। इसमें पारस्परिक अपेक्षा की दृष्टि ही प्रमुख है। अनुरक्ति-आसक्ति के बाद पदार्थ का ज्ञान और पदार्थ के ज्ञान के बाद अनुरक्ति को ध्यान में रखकर ही यह कहा जा सकता है कि वस्तुसत्ता का कोई क्रम नहीं है। तन्त्रसार आ० ८ में कहा गया है कि,

'अत्र चैषां वास्तवेन यथा क्रमबन्ध्यैव सृष्टिरित्युक्तम् ।'

(तं० सा० ८ आ) इति ॥ २१९ ॥

यदि चात्र वस्तुसत्तामपहाय संभावनामात्रेण क्रम उच्यते, प्रत्युत विपर्ययेणापि असौ स्याद् भोगोत्पादानन्तरं भोक्तृत्वोत्पादः—इति तस्माद् नात्र विप्रतिपत्तव्यमित्याह

तस्माद्विप्रतिपत्तिं नो कुर्याच्छास्त्रोदिते विधौ ।

शास्त्रोदिते विधाविति, रुरुशास्त्रोदितविधिमाश्रित्येत्यर्थः। इयदेव हि तत्र विवक्षितं यत् कलातत्त्वाद् रागादितत्त्वत्रयं समुत्पन्नम्—इति अस्य पुनर्युगपदयुगपद्वा समुत्पादः तत्स्वरूपनिरूपणात्मकाद् विचाराल्लभ्यते, न तु यथाश्रुतादुत्तानादर्थमात्रादेव—इत्यस्मदुक्तमेव ज्यायः।

ननु वेद्यमात्रं प्रधानमित्युक्तं, न च विशेषरूपस्य सुखादेरेव वेदनात् पृथगस्य वेद्यत्वमस्ति—इत्याशङ्क्याह

एवं संवेद्यमात्रं यत् सुखदुःखविमोहतः ॥ २२० ॥
भोत्स्यते यत्ततः प्रोक्तं तत्साम्यात्मकमादितः ।

"इस शास्त्रीय मान्यता के अनुसार सृष्टि में क्रमबन्ध्यता ही स्वीकृत है ।"

यदि क्रम दीख भी पड़ता है, तो वहाँ विपर्यय भी उपस्थित रहता है। इससे वस्तुसत्ता के सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं पड़ता। व्यवहारसिद्ध तथ्यों को शास्त्र भी अस्वीकार नहीं करते ॥ २१९ ॥

वस्तुसत्ता को देखकर भी सम्भावना मात्र से क्रम को स्वीकृति देनी पड़ती है और विपर्यय भी स्वीकार करना पड़ता है। भोगोत्पाद के बाद भोक्तृत्व का उत्पाद मान्य हो जाता है। इसी आधार पर शास्त्र यह स्वीकार करता है कि इसमें किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं करनी चाहिये। रुरुशास्त्र में यह कहा गया है कि कलातत्त्व से ही राग, विद्या और काल तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। अब यह युगपद् हो या अयुगपद् यह बात उसकी स्थिति और उसके स्वरूप पर निर्भर करती है ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण संवेद्यमात्रं भवत् 'यत् सुखादिभ्यो भोत्स्यते कार्यतस्तदुपलब्धेः' इति नीत्यानुमास्यते, ततो विशेषस्य सामान्यपूर्वकत्वाद् हेतोः साम्यात्मकमविभागरूपं तदादितः प्रोक्तं कारणतया निरूपितमित्यर्थः ॥ २२० ॥

ननु सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः—इति सांख्याः, तत्कथमिह सुखादिभ्यस्तद्भोत्स्यते—इत्युक्तमित्याशङ्क्याह

सुखं सत्त्वं प्रकाशत्वात् प्रकाशो ह्लाद उच्यते ॥ २२१ ॥
दुःखं रजः क्रियात्मत्वात् क्रिया हि तदतत्क्रमः ।
मोहस्तमो वरणकः प्रकाशाभावयोगतः ॥ २२२ ॥

इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना स्वभाविक हो जाता है कि सुख और दुःख में सात्त्विक, राजस और तामस आदि सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ स्वभावसिद्ध हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कारण से कार्य की उपलब्धि पर कार्य साम्य के क्रम से सभी स्थितियाँ सक्रम अनुमित होती हैं।

जहाँ तक सामान्य और विशेष का प्रश्न है, विशेष की अपेक्षा सामान्य व्यापक होता है। वेद्यता सामान्य है। पर जब अनुकूल या प्रतिकूल वेदनीयता के कुछ विशिष्ट अवसर आ जाते हैं, तो यह अनुमित या प्रतीत होता है कि विशेष सामान्य की पूर्वपीठिका पर ही अङ्कुरित पल्लवित पुष्पित और फलित होता है। कार्यतस्तदुपलब्धि के नियम के अनुसार इनमें साम्यात्मक क्रमिक अविभागिता कारण और कार्य की स्थितियों के मूल में उल्लसित रहती है। यह सब संवेद्यप्राधान्य क्रम का ही वैचारिक रूप है ॥ २२० ॥

सांख्यशास्त्र भी यह मानता है कि सत्त्व, रज और तमस् की साम्यावस्था ही प्रकृति है। इस मान्यता के अनुसार सुख, दुःख आदि से कार्य साम्य की अनुभूति कैसे हो सकती है? इस पर अनुत्तर मन्तव्य व्यक्त कर रहे हैं कि कार्य तो वैषम्य का ही प्रतीक है। इसमें भी साम्यानुभूति होती है। जैसे—

ननु सुखस्य प्रकाशरूपत्वं सिद्धं, सुखं हि सुखमेव न प्रकाशः—इत्युक्तं 'प्रकाशो ह्लाद उच्यते' इति। 'ह्लादः' इत्यहंचमत्कारमयत्वात्। दुःखमिति प्रकाशाप्रकाशरूपं, प्रकाशरूपत्वे हि सुखमेव स्यात्, अन्यथा तु मोहः क्रियात्मत्वादिति भावाभावरूपतया अस्य क्रमिकत्वात्। नन्वेवं दुःखस्य क्रमिकत्वमस्तु क्रियात्वं तु कुतः—इत्युक्तं 'क्रिया हि तदतत्क्रमः' इति तदतदोरिति प्रकाशाप्रकाशयोः तदुक्तम्

'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।

(सा० १२ का०) इति।

सुख सत्त्व का प्रतीक है। यह प्रकाश रूप है और प्रकाश आह्लादात्मक हाता है। आह्लादरूपी कार्य से ही सुखानुभूति स्वभावतः हो जाती है। इसो तरह दुःख राजस व्यापार है। यह प्रकाश और अप्रकाश रूप से उभयात्मक होता है। व्यापार या क्रिया में तत् (प्रकाश) और अतत् (अप्रकाश) रूपता का क्रम अनिवार्य होता है; क्योंकि जो प्रकाशात्मक मात्र हागा, वह सुखमय ही होगा। सांख्यकारिका (सं० १२) के अनुसार,

"प्रीति, अप्रीति और विषादात्मक ही प्रकाश (सत्त्व), प्रवृत्ति (रज) और नियमार्थक तम (विषाद) होते हैं"।

'प्रीतिः सुखम्' इस परिभाषा के अनुसार सुख को प्रीत्यात्मक माना जाता है। अतः सुख सत्त्व गुण का स्वरूपात्मक लक्षण है। इसो प्रकार अप्रीत्यात्मक दुःख रजोगुण का स्वरूपात्मक लक्षण माना जाता है। विषाद मोहात्मक होता है। अतः तमोगुण को विषादात्मक मानते हैं।

सुख शब्द के भाव के अन्तर्गत सरलता, मृदुता, लज्जा, श्रद्धा, क्षमा, अनुकम्पा, ज्ञान, प्रसाद, सन्तोष आदि ऐसे गुण आते हैं, जिनसे सात्त्विकता का प्रादुर्भाव होता है। सात्त्विकता मन में एक प्रकार का उल्लास उत्पन्न करती है। यह उल्लास ही सात्त्विक प्रकाश है। इसी आधार पर ग्रन्थकार ने कारिका २२१ में लिखा है कि, सुख सत्त्वमय है। 'प्रकाशत्वात्' लिखने का कारण है। यह नहीं कहा जा सकता कि सुख-सुख मात्र है, प्रकाश नहीं है। इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'प्रकाशो ह्लाद उच्यते' अर्थात् ह्लाद अहं चमत्कार का प्रतीक होता है। इसी अवस्था का नाम सांख्यकारिका 'प्रीति' दे रही है। अतः प्रीति प्रकाशात्मक और सुखात्मक दोनों प्रकार की होती है।

'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तम .... ॥'

(सां० १३ का०) इति च ।

इसी आधार पर अप्रीति को विषादात्मक कहा गया है। इसमें प्रद्वेष, द्रोह, मात्सर्य, पर-छिन्द्रान्वेषण और विद्रोहात्मक भावनायें आती हैं। जहाँ ऐसे भाव अङ्कुरित होते हैं, वहाँ प्रीति के विपरीत अप्रीति ही रहेगी। इसी आधार पर अप्रीत्यात्मक दुःख को रजोगुण स्वीकार करते हैं। कारिका भी इसीलिये, 'दुःखं रजः क्रियात्मत्वात्' कहती है। मोह क्रियात्मक ही होता है। भावाभावरूप क्रमिकता का यहाँ दर्शन होता ही है।

इसी आधार पर मोह को तमोगुण का प्रतीक मानते हैं। मूल कारिका के अनुसार प्रकाशाभाव योग होने के कारण जहाँ प्रकाश नहीं रहता—वहाँ अज्ञान, जड़ता, सुषुप्ति, नास्तिकता और कृतघ्नता जैसे दुर्गुण अपने आप उपस्थित हो जाते हैं। इनके सिवा विषाद के जीवन में कुछ उपलब्ध नहीं होता। सांख्यकारिका संख्या १२ में इन सभी बातों का स्पष्ट समावेश है। इनसे त्रिक मान्यता का पूर्ण समर्थन होता है।

तेरहवीं कारिका के अनुसार,

"सत्त्व सूक्ष्म और प्रकाशक होता है। रज बड़ा आकर्षक, उपष्टम्भक, चंचल और साथ ही उत्तेजक भी होता है। तम गम्भीर रूप से आवरण प्रदान करने वाला और विमुग्धकारी होता है।"

इससे यह सिद्ध होता है कि सत्त्व गुण के प्रभाव से इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से होने वाला अर्थावभास प्रकाशमय ही होता है और इसमें क्रमावभास का सिद्धान्त भी निहित होता है। लघुत्व (अनायास कार्यसिद्धिजन्य उन्मुक्त भाव) और प्रकाशत्व ही सत्त्व के लक्षण हैं।

उपष्टम्भकत्व एक प्रकार का स्तम्भक प्रेरक और उत्तेजक व्यापार होता है। रज से सत्त्व और तम दोनों उत्तेजित और उपस्तम्भित भी होते हैं। इसमें चलत्व धर्म इसकी सक्रियता की ओर संकेत करता है। तमोगुण हमेशा आवरण प्रदान करता है। इस तरह ये परस्पर विरुद्ध रहते हुए भी एक-क्रमात्मकता के रहस्य से समावृत हैं।

श्रीप्रत्यभिज्ञायामपि

'सत्तानन्दः क्रिया पत्युस्तदभावोऽपि सा पशोः ।
द्वयात्म तद्रजो दुःखं श्लेषि सत्त्वतमोमयम् ॥'

(४ अ० १ आ० ७ का०) इति ॥

तदेवं सत्त्वरजस्तमसां साम्यात्मकमक्षुब्धं रूपं प्रधानमित्युक्तम् ॥ २२२ ॥

ननु प्रधानस्य यद्यक्षुब्धमेव रूपं तत्कथं कार्यजन्मनि प्रभवेदित्याशङ्क्याह

त एते क्षोभमापन्ना गुणाः कार्यं प्रतन्वते ।
अक्षुब्धस्य विजातीयं न स्यात् कार्यमदः पुरा ॥ २२३ ॥
उक्तमेवेति शास्त्रेऽस्मिन् गुणास्तत्त्वान्तरं विदुः ।

कार्यमिति महदादि । विजातीयमिति गुणानां वैषम्यात् । इत्येतच्च पुरा भुवनाध्वनिरूपणावसरे एवोक्तम्,—इति न पुनरिहायस्तं, तत् तत एवावधार्यमिति भाव- । तदुक्तं तत्र

श्री प्रत्यभिज्ञा की उक्ति है कि,

"पति के और पशु के धर्म में बहुत अन्तर होता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप सात्त्विकतामयी सत्ता, आनन्द और क्रिया शक्तियाँ पति में तथा इनका अभाव पशु में दृष्टिगोचर या अनुभूत होता है। राजसिकता में आनन्द निरानन्द दोनों का भाव होता है। दुःख का अलग चित्र है। यह सत्त्व में तम का विष घोलने वाला शोषक भाव है।"

इस आधार पर यह कह सकते हैं कि,

सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यात्मक अक्षुब्ध अवस्था ही प्रकृति है। क्षुब्ध अवस्था की कार्योत्पत्ति में दृष्ट क्रमात्मकता कार्य से स्पष्ट अनुभूत होती है ॥ २२२ ॥

यदि साम्यावस्था ही प्रकृति है, तो इससे कार्योत्पत्ति रूप वैषम्य की क्रियाशीलता का क्या कारण है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

'उपरिष्टाद्धि योऽधश्च प्रकृतेर्गुणसंज्ञितम् ।
तत्त्वं तत्र तु संक्षुब्धा गुणाः प्रसुवते धियम् ॥ (श्रीत० ८।२४८)
न वैषम्यमनापन्नं कारणं कार्यसूतये ।'

इत्यादि

'नैतत्कारणतारूपपरामर्शाविरोधि यत् ।
क्षोभान्तरं ततः कार्यं बीजोच्छूनाङ्कुरादिवत् ॥' (तं० ८।२५४)

इत्यन्तम् । ततश्च युक्तिसिद्धम् अस्मिन्नुपक्रान्ते श्रीपूर्वशास्त्रे गुणाँस्तत्त्वान्तरं प्रकृतेरेव कार्यजननोन्मुखं क्षुब्धं द्वितीयं रूपं मायाया इव ग्रन्थिं विदुः श्रीश्रीकण्ठनाथाद्या उपदेश्यतया जानीयुरित्यर्थः । तदुक्तं तत्र

'ततो गुणान्..........।' (मा० १।३०) इति ॥ २२३ ॥

अत्र च ग्रन्थिवद् भुवनविभागोऽपि पूर्वमेव दर्शितः,—इत्याह

भुवनं पृथगेवात्र दर्शितं गुणभेदतः ॥ २२४ ॥

तदुक्तं प्राक्

'क्रमात् तमोरजः सत्त्वे गुरूणां पङ्क्तयः स्थिताः ।
तिस्रो द्वात्रिंशदेकातस्त्रिंशदप्येकविंशतिः ॥'

(८।२५५) इति ॥२२४॥

वस्तुतः सत्त्व, रजस् और तमस् संज्ञक ये त्रिगुण ही क्षुब्ध होकर कार्यपरम्परा का विस्तार करते हैं। अक्षुब्ध से विजातीय कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। यह बात भुवनाध्वा प्रकरण श्लोक श्रोत० (८।२४८, २५४) तक में कही जा चुकी है। यही कारण है कि इस शास्त्र में गुणों को गणना अवान्तर तत्त्व के रूप में की जाती है। ये गुण प्रकृति के कार्यजननोन्मुख दूसरे रूप ही हैं। माया की तरह ये भी ग्रन्थि माने जाते हैं। मालिनी विजयोत्तर तन्त्र १।३० के अनुसार इन गुणों को भगवान् श्रीकण्ठ आदि भी ग्रन्थि रूप ही स्वीकार करते हैं। एक तरह से यह शास्त्रीय परम्परा में स्वीकृत तथ्य है ॥ १२३ ॥

श्रीत० ८।२५५ के अष्टम आह्निक के उस प्रकरण में गुणों के भेद से पृथक् भुवन की चर्चा की गयी है। भुवन विभाग का पृथक् अस्तित्व त्रिगुणात्मक चमत्कार है। इनमें सत्त्व रज और तम के स्तरीय भेद के अनुसार

ननु अस्य जाड्यात् कथंकारं कार्यजननायौन्मुख्यमेव जायते, येन क्षुब्धत्वमपि स्यादित्याशङ्क्याह

ईश्वरेच्छावशक्षुब्धलोलिकं पुरुषं प्रति ।
भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृतिं क्षोभयेद् भृशम् ॥ २२५ ॥

स्वतन्त्रेश इति श्रीकण्ठनाथः तदुक्तम्

'एवंविधं प्रधानं तद्ब्रह्मणा सहितं पुरा ।
श्रीकण्ठकिरणाघ्रातं व्यक्तिमायाति तत्क्षणात् ॥' इति ।

एवं च सांख्यानामिव अस्माकमपि नैतच्चोद्यं—यत् पुंसो निर्विकारत्वात् बन्धमोक्षदशयोरविशेष एवेति बद्धवन्मुक्तमपि प्रति प्रकृतिः किमिव न महदादि

गुरुओं की तीन पंक्तियों का उल्लेख किया गया है। माया को ग्रन्थि होने की चर्चा भी पहले की जा चुकी है ॥ २२४ ॥

जिज्ञासु प्रश्न करता है कि प्रकृति जड मानी जाती है। साम्यभाव से इसमें रहने वाले गुण क्षुब्ध होकर कार्यजनन करते हैं। यह पहले कहा गया है। प्रकृति गुणों की साम्यावस्था है। अक्षुब्ध है और जड़ भी है। ऐसी अवस्था में तथा जाड्य की अवस्था में इसमें कार्य जननौन्मुख्य कैसे उत्पन्न होता है ? इस मान्यता से इसमें क्षोभ आना भी अस्वाभाविक हो जायेगा। इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट कर रहे हैं—

ईश्वर की इच्छा से क्षुब्ध लोलिक पुरुष के प्रति प्रकृति की यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है। स्वतन्त्रेश श्रीकण्ठनाथ भोक्तृत्व की सन्तुष्टि के लिये प्रकृति को यथावसर और यथोपयोग क्षुब्ध करते हैं। कहा गया है कि,

"इस प्रकार ब्रह्मा सहित प्रधान श्रीकण्ठ की अनुग्रह रश्मियों से आघ्रात होकर, उसी शक्ति के प्रभाव से यथाशीघ्र अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है।"

यहाँ सांख्य दृष्टि के विश्लेषण का अवसर उपस्थित हो जाता है। सांख्य में न प्रकृति और न विकृति रूप निर्विकार पुरुष का प्रतिपादन किया गया है। अतः उसमें उक्त दृष्टि के अनुसार बन्ध और मोक्ष की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जहाँ तक बन्ध का प्रश्न है, प्रकृति जीवों को बद्ध करती

विकारजातं जनयितुं प्रवर्तते, प्रवृत्त्यात्मनः स्वभावस्यानपेतत्वात् न च अस्या 'दृष्टाहमनेन' इति न पुनरेतदर्थं प्रवर्ते,—इत्यनुसंधानमस्ति आचैतन्यात्, तस्मादनिर्मोक्ष एवेति ॥ २२५ ॥

तदाह

तेन यच्चोद्यते सांख्यं मुक्ताणुं प्रति किं न सा ।

सूते पुंसो विकारित्वादिति तन्नात्र बाधकम् ॥ २२६ ॥

तेनेति एवंविधं नियतमेव पुरुषं प्रति अस्याः स्वतन्त्रेशकर्तृकेण क्षोभणेन हेतुनेत्यर्थः। अत्रेति अस्मद्दर्शने ॥ २२६ ॥

है। वही प्रकृति बद्ध अणुओं की तरह मुक्ताणुओं के प्रति महदादि विकारवर्ग का अथ च संसार के आकर्षण के इन्द्रजाल का प्रवर्त्तन क्यों नहीं कर पाती है ?

प्रवृत्ति का स्वभाव लेकर ही जीव संसार में आता है। प्रकृति में इस प्रकार का अनुसन्धान भी नहीं होता कि 'मैं तो इस मुक्त पुरुष द्वारा देख ली गयी। इसके प्रति अपना प्रवर्त्तन अब नहीं करूँगी'। अतः मुक्तों के प्रति वह प्रवृत्ति धर्म का प्रवर्त्तन नहीं करती। प्रकृति में अनुसन्धानाभाव का कारण चैतन्य का अभाव ही माना जाता है।

इसलिये त्रिकदृष्टि स्वतन्त्रेश श्रीकण्ठ द्वारा प्रकृति में क्षोभ के सिद्धान्त को मान्यता देती है। साथ ही पुरुष की सांख्य दृष्टि को अनिर्मोक्ष के स्तर का मानती है। त्रिकदर्शन में इसी विमर्श के आधार पर सात पुरुषों की कलना की जाती है। प्रकृति के साथ का आकलित पुरुष सकल पुरुष मात्र ही माना जाता है। विज्ञानाकल पुरुष तक अनिर्मोक्ष का ही स्तर माना जाता है ॥ २२५ ॥

इसीलिये त्रिकदर्शन की यह मान्यता है कि स्वतन्त्रेश श्रीकण्ठ द्वारा क्षोभ के कारण ही प्रकृति में कार्य जननौन्मुख्य व्यापार होता है। वैषम्य-अनापन्न कारण कार्य का प्रसव नहीं कर सकता। पुरुष विकारी होता है। इस-लिये सांख्योक्त दृष्टि भी मुक्ताणु सम्बन्धी प्रश्न को मुख्य मान्यता में बाधक नहीं बनती क्योंकि मुक्ताणु विकारी नहीं रह जाता। वह अपनी साधना के बल पर विकार प्रद प्रवृत्ति के स्तर को पार कर शिवसादृश्य प्राप्त पुरुष होता है ॥ २२६ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह

गुणेभ्यो बुद्धितत्त्वं तत् सर्वतो निर्मलं ततः ।
पुंस्प्रकाशः स वेद्योऽत्र प्रतिबिम्बत्वमार्छति ।। २२७ ।।

तत् तस्मात् स्वतन्त्रेशकर्तृकात् हेतोरित्यर्थः। बुद्धितत्त्वमिति अर्थात् जातम् । तदुक्तम्

'अष्टगुणां तेभ्यो धियं..........।' (मा० १।३०) इति ।

तत इति सर्वतो नैर्मल्यात् ।। २२७ ।।

ननु अव्यवहितत्वात् पुंस्प्रकाशोऽत्र प्रतिबिम्बमाधत्ताम्, तथात्वाभावात् बाह्यं वेद्यं पुनः कथमित्याशङ्क्याह

विषयप्रतिबिम्बं च तस्यामक्षकृतं बहिः ।
अतद्द्वारं समुत्प्रेक्षाप्रतिभादिषु तादृशी ।। २२८ ।।
वृत्तिर्बोधो भवेद्बुद्धेः सा चाप्यालम्बन ध्रुवम् ।
आत्मसंवित्प्रकाशस्य बोधोऽसौ तज्जडोऽप्यलम् ।। २२९ ।।

द्विधा हि बुद्धेर्बहिर्विषयप्रतिबिम्बमक्षद्वारकमतद्द्वारकं च। तत्राद्यं प्रत्यक्षादौ, अन्यच्च उत्प्रेक्षादौ, आदिशब्दात् स्वप्नादि। अत्र हि स्वयमुप-

---

स्वतन्त्रेश श्रीकण्ठ के द्वारा उत्पन्न क्षोभ के कारण गुणों से आठ गुना श्रेष्ठ बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति होती है। मालिनी विजयोत्तर तन्त्र की १।३० कारिका के अनुसार गुणों से बुद्धि तत्त्व उल्लसित होता है। इस तत्त्व में स्वच्छतम श्रीकण्ठ के नैर्मल्य की छाया पड़ जाती है। इसलिये बुद्धि तत्त्व भी सब तरह पहले निर्मल हो उत्पन्न होता है। गुणों से आठ गुना अधिक प्रकाश-नैर्मल्य बुद्धि में होता है यह पुम्प्रकाश की ही निर्मलता होती है। इसी निर्मलता में दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह सारा वेद्य प्रतिबिम्बित होता रहता है ।। २२७ ।।

प्रश्न उपस्थित होता है कि अव्यवहित होने के कारण पुम्प्रकाश का प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक है। पर बाह्य वेद्य मात्र के प्रतिबिम्बित होने का क्या आधार है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

विषय का प्रतिबिम्ब इन्द्रियों के प्रभाव से उसमें पड़ता है। यह प्रति-बिम्ब दो तरह का होता है। पहला तो अक्षद्वारक ही होता है। दूसरा—अतद्द्वारक कहलाता है।

स्थापित एवार्थोऽस्याः परिस्फुरेदिति भावः। तत् तादृश्यक्षानक्षाहिता वेद्यप्रतिबिम्बसहिष्णुतालक्षणा वृत्तिः बुद्धेर्विषयावभासको बोधो भवेदिति संबन्धः। ननु जडत्वाद् बुद्धिबोधः कथं विषयं प्रकाशयेदित्याशङ्क्याह सा चेत्यादि। चोह्यर्थे। सा बुद्धिरपि हि आत्मसंविदः पुंबोधस्य प्रकाशो व्यक्तिराविर्भावः, ध्रुवमालम्बनं स्थिरः प्रतिबिम्बाधार इत्यर्थः। तत् तस्मात् आत्मसंविदभिव्यक्तिस्थानत्वात् हेतोरस्या वृत्यात्मा बोधो जडोऽपि असावलं, विषयप्रकाशनाय समर्थ इत्यर्थः। तदुक्तम्

'प्रकाशो विषयाकारो देवद्वारो न वा क्वचित्।
पुंबोधव्यक्तिभूमित्वात् बोधो वृत्तिर्मतेर्मता ॥' इति ॥२२९॥

इन्द्रियों द्वारा पड़ने वाला प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रियों के अतिरिक्त समापतित प्रतिबिम्ब उत्प्रेक्षा और प्रतिभा आदि अथवा स्वप्नादि दशाओं में अनुभूत होते हैं। यहाँ स्वयम् उपस्थापित अर्थ इससे प्रकाशमान हो पाते हैं। इसे पदार्थ का परिस्फुरण कहते हैं।

इस तरह बुद्धि की वृत्ति इन्द्रियों और इन्द्रियातिरिक्त साधनों से आहित हो जाती है तथा वेद्यों के पढ़ने वाले प्रतिबिम्बों की सहिष्णु हो जाती हैं। इसी के फलस्वरूप विषयों को अवभासित करनेवाला बोध उत्पन्न होता है।

इस दशा में एक नई अनुभूति परक जिज्ञासा होती है कि जड़ प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि में जाड्य धर्म का संस्कार विद्यमान रहता है। जड़ता के प्रभाव से प्रभावित बुद्धि बोध, विषयों का प्रकाशन कैसे कर सकता है। इसका उत्तर कारिका में ही मिल जाता है।

वस्तुतः बुद्धि आत्मसंविद् रूप पुम्बोध का प्रकाशमात्र है। वह स्वयं प्रकाश को अभिव्यक्ति है और इस प्रकार के पड़ने वाले प्रतिबिम्बों की आधार भी है। यह ध्रुव आधार शिला है। इस तरह आत्मसंवित्प्रकाश की अभिव्यक्ति का आधार होने के कारण इसका वृत्यात्मक बोध जड़ होते हुए भी विषय के प्रकाशन में आलम्बन का काम करता है। अर्थात् विषय प्रकाशन में समर्थ होता है। कहा गया है कि,

एवं बुद्धेः करणरूपतां निरूप्य कारणरूपतामप्याह

बुद्धेरहंकृत् तादृक्षे प्रतिबिम्बितपुंस्कृतेः ।
प्रकाशे वेद्यकलुषे यदहंमननात्मता ॥ २३० ॥

अहंकृदिति अर्थाज्जाता । तदुक्तम्

'.............**धीतोऽप्यहंकृतम् ।**' (मा० १।३०) इति ।

सा च तादृक्षे पुंस्प्रकाशस्याभिव्यक्तिस्थानभूते वेद्यकलुषे च बुद्धिवृत्त्यात्मनि प्रकाशे यदिदं करोमि जानामि,—इत्यहमात्माभिमानः । ननु बुद्धिबोधोऽपि

लेशोक्तो बुद्धिबोधोऽयं चेतनेनोपभुज्यते ।
भोग्यत्वं चास्य संसिद्धं येनोत्पन्नोनुभूयते ॥'

"विषयाकारात्मक प्रकाश कभी करण देवियों द्वारा प्रत्यक्ष और कभी अनक्षविषयात्मक होता है । पुम्बोध की अभिव्यक्ति की भूमि होने के कारण ही बुद्धि से प्रमेय बोध होता है । इसे ही बुद्धि की वृत्ति कहते हैं । एक प्रकार से यह इन्द्रिय है । बुद्धि प्रकृति की करण है ॥ २२८-२२९ ॥

इसका निरूपण ऊपर किया जा चुका है । प्रस्तुत कारिका में इसकी कारणरूपता का निरूपण कर रहे हैं—

वुद्धि में अहङ्कार उत्पन्न होता है । पुम्प्रकाश से प्रकाशित ऐसे वेद्यों से कलुषित बुद्धि-वृत्त्यात्मक प्रकाश के सन्दर्भ में पुरुष में 'मैं यह हूँ, यह जानता हूँ, यह करता हूँ—आदि सदृश अहङ्कार उत्पन्न होते हैं । मालिनी विजयोत्तर तन्त्र १।३० के अनुसार भी यह सिद्ध होता है कि बुद्धि से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है ।

प्रश्न होता है कि बुद्धि से जो बोध होता है—"वह चेतन के द्वारा उपभुक्त होता है । जिसका उपभोग होता है, उसे उपभोग्य कहते हैं । इस दृष्टि से बुद्धिबोध में भोग्यभाव भी सिद्ध होता है और यह अनुभव होता और किया जाता है कि यह इस प्रकार उत्पन्न है" ।

इत्याद्युक्त्या भोग्यत्वात् वेद्य एवेति कथमिदन्ताभाजनेऽस्मिन् अहमित्यभिमानो निरूढिमुपगच्छेदित्याशङ्क्योक्तं 'प्रतिबिम्बितपुंस्कृतेः' इत्यभिव्यक्तं पुमांसमुदिश्येत्यर्थः ॥ २३० ॥

एवमपि नायमात्मनि अहमभिमानः, किन्तु अनात्मरूपायां बुद्धावेव-आत्मप्रतिबिम्बस्य बुद्ध्याधारतया तदेकपरिणामत्वात् अस्याश्चासाधारणं कार्यमाह

तया पञ्चविधश्चैष वायुः संरम्भरूपया ।
प्रेरितो जीवनाय स्यादन्यथा मरणं पुनः ॥ २३१ ॥

संरम्भरूपयेति अहंकृतश्च संरम्भो वृत्तिरपि वृत्तिवृत्तिमतोस्तादूप्याद्रूपमित्युक्तम् । तदुक्तम्

इस उक्ति के अनुसार यह भोग्य और वेद्य मात्र है। इस तरह इसे इदन्ता का भाजन कहना ही ठीक है। इसमें अहन्ता का अभिमान कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर कारिका स्वयं देती है—

कारिका में प्रयुक्त 'प्रतिबिम्बित पुंस्कृतेः' शब्द इसी जिज्ञासा का समाधान है। वस्तुतः पुम्प्रकाश की परम्परा का क्रमिक प्रकाश ही प्रसरित होता है। ऊपर कहा गया है कि भोक्ता ही भोग्यभाव से भी अवस्थित है। सांख्य में प्रतिपादित पुरुष का प्रकाश यहाँ अभिप्रेत नहीं है। त्रिकदर्शन प्रतिपादित चेतन परम पुरुष के चैतन्य का ही प्रकाश यहाँ प्रतिबिम्बित है। कारिका २२७ में इसी का प्रतिपादन किया गया है ॥ २३० ॥

अभिमान की भूमि पर भी विचार करना आवश्यक है। क्या अहन्ता का अभिमान बुद्धि में होता है या आत्मा में ? आत्मा तो स्वयम् आत्मा है तथा स्वात्मसंविद् विमर्श से शाश्वत स्पन्दित है। उसमें अभिमान का प्रश्न ही नहीं। अहंमननात्मक अभिमान अनात्म बुद्धि में ही होता है। आत्मप्रतिबिम्ब बुद्धि-फलक पर पड़ता है और बुद्धि आधार बन जाती है। इसी से प्रकृति से प्रतिभा का प्रसव भी होता है। यह अनात्म में अहन्ता का अभिमान एक प्रकार का बुद्धि का असाधारण कार्य ही माना जाना चाहिये। इसी आधार पर ग्रन्थकार कहते हैं कि,

'पञ्चकर्मकृतो वायोर्जीवनाय प्रवर्तकः ।
संरम्भोहंकृतो वृत्तिः·································· ॥' इति ।

अन्यथेति अप्रेरितः। एवमहंकृतः संरम्भात्मिकया वृत्त्या प्राणादीनां प्रेरणमप्रेरणं च कार्यं, येन सर्वेषां जीवनं मरणं वा स्यात् ॥ २३१ ॥

एवं चास्या अहंकृतः शुद्धचित्स्वातन्त्र्यमयात् स्वात्ममात्रविश्रान्ति-सतत्त्वात् स्वरसोदितात् अहंभावादियान् विशेषो—यदियं जडायामनात्मरूपायां बुद्धावभिनिविष्टेति, तदाह

अत एव विशुद्धात्मस्वातन्त्र्याहंस्वभावतः ।
अकृत्रिमादिदं त्वन्यदित्युक्तं कृतिशब्दतः ॥ २३२ ॥

इदमिति अहंकृतम्, अन्यदिति कृत्रिमम्। ननु अस्य कृत्रिमत्वे किं प्रमाणमित्याशङ्क्योक्तमित्युक्तं कृतिशब्दत इति। श्रीपूर्वशास्त्रे हि अहंकृत-मित्युक्तं, कृतं कृत्रिममेवोच्यते करोतरेवमर्थत्वात् ॥ २३२ ॥

बुद्धि में एक प्रकार का अहमात्मक संरम्भ समुल्लसित होने लगता है। अहमात्मकता को संरम्भवृत्ति भी सक्रिय हो उठती है। इससे पाँच प्रकार के वायु बह चलते हैं। इसी से जीवन का संचार होता है। प्राणापानवाह ही जीवन है अन्यथा मरण अनिवार्य है। अहङ्कार की संरम्भात्मक वृत्ति की प्रेरणा का वह परिणाम मात्र है। आगम प्रामाण्य है कि,

"पाँच काम करने वाले वायु के प्रवर्त्तक अहंकार की संरम्भ वृत्ति ही है। यह जीवन की प्रेरणाप्रद वृत्ति है। इससे प्रेरित वायु से जीवन की यात्रा चलती है। प्रेरित न रहने पर मृत्यु अवश्यंभावी है। अहंकार की संरम्भात्मक वृत्ति के द्वारा ही गुणों की प्रेरणा से जीवन और अप्रेरणारूप मरण होते हैं ॥ २३१ ॥

बुद्धि के कार्य रूप अहङ्कार और शुद्ध स्वातन्त्र्यमय स्वात्ममात्र विश्रान्ति सतत्त्व स्वरसोदित अहंभाव में यही वैशिष्ट्य है कि संरम्भात्मिका वृत्ति वाली अहंकृति जडायमानात्मिका बुद्धि में ही अभिनिविष्ट है—यही तथ्यकारिका के के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे हैं कि,

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

इत्ययं करणस्कन्धोऽहंकारस्य निरूपितः ।
त्रिधास्य प्रकृतिस्कन्धः सात्त्वराजसतामसः ॥ २३३ ॥

त्रिधेति सत्त्वादेरेकैकस्याङ्गित्वात् ॥ २३३ ॥

तत्र सात्त्विकस्य तावत् प्रकृतिस्कन्धतां निरूपयति

सत्त्वप्रधानाहंकाराद्भोक्त्रंशास्पर्शिनः स्फुटम् ।
मनोबुद्धचक्षषटकं तु जातं भेदस्तु कथ्यते ॥ २३४ ॥

प्रधानेत्यनेन एषामन्योन्यमिथुनवृत्तित्वात् गुणभूतयोः रजस्तमसोरपि सद्भावो दर्शितः। स्फुटं भोक्त्रंशस्पर्शिन इति साक्षात् तत्स्वरूपप्रत्यवमर्शात्मकत्वादहंप्रत्ययस्य। मनोबुद्धयक्षषट्कमिति 'मनःषष्ठानोन्द्रियाणि' इति श्रुतेर्मनोयुक्तानि बुद्धीन्द्रियाणीत्यर्थः। तदुक्तम्

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि विशुद्ध स्वात्मस्वातन्त्र्य संवलित अहं के 'स्व' भाव से यह कृत्रिम अहंकृति एकदम अलग है। श्रीपूर्व में यह कहा गया है जो कृत होता है, वह निश्चित रूप से कृत्रिम होता है 'कृ' के धात्वर्थ में ही यह भाव निहित है ॥ २३२ ॥

इस विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि,

यहाँ तक अहंकार का करणस्कन्ध निरूपित हुआ। इनका दूसरा स्कन्ध प्रकृति स्कन्ध है। वह तीन प्रकार का होता है। १—सात्त्विक प्रकृति स्कन्ध, २—राजस प्रकृति स्कन्ध और ३—तामस प्रकृति स्कन्ध ॥ २३३ ॥

सत्त्वप्रधान अहङ्कार से भोक्त्रंश स्पर्शी अहं प्रत्यय से मन, श्रोत्र, चक्षु, नासा, रसना, और त्वक्रूप पाँच ज्ञानेन्द्रियों का यह एक षट्क वर्ग भेद पृथक् भासित होने लगता है। पृथक् अवभास के मूल में स्वरूप की प्रत्यवमर्शात्मक अहन्ता की अनुभूति ही काम करती है। अहं प्रत्यय ही भोक्ताभाव के आंशिक रूप से उल्लसित होने का आधार है। यही भोक्त्रंश है। इसी से सत्त्व का स्पर्श होता है। यह स्पर्श एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न करता है। इसी प्रकार के क्षोभ से यथानुरूप मन और ज्ञानेन्द्रियों को उत्पत्ति

'श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासा च मनसा सह ।
प्रकाशान्वयतः सत्त्वात्तैजसश्च स सात्त्विकः ॥' इति ।

ननु एषामेकस्मादेव अहंकारादुत्पादेऽपि कथं मनसः सर्वमेव विषयोऽन्येषां च नियतमित्याशङ्क्योक्तं 'भेदस्तु कथ्यते' इति । भेद इति विषयस्य नैयत्यानैयत्याभ्यामुत्थापित इत्यर्थः ॥ २३४ ॥

तदाह

मनो यत्सर्वविषयं तेनात्र प्रविवक्षितम् ।
सर्वतन्मात्रकर्तृत्वं विशेषणमहंकृतेः ॥ २३५ ॥

तेनेति मनसः सर्वविषयत्वेन हेतुनेत्यर्थः । अत्रेति सर्वत्र शास्त्रे, प्रविवक्षितमिति 'भूतादेस्तान्मात्रः स तामसः' इत्याद्युक्तेः[1] । तेन तमः प्रधानादहं-

---

हो जाती है । अहं प्रत्यय से सत्त्व प्राधान्य के स्पर्श का यह अर्थ भी लगाया जाना चाहिये कि सत्त्व गुण के साथ राजस और तामस अंश भी वहाँ विलसित रहते हैं, पर गौण होकर रहते हैं । कहा गया है कि,

"श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना, नासा और मन ये छः तत्त्व प्रकाश से अन्वित होने के कारण सत्त्वप्रधान अहङ्कार से उत्पन्न हैं । स्वरूप प्रत्यवमर्शक चिदंश सम्पर्क में जो आता है वह तैजस होता है । वही सात्त्विक भी कहलाता है ।

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एकमात्र अहंकार से उत्पन्न होने के कारण उक्त छः तत्त्वों में से एक मन ऐसा निर्मित तत्त्व है, जिसका सारे विषयों पर प्रभाव पड़ता है । अन्य ५ इन्द्रियाँ नियत विषयों में ही प्रवृत्त होती हैं । यह सब विषयों के नैयत्य और अनैयत्य से सम्बन्धित हैं । इन्द्रियाँ पाँच तन्मात्राओं के नैयत्य सम्बन्ध से अपने-अपने अनुरूप एक-एक विषय का ही ग्रहण करती हैं ॥ २३४ ॥

मन सभी विषयों में प्रवृत्त होता है । सभी शास्त्र यह स्वीकार करते हैं । अहंकार को सत्त्व प्रधानता के सन्दर्भ में मन तथा ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति के साथ तामस का सम्पर्क भी स्वाभाविक होता है । इसी आधार पर कहते हैं कि अहंतत्त्व का विशेषण ही सर्वतन्मात्रकर्तृत्व है । आगम की उक्ति है कि,

---

१. सां० का० २५

कारात् तन्मात्राणामुत्पादः, इति नास्ति विवादः। तमश्च सत्त्वप्रधानेऽपि अहंकारे संभवेदेषामन्योन्यमिथुनवृत्तित्वात्। यदुक्तम्

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः।' इति।

ततश्च तद्विशिष्टात् सात्त्विकादहंकारान्मनो जायते इत्यस्य सर्वविषयत्वम्। एवं यस्मात् मनसः सर्वविषयत्वम् अत इयं ज्ञायते—यदहंकृतः सर्वतन्मात्रकारणत्वं, येन मनसः शब्दादीनां च ग्राह्यग्राहकभावो भवेत् ॥२३५॥

एवं चास्य बुद्ध्यादेस्त्रयस्यासाधारणक्रियामुखेनान्तःकरणत्वमेवाह

बुद्ध्यहंकृन्मनः प्राहुर्बोधसंरभणैषणे।
करणं बाह्यदेवैर्यन्नैवाप्यन्तर्मुखैः कृतम् ॥ २३६ ॥

"सत्त्व, रज और तम अन्योन्य मिथुनवृत्ति वाले होते हैं। एक दूसरे के साथ मिले जुले रहते हैं। यह त्रिवृत्करण रूप उल्लास है। सत्त्व प्राधान्य में सत्त्व-तमस् और रजः प्राधान्य में सत्त्व-रजस् का संवलन रहता है। इसलिये ये सभी सर्वत्रगमन करने वाले तत्त्व हैं।"

सत्त्व प्रधान अहङ्कार से मन उत्पन्न होता है, पर यह भी सही है कि यह अहङ्कार भी मिथुनवृत्ति वाला तामसिक अहङ्कार रूप ही होता है। इसीलिये इसकी सर्वविषयता भी स्वाभाविक होती है। जहाँ तक तन्मात्राओं की उत्पत्ति का प्रश्न है—ये सभी तमः प्रधान अहङ्कार से उत्पन्न होते हैं। यही सर्वतन्मात्र कर्तृत्व विशिष्ट सात्त्विक अहङ्कार का वास्तविक स्वरूप है। मन चूँकि सर्वविषय होता है। अतः अहंकार सभी तन्मात्राओं का उत्पादक करण है। यही कारण है कि मन शब्द रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श सभी तन्मात्राओं को अपना विषय बनाता है। यह इन ग्राह्यों का ग्राहक बन जाता है ॥ २३५॥

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है फि ये तीनों बुद्धि, अहङ्कार और मन आन्तरिक रूप से ग्राह्य ग्राहक भाव को ही सम्पुष्ट करते हैं। इसलिये इन्हें अन्तःकरण कहते हैं। इनमें बोधवृत्ति, संरम्भवृत्ति और एषण वृत्तियों का सद्भाव होता है। बोध, संरम्भ और एषण वृत्ति ग्राह्येन्द्रियों के वश की बात नहीं। यह अन्तर्मुखी देवों द्वारा ही सम्भव है। बुद्धि से बोध,

बोधः शब्दादेर्विषयस्याध्यवसायः। संरम्भोऽहमात्माभिमानः। एषणमिच्छा संकल्पः। अत्र च क्रियात्वात् करणेन तावद्भाव्यम्। तच्च न वक्ष्यमाणं श्रोत्रादि, तस्य बाह्यक्रियाविषयत्वात् आसां चान्तारूपत्वात्; तस्मादन्तःकृतिसाधकत्वात् तदन्यदेव अन्तःकरणाख्यमित्युक्तं 'बुद्ध्यहंकृन्मन' इति। तदुक्तम्

'इच्छासंरम्भबोधाख्या नोक्तं सिद्ध्यन्ति साधनैः।
तत्सिद्धं करणं त्वन्तर्मनोऽहंकारबुद्धयः॥' इति।

बुद्ध्यहंकृन्मन इति द्वन्द्वः समाहारे। ननु बहिष्करणत्वेऽपि श्रोत्रादीन्येव प्रत्यावृत्त्यान्तर्मुखानि सन्ति, संभूय बोधादीनां साधनत्वं प्रतिपद्यन्ते,—इति किमन्तःकरणान्तरोपदेशेनेत्याशङ्क्याह बाह्येत्यादि। अन्तर्मुखानामपि बाह्येन्द्रियाणां नैव बोधादि कर्तुं शक्यमित्यर्थः। यदि नाम हि बाह्येन्द्रियाणि बाह्यात् प्रत्यावृत्त्यान्तर्मुखतया संभूय बोधादि कुर्युः तच्छब्दाद्यालोचनावसरे बोधादेरपि उपलम्भो न स्यात्। एषां हि बहिरसंहतानां

अहङ्कार से संरम्भ और मन से इच्छात्मक संकल्प रूप क्रिया के अध्यवसाय होते हैं। क्रिया से ही करण का महत्त्व होता है। आन्तरिक क्रियाओं के कारण होने के कारण ये अन्तः करण हैं।

आगम कहता है कि,

"इच्छा, संरम्भ और बोध बाह्य साधनों से सिद्ध नहीं हो सकते। इसलिये मन, बुद्धि और अहङ्कार ये तीनों सिद्ध अन्तःकरण हैं।"

यह नहीं कहा जा सकता कि बहिष्करण होने पर भी श्रोत्र आदि प्रत्यावर्तित होकर अन्तर्मुख होते हैं और सब मिल कर बोध, संरम्भ और एषण के साधन बन जाते हैं। इन्हें ही अन्तःकरण कहना उचित है। अलग से बुद्धि आदि को अन्तःकरण मानने की कोई आवश्यकता नहीं?

इसी जिज्ञासा का उत्तर कारिका में बाह्यदेव आदि पद्यांश के माध्यम से दिया गया है। वस्तुतः बाह्येन्द्रियों के अन्तर्मुख होने पर भी इनसे बोध संरम्भ और एषण व्यापार नहीं हो सकते। यदि बाह्येन्द्रियाँ ही बाहर से लौट कर अन्तर्मुख होकर मिल जुल कर बोध आदि करने लगें—तो अनर्थ की ही सम्भावना अधिक होगी। जैसे श्रोत्र शब्द का श्रवण करने लगे तो

शब्दाद्यालोचनमिष्टम्, अन्तर्मुखतायां च संहृतानां बोधादिकमिति कथमेतत् एकस्मिन्नेव काले भवेत्, दृश्यते च युगपदेतदिति न युक्तमुक्तं "बाह्येन्द्रियाण्येव अन्तर्मुखानि सन्ति संभूय बोधादेः साधनम्' इति । तदुक्तम्

'अन्तर्मुखगतानां च वित्ताद्यर्थं प्रकुर्वताम् ।
बाह्यार्थबुद्धिभिः साकं न स्युरिच्छादिकाःक्रियाः ॥'

इति ॥ २३६ ॥

ननु चैतन्याविभागवर्त्ती प्राण एव बोधादि विदध्यादिति किमेभिरन्तः-करणैरित्याशङ्क्याह

प्राणश्च नान्तःकरणं जडत्वात् प्रेरणात्मनः ।
प्रयत्नेच्छाविबोधांशहेतुत्वादिति निश्चितम् ॥ २३७ ॥

अर्थ की उपलब्धि कैसे होगी ? बाह्यभाव में अलग-अलग ये इन्द्रियाँ अपने विषय को ग्रहण करती हैं। फिर उसी समय अन्तर्मुख होकर शाब्द बोध आदि भी उसी समय करें—यह असम्भव और कल्पना से परे का तथ्य है।

व्यवहार में यह प्रत्यक्ष अनुभूत होता है कि श्रोत्र ने शब्द सुना और अर्थ तत्काल गृहीत हो गया। यह श्रोत्र के वश की बात नहीं। इसी तरह रसना ने मिष्टादि रसों का ग्रहण किया और रसानुभूति तुरन्त हुई। यह निश्चित ही अन्तःकरण के अधिकार क्षेत्र की बात है। इसलिये यह कहना कि,

"बाह्य इन्द्रियाँ ही अन्तर्मुखी हो जाती हैं और सम्मिलित भाव से बोधादि की साधन बनती हैं" सर्वथा अमान्य है। कहा गया है कि,

"अन्तर्मुख होकर चिन्तन द्वारा अर्थ साक्षात् करने वाले पुरुषों की बाह्यार्थबुद्धि से इच्छादि क्रियाओं की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती" ॥ २३६ ॥

चैतन्य से अविभक्त प्राण ही बोध आदि अध्यवसाय का हेतु है। इन अन्तःकरणों के पृथक् अस्तित्व की प्रकल्पना का कोई कारण नहीं। इसका निराकरण कर रहे हैं--

प्राण भी अन्तःकरण का काम नहीं कर सकता। क्योंकि प्राण तो स्वयं जड़ हैं। कभी-कभी यह देखा जाता है कि जड़ भी प्रेर्यमाण होकर साधन का काम करते हैं। पर यह निश्चित है कि प्रेर्यमाण करण प्रयत्न

प्राणश्च जडत्वान्नान्तःकरणं भवेदिति निश्चितम्—इति संबन्धः। ननु जडमपि वास्यादि कर्त्रा प्रेर्यमाणं करणं दृष्टमित्याशङ्क्योक्तं 'प्रेरणात्मनः प्रयत्नेच्छाविबोधांशहेतुत्वात्' इति। प्रेर्यमाणं हि करणं प्रयत्नं विना न भवेत्, प्रयत्नश्चेच्छापूर्वकः, इच्छा च बोधपूर्विकेति प्राणस्यान्तःकरणत्वाभ्युपगमेऽपि बोधादिकार्योपपादकेन करणान्तरेण अवश्यभाव्यमिति किं बुद्ध्यादिभिरपराद्धम्। तदुक्तम्

'अन्येऽन्तःकरणं प्राणमिच्छन्ति व्यक्तचेतनम्।
प्रयत्नेन विना सोऽस्ति तत्सिद्धौ करणं तु किम्॥'

इति॥ २३७॥

नन्वन्तारूपत्वाविशेषात् एकमेवान्तःकरणमस्तु, किमस्य त्रैविध्येनेत्याशङ्क्याह

अवसायोऽभिमानश्च कल्पना चेति न क्रिया।
एकरूपा ततस्त्रित्वं युक्तमन्तःकृतौ स्फुटम्॥ २३८॥

की अपेक्षा रखते हैं। प्रयत्न विना इच्छा के नहीं होते। इच्छा बिना बोध के नहीं हो सकती। यदि प्राण को अन्तःकरण माना भी जाय तो बोधादि कार्यों के सम्पादन के लिये किसी अन्यकरण की अपेक्षा अनिवार्यतः अपेक्षित होगी। तो फिर बुद्धि आदि ने ही क्या अपराध किया है कि इनके पीछे पड़ कर इनका खण्डन हो किया जाय! कहा गया है कि,

कुछ लोग व्यक्त चेतन प्राण को ही अन्तःकरण मानने पर बल देते हैं। अन्तःकरण के अध्यवसाय में प्रयत्न की कोई आवश्यकता नहीं होती। उसकी सिद्धि के लिये किसी अन्य करण की व्यर्थ और कष्टकर कल्पना की क्या आवश्यकता?" ॥ २३७॥

अन्तः करणों की आन्तरिकता में तो समानता है। इस अविशेष आन्तरिकता के कारण एक ही अन्तःकरण मानना समुचित है। इन तीन अन्तःकरणों की क्या आवश्यकता? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

अवसाय, अभिमान और कल्पना यह एक रूपा क्रियायें नहीं हैं। इस लिये इन तीनों की सिद्धि के लिये तीन अन्तःकरण मानना अत्यन्त आवश्यक है। कहा गया है कि,

नैकरूपा क्रियेति स्यति-मन्यति-क्लृपीनां भिन्नत्वात्। अन्यव्यवच्छेदेनाभिमतस्य अवसायो हि एषामेकविषयत्वेऽपि विभिन्नं कार्यं भवेदिति भावः। तदुक्तम्

'क्लृपिर्मन्तिः स्यतिश्चैव जाता भिन्नार्थवाचकाः।
इच्छासरम्भबोधार्थास्तेनान्तःकरणं त्रिधा ॥'

इति ॥ २३८ ॥

नन्वसंविदितं तावत्करणं न स्यात् बुद्धिश्च मनोऽहंकारवन्नं संवेद्या,—इति कथमस्याः करणत्वं युज्यते—इत्याशङ्क्याह

न च बुद्धिरसंवेद्या करणत्वान्मनो यथा।
प्रधानवदसंवेद्य-बुद्धिवादस्तदुज्झितः ॥ २३९ ॥

'असंवेद्यबुद्धिवाद' इति सांख्याभ्युपगतः। अयं चात्र प्रयोगः—बुद्धिः संवेद्या करणत्वात्, यत् करणं तत् संवेद्यं यथा मनः, यन्न संवेद्यं तन्न करणं यथा प्रधानं, बुद्धिश्च करणं, तस्मात् संवेद्याः—इति। संवेद्यत्वे च अस्या गुणान्वितत्त्वं हेतुः प्रधानेनानैकान्तिक इति

"क्लृपि (कल्पनार्थ) स्यति (अवसायार्था) और मन्यति (अभिमानार्थिका) ये तीन धातुएँ विभिन्नार्थिका हैं। इसी लिये इच्छा, संरम्भ और बोध के उद्देश्य की सिद्धि के लिये तीन अन्तःकरणों को मानना अनिवार्य है" ॥ २३८ ॥

बुद्धि को असंवेद्य मान कर इसके अन्तःकरणत्व का निषेध नहीं किया जा सकता। मन-अहङ्कार को संवेद्य मान कर जैसे 'संवेद्य ही करण होते हैं' इस आधार पर इन्हें अन्तःकरण मानते हैं। उसी तरह बुद्धि को भी अन्तःकरण मानते हैं। उसी तरह बुद्धि को भी अन्तः करण मानना उचित है।

सांख्यवादी 'असंवेद्यबुद्धिवाद' का सिद्धान्त मानते हैं। आचार्य जयरथ यहाँ पञ्चावयव प्रक्रिया से त्रिक उद्देश्य की सिद्धि का प्रयत्न कर रहे हैं—

१—बुद्धि संवेद्य है क्योंकि करण है। २—जो करण होता है, वह संवेद्य होता है। जैसे मन। ३—जो संवेद्य नहीं होता, वह करण नहीं होता जैसे प्रधान। ४—बुद्धि करण है। इसलिये यह संवेद्य है। गुणों के अन्तर्गत इसकी गणना है। इसलिये भी यह संवेद्य श्रेणी में ही आती है। कहा गया है कि,

'तुल्ये गुणान्वितत्वे तु संवेद्यं चित्तमिष्यते ।
बुद्धिश्चापि ह्यसंवेद्या धन्या तार्किकता तव ॥'

इत्याद्युपेक्ष्यम् ॥ २३९ ॥

ननु भवतु एवमन्तःकरणानां, बुद्धीन्द्रियाणां पुनर्मनोवदाहंकारिकत्वेऽपि नियतविषयत्वे किं निमित्तमित्याशङ्क्याह

शब्दतन्मात्रहेतुत्वविशिष्टा या त्वहंकृतिः ।
सा श्रोत्रे करण यावद्घ्राणे गन्धत्वभेदिता ॥ २४० ॥

अहंकारस्य मनसि जन्ये हि अविशेषेण तन्मात्रकर्तृत्ववैशिष्ट्यं प्रयोजकं बुद्धीन्द्रियवर्गे तु नैयत्येन, येनैषां नियतविषयत्वं भवेत् । यदुक्तम्

मनसि जन्ये सर्वतन्मात्रजननसामर्थ्ययुक्तः
स जनकः, श्रोत्रे तु शब्दजननसामर्थ्यविशिष्ट
इति, यावत् घ्राणे गन्धजननयोग्यतायुक्तः ।'

(त० सा० ८ आ०) इति ।

एवं चाहंकारिकत्वादेव एषां विषयेषु, नियमो—यच्छोत्रं शब्दमेवैकं गृह्णाति न स्पर्शादि, त्वक् च स्पर्शमेवैकं नेतरत्, यावत् घ्राणं गन्धमेवैकमिति । यैः पुनः

'न चाप्यहंकृतो जन्म नियमे कारणं मम ।'

इत्याद्युक्तं, तदहंकारस्वरूपनिरूपणानभिज्ञत्वमेवैतेषाम् ॥ २४० ॥

"गुणान्वित होने से चित्त को संवेद्य मानने वाले की तार्किकता को क्या कहा जाये जो गुणान्विता बुद्धि को असंवेद्य मानने के दुराग्रही हैं" । इसलिये बुद्धि भी अन्त करण है—इसमें सन्देह नहीं ॥ २३९ ॥

अन्तःकरणों की बात स्वोकार करने के बाद एक नयी बात सामने आती है । वह यह कि ज्ञानेन्द्रियाँ भी मन की तरह अहङ्कार की कार्य हैं, मन तो सर्वविषयक ग्राहक है । ये ज्ञानेन्द्रियाँ क्यों नियत विषयक मानी जाती हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

नन्वेषामन्यैर्ग्राह्यग्राहकभावे नियमान्यथानुपपत्त्या भौतिकत्वमुक्तम् ।

यदाहुः

'घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ।'

(न्या० सू० १।१।१२) इति ।

तेन पार्थिवत्वात् घ्राणं गन्धस्यैव ग्राहकं न रसादेर्यावदाकाशरूपत्वात् श्रोत्रं शब्दस्यैव ग्राहकं न स्पर्शादेरिति, अयुक्तं चैतदित्याह

भौतिकत्वमतोऽप्यस्तु नियमाद्विषयेष्वलम् ।

शब्दतन्मात्रविशिष्टा अहंकृति है, वह मात्र श्रोत्र में ही करण है। घ्राण में तो गन्ध का ही ग्रहण होगा। यहाँ अन्तर स्पष्ट है। तन्त्रसार द्वितीय खण्ड आह्निक ८ में इसकी विशद व्याख्या की गयी है। अहंकार-जन्यता के कारण ही ज्ञानेन्द्रियों की नियत विषयता निश्चित है। अन्य कुतर्क यहाँ नितान्त अनपेक्षित हैं ॥ २४० ॥

कुछ विद्वान् ज्ञानेन्द्रियों की भौतिकता की बात करते हैं। उनका मत है कि ज्ञानेन्द्रियाँ ग्राहिका हैं और पञ्चतन्मात्रायें ग्राह्य हैं। एक इन्द्रिय एक विषय का ही ग्रहण करती है—यह नियम है। अन्यथा अनुपपत्ति के कारण इनकी उपयोगिता ही नहीं रह जायेगी। घ्राण गन्ध का ग्रहण करती है। इस लिये इसे भौतिक मानना ही उचित मानते हैं।

"न्यायसूत्र १।१।१२ के अनुसार घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र इन्द्रियाँ पाँच महाभूतों से सम्बन्धित हैं। अतः भौतिक हैं।" इसलिए पार्थिव होने के कारण घ्राण केवल गन्ध का ही ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रिय है। यह रस आदि का ग्रहण नहीं कर सकती। इसी तरह आकाश रूप होने के कारण श्रोत्र शब्द का ही ग्रहण करता है, स्पर्श आदि का नहीं। इस मत को त्रिक दार्शनिक नहीं मानता। यह इन्हें भौतिक नहीं मानता। वह कहता है कि,

इन्द्रियों को विषयों में नियत नियन्त्रित देखकर इनको भौतिकता मानने वाले इसी में सन्तुष्ट होते हैं, तो हो लें, परन्तु इसको युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। वास्तविकता यह है कि उन उन विभिन्न वृतियों से

अतः तत्तद्वृत्तिविशिष्टाहंकारजन्यतयैव विषयनियमस्य सिद्धत्वात् हेतोः, एषां विषयेषु नियमात् यद्भौतिकत्वमपि अन्यैरुक्तं, तदलमस्तु न किंचिदेतद्वाच्यमित्यर्थः। एवं हि उच्यमाने वायुरपि त्वगिन्द्रियग्राह्यः स्यात् तत्प्रकृतिकत्वात् तस्य, न चेष्यते भवद्भिः वायोरग्राह्यत्वेनाभ्युपगमात्; द्वीन्द्रियग्राह्यं हि द्रव्यं दार्शनं स्पार्शनं च, वायुश्च द्रव्यमिति कथमेकेन्द्रिय-ग्राह्यतामियात्। किं च त्वगिन्द्रियं पृथिव्यादिद्रव्यत्रितयं तद्गतांश्च यथोक्त-लक्षणान् स्पर्शान्न गृह्णीयात् वायुप्रकृतिकत्वात् तस्य, प्रकृतिप्रक्रमेणैव च ग्राह्यग्राहकभावनियमस्योक्तत्वात्। एवं चक्षुरपि तेजोद्रव्यं तद्गतमेव च रूपं गृह्णीयात् न पृथिव्याद्यपि, तेजःप्रकृतित्वादस्य। एवं कर्मणि सामान्ये समवाये चेन्द्रियप्रत्यक्षत्वं न स्यात्, इन्द्रियाणां भौतिकत्वात्, एषां चातदा-त्मकत्वात्, दृश्यते चैतत्सर्वं; तस्मान्न भौतिकानीन्द्रियाणि—इति वाच्यम्। यद्भोगकारिकाः

सम्बन्धित अहंकृति के प्रभाव से ही उन उन विषयों में नियमन होता रहता है। जैसे त्वक् इन्द्रिय है। इससे स्पर्श का ग्रहण होता है। स्पर्श घन वस्तु सम्पर्क से होता है। पर त्वक् से वायु का भी ग्रहण होता है। यह त्वगिन्द्रिय ग्राह्य होता है। उसकी यह प्रकृति होती है। इन्द्रियों की भौतिकता मानने वाले लोग वायु को अग्राह्य मानते हैं। पर यह ग्राह्य हो रहा है।

द्रव्य दो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होते हैं। १—दर्शन द्वारा और २—स्पर्श द्वारा। इसे दार्शन इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और स्पार्शन इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष मानते हैं। वायु द्रव्य है। इसमें द्वीन्द्रिय ग्राह्यता होनी चाहिये। एकेन्द्रिय ग्राह्यता द्रव्य में नहीं होती। एक और बात ध्यान देने की है कि त्वक् इन्द्रिय चूंकि वायु प्रकृति की है। ऐसी अवस्था में वह पृथ्वी, अप् और तेज रूपी तीनों द्रव्यों के स्पर्श को कैसे अनुभव कर सकती है? ग्राह्य ग्राहक भाव का यह नियम है कि वह प्रकृति के क्रम से ही होता है। एक और विप्रतिपत्ति होगी। आँख तेजस द्रव्य और उन्हीं के रूपों को ग्रहण कर सकेगी, पृथ्वी आदि रूपों को कैसे ग्रहण कर सकेगी? क्योंकि इसकी प्रकृति ही तेजोमयी है। इन्द्रियां को भौतिक मान लेने पर सामान्य और समवाय में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष असम्भव हो जायेगा। इनके ऐसा न मानने पर अर्थात् अहंकृति निर्दिष्ट मानने पर कोई गड़बड़ी नहीं होती। सारे ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष इस

'चतुर्द्रव्यगतान् स्पर्शांश्चतुरो मरुतः क्रमात् ।
द्रव्याणां त्रितयं चैव गृह्णाति न च मारुतम् ।
त्रीणि द्रव्याणि चक्षुश्च तेषु रूपाणि चैव हि ।
अतो न नियमोऽक्षाणां विषयाणां च कल्पने ॥
भौतिकत्वाच्च नियमे कर्मसामान्ययोःस्फुटम् ।
देवेभ्यो बुद्धयो न स्युः समवाये च देहिनः ॥' इति ।

ननु इन्द्रियाणां प्रकृतिनियमे विषयनियमाख्यां युक्तिमन्यथोपपादयता भवता भौतिकत्वं तावन्निरस्तम्, आहंकारिकत्वे पुनः का युक्तिरित्याशङ्क्याह

मान्यता के अनुसार स्वभावतः होते हैं, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहो है। इसलिये इन्द्रियों के भौतिकत्व का सिद्धान्त अमान्य है। भोगकारिकायें कहती हैं कि,

"स्पर्श चार द्रव्यों में वायु के क्रम से होता है। जैसे वायु, अप्, तेज और धरा इन चारों में त्वक् से स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है। इनमें तीन द्रव्य भौतिकत्व नियम के अनुसार मारुत प्रकृति को स्वीकार नहीं कर सकते। तीन द्रव्यों में रूप है। इनको आँखें ग्रहण करती है। इसलिये यह निश्चित है कि,

भौतिकत्व के आधार पर इन्द्रियों और विषयों दोनों के कर्म सामान्य में सन्निकर्ष जन्य किसी नियम का प्रकल्पन प्रचलन में नहीं है, यह स्फुट सत्य है। वायु, आकाश आदि तत्त्व देववर्ग के अग्रदूत हैं। इनके ऊपर-बुद्धीन्द्रिय प्रभावित नहीं, अपि तु अहंकृति के संस्कार से ही श्रोत्र आदि शब्द आदि को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं।

इस प्रक्रिया में प्राणी विवश है। सारे व्यवहार-समवाय में प्रकृतिगत सामर्थ्य ही हेतु है।"

इस तरह इन्द्रियों के प्रकृति नियम में विषय नियम के नय का अपने शास्त्रानुसार प्रतिपादन करने के उपरान्त आहंकारिकता के प्रतिपादन की युक्ति दे रहे हैं—

अहं शृणोमि पश्यामि जिघ्रामीत्यादिसंविदि ॥ २४१ ॥
अहंतानुगमादाहंकारिकत्वं स्फुटं स्थितम् ।

आदिशब्दात् स्पृशामि रसयामीति। स्फुटमिति स्वानुभवसिद्धमेवेत्यर्थः ॥ २४१ ॥

एषां चाहंकारिकत्वादेव करणत्वं घटते, नान्यथा,—इत्याह

करणत्वमतो युक्तं कर्त्रंशस्पृक्त्वयोगतः ॥ २४२ ॥
कर्तुर्विभिन्नं करणं प्रेर्यत्वात् करणं कुतः ।

अतः आहंकारिकत्वात् अहंपरामर्शानुवेधात् कर्त्रंशस्पर्शित्वात् एषां करणत्वं युक्तम्; अन्यथा हि कर्तुश्चेत् विभिन्नं करणमिष्यते, तत् प्रेर्यत्वात् करणमेव कुतो भवेत्, अपि तु प्रेरणविषयत्वात् कर्मेत्यर्थः ॥ २४२ ॥

मैं सुनता हूँ, मैं देखता हूँ और मैं गन्ध ग्रहण कर रहा हूँ आदि प्रयोगों में स्वात्मसंविद् प्राधान्य का अनुभव होता है और स्वभावतः अहमर्थ का समर्थन हो जाता है, अहंता का अनुगम होता है, और उत्तम पुरुषमयी संविद् की सूचना हो जाती है। इसी तरह 'स्पर्श करता हूँ' अथवा 'रसास्वादन करता हूँ' ऐसे प्रयोग भी स्वानुभव सिद्ध अहंता प्राधान्य के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं ॥ २४१ ॥

इन्द्रियों को करणेश्वरी देवी कहते हैं। यह करण रूपता भी इसी आहंकारिकता पर ही निर्भर करती है। किसी दूसरी सरणी से उनका करण होना सिद्ध नहीं हो सकता। यही कह रहे हैं—

कर्त्रंश का अनुत्तर संस्कार इन प्रयोगों में स्पष्ट झलकता है। उसी आहंकारिकता के आधार पर उक्त प्रयोगों में अहंपरामर्श होता है। कर्त्तापन का भावात्मक स्पर्श अनुभूत होता है। इस लिये इसे करण भी कहते हैं। व्यापार के साधकतम कर्त्रंश को करण मानने में यह आहङ्कारिकता ही आधार बनती है। ऐसा न मानने पर कर्तृत्व की कारण प्रक्रिया की सिद्धि नहीं हो सकेगी। कर्त्ता के विभिन्न करण होते हैं। कर्त्ता प्रेरक होता है। प्रेर्य करण होता है और प्रेरण विषय कर्म। आहङ्कारिकता न मानने पर करणत्व की जगह कर्मत्व का भी आकलन स्वाभाविक हो जायेगा ॥ २४२ ॥

न च अकरणिका क्रिया भवेदिति तत्र करणान्तरमन्वेष्यम्; तच्च कर्तृ-विभिन्नत्वात् प्रेर्यमेवेति, तत्रान्यत् करणमित्यनवस्था स्यादित्याह

करणान्तरवाञ्छायां भवेत्तत्रानवस्थितिः ॥ २४३ ॥

एवं हि देहादौ गृहीताभिमानः संकुचितः प्रमाता स्वयमेव स्वं वपुः पृथक्कृत्यैवाहन्तासंस्पर्शात् स्वाङ्गरूपमपि श्रोत्रादि शब्दादिविषयतया तदा-लोचनक्रियादौ साधनतां नयेत्, तदाह

तस्मात् स्वातन्त्र्ययोगेन कर्ता स्व भेदयन् वपुः ।
कर्मांशस्पर्शिनं स्वांशं करणीकुरुते स्वयम् ॥ २४४ ॥

तस्मादिति कर्तृविभेदकरणत्वस्यानुपपन्नत्वात् । स्वातन्त्र्ययोगेनेति कर्तृतावशेनेत्यर्थः । कर्मांशस्पर्शिनमिति शब्दादिविषयसम्बद्धमित्यर्थः । स्वांश-मिति श्रोत्रादिरूपम् ॥ २४४ ॥

यह नियम है कि अकरणिका क्रिया नहीं होती । क्रिया के लिये करण की आवश्यकता और अपेक्षा होती है । कर्त्ताओं के अनेकत्व के कारण करणान्तर की आकांक्षा में अनवस्था का दोष इस बात के लिये प्रेरित करता है कि आहङ्कारिकता से करणत्व के होने के नियम को माना जाय ॥ २४३ ॥

संकुचित प्रमाता को देहादि रूप अनात्म में आत्माभिमान होता है । स्वयम् ही अपने शरीर को पृथक् मान कर अहन्ता के संस्पर्श के कारण ही अपने अङ्ग रूप श्रोत्र आदि को शब्द आदि विषयों के ग्रहण करने के लिये या इनकी समीक्षा के लिये साधन बना लेता है । यह उसकी स्वतन्त्रता का ही स्वभाव होता है । स्वात्म स्वातन्त्र्य का ही यह एक संस्कारगत वैशिष्ट्य होता है । इसी के प्रभाव से यह कर्त्ता अपने शरीर को विभिन्न रूपों में व्यक्त करता है । उपनिषद् इसी को 'रूपं रूपं प्रति प्रतिरूपं बभूव' कहती है । इसी कर्तृत्व के योग अर्थात् आवेश से कर्मांश संस्पर्शी शब्द आदि स्वरूप विषयों को ग्रहण करने के लिये अपने ही अंश रूप श्रोत्र आदि को करण बना लेता है । इस तरह जागतिक व्यापार के संवहन करने का क्रीड़ा करता है ॥ २४४ ॥

ननु यद्येवं तत् कथं 'कुठारेण छिनत्ति' इत्यादौ कर्तुर्विभिन्नस्यापि कुठारादेः करणत्वं स्यादित्याशङ्क्याह

करणीकृततत्स्वांश-तन्मयोभावनावशात् ।
करणीकुरुतेऽत्यन्तव्यतिरिक्तं कुठारवत् ॥ २४५ ॥

संकुचित एव हि प्रमाता करणीकृतेन तेन बुद्धिकर्मेन्द्रियाद्यात्मना स्वांशेन यत् तन्मयीभावनमविभागाभिमानः, तन्महिम्ना व्यतिरिक्तहस्तादिकमपेक्ष्य अत्यन्तव्यतिरिक्तमपि कुठारादिकं करणीकुरुते, छिदिक्रियायां साधकतमतां नयेदित्यर्थः। एवं कर्तुः स्व एवांशः पृथक् कृतः,—इति मुख्यतया करणतामियादिति सिद्धम् ॥ २४५ ॥

तदाह

तेनाशुद्धैव विद्यास्य सामान्यं करणं पुरा ।
ज्ञप्तौ कृतौ तु सामान्यं कला करणमुच्यते ॥ २४६ ॥

प्रश्न होता है कि कुठार से काट रहा है, इस वाक्य में कुठार कर्त्ता से भिन्न है। इसमें करण का आरोप कैसे होता है? इसका उत्तर दे रहे हैं कि,

संकुचित प्रमाता अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को किसी क्रिया की सिद्धि के लिये करण के रूप में काम में लाता है। ये उसके अपने ही अंश और अंग होते हैं। इनमें उसकी तन्मयता होती है। ये मेरे आत्मरूप ही हैं, ऐसा अभिमान भी होता है। यह स्वांश में तन्मयी भावना ही है। इसके प्रभाव से ही वह व्यतिरिक्त हाथ आदि में करणत्व का आरोपण किये बैठा है। इसी तन्मयी भावना के आवेश से अत्यन्त व्यतिरिक्त कुठार आदि में भी करणत्व का आरोपण कर लेता है। वह यह मानने लगता है कि लकड़ी काटने में यह साधकतम कारक है। इस व्यापार में उसका अपना अंश ही स्वयं पृथक् कर लिया जाता है। अतः वह भी करण मान लिया जाता है ॥ २४५ ॥

पुरेति पूर्वम् । विद्याकलयोरेव हि अनन्तरं बुद्धिकर्मेन्द्रियात्मा विशेष - वपुः प्रसरः ॥ २४६ ॥

ननु कला सर्वत्र प्रयोजककर्तृत्वेनोक्ता,—इति कथमिहास्याः करणत्वेनाभिधानमित्याह

ननु श्रीमन्मतङ्गादौ कलायाः कर्तृतोदिता ।
तस्यां सत्यां हि विद्यायाः करणत्वार्हताजुषः ॥ २४७ ॥

कर्तृप्रयुक्तायामेव हि करणादिभावो भवेदिति भावः ॥ २४७ ॥

तदेव प्रतिविधत्ते

उच्यते कर्तृतैवोक्ता करणत्वे प्रयोजिका ।
तया विना तु नान्येषां करणानां स्थितिर्यतः ॥ २४८ ॥

इस प्रकार अशुद्ध विद्या जैसे पहले सामान्य ज्ञप्ति में करण का काम करती है, उसी तरह सामान्य कृति में कला करण बनती है। अशुद्ध विद्या से ज्ञानेन्द्रियाँ और कला से कर्मेन्द्रियाँ प्रेरित होती हैं। आदिम वपुः-प्रसार का यह स्वरूप त्रिक शास्त्रीय मान्यता के ही अनुरूप है ॥ २४६ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि कला तो प्रयोजक कर्त्रीरूप में अबतक प्रतिपादित होती रही है। यहाँ उसे करण कहा गया है। यह क्यों ? इसका उत्तर दे रहे हैं कि,

श्री मतङ्गशास्त्र आदि में अवश्य ही कला को कर्त्री माना गया है। फिर भी तथ्य यही है कि करण भी कारक ही होता है। कारक में कर्त्रंश होता ही है। यदि कला कर्त्री है तो विद्या में करणता की अनिवार्य योग्यता विद्यमान है—यह स्पष्ट है। कर्त्ता से प्रयुक्त करण भाव होता है। कला से प्रयुक्त विद्या में करणता की मान्यता में कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती ॥ २४७ ॥

वस्तुतः करणत्व की प्रयोजिका कर्तृता होती है। कर्त्ता में कर्तृत्व का जो पारमार्थिक तत्त्व है, वही अपने व्यापार की सिद्धि के लिये साधन का उपयोग करने के लिए प्रेरित करता है। कर्त्ता के प्रयोजन की ही सिद्धि होती है। अतः कर्त्तापन ही प्रयोजक बन जाता है। कर्त्तापन के विना किसी करण की स्थिति

'करणत्व' इति सतीत्यर्थः। 'प्रयोजिका' इति मुख्या, करणत्वं पुनरस्या अमुख्यमित्यर्थसिद्धम्। कर्तृत्वस्यैव हि व्यतिरेकमुखेन मुख्यतायां हेतुः तया विनेत्यादि॥ २४८॥

अस्याः प्रयोजककर्तृत्वाभिधानात् न करणवर्गान्तःपातः, इत्याह

अतोऽसामान्यकरणवर्गात् तत्र पृथक् कृता।

पृथक्कृता इति करणत्वस्यामुख्यत्वात्॥

ननु यद्येवं तत्कथं विद्यावत् कर्त्रंशस्पर्शित्वात् कलाया अपि मुख्यं करणत्वमुक्तमित्याशङ्क्याह

विद्यां विना हि नान्येषां करणानां निजा स्थितिः॥ २४९॥
कलां विना न तस्याश्च कर्तृत्वे ज्ञातृता यतः।
कलाविद्ये ततः पुंसो मुख्यं तत्करणं विदुः॥ २५०॥

की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यहाँ चार व्यापार दशायें विचारणीय हैं। परिमित प्रमाता अनात्म में आत्म भाव के कारण 'स्व' के इस संकुचित रूप में कर्त्तृत्व का आकलन करता है। पहली दशा में यह कर्त्रंश का सांस्कारिक उल्लास हुआ! उसमें कर्त्तृत्व का उल्लास हुआ। यह दूसरी व्यापार दशा है। तीसरी दशा में यह प्रयोजिका बनती है। लक्ष्य की सिद्धि के लिये नये ऊह उत्पन्न होते हैं। कर्त्ता में तदनुरूप विमर्श के स्पन्दन लहराते हैं। इस दशा में कर्त्ता में प्रयोजिका भाव का उदय होता है। यह मुख्य भाव है। इसी के माध्यम से करण का आविष्कार होता है। यह अमुख्या चौथी दशा है। इस तरह करण की पृथक् स्थिति स्पष्ट होती है। इन सब के मूल में अहंता संवलित कर्त्रंश ही विद्यमान है॥ २४८॥

प्रयोजक कर्त्ता में प्रयोजक कर्त्तृत्व का जो प्रयोजक व्यापार है, वह करण नहीं कहा जा सकता न ही करण वर्ग में आ सकता है क्योंकि उसमें कर्त्ता का तत्त्व ही मुख्य होता है। कला और विद्या का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ की दूसरी स्थिति है। विद्या वह तत्त्व है जिसके विना किसी करण की स्थिति नहीं हो सकती। इसी तरह कला के विना विद्या की भी स्थिति असम्भव है। चूँकि कर्त्तृत्व में ज्ञातृता अनिवार्य तत्त्व है। अतः कला और विद्या दोनों का

अन्येषामिति कर्तुः कथंचिद्विभिन्नानामन्तर्बहिष्करणानाम्; एषां हि कथंचिद्भेदेऽपि स्वांशरूपविद्याद्यविभागभावनया करणत्वं भवेदिति भावः। तस्या विद्यायाश्च न निजा स्थितिरिति संबन्धः। यतः कर्तृत्वे ज्ञातृता भवेत्, नहि कर्तृत्वं विना ज्ञानक्रियायामपि कर्तृत्वं भवेदिति भावः। तत इति विद्याया अपि करणत्वस्य कलाधीनत्वात्। यदधीनं हि अन्यस्य करणत्वं तस्यापि हस्ताधीनकरणभावदात्रादिवत् करणत्वं दृष्टम् ॥ २५० ॥

ननु चक्षुरादेरिव रूपादौ क्वानयोर्विवेकेन करणत्वं दृष्टम्,—इत्याशङ्क्य प्रागुक्तं हेतुतया निर्दिशन्नाह

अत एव विहीनेऽपि बुद्धिकर्मेन्द्रियैः क्वचित्।
अन्धे पङ्गौ रूपगतिप्रकाशो न न भासते ॥ २५१ ॥

करणत्व भी अन्योन्याश्रयवृत्ति की दृष्टि से विचारणीय है। कर्त्तृत्व और ज्ञातृत्व के पारस्परिक सम्बन्ध बड़े महत्व पूर्ण हैं। कर्त्ता के संकुचित कर्त्रंश में अन्तःकरण और बहिष्करण की आंगिकता का वरदान निहित रहता है। इनमें भेदवाद को भौतिक सुधा की भव्यता का उल्लास होता है। ये कला और विद्या आदि भी अविविक्त रहते हुए भी विविक्तवत् भासित होती हैं। जिस समय भेदावभास में कला और विद्या अभी नहीं आयी होती हैं, उसी समय से ये करण वर्ग में समाविष्ट रहती हैं। भेदावभास दशा में प्रत्यक्ष करण बनकर व्यक्त होती हैं। यह इनकी अपनी विनियोजित दशा होती है। निजी दशा नहीं होती। क्योंकि कर्त्तृत्व में ज्ञातृत्व समाहित रहता है। ज्ञातृत्व वहाँ विनियोजित रहता है। इसी तरह ज्ञातृत्व में कर्त्तृत्व भी विनियोजित रहता है। ज्ञानक्रिया में कर्त्रंश शाश्वत विद्यमान रहता है। विद्या का करण बनना विद्या के वश की बात नहीं होती अपितु कला के अधीन होता है। जिसके अधीन दूसरे का करणत्व हो वह भी करण कहलाता है। जैसे हाथ में कुल्हाड़ी है। हाथ के अधीन है किन्तु वह पेड़ को काटने के लिये तभी प्रयुक्त होती है, जब हाथ उठाकर लकड़ी पर प्रहार करे। कुल्हाड़ी का करणत्व हाथों के ही अधीन है। यह पारम्परिक करणत्व है। पुरुष के लिये तदधीन होने के कारण कला और विद्या भी इसी तरह करण सिद्ध होती हैं ॥ २४९-२५० ॥

आँख रूप मात्र का दर्शन करती है और रूप के साक्षात्कार के लिये आँख की आवश्यकता होती है। पैर से गति और चलने के लिये पैर होना ही

अत एव विद्याकलयोर्मुख्यकरणत्वात् कचित् काले कदाचिदित्यर्थः। अन्ध इति पङ्गाविति च बुद्धिकर्मेन्द्रियहीनत्वोपलक्षणमेतत्। न न भासते अपितु भासते एवेत्यर्थः ॥ २५१ ॥

ननु यदि अन्धादीनामपि रूपादि भायात्, तत् कृतं बुद्धिकर्मेन्द्रियैरित्याशङ्क्याह

किंतु सामान्यकरणबलाद्वेद्येऽपि तादृशि ।

तादृशि इति सामान्यरूपे एवेत्यर्थः ॥

तदाह

रूपसामान्य एवान्धः प्रतिपत्तिं प्रपद्यते ॥ २५२ ॥

अन्धादीनामपि हि अस्माकमिव मेर्वपरपार्श्ववर्तिषु पदार्थेषु सामान्यात्मना रूपादौ प्रतिभासो भवेत्; अनुल्लिखितरूपादिप्रतिभासत्वे हि एषां बाह्यमर्थं प्रति प्रवृत्तिरेव न स्यात् ॥ २५२ ॥

चाहिये। ऐसे प्रसङ्गों में दोनों का एक दूसरे के प्रति करणत्व विद्या और कला के विवेक पर निर्भर करता है। इसके दृष्टान्त अन्ध और पङ्गु हैं। आँख रूपी ज्ञानेन्द्रिय से अन्धा व्यक्ति विहीन होता है। उसे रूप का प्रकाश भासित नहीं होता। वहाँ विद्यारूपी ज्ञत्व ही करण बनता है। पङ्गु में कर्मेन्द्रिय रूपी पैर के अभाव में कला का मुख्य करणत्व ही गति के न रहने पर भी गतित्व भासित होता है ॥ २५१ ॥

प्रश्न होता है कि यदि अन्धे को भी रूप भासित हो सकता है तो बुद्धीन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की क्या आवश्यकता? यह प्रश्न उचित नहीं। वेद्य की संवेदना सामान्यतया वेतृकरण से होती है। उसी तरह आँख के न रहने पर जो रूप भासित हाता है, वह विद्या की सामान्य शक्ति के बल पर सामान्यरूप से ही होता है। अन्धा व्यक्ति जिस रूप का अवभास संवेदन करता होगा वह रूप नहीं अपितु रूप सामान्य ही होता है। आँख वाला व्यक्ति दूरस्थ मेरु के ऊपर पार्श्ववर्त्ती द्रव्य का भी रूपावभास सामान्य रूप से ही करता है। बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्ति का कारण क्या है? इसका विचार करने पर यही लगता है कि कल्पित रूप का सामान्यावभास ही यह शक्ति प्रदान करता है। इसलिये अन्धे मनुष्य की रूप प्रतिपत्ति रूप सामान्य की प्रतिपत्ति है ॥ २५२ ॥

एवमेतत् प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह

तत एव त्वहंकारात् तन्मात्रस्पर्शिनोऽधिकम् ।
कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपायूपस्थाङ्घ्रि जज्ञिरे ॥ २५३ ॥

ततस्त्रिस्कन्धतयोक्तादहंकारादित्यर्थः । ननु सत्त्वप्रधानेऽपि अहंकारे तन्मात्रस्पर्श उक्तः,—इति ततोऽस्य को विशेषः,—इत्याशङ्क्योक्तम् अधिकं त्विति । ज्ञानदशायां हि उपक्रान्तोऽपि तत्स्पर्श इह क्रिया प्रधानतया कार्यपर्यन्तीभूत इत्यर्थः । अनेन चास्य राजसत्त्वं प्रकाशितम् । तदुक्तम्

'वाणी पाणी भगः पायुः पादौ चेति रजोद्भवाः ।
कर्मान्वयाद्रजोभूयान् गर्वो वैकारिकोऽत्र यः' ॥ इति ।

वक्ष्यति च

'उक्त इन्द्रियवर्गोऽयमहंकारात् तु राजसात् ।'
[९।२७१] इति ॥ २५३ ॥

अत्र च प्राग्वदेवाहंकारानुवेधात् आहंकारित्वं स्फुटयति

वच्म्याददे त्यजाम्याशु विसृजामि व्रजामि च ।
इति याहंक्रिया कार्यक्षमा कर्मेन्द्रियं तु तत् ॥ २५४ ॥

अतः उक्त विश्लेषण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि तन्मात्रस्पर्शी अहंकृति ही, जिसका तीन स्कन्धों में वर्णन किया जा चुका है, तन्मात्राओं से और ज्ञानेन्द्रियों से भी कुछ आगे बढ़कर कर्मेन्द्रिय सृष्टि का कारण बनती है । ज्ञान की दशा में अहंकृति का तन्मात्रस्पर्शीरूप ज्ञानेन्द्रियों की और क्रिया प्राधान्य की दशा में कार्य को अन्तिम रूप देने के लिये कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति का करण बनता है । कहा गया है कि,

"वाक् पाणि, पायु, उपस्थ और चरण राजस उद्भूति हैं । इनमें कर्म का अन्वय होता है । गर्व होता है और यह उद्भूति वैकारिक होती है" इन्द्रिय वर्ग का यह स्फुट उल्लास राजस अहंकार का ही चमत्कार है ॥ २५३ ॥

इस उल्लास में भी पहले की तरह अहंता के अनुप्रवेश का क्रम विद्यमान है । व्यावहारिक पद प्रयोग, परस्पर आलाप और विचार विमर्श के क्षणों में यह आहंकारिक अनुवेध दृष्टि गोचर होता है । जैसे 'वच्मि' उत्तम पुरुष

विसृजामीति विसर्गस्यानन्दफलत्वात्। ननु बुद्धीन्द्रियेष्वपि अहन्तानुवेधोऽस्ति,—इति कस्तेभ्य एषां विशेषः,—इत्याशङ्क्योक्तं कार्यक्षमेति। एषां चाहंक्रियाकार्यत्वेऽपि सामानाधिकरण्यनिर्देशोऽयमाशयो—यदधिष्ठानमात्रं नेन्द्रियमिति ॥ २५४ ॥

अत आह

तेन च्छिन्नकरस्यास्ति हस्तः कर्मेन्द्रियात्मकः ।

तेनेति कार्यक्षमाहंक्रियामयत्वेन हेतुनेत्यर्थः। अहंक्रिया च सर्वशरीराधिष्ठानेति तान्यपि तथेति सिद्धम् । यद्वक्ष्यति

'तस्मात् कर्मेन्द्रियाण्याहुस्त्वग्वद्‌व्याप्तृणि मुख्यतः ।
तत्स्थाने वृत्तिमन्तीति .... ॥'

(९।२६०) इति ।

कर्मेन्द्रियात्मको हस्त' इति प्रत्यक्षाधिष्ठानतिरिक्तवृत्तिः कर्त्रंशतयाधिष्ठातृरूपः ॥

एकवचन का प्रयोग कोई पुरुष करता है। 'मैं कहता हूँ' 'मैं बोलता हूं' इन वाक्यों में अहंता का स्फुट उल्लास स्पष्ट है । आददे (स्वीकारता हूँ) त्यजामि (छोड़ता हूँ) विसृजामि (विसर्गानन्द का अनुभव करता हूं) इन प्रयोगों में कर्मेन्द्रियों की कार्य क्षमता उसी उत्तमपुरुष की अहंकृति के कर्त्रंश की प्रेरणाशक्ति है। अहंता को कार्य क्षमता की ये प्रतीक हैं। अहं क्रिया ही कार्यक्षमा होती है। विशेष्य विशेषण भाव की समानाधिकरणता यह सिद्ध करती है कि इन्द्रियाँ केवल अधिष्ठान ही नहीं है, अपितु उनमें कार्यत्व की सक्रियता भी विद्यमान है ॥ २५४ ॥

यह व्यवहार सिद्ध और प्रकृति गत चमत्कार है कि, अगर किसी व्यक्ति का हाथ कट जाता है तो भी उसके शरीर में कर्मेन्द्रियात्मक हाथ की स्फुटता विद्यमान रहती है। यह कार्यक्षमा अहं क्रिया का कार्यत्व ही होता है। यह अहंक्रिया सर्वशरीराधिष्ठाना होती है। इसी आह्निक के २६० वें श्लोक में यह कहा गया है कि,

ननु यद्येवं तत्कथं पञ्चाङ्गुलावेव पाणीन्द्रियतया व्यवहारः,— इत्याशङ्क्याह

तस्य प्रधानाधिष्ठानं परं पञ्चाङ्गुलिः करः ॥ २५५ ॥

प्रधानेत्यनेन अप्रधानमपि अधिष्ठानान्तरमस्यास्तीत्यावेदितम्; अत एव छिन्नकरादेर्मुखादिनापि आदानं स्यात् ॥ २५५ ॥

ननु तिर्यगादीनां मुखेनापि आदानं संभवेत्, किन्तु न तत् पाणीन्द्रिय-करणम्; आत्मनो हि भोगायतनं शरीरं तैस्तैः स्वावयवैरेव तत्तत्कर्मफलोप-भोगं संपादयतीत्याशङ्क्याह

"इसलिये कर्मेन्द्रियाँ भी मुख्यतः त्वग् इन्द्रिय की भाँति व्यापक मानो जाती हैं। ये प्रतीक भूत अंगों की वृत्तियों के संस्कार से संयुक्त होती हैं………"। हाथ कर्मेन्द्रिय का प्रत्यक्ष अधिष्ठान है किन्तु इसके अतिरिक्त भो यह हस्त वृत्ति कर्त्रंश रूपा अधिष्ठात्री शक्तिरूप में विद्यमान रहती है।

कर्मेन्द्रिय रूप में हाथ को प्रायः लोग पाँच अङ्गुलियों से संवलित अङ्ग का ही अर्थ लेते हैं किन्तु यह कैसे कहा जाता है कि कर्मेन्द्रियाँ त्वगिन्द्रिय की तरह शरीर में व्यापक हैं। यदि यह बात सत्य है तो पाँच अङ्गुलियुक्त कर नामक अंग को कर्मेन्द्रिय कैसे कहा जा सकता है? इसके विषय में अपना मत व्यक्त कर रहे हैं कि,

यह पाँच अङ्गुलियों वाला हाथ शरीर का अंग है। यह कर्त्रंश का प्रधान अधिष्ठान है जिससे कार्य सम्पादन होता है। इसके अतिरिक्त अप्रधान अधिष्ठान भी होते हैं। जैसे हाथ न रहने पर मुख से काम निकालते या पैर की अंगुलियों से लिखने का काम भी कुछ हाथ रहित अपंग व्यक्ति करते हैं। वह अप्रधान अधिष्ठान होता है ॥ २५५ ॥

तिर्यग् योनि के जीव भी मुख से हस्तेन्द्रिय का काम करते हैं। पर उसे पाणि रूप से अभिहित नहीं करते। यह शरीर तो आत्मा का भोगायतन है। विभिन्न अवयवों के माध्यम से ही कर्म सम्पादित किये जाते हैं और उनसे उत्पन्न भोगों का उपभोग होता है। पर जहाँ ये अवयव समान रूप से नहीं रहते, जैसे तिर्यग् योनि में हाथ के न रहने पर मुख से आदान क्रिया सम्पादित होती है। इस अवस्था में वहाँ जो करण आदान का काम कर

मुखेनापि यदादानं तत्र यत् करणं स्थितम् ।
स पाणिरेव करणं विना किं संभवेत् क्रिया ॥ २५६ ॥

तत्रेति आदानक्रियायां स्थितमिति न तूक्तं मुखादि; अत्र हि तृतीया-श्रुत्या प्रकृत्यर्थनिवेशिकरणत्वं वाच्यम् । प्रकृत्यर्थश्च मुखं, न च तस्य करणता युज्यते, भौतिकतया कर्त्रंस्पर्शशून्यत्वात्, न च कर्तुरत्यन्ताविभेदि-करणं भवति,—इति समनन्तरमेवोपपादितम्; तेन तल्लक्षितं तदधिष्ठान-मेव कर्त्रंशस्पर्शि किंचिदभ्युपेयं, तत्र तृतीयार्थः करणत्वं पर्यवस्येत्, तच्च पाणीन्द्रियमित्युक्तम् 'स पाणिरेव' इति । ततश्च अधिष्ठानमात्रपाण्याद्यभि-प्रायम्

'ईषद्विहारादानादि दृष्टं लूताङ्घ्रिपाणिषु' । (न्या० मं० ८ आ०)

इत्यादि प्रलपितमेव परैः । ननु दृष्टं मुखादि क्लृप्तम्, अदृष्टं तु करणं कल्प्यम् ।

रहा है, वह पाणीन्द्रिय ही है । इस पाणि करण के विना आदान क्रिया का सम्पादन सम्भव नहीं है ।

करण साधन होता है । इसे साधकतम कारक कहते हैं । इसमें व्याकरण की दृष्टि से तृतीया विभक्ति होती है । यह विशेष्य प्रकृति के साथ विशेषण रूप से संयुक्त होती है । हम कहते हैं कि पक्षी मुख से हाथ का काम करता है । मुख इसमें विशेष्य बनता है । से विभक्ति विशेषण रूप से मुख शब्द के साथ मिली होती है । इसे प्रकृत्यर्थ में निवेश कहते हैं । प्रकृत्यर्थ मुख है । मुख में करण वृत्ति यद्यपि उचित नहीं लगती । क्योंकि उसमें खाने और बोलने आदि का कर्त्रंश है, करण का नहीं । करण कर्त्ता से अत्यन्त अविभक्त नहीं रहता । कर्त्रंशस्पर्शि वही माना जा सकता है जो उससे लक्षित भी हो और उसका अधिष्ठान भी हो । 'मुख से' इस प्रयोग में मुख प्रकृति के साथ की तृतीयाविभक्ति का अर्थ ही करणत्व में पर्यवसित होना है । इस दशा में हाथ न रहने पर यदि मुख से कोई कार्य सम्पादित हो रहा है तो वह करणत्व की प्रतीक "पाणि' इन्द्रिय ही है । इसीलिये पाणि आदि को अधिष्ठान मात्र ही मानते हैं । न्याय मंजरी आ० ८ के अनुसार "स्वल्पमात्रा में विहार

'क्लृप्तकल्प्यविरोधे च क्लृप्तः क्लृप्तपरिग्रह ।' इति।

न्यायेन क्लृप्तपरिग्रह एवात्र न्याय्यः,—इति किमेतदुक्तमित्याशङ्क्योक्तं करणं विना किं संभवेत् क्रिया' इति। मुखादि हि अवयवतया क्लृप्तं न करणतया, नहि अस्य तथाभावा युज्यते इत्युक्तम् । अतश्चान्यदेव करणतया कल्प्यं—यदकरणिका क्रिया न संभवेत्—इति ॥ २५६ ॥

एवं हि बुद्धीन्द्रियकल्पनमपि अफलमेव भवेदित्याह

तथाभावे तु बुद्धचक्षैरपि किं स्यात्प्रयोजनम् ।

तु शब्दो हेतौ ॥

और लेन-देन आदि व्यवहार कटे हुए हाथों और पाँवों की दशा में भी होते देखे जाते हैं"। जो यह कहा गया है। यह कत्रंश मान्यता के विरुद्ध है।

यहाँ एक नई जिज्ञासा उत्पन्न होती है। दृष्ट मुख आदि अंग क्लृप्त हैं। अदृष्ट करण कल्प्य है। जैसे 'पक्षी मुख से तिनका उठाता है' इस वाक्य में मुख क्लृप्त है और अदृष्ट करण रूप पाणीन्द्रिय कल्प्य है। इस सम्बन्ध में एक न्याय है कि,

"क्लृप्त और कल्प्य के विरोध में क्लृप्त का ही परिग्रह किया जाता है"। इस नियम के अनुसार क्लृप्त का परिग्रह उचित माना जाता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में कल्प्य करण का ही परिग्रह उचित माना गया है। इसी लक्ष्य से शास्त्रकार कहते हैं कि 'करण के बिना क्रिया की सम्भावना नहीं होती'। मुख तो यहाँ अवयव रूप से कल्पित है। करण रूप से उसका प्रकल्पन नहीं है। अतः मुख आदि का ऐसे अवसरों पर करणत्व प्रकल्पन अनुचित है। इसलिये करण रूप से मुख में ही अवस्थित और विभक्ति-प्रत्यय रूप से उसमें निवेशित अन्य वस्तु ही करण है। यही मानना उचित है। कहा भी गया है कि 'अकरणिका क्रिया नहीं हो सकती'। इसलिये ऐसे प्रसङ्गों में अदृष्ट कल्प्यकरण की मान्यता ही उचित है ॥ २५६ ॥

यदि मुख में ही करणता की कल्पना कर ली जाय तो बुद्धीन्द्रियों का प्रकल्पन किस लिये ? इनकी कल्पना ही निष्फल हो जायेगी। तब तो मुख से ही सारी इन्द्रियों का लक्ष्य हो सकता है। न्याय की दृष्टि से असाधारण

ननु बुद्धिः करणापेक्षा,—इत्यादानाद्यपि करणापेक्षमिति किमिदं चाशेन पञ्चाशदिव साध्यते,—इत्याशङ्क्याह

दर्शनं करणापेक्षं क्रियात्वादिति चोच्यते ॥ २५७ ॥
परैर्गमौ तु करणं नेष्यते चेति विस्मयः ।

कारण को करण कहते हैं। करण भी तीन माने जाते हैं। १—समवायिकारण, २—असमवायिकारण और ३—निमित्तकारण। इन तीनों कारणों में जो असाधारण कारण होता है, वही करण कहलाता है। व्याकरण शास्त्र में इसी लक्ष्य से साधकतम कारण को करण कहते हैं। घट निर्माण में दण्ड आदि असाधारण कारण हैं। दण्ड से ही चक्र में भ्रमि होती है। इसलिये वह व्यापार का प्रवर्तन करने वाला करण बनता है।

त्रिकशास्त्र के अनुसार तीन करण स्कन्ध होते हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं। १—अन्तःकरण और २—बहिष्करण। इनमें अहंपरामर्शानुवेध के अनुरोध से कत्रंश का स्पर्श आवश्यक माना जाता है। कर्तृता ही करणत्व की प्रयोजिका मानी जाती है। जहाँ तक किसी क्रिया का प्रश्न है, वह करण द्वारा ही सम्पन्न होती है। अकरणिका क्रिया नहीं होती।

'मुखेन' अर्थात् मुख द्वारा पक्षी ने तिनका उठाया इस वाक्य प्रयोग में अहंपरामर्शानुवेध और कत्रंश का संरंभ नहीं है। इसमें द्वारा प्रत्यय से करण की सूचना मिलती है।

अतः यह सोचना है कि अवयव रूप से क्लृप्त मुख करण नहीं होता। मात्र विभक्ति या प्रत्यय परामर्श से ही करणता ज्ञात होती है। अवयव मुख को ही करण मानने पर बुद्धोन्द्रियों की निष्फलता स्वतः सिद्ध हो जायेगी क्योंकि तब क्रिया अकरणिका ही होने लगेगी। जब कि नियम है कि क्रिया अकरणिका नहीं होती।

बुद्धि हमेशा करण की अपेक्षा रखती है। तभी यह अन्तःकरण कहलाती है। ग्रहण और आदान आदि में भी करण को अपेक्षा होतो है।

इसीलिये पूर्व श्लोक में यह प्रतिपादित किया गया है कि मुख से जो आदान किया गया। उसमें जो करण है, वह पाणोन्द्रिय ही है। क्योंकि अकरणिका क्रिया नहीं होती। जैसे मुख से आदान करने में करण की अपेक्षा

परैरिति नैयायिकादिभिः। यदाहुः

'गत्याद्युपलब्धिक्रिया करणपूर्विका क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्।' इति।

गमाविति पादेन्द्रियवृत्त्यात्मिकायां गमनक्रियायामित्यर्थः। एतच्च आदानादेरपि उपलक्षणम्। विस्मय इति, एवं हि क्रियात्वस्य हेतोरनैकान्तिकत्वं स्यात्—यदकरणपूर्विकापि गमिक्रिया भवेत् इति। अतश्च दर्शनक्रियायामपि करणपूर्वकत्वं न सिद्ध्येत्—इत्याश्चर्यमिदं नैयायिकस्य—यदितः संधीयमानमितस्त्रुट्यति—इति। इदं चास्य महाश्चर्यं—यदेतद्दर्शने गमनादिकमेव पञ्चधा कर्म, ज्ञानादिरेव चात्मनो नवधा विशेषगुणः। तत्र मुख्यक्रियामपि गमौ न करणणपूर्वकत्वं, गुणात्मनो ज्ञानस्य च करणपूर्वकत्वमित्यपूर्वमभिधानमिति ॥ २५७ ॥

होती है, उसी तरह दर्शन में भी करण की अपेक्षा है। क्योंकि दर्शन भी एक क्रिया है। इसी तरह गमन क्रिया में करण की अपेक्षा होनी चाहिये। इसे नैयायिक नहीं मानते। इस पर त्रिकशास्त्रकार नैयायिकों को विचार धारा पर आश्चर्य चकित हैं।

गमन क्रिया पादेन्द्रिय वृत्ति से सम्पन्न होती है। इसमें करणपूर्वकत्व का सिद्धान्त नैयायिक नहीं मानते। यह विस्मय का ही विषय है। एक और भी आश्चर्य है कि इस शास्त्र में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन और गमन यहीं पाँच कर्म माने जाते हैं। ज्ञान सुख दुःख, इच्छा, द्वेष धर्म अधर्म और संस्कार इन २४ गुणों में से ९ गुण ही आत्मा के विशेष गुण हैं। मुख्य ५ क्रियाओं में गमन भी परिगणित है। इस मुख्य क्रिया में भी करण पूर्वकत्व ये लोग नहीं मानते। तब क्रिया का हेतु क्या माना जाय? यदि करण नहीं मानेंगे तो हेतु में अराजकता की स्थिति हो जायेगी। जैसे विना करण के भी गमन की क्रिया नैयायिक मानते हैं। गुणरूपी ज्ञान में करण पूर्वकत्व मानना तो और भी आश्चर्य जनक है।

गन्ध की उपलब्धि नासिका में होती है। इसमें पञ्चावयव वाक्य प्रयोग करें तो यही प्रयोग बनेगा कि गन्ध की उपलब्धि भी क्रिया है। क्योंकि करण पूर्विका है। जहाँ-जहाँ क्रिया होती है, वहाँ-वहाँ करण पहले रहता है। जैसे छिदि क्रिया। वेदन में या काटने में छेनी आदि की जरूरत होती है। उसी तरह सुरभित सुमन हो, सुगन्धित वायु का सुगन्ध शीतल मन्द

तदाह

गमनोत्क्षेपणादीनि मुख्यं कर्मोपलम्भनम् ॥ २५८ ॥
पुनर्गुणः क्रिया त्वेषा वैयाकरणदर्शने ।

उपलम्भनमिति दर्शनात्मज्ञानम् । यदुक्तम्

'उत्क्षेपणाक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्चैव कर्माणि ।' इति,

'बुद्धिसुखदुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नधर्माधर्मभावनात्मानो विशेषगुणाः ।'

इति च। ननु जानातेर्धातोरर्थः क्रियैव ज्ञानं न गुणः,—इत्याह क्रिया त्वेषेत्यादि। वैयाकरणो हि एवमाचक्षाणो न दुष्यति, यस्य क्रियावचनो धातुरिति समायिको नियमः। नैयायिकादेः पुनर्ज्ञानस्य गुणगणमध्यपाठात् कथमेवमभिधानं संगच्छताम्; अतश्च एतदस्य स्ववचनविरुद्धमेव—यत् गुणत्वेऽपि ज्ञानस्य क्रियात्वात् करणपूर्वकत्वमभ्युपेयते न क्रियात्वेऽवि गमनादाविति ॥ २५८॥

प्रवाह हो और पीनस रहित नासिका हो तो गन्ध का ग्रहण होगा। इसी तरह दर्शन क्रिया है। यह करण पूर्विका है। दर्शक प्रमाता है। उसमें आहंकारिकता का सन्निवेश है। और चक्षु द्वारा रूप ग्रहण की संरभवृत्ति है। इनमें करण अपेक्षित है क्योंकि क्रिया है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि क्रिया करण पूर्विका ही होती है ॥ २५७ ॥

गमन और उत्क्षेपण आदि के सम्बन्ध में भी यदि गहन विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि ये पाँचों न्याय शास्त्र के अनुसार पाँच कर्म हैं। किन्तु वस्तुतः इनमें एक प्रकार का कर्मदर्शन ही निहित है। 'मैं चलता हूँ' इस वाक्य द्वारा गति ज्ञान के साथ-साथ स्वात्म को गतिशीलता का आकलन होता है। गति का अर्थ ज्ञान भो होता है। 'मैं जानता हूँ' इस वाक्य में जानना कर्म है, जानने की क्रिया है। यहो ज्ञान है। प्रश्न है कि यह ज्ञान क्रिया है या गुण? नैयायिक तो ज्ञान को आत्मा का गुण मानता है। सत्य क्या है? वैयाकरण विद्वान् तो इसे क्रिया ही मानता है। धातु की परिभाषा ही है कि 'क्रियावचनो धातुः'। अर्थात् क्रिया का निर्वचन करने वाला शब्द हो धातु है। नैयायिक इसे गुण मानता है।

तदेवाह

क्रिया करणपूर्वेति व्याप्त्या करणपूर्वकम् ॥ २५९ ॥
ज्ञानं नादानमित्येतत् स्फुटमान्ध्यविजृम्भितम् ।

आन्ध्यविजृम्भितमिति पूर्वापरापरामर्शात्मा व्यामोह इत्यर्थः ॥ २५९ ॥

ननु न वयं गमनादावकरणपूर्वकत्वमुपगच्छामः, किंतु नियतपादेन्द्रियादिकरणपूर्वकत्वं नेच्छामः—यत् लूनाङ्घ्रयोऽपि जान्वादिना गच्छन्ति, उरगाश्चोरसापीति तदाशङ्कयाह

तस्मात् कर्मेन्द्रियाण्याहुस्त्वग्वद्व्याप्तॄणि मुख्यतः ॥ २६० ॥
तत्स्थाने वृत्तिमन्तीति मतङ्गे गुरवो मम ।

तस्मात् यथोक्तयुक्त्या पादादेरधिष्ठानमात्रस्य पादादीन्द्रियत्वाभावात् हेतोः त्वगिन्द्रियवत् निखिलशरीरव्यापकानि कर्मेन्द्रियाणि आहंकारिकेन्द्रिय-

---

अब किसकी बात मानी जाय ? गुण होते हुए भी ज्ञान क्रिया भी है। क्रिया में करणपूर्वकत्व भी रहता ही है और गमन के क्रिया होने पर भी करणत्व नहीं है। यह तो वदतो व्याघात ही माना जायेगा ॥ २५८ ॥

क्रियाकरण पूर्वा होती है। जहाँ-जहाँ क्रिया होती है वहाँ-वहाँ करण-पूर्वता होती है। यह व्याप्ति का नियम है। इस लिए यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि ज्ञान भी करण पूर्व होता है क्योंकि ज्ञान भी एक प्रकार की क्रिया ही है। जब ज्ञान में करणपूर्वता है, जो नैयायिक दृष्टि से गुण भी है, तो आदान में करणपूर्वता क्यों नहीं ? ऐसे विचारक के विषय में क्या कहा जाय जो औचित्य को अस्वीकृत करने के दुराग्रह से ग्रस्त है ॥ २५९ ॥

यदि नैयायिक यह कहता है कि हम गमन आदि में अकरण पूर्वत्व का विरोध नहीं करते अपितु यह चाहते हैं कि नियतपादेन्द्रियादि में करण पूर्वकत्व न माना जाय। पैर कट जाने पर विकलांग लोग जाँघ आदि के सहारे चल लेते हैं। साँप भी पेट के बल चल लेते हैं, तो नियतपादेन्द्रिय आदि में करण-पूर्वता कहाँ रह पाती है ? इसका उत्तर देते हैं कि,

कर्मेन्द्रियाँ त्वग्व्याप्तृभाव से युक्त होती हैं। पैर आदि तो अधिष्ठान मात्र हैं। उनमें पादेन्द्रिय नहीं रहती। जैसे त्वक् सारे शरीर में व्याप्त है, उसी

वादिनः समाचख्युः, किंतु तस्मिन् पादादावधिष्ठानात्मनि स्थाने मुख्यतो वृत्तिमन्ति, येन सर्वेषां तत्रैव इन्द्रियत्वाभिमानः, वस्तुतः पुनः सकलमेवैषां शरीरमधिष्ठेयम्; अत एवैषां यत्र क्वचन कार्यदर्शनमविरुद्धम् । न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमित्युक्तम् 'मतङ्गे गुरवो मम' इति । मतङ्गशास्त्रव्याख्यातारः श्रीमदनिरुद्धप्रभृतय इत्यर्थः ॥ २६० ॥

ननु भवत्वेवं—यत् गत्यादिकाः क्रियाः पादादि करणपूर्वकत्वं विना न सिद्ध्यन्ति—इति—पञ्चैव कर्मेन्द्रियाणि—इति तु कुतोऽयं नियमो यदन्यान्यपि तान्यापतन्ति, निगरणादीनां कर्मान्तराणामपि भावात् । यदाहुः

'कण्ठोऽन्ननिगरणेन स्तनकलशालिङ्गनादिना वक्षः ।
भारवहनेन चांसद्वयमिन्द्रियमुच्यते न कथम् ॥'

(न्या० मं० ८ आ०) इति ।

तरह कर्मेन्द्रियाँ भी सारे शरीर में व्याप्त हैं, यह अहंकारिकेन्द्रियवादो मानते हैं । साथ ही अधिष्ठान रूप अवयवों में मुख्यतया वृत्ति का वर्त्तन भी स्वीकार करते हैं । परिणामतः वहाँ इन्द्रियों की अनुभूति होती है । वास्तविकता तो यह है कि यह सारा शरीर ही इन्द्रियों का अधिष्ठेय है । इस लिए इन इन्द्रियों का शरीर के जिस किसी अंग से उस प्रकार की अनुभूति होती है, अर्थ सन्निकर्ष से अर्थात् अर्थावबोध विषयता की उद्दीप्ति से वहाँ वही इन्द्रियत्व-प्रकल्पन उचित है । शास्त्र यह घोषणा करते हैं । मैं अपनी बात नहीं कह रहा हूँ । यह कथन मतङ्ग शास्त्र के निर्माता मेरे गुरुवर्य की परम्परा में आने वाले आचार्य अनिरुद्ध आदि विद्वानों का है । वे इसको स्वीकार करते हैं । उनका कथन और हमारी अनुभूतियाँ समान हैं । त्रिकदर्शन का स्वीकृत यही मत है ॥ २६० ॥

मान लिया कि गत्यादि क्रियायें अकरणिका नहीं होती । कर्मेन्द्रियाँ तो पाँच ही होती हैं । इनमें गति क्रिया पैर से होती है । उसमें करणपूर्वकत्व मान लेने पर भी अन्य इन्द्रियों की क्रियाओं में करणपूर्वक का नियम कहाँ से आता है ? जैसे निगरण क्रिया है । यह तो विना करण के सम्भव है । कहा गया है कि,

"कण्ठ अन्न के निगलने का काम करता है । आलिङ्गन क्रिया में स्तनापीडन में वक्ष पर दबाव पड़ता है । बोझ से दोनों कन्धे प्रभावित होते हैं । इनको इन्द्रिय क्यों नहीं कहते ?" न्यायमञ्जरी की इस जिज्ञासा के मूल में

तत्, कण्ठादेरपि निगरणादिक्रियान्यथानुपपत्त्या कर्मेन्द्रियत्वं वाच्यम्—इत्यपरिनिष्ठितानि कर्मेन्द्रियाणि स्युरिति, तदाह

नन्वन्यान्यपि कर्माणि सन्ति भूयांसि सत्कृते ॥ २६१ ॥
करणान्यपि वाच्यानि तथा चाक्षेष्वनिष्ठितिः ।

ननु किमिहानेनोक्तेन फलं, यदन्यैरेवैतत् परिहृतमित्याह

नन्वेतत् खेटपालाद्यैर्निराकारि न कर्मणाम् ॥ २६२ ॥
यत्साधनं तदक्षं स्यात् किंतु कस्यापि कर्मणः ।

खेटपालाद्यैरिति श्रीमत्सद्योज्योतिः प्रभृतिभिरित्यर्थः । यदाहुः

'आनन्दादिभिरेभिस्तु कर्मभिः परिभाषितैः ।
कर्मेन्द्रियाण्यतो नैषामानन्त्यं कर्मणा वशात् ॥' इति ।

एतदेव व्याचख्युरपि; न मयैतदुच्यते—यत् कर्मसाधनं तत्कर्मेन्द्रियमिति; अपि तु यान्येषामानन्दादीनां कर्मणां साधनानि तानि कर्मेन्द्रियाणीति ॥ २६२ ॥

वही प्रश्न है कि यदि कण्ठादि के विना निगरण आदि क्रियायें हो ही नहीं सकतीं तो इन्हें इन्द्रिय क्यों नहीं कहा जाता ? इस तरह कर्मेन्द्रियों के परिनिष्ठित होने पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। यही प्रश्न समाधान के पूर्व शास्त्रकार कर रहे हैं कि,

बहुत सारे दूसरे ऐसे कर्म हैं जिनके लिए कर्मेन्द्रियों की संज्ञा होनी चाहिए। यदि ऐसा होगा तो कर्मेन्द्रियों की गणित परिनिष्ठिति संदिग्ध हो जायेगी। इस विषय पर आचार्य खेटपाल और श्रीमत्सद्योज्योति आदि सिद्धान्त मतवादी आचार्यों ने भी अपने मत व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार किसी कर्म के साधन भूत अंग कर्मेन्द्रिय नहीं हो सकते। उनका कथन है कि,

"ग्रास-निगरण आदि आनन्दप्रद एवं भारप्रद आदि कर्मरूप से परिभाषित इनके अंगों को कर्मेन्द्रिय की संज्ञा नहीं दी जा सकती। कर्म तो अनन्त हैं। कितनी इन्द्रियाँ मानी जायेंगी" ।

न ह्येतदस्माकमावर्जकं साक्षात्समाधानमित्याह

एतन्नास्मत्कृतप्रश्नतृष्णासंतापशान्तये ॥ २६३ ॥

नह्यस्वच्छमितप्रायैर्जलैस्तृप्यन्ति बर्हिणः ।

एतदस्माकं परकृतप्रश्नतृष्णासंतापं शमयितं नालमित्यर्थः। एवं हि पराभिमतानि कर्मान्तराणि करणान्तराणि च सन्तीत्यभ्युपगतं भवतीति ॥ २६३ ॥

ननु यद्येवं तर्हि किमत्र प्रतिसमाधानं यद्भवादृशामावर्जकमित्याह

उच्यते श्रीमतादिष्टं शंभुनात्र ममोत्तरम् ॥ २६४ ॥

स्वच्छसंवेदनोदार विकलाप्रबलीकृतम् ।

स्वच्छेत्यादिनास्य विशेषणद्वारेण स्वसंवेदनसिद्धत्वलक्षणो हेतुः ॥ २६४ ॥

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जो कर्म का साधन है, वह भी इन्द्रिय है। हाँ यह कहा जा सकता है कि इन आनन्द आदि कर्मों को साधिका देवियाँ ही करणेश्वरी देवियाँ हैं। उन्हें ही इन्द्रियों की संज्ञा दी गयी है ॥ २६१–२६२ ॥

यदि किसी ने इस विषय में प्रश्न किया है, तो उसे समाधान चाहिए ही। उसके समाधान की प्यास बुझाने की हमें कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। जिसे चिन्ता हो वह ऐसा करे। उक्त प्रश्नोत्तर के विश्लेषण से यही प्रतीत होता है कि कई अन्य दूसरे विचारकों की दृष्टि से विभिन्न कर्म और उन विभिन्न कर्मों की दृष्टि से विभिन्न करण भी विमर्श के बिन्दु बन सकते हैं और यथावसर उदाहरण रूप से प्रस्तुत भी हैं। किन्तु यहाँ यह कहना भी आवश्यक है कि बर्ही (मयूर) अस्वच्छ गंदले और सीमित जलों से सन्तुष्ट नहीं होते। उन्हें घन गर्जन करने वाले गभुआरे घने बादलों की छटा और धारासार वृष्टि चाहिए। हमारा शास्त्र ही इसका निर्णायक शास्त्र है ॥ २६३ ॥

श्रीमान् गुरुवर्य शम्भुदेव ने जो इस विषय में आदिष्ट किया है, वही हमारा उत्तर है। उक्त आदेश स्वच्छ संवेदन पर निर्भर है, उदार है, विकल्प से (विशद कला अर्थात् विशिष्ट कला या विगत कला अर्थात् शुद्ध विद्या से) समर्थित वह उक्ति है। उसी पर सिद्धान्त निर्भर करता है ॥ २६४ ॥

तदाह

इह कर्मानुसंधानभेदादेकं विभिद्यते ॥ २६५ ॥

तत्रानुसंधिः पञ्चात्मा पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यतः ।

तत्रेति कर्मभेदनिमित्तानुसंधानभेदे सतीत्यर्थः । पञ्चात्मेति पञ्चप्रकारः । अत इत्यनुसंधानस्य पञ्चप्रकारत्वात् ॥ २६५ ॥

तत्रानुसंधानभेदकृतं कर्मभेदं तावदाह

त्यागायादानसंपत्त्यै द्वयाय द्वितयं विना ॥ २६६ ॥

स्वरूपविश्रान्तिकृते चतुर्धा कर्म यद्बहिः ।

पायुपाण्यङ्घ्रिजननं करणं तच्चतुर्विधम् ॥ २६७ ॥

अन्तः प्राणाश्रयं यत्तु कर्मात्र करणं हि वाक् ।

वास्तविकता यह है कि कर्मानुसंधान में कर्मभेद अथवा कर्मभेद से कर्मानुसन्धान होते हैं । इस अनुसन्धान की पाँच अनुसन्धियाँ होती हैं । इसी लिए ५ प्रकार की कर्मेन्द्रियाँ ही प्रतिपादित की जाती हैं ॥ २६५ ॥

अनुसन्धान भेद से उत्पन्न कर्मभेद के प्रसङ्ग का प्रतिपादन प्रस्तुत कारिका का विषय है । विश्व में स्वाभाविक रूप से दो प्रकार के कर्म सम्पादित किये जाते हैं । १—त्याग और २—आदान ।

त्याग ही 'हान' और 'आदान' ही उपादान है । इन दोनों के साथ ही इन दोनों के बिना भी स्वरूप विश्रान्ति के क्षण होते हैं । इस प्रकार हेय के हान का कर्म और हान की विश्रान्ति का दूसरा कर्म होता है । इसी तरह उपादेय के आदान का तीसरा कर्म और उपादान की विश्रान्ति का चौथा कर्म सम्पन्न होता है । कर्म की यह बाह्य स्थिति मानी जाती है । कर्म की इन सम्बन्धित क्रियाओं के चार करण ही पायु, पाणि, चरण और उपस्थ हैं । पाँचवें प्राणाश्रय व्यापार की करण वाक् इन्द्रिय होती है । इस तरह कुल मिलाकर ५ कर्मेन्द्रियाँ ही परिगणित हैं ।

जहाँ तक संयोग और विभाग रूप कर्मों में हान और विश्रान्ति तथा आदान और विश्रान्ति रूप संयोग विभाग होते हैं, ये तो सारी क्रियाओं में समान रूप से होते हैं । किन्तु गतिक्रिया में हान में ही आदान क्रिया सम्पन्न

इह खलु सर्वस्यैव हेयहानायादेयादानाय तदुभयरूपाय तदुभयरूपता-परिहारेण स्वरूपविश्रान्तये च अनुसंधिश्चतुर्धा भिद्यते—इति तन्निमित्तं कर्मापि तथा भवेत्; यत् यस्मादेवंविधं कर्म, तत् तस्मात् बहिः क्रमेण पायु-पादपाणिप्रजननसंज्ञं चतुर्विधमेव करणं भवतीति सम्बन्धः। यद्यपि सर्वक्रियाणां संयोगविभागवत्त्वमस्ति, तथापि विशेषतो गतिक्रियाया—ग्रामप्राप्त्यादि-लक्षणैकफलोद्देशेन प्रवृत्तायां हि तस्यां तत्तद्देशत्यागपुरःसरीकारेण देशान्तरा-दानमेव रूपम्—इति हानादानात्मकैककर्मविषयत्वं पादेन्द्रियस्य, अत एव द्वयायेत्युक्तम्। स्वरूपविश्रान्तिश्च अत्र निर्वृत्यपरपर्यायानन्दानुभवमात्ररूप-तोच्यते। तत्र हि कथंचित् त्यागोपादानपूर्वकत्वेऽपि 'इदं हेयमिदमुपादेयम्' इति क्षोभः प्रशाम्येत्। प्राणाश्रयमिति, वाचो हि प्राण एवाधिष्ठानमिति तमेवाधिकृत्य इयं वचनक्रियायां साधकतमतामियात्, त्यागादि चतुर्विधमपि कर्म लब्धसत्ताकस्य भवेत्। सिद्धमेव हि वस्तु त्यज्यते चोपादीयते च विश्रान्तिधामतयानुमीयते च। वचनात्मकं पुनः कर्म शब्दजनन एव व्याप्रियते—इत्यस्य पूर्वेभ्यो विशेषः। अत एव तुशब्दो व्यतिरेके। ननु प्राण एव विचित्रस्थानकरणसंयोगविभागाभ्यां विचित्रवर्णात्मकं शब्दं जनयेत्—इति किं वागिन्द्रियेण स्यात्। यदाहुः

होती रहती है। जहाँ दूसरा पग डग भरने के लिए अगले देश भाग का आश्रय ग्रहण किया वहीं आदान क्रिया पूरी हुई। एक गमन कर्म में अनन्त आदान छिपे रहते हैं। मंजिले मकसूद की सम्प्राप्ति पर एक निर्वृति रूप आनन्दो-पलब्धि होती है। वही गति कर्म की स्वरूप विश्रान्ति मानी जाती है।

जहाँ तक वाक् का प्रश्न है, यह प्राण पर आश्रित होती है। वचन क्रिया प्राण के अधिकार क्षेत्र में सम्पन्न होती है। वाक् उसमें साधन बनती है। त्याग और आदान तथा इनको विश्रान्ति रूप कर्म लब्ध सत्ताक अर्थात् सिद्ध कर्म में ही होते हैं। यह नियम है कि 'सिद्ध वस्तु का ही त्याग और उसका ही आदान सम्भव है। विश्रान्ति धाम में उसकी ही अनुमिति भी की जाती है।'

वचनात्मक कर्म शब्दोत्पत्ति रूप ही माना जाता है। इसमें ही यह व्याप्त रहता है। प्राणधिकरण में वचन का उन्मेष ही वाग् व्यापार बन जाता है। यहाँ यह प्रथम उठ खड़ा होता है कि प्राण में ही स्थान करण संयोग विभाग

'वायुर्नाभेरुत्थित उरसि विस्तीर्णः कण्ठे विवर्तते मूर्धानमाहत्य परावृत्तो वक्त्रे चरन् विविधान् शब्दान् अभिव्यनक्ति ।' इति ।

नैतत्; एवं हि विचित्रवर्णात्मकः शब्दः सर्वकालमुच्चरन्नेव भवेत् । नहि स कोऽपि कालक्षणोऽस्ति यत्र प्राणः तत्तद्विचित्रस्थानकरणसंयोगविभाग-भागी न प्रवहेत् । तस्मात् तदतिरिक्तेन वागिन्द्रियेण भाव्यम्, यदधिष्ठानात् प्राणः शब्दजन्मनि प्रभवेत्, इतरथा च नेति ॥ २६७ ॥

के व्यापार होते हैं और चित्र-विचित्र ध्वनि संचार और शब्द उत्पन्न होते हैं तो वाक् इन्द्रिय अलग मानने की क्या आवश्यकता ? कहा गया है कि,

"वायु नाभि से उदित होता है । हृदय में विस्तार प्राप्त करता है । कण्ठ में विशेष रूप धारण करता है, मूर्धा में संघटित होकर लौट पड़ता है, मुख के अंगों से प्रभावित होकर शब्द संचार योग्य होता है और विविध शब्दों को अभिव्यक्त करता है ।" इस कथन से भी यही ध्वनि निकलती है कि जब वायु ही इतने व्यापारों के मूल में बैठकर शब्द संचार का कारण बनता है, तो अलग से वाक् इन्द्रिय मानने की क्या आवश्यकता ?

पर यह शङ्का सर्वथा निर्मूल है । वास्तव में इस तर्क को उपस्थित करते समय थोड़ी और वैचारिक गहराई में जाना चाहिए था । प्राण के प्राणना व्यापार की व्यापकता पर विचार करना चाहिए था । संविद् विमर्श शाश्वत स्पन्दन शील होता है । संवित् जब प्राणरूप में परिणत होती है, तो प्राण को स्पन्दनात्मकता का भी उसे विचार करना चाहिए था ।

यदि प्राणा ही वर्णात्मक शब्द उत्पन्न करता है—यह मानने लगेंगे तो सबसे अधिक दोष प्राण प्रवाह में ही उत्पन्न होगा । प्राण के शाश्वत स्पन्दनशील होने के कारण चित्र विचित्र 'आराव' प्रतिक्षण उच्चरित होने लगेंगे । कोई भी ऐसी कालकला आकलित नहीं हो सकती, जिसमें ध्वनि और शब्द का सूत्रपात न होता हो । प्रत्येक काल का लव मात्र भी प्राण के विचित्र स्थान और करण के संयोग विभाग का प्रतीक रूप ही होता है । प्राण विभिन्न स्थानों करणों में संचार भले करे किन्तु जिसके अधिष्ठान से ही वह शब्दोत्पत्ति में सक्षम और समर्थ होता है, वही अधिष्ठान वागिन्द्रिय है । इसलिये वागिन्द्रिय की पृथक् सत्ता स्वीकरणीय है ॥२६७॥

ननु बुद्धीन्द्रियाणामालोचनं वृत्तिरित्युक्तं, कर्मेन्द्रियाणां का वृत्तिरित्याशङ्कयाह

उक्ताः समासतश्चैषां चित्राः कार्येषु वृत्तयः ॥ २६८ ॥

चित्रा इति हानादानादिरूपत्वात्। समासत इति निखिलकर्मान्तरस्वीकारात्; नहि एतदतिरिक्तं कर्मान्तरं किंचित् संभवेदिति भावः। अत एव कर्मान्तराभावात् करणान्तरमपि न प्रकल्प्यम्, एतावतैव तत्स्वीकारसिद्धेः ॥ २६८ ॥

तदाह

तदेतद्व्यतिरिक्तं हि न कर्म क्वापि दृश्यते।
तत्कस्यार्थे प्रकल्प्येयमिन्द्रियाणामनिष्ठितिः ॥ २६९ ॥

कस्यार्थ इति किमर्थमित्यर्थः ॥ २६९ ॥

जिज्ञासु के मन में एक नई वैचारिक तरंग उठती है। वह सोचता है कि ज्ञानेन्द्रियों का दर्शनादि का जो आलोचन व्यापार है, उसे एक शब्द में 'वृत्ति' कहते हैं। कर्मेन्द्रियों की वृत्ति क्या हो सकती है? इस पर अपना मत व्यक्त कर रहे हैं—

संक्षेप में यदि कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि कर्मेन्द्रियों से सम्पन्न अनन्त कार्यों में चित्र विचित्र अनन्त वृत्तियाँ भी होती हैं। विचित्र कहने का यही आधार है कि इनसे सम्पन्न कार्यों में सर्वदा और सर्वदा हान और आदान कर्म होते रहते हैं। उनमें कर्म विश्रान्ति के क्षण भी उत्पन्न होते ही रहते हैं। इस हान और आदान के हेय और उपादेय के सीमित परिवेश में भी कर्म का आनन्त्य सम्भव है। पर यह ध्यान देने की बात है कर्म तो तो हान और आदान रूप ही हैं। फलतः इन्हीं कर्मों के कारण इन्हीं कार्यों में उनका वर्त्तन भी होता है। वही उनकी वृत्ति होती है ॥२६८॥

इसके अतिरिक्त कहीं कोई कर्म दृष्टि गोचर नहीं होता। अतः इद्रियों की अलग वृत्ति को प्रकल्पना भी क्यों? अर्थात् व्यर्थ के तर्कों की कोई आवश्यकता नहीं ॥२६९॥

नन्वेवं पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पञ्चैवैषां नियता हानाद्या वृत्तयः,—इत्युक्तम्, तदेषां पाणिना विहरणमपि पादेन चादानमपि,—इत्यन्योन्यस्य वृत्तिसांकर्यं कुतस्त्यमित्याशङ्क्याह

एतत्कर्तव्यचक्रं तदसांकर्येण कुर्वते ।
अक्षाणि सहवृत्त्या तु बुद्धचन्ते संकरं जडाः ॥ २७० ॥

तदेतदिति हानादानादि । असांकर्येणेति; नहि विहरणं पाणिः करोति आदानं वा पादः, किन्तु एकस्मिन्नेवाधिष्ठाने पादः पाणिश्च विहरणं चादानं च यथाक्रमं कुरुतः सर्वशरीरव्यापकत्वात् एषां, पञ्चाङ्गुलादेश्च शरीरावयवस्य मुख्याधिष्ठानत्वात् । सहवृत्त्येति एकाधिष्ठानगतत्वेनेत्यर्थः । जडा इति अधिष्ठानाधिष्ठेयविभागमजानाना इत्यर्थः । एवं हि चक्षुश्रवसामेकस्मिन्नेव गोलके दर्शनश्रवणशक्तिसंभवात् वृत्तिसांकर्येण बुद्धीन्द्रियाणामपि अभावो भवेत् ॥ २७० ॥

प्रश्न होता है कि पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच हो हानादान रूप इनकी वृत्तियाँ भी हैं । यह बात ऊपर आ चुकी है । किन्तु जब कोई हाथों से चलने का और पैरों से आदान आदि करने लगता है तो यहाँ वृत्तिसांकर्य हो माना जा सकता है । इस सांकर्य दोष का निराकरण कैसे होगा ? इस पर अपना मत व्यक्त कर रहे हैं कि,

यह तर्क ही त्रुटिपूर्ण है । उस अवस्था में न तो हाथ चलने का काम करता है और न पैर आदान का । यह कार्य सांकर्य से नहीं अपितु असांकर्य से हो होता है । न तो पाणि विहरण करता है न ही पैर ग्रहण करने का काम करता है । वस्तुतः इन्द्रियाँ सर्वशरीर में व्याप्त हैं तथा पाँचों सहवृत्ति से कार्य सम्पादन करती हैं । मूर्ख लोग इसे सांकर्य की दृष्टि से देखते हैं ।

पाँचों अंगुलियों पर ध्यान देने से यह पता चलता है कि अंगुष्ठ अग्नितत्त्व, तर्जनी वायु तत्त्व, मध्यमा आकाश तत्त्व, अनामिका पृथ्वी तत्त्व और कनिष्ठिका वरुण तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती हैं । ये अवयवों की अधिष्ठान रूप होती हैं । इनसे टो कर अन्धे खोटे और खरे सिक्कों तक पहचान लेते हैं । अंगुलियों में सर्वेन्द्रियाधिष्ठान भी है । सर्प भी इसके उदाहरण हैं । वे आँखों से देखते और सुनते भी हैं । देखने और सुनने में दोनों इन्द्रियों का काम एक आँख हो करतो

एवमक्षपादादिगतं प्रक्षिप्य स्वमतमेव उपसंहरति

उक्त इन्द्रियवर्गोऽयमहंकारात् तु राजसात् ।

अयमिति प्रकान्तत्वात् कर्मेन्द्रियरूपः ॥

एवमहंकारस्य सात्विकराजसतया प्रकृतिस्कन्धतामभिधाय तामसतयाप्याह

तमःप्रधानाहंकारात् भोक्त्रंशच्छादनात्मनः ॥ २७१ ॥

भूतादिनाम्नस्तन्मात्रपञ्चकं भूतकारणम् ।

'भोक्त्रंशच्छादनात्मन' इति भोग्यांशस्योद्भूततया प्राधान्यात् । अस्य च भूतादिनामत्वे भूतकारणतन्मात्रकारणत्वं निमित्तमित्युक्तं भूतकारणमिति । उक्तं च

है। पर इसमें वृत्तियों के सांकर्य का दोष नहीं होता। वृत्ति सांकर्य मानने पर ज्ञानेन्द्रियों की मान्यता में भी दूषण उपस्थित होने लगेगा। त्रिक दृष्टि इस वृत्ति सांकर्य तर्क को अस्वीकार करतो है ॥२७०॥

उक्त तार्किक मत के विश्लेषण और खण्डन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सारा कर्मेन्द्रिय वर्ग राजस अहंकारात्मक हो है। यहाँ तक सत्त्वरजस् सन्बन्धी प्रकृति स्कन्ध का प्रतिपादन करने के उपरान्त तामसिक अहंकार का स्पष्टीकरण कर रहे हैं कि,

तमः प्रधान अहंकार भोक्त्रंश का आच्छादक होता है। इससे ५ तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। ये तन्मात्रायें—१–रूप, २–रस, ३–गन्ध, ४–स्पर्श और, ५—शब्द हैं।

पंचमहाभूत इन्हीं तन्मात्राओं के स्थूल रूप हैं। ये कारण रूपा हैं। अतः इन्हें भूतकारण कहते हैं। भूत नाम पड़ने की भी तन्मात्रायें हो कारण बनती हैं। भूत का अर्थ हो 'उत्पन्न हुआ' होता है। पंचमहाभूतों की पंचतन्मात्रायें कारण हैं। पञ्चतन्मात्रायें तामस अहंकार से उत्पन्न हैं। तामस अहंकार के प्रभाव से भोग्यांश का प्राधान्य हो जाता है और भोक्त्रंश गौण। परिणामतः भोग्यांश प्राधान्य से भोक्त्रंश संकुचित हो जाता है।

'शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
गुणा विशिष्टास्तन्मात्रास्तन्मात्रपदयोजिताः ॥
प्रकाशकर्मकृद्वर्गवैलक्षण्यात् तमोभवाः ।
प्रकाश्यत्वाच्च भूतादिरहंकारोऽत्र तामसः ॥'

इति ॥ २७१ ॥

ननु कथमेतदुक्तं 'यद्राजसादहंकारात् कर्मेन्द्रियवर्गो जात' इति । एवं हि सांख्याः प्रतिपन्नवन्तो—यत् सात्त्विकादहंकारात् मनोबुद्धीन्द्रियवर्गः प्रवृत्तः, तामसात्तन्मात्रवर्गो, राजसात् पुनरुभयमिति । यदाहुः

'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् ।
भूतादेस्तान्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥'

(सा० २५ का०) इति ।

तदाह

मनोबुद्ध्यक्षकर्माक्षवर्गस्तन्मात्रवर्गकः ॥ २७२ ॥
इत्यत्र राजसाहंकृद्योगः संश्लेषको द्वये ।

"शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये ५ विशिष्ट गुण पाँच तन्मात्राओं के होते हैं। इसीलिये ये तन्मात्र कहे जाते हैं। प्रकाश वर्ग से विलक्षण और प्राकाश्य होने के कारण ये तमोभव माने जाते हैं। यहाँ तामस अहंकार होता है। यह पञ्च महाभूतों का आदि है।" यह उक्ति आगमिक दृष्टिकोण को पुष्ट करती है ॥२७१॥

ऊपर कहा गया है कि राजस अहंकार से कर्मेन्द्रिय वर्ग की उत्पत्ति होती है। सांख्यमतवाद का दृष्टिकोण है कि सात्त्विक अहंकार से मन और ज्ञानेन्द्रियाँ प्रवृत्त होतो हैं। तामस से तन्मात्र वर्ग और राजस से उभय प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। सां० २५ का० में कहा गया है कि "वैकृत (सात्त्विक) अहंकार सात्त्विक एकादशक का प्रवर्त्तक है। तामस अहंकार से तन्मात्र और राजस अहंकार से उभयात्मकता का प्रवर्त्तन होता है।" इस पर अपना विचार प्रस्तुत कर रहें हैं कि,

अत्र द्वये इति इन्द्रियैकादशके तन्मात्रपञ्चके च। संश्लेषक इति कार्य-जननौन्मुख्यात्मसंधानाधायकत्वात्। सात्त्विको ह्यहंकार इन्द्रियभावेन प्रवर्त-मानो निष्क्रियत्वात् राजसं प्रवर्तकत्वेनाकाङ्क्षति, तामसोऽपि तन्मात्रभावेन प्रवर्तमान इति ॥ २७२ ॥

ननु किमनेन सैद्धान्तिकेन मतेनोपन्यस्तेन सांख्यमतेन वा, इह खलु श्रीपूर्वशास्त्रमधिकृत्य तात्त्विकस्य कार्यकारणभावस्य निरूपणम् प्रकान्तम्। तत्र च

'तत्त्रिधा तैजसात् तस्मान्मनोऽक्षेशमजायत।
वैकारिकात् ततोऽक्षाणि तन्मात्राणि तृतीयकात् ॥'

(मा० १।३१) इत्युक्तम्।

मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और तन्मात्रायें कुल मिलाकर १६ होती हैं। इसमें ११ का एक वर्ग है और पाँच का एक वर्ग। इन दोनों वर्गों में राजस अहंकार संश्लेषक होता है। सात्त्विक अहंकार इन्द्रिय रूप से प्रवर्त्त-मान होने के बाद निष्क्रिय हो जाता है। उसी की इच्छा के अनुकूल राजस की प्रवृत्ति होती है। तामस अहंकार तन्मात्र भाव से प्रवर्त्तमान होता है ॥२७२॥

प्रश्न करते हैं कि आप द्वारा सैद्धान्तिक मत के तथा सांख्य मतवाद के उपन्यस्त करने का रहस्य क्या है ! मालिनी विजयोत्तरतन्त्र १।३१ में तात्त्विक कार्यकारण भाव का निरूपण किया गया है। वहाँ कहा गया है कि, अहंकार तीन प्रकार का होता है।

तैजस अहंकार से मन जो इन्द्रियों का स्वामी है, प्रवत्तित हुआ। वैकारिक[1] अहंकार से इन्द्रियाँ और तीसरे तामस अहंकार से तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं।"

---

१. वैकारिक और तैजस शब्दों के सम्बन्ध में विशिष्ट वैचारिक मतभेद है। राजस को कोई तैजस कहते हैं और कुछ लोग सात्त्विक को ही तैजस कहते हैं क्योंकि तेज प्रकाश रूप होता है।

वहीं कुछ वैकारिक को राजस मानते हैं। जब कि सांख्य वैकृत से सात्त्विक अर्थ लेता है। राजानक भी 'वैकारिक शब्दाभिधेयात् सात्त्विकादहंकारात्' लिखते हैं। इससे बुद्धि और कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति मानते हैं। इसके आगे ही राजानक ने 'राजसादिति वैकारिकशब्दाभिहितात्' लिखा है और उसका कारण 'विशिष्ट किया जन्यत्वात्' लिखा है। ये सभी अर्थ विद्वानों के मतभेद से उत्पन्न हैं।

एवमाशङ्कां गर्भीकृत्य तत्रैव व्याख्याभेदं तावद् दर्शयति

अन्ये त्वाहुर्मनो जातं राजसाहंकृतेर्यतः ॥ २७३ ॥
समस्तेन्द्रियसंचारचतुरं लघु वेगवत् ।
अन्ये तु सात्त्विकात् स्वान्तं बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि तु ॥ २७४ ॥
राजसाद्ग्राहकग्राह्यभागस्पर्शीनि मन्वते ।

राजसाहंकृतेरिति तैजसशब्दाभिहितायाः। बाह्येन्द्रियाणि च मनोधिष्ठितान्येव स्वविषयेषु प्रवर्तितुमुत्सहन्ते इत्युक्तं 'लघु' कृत्वा 'समस्तेन्द्रियसंचारचतुरम्' इति। अतएव सकलबाह्येन्द्रियाधिष्ठातृत्वात् इहाक्षेशमित्युक्तम् । यदभिप्रायेणैवान्यैः

इस सन्बन्ध में व्याख्याभेद को वास्तविकता प्रकाशित कर रहे हैं—

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि राजस अहंकार से मन उत्पन्न हुआ। मन सारी इन्द्रियों के संचार में दक्षिण नायक का काम करता है। अत्यन्त सूक्ष्म और वेग की पराकाष्ठा का प्रतीक है। कुछ दूसरे लोग सात्त्विक अहंकार से अन्तःकरण की या हृदय की उत्पत्ति मानते हैं। यह भी कहते हैं कि ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ राजस अहंकार से उत्पन्न हैं। दोनों इन्द्रिय वर्ग में एक पहला ग्राहकेन्दिय वर्ग और दूसरा ग्राह्य भाग-स्पर्शी वर्ग है। यह सारी का० २६९ से २७७ तक वर्णित मान्यतायें विभिन्न व्याख्याताओं और विचारकों की अनुभूतियों की प्रतीक हैं।

यहाँ मन के तीन महान विशेषण दिये गये हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी मन को दुर्निग्रह बताकर इसकी विशेषता पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ सिर्फ तीन विशेषण हैं। सब अन्योन्याश्रित हैं। सारी बाह्येन्द्रियाँ मन में अधिष्ठित रह कर ही अपने अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। इसीलिये इन विशेषणों की सार्थकता सिद्ध होती है। इन्द्रियाधिष्ठान होने के कारण मन को अक्षेश भी कहते हैं।

'युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।'
(न्या० सू० १।१।१६) इत्युक्तम् ।

ननु

'सुगन्धि शीतलां दीर्घामश्नतः शुष्कशष्कुलीम् ।
कपिलब्रह्मणः सन्ति युगपत्पञ्चबुद्धयः ॥'

इत्यादिभङ्ग्या युगपज्ज्ञानोत्पादोऽपि दृश्यते—इत्याशङ्क्योक्तं वेगवदिति, आशु संचारीत्यर्थः। तेनोत्पलदलशतसूचीव्यतिभेदन्यायेनात्र स्थितोऽपि क्रमो न विभाव्यते इति भावः। एवं चास्य क्रियावत्त्वाद्रजोगुणान्वयः,—इति युक्तमुक्तं 'राजसाहंकृतेर्मनो जातम्' इति। एवं पारिशेष्याद्वैकारिक-शब्दाभिधेयात् सात्त्विकादहंकारात् बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि—इति सिद्धम्। सात्त्विकादिति तैजसशब्दाभिहितात्, तेजसो हि प्रकाशरूपत्वात् तथात्वम्—इत्येवमुक्तम्। राजसादिति वैकारिकशब्दाभिहितात्, विशिष्टक्रियाप्राधान्याच्च अस्यैवमभिधानम्। अतएव तत्संश्लेषवत्त्वात् 'ग्राहकग्राह्यभागस्पर्शीनि' इत्युक्तम् ॥ २७४ ॥

न्याय सूत्र १।१।१६ में कहा गया है कि, "मन की पहचान है कि इससे युगपत् ज्ञान की अनुपपत्ति ही रह जाती है"। क्योंकि यह संकल्प विकल्पात्मक होता है।

प्रश्न कर्त्ता कहता है कि, कपिल नामक ब्राह्मण के सम्बन्ध में एक जगह व्यंग्यात्मक रुप से कहा गया है कि,

"सुगन्धित ठण्ढी और बड़ी बड़ी सूखी खरी पूड़ियों को प्रेम से ग्रास बनाने वाले कपिल की एक साथ पाँच बद्धियाँ जागृत रहती हैं।"

इस कथन से मन की युगपत् ज्ञानोत्पत्ति की बात भी प्रमाणित होती है। इससे मन का वेग पाँचों पक्षों पर समान रूप पर पड़ने की पुष्टि होती है। इस प्रकार से सुकुमार शतशतकमलपत्र को ऊपर नीचे रखकर साथ ही छेदन करने पर जैसे क्रम का बोध नहीं होता, मन का बोध भी ऐसा ही हो जाता है।

कियावान् होने से यह राजस है, यह स्पष्ट है। इसी से राजस अहंकार से इसकी उत्पत्ति मानते हैं, जो अनुचित नहीं है। बाद में वैकारिक अर्थात् सात्त्विक अहंकार से ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति का भी समर्थन हो जाता है। इसी तरह क्रिया प्राधान्य के संश्लेष में ग्राहक भाव स्पर्श और ग्राह्य भाव स्पर्श का गुण भी यहाँ स्वाभाविक रूप से हो इन्द्रियों में समाविष्ट प्रतीत हो जाता है ॥२७३-२७४॥

सैद्धान्तिकास्तु नैतदनुमन्यन्ते—इत्याह

खेटपालास्तु मन्यन्ते कर्मेन्द्रियगणः स्फुटम् ॥ २७५ ॥
राजसाहंकृतेर्जातो रजसः कर्मता यतः ।

राजसाहंकृतेरिति न पुनः सात्त्विकाहंकृतेः, कारणानुविधायित्वं हि नाम तत्कार्यत्वे नियामकम् । बुद्धीन्द्रियवर्गश्च प्रकाशकः कर्मेन्द्रियवर्गश्च कर्मकृत्—इति तथानुरूपादेवाहंकारात् अनयोरुद्भवो न्याय्यः । यदुक्तम्

समानबुद्धिदेवानां गणो यस्मात् प्रकाशकः ।
तस्मात् स सात्त्विकाज्जातः स्वानुरूपादहंकृतः ॥' इति ।

सिद्धान्तवादी मत कुछ दूसरो ही सुरीली राग निकालता है। इस मत के प्रमुख आचार्य खेटपाल हैं। इनकी मान्यता के अनुयायी विद्वान् कहते हैं कि, ये सारी कर्मेन्द्रियाँ राजस अहंकार से ही प्रादुर्भूत हैं। एक सिद्धान्त है कि, कारण का अनुविधायित्व उसके कार्यत्व का नियामक होता है। कारण के अनुकूल कार्य का होना स्वाभाविक है। मिट्टी कारण है। इसका ही अनुविधान माटी का लोंदा है, घड़ा है। पक कर लाल हुई गगरी है। इस रूप में मिट्टी का रूप ग्रहण करना उसका अनुविधायित्व है। इससे कारण कार्यरूप में परिणत होता है। इस तरह कारण से कार्य का नियमन होता है। नियामक तो कारण का अनुविधायित्व ही है।

इस सन्दर्भ में ज्ञानेन्द्रियों पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि ये इन्द्रियाँ प्रकाशिका है। ज्ञान प्रकाश रूप ही होता है। प्रकाश का अनुविधायित्व उसके प्रकाशकेन्द्रियत्व का नियामक है। कर्मेन्द्रियाँ काम का सम्पादन करती है। ये कर्मकृत् कहलाती हैं। जैसा अहंकार होगा उसी का अनुविचार उसके कार्य में होगा। इसलिये सात्त्विक अहंकार से प्रकाश कृत् बुद्धीन्द्रियाँ और राजस अहंकार से कर्मकृत् कर्मेन्द्रियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। कहा गया है कि,

"समान बुद्धि इन्द्रिय रूप करणेश्वरी देवियों का वर्ग प्रकाशक होता है। ये प्रकाशिका हैं। इसलिये ये स्वानुरूप सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न हैं। राजस

'राजसस्तैजसाद्वर्गः कर्माक्षाणां तु कर्मकृत्।
जातः कार्यस्य येनेह कारणानुविधायिता ॥' इति च।

अन्यथा पुनरेषां संभवे क्लृप्ते सर्वविकारेषु कारणाव्यवस्था प्रसज्येत। एवं हि तन्मात्रवर्गस्यापि तस्मादेव कस्मान्न संभवो भवेद् तामसाद्वाहंकारात् वर्गद्वयस्यापीति। यदाहुः

'विनिवारयितुं शक्या नाव्यवस्था विकारगा।
सात्त्विकात् संभवे क्लृप्ते सात्वराजसवर्गयोः ॥' इति ॥२७५॥

ननु आस्तामेतत् न वयमत्र विप्रतिपद्यामहे, 'चित्रो हि कार्यकारणभावः' इत्युपपादितम्। श्रीपूर्वशास्त्रे पुनः किं न्याय्यमिति चिन्तनीयम्, तदधिकारेणैव हि तात्त्विकः कार्यकारणभावो निरूपयितुमुपक्रान्तः। अत आह

श्रीपूर्वशास्त्रे तु मनो राजसात् सात्त्विकात्पुनः ॥ २७६ ॥
इन्द्रियाणि समस्तानि युक्तं चैतद्विभाति नः।

(तैजस) अहंकार से कर्मकारी कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इससे स्पष्ट होता है। कि कार्य में कारण की अनुविधायिनी शक्ति काम करती है। कारणानुविधायिता ही कार्यत्व की नियामिका होती है।"

यदि ऐसा नहीं मानेंगे अर्थात् कारणानुविधान सिद्धान्त नहीं मानेंगे तो जितने भी कारण से उत्पन्न विकार हैं, उनमें कारण की अव्यवस्था का दोष होने लगेगा। किस कारण से कौन सा विकार रूप कार्य होगा इसका नियामक कौन होगा ? तन्मात्राओं के सम्बन्ध में भी यह प्रश्न उठने लगेगा कि ये तामस अहंकार से क्यों राजस और सात्त्विक से क्यों नहीं ? कहा गया है कि,

"इस विकारग अवस्था का निराकरण ही असम्भव हो जायेगा कि सात्त्विक से उत्पन्न कल्पितेन्द्रियवर्ग तैजस राजस से क्यों नहीं। चारों मान्यतायें सन्दिग्ध हो जायेंगी" ॥ २७५ ॥

यह तो सभी मानते हैं कार्यकारण भाव बड़ा विचित्र होता है। इसमें कारणानुविधायित्व का सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है। इसको मानने पर भी श्रीपूर्वशास्त्र में क्या न्यायोचित कथन है, यह विचारणीय है। कार्यकारण भाव का निरूपण उसके अनुरूप ही होना चाहिये। इसलिये कहते हैं कि,

श्रीपूर्वशास्त्रे पुनरेतदेव युक्तमस्माकं विभाति—यन्मनो राजसादहकारा-
ज्जातं बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि तु सात्त्विकादिति । चोऽवधारणे भिन्नक्रमः ॥ २७६ ॥

युक्तत्वमेवात्रोपदर्शयति

तथाहि बाह्यवृत्तीनामक्षाणां वृत्तिभासने ॥ २७७ ॥
आलोचने शक्तिरन्तर्योजने मनसः पुनः ।

बाह्यवृत्तीनामक्षाणामिति, बाह्यानां चक्षुरादीनां दशानामिन्द्रियाणा-
मित्यर्थः । एषां चाविकल्पनिजवृत्तिभासनात्मन्यालोचनमात्र एव सामर्थ्य-
मित्युक्तं 'वृत्तिभासने आलोचने शक्तिः'—इति । वस्त्विवति पाठे तु तदधि-
गमात्मनीत्यर्थः । इयांस्तु विशेषः—यत् बुद्धीन्द्रियेष्वालोचनानुपाती वचना-
दिरूपः क्रियांशः परिस्फुरति स सर्व एव बुद्ध्यादिप्रमातृविश्रान्तिसतत्त्वो

श्रीपूर्वशास्त्र अर्थात् मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में यह कहा गया है कि
मन की उत्पत्ति राजस अहंकार होती है। सात्त्विक अहंकार से ज्ञानेन्द्रियों
और कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। श्रीपूर्वशास्त्रकार की इस उक्ति को
श्रीतन्त्रालोककार उचित ही मानते हैं। यद्यपि यह अन्य आगमिक विद्वानों
की मान्यता के विपरोत है, फिर भी यह मत ही उचित लगता है। इसके
मानने से शास्त्र का उद्देश्य भी सिद्ध हो जाता है ॥ २७६ ॥

इसके औचित्य पर प्रकाश डालते हुए कह रहे हैं कि,

इन्द्रियाँ चाहे ज्ञानेन्द्रियाँ हों या कर्मेन्द्रियाँ दोनों बाह्यवृत्ति विशिष्ट
इन्द्रियाँ ही हैं। ये सभी अपनी वृत्तियों के भासन रूप आलोचन में ही समर्थ
हैं। जहाँ तक मन का प्रश्न है, यह अन्तर्योजना की शक्ति से संवलित है।

वृत्ति भासन के स्थान पर वस्तु भाजन पाठ मान लेने पर जिन
वस्तुओं का अधिगम इनसे होता है, उनके भासन का अर्थ लिया जाना चाहिये।
श्रीपूर्वशास्त्र की इस मान्यता के वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में थोड़ा विचार आवश्यक
प्रतीत होता है। एक पुरुष बोलता है—इसका उत्तम पुरुष का प्रयोग है—
'अहं वच्मि' मैं कहता हूँ। इस वाक्य में 'वचन' एक क्रियांश है। ज्ञानेन्द्रिय-
श्रोत्र ने श्रवण किया—वाक्य के शब्द का आलोचन आलोडन हुआ। इससे
उक्त वाक्य से वच् धातु के प्रयोग ने 'वचन' रूप अर्थ को स्पष्ट कर दिया।

भेदाभेदमयसंबन्धमूलोऽन्तर्योजनात्मा मनसो व्यापारः, क्रिया हि बहिर्बहूनां क्रमिकाणां क्षणानामन्तःप्रमातृमयतयैकता नाम, न चाविकल्पदशायामेवं-भावो भवेत्, एकैकस्मिन्नाभासक्षणेऽनुभवस्य वृत्तेः। तेन 'वच्म्यहम्' इत्यादौ संभवतः प्रमातुः प्रथमविकल्पतया वचनादिविषयस्य शब्दादेः कत्रंशस्पर्शा-वरोहेण कार्यांशस्पर्शोद्रेकादीषत्परिस्फुरणं नाम कर्मेन्द्रियाणां मुख्या वृत्तिः, येनास्य मूकादिवैलक्षण्यं स्यात्; वचनादिक्रिया तु वैकल्पिकतया मायाप्रमातुः मानस एव व्यापारः ॥ २७७ ॥

नन्वत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह

उक्तं च गुरुणा कुर्यान्मनोऽनुव्यवसायि सत् ॥ २७८ ॥
तद्द्वयालम्बना मातृव्यापारात्मक्रिया इति ।

इसमें बोलने रूप क्रिया के परिस्फुरण का बोध हुआ। यह बोध यह सोचने को बाध्य करता है कि बुद्धि प्रमाता में विश्रान्त भेदाभेदमयसम्बन्ध मूलक एक ऐसा व्यापार यहाँ हुआ, जिसे अन्तर्योजनात्मक कहा जा सकता है। यह मन का ही व्यापार है। जिससे क्रियार्थ का बोध हुआ।

जहाँ तक क्रिया का प्रश्न है—यह बाहर बहुत सारे क्रमिक क्षणों की अन्तःप्रमातृमयता के आधार पर एकार्थानुवृत्ति वाली ही होती है। अविकल्प दशा में इस प्रकार के भाव उत्पन्न ही नहीं होते। यहाँ एक एक क्षण में अनुभव वृत्ति उदित होती रहती हैं। इसलिये 'मैं बोलता हूँ' ऐसे वाक्यों से सम्भवतः प्रमाता में प्रथमविकल्प के रूप में वचनात्मक शब्द के माध्यम से कत्रंश का स्पर्श होता है। उसके बाद कार्यांश स्पर्श का उद्रेक होता है। उससे कार्य के प्रति आंगिक ईषत्स्फुरण होता है। यही कर्मेन्द्रियों की वृत्ति होती है। 'मैं बोलता हूँ' में बुद्धि, वचनकर्त्ता और वाक् इन्द्रिय का स्फुरण सब का चमत्कार हुआ है। इस एक प्रयोग में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन के व्यापारों का सुन्दर विश्लेषण आचार्य जयरथ ने प्रस्तुत किया है। इसमें मौन और वाक्प्रयोग का वैलक्षण्य स्पष्ट हो गया है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, वचनक्रिया वैकल्पिकता पूर्वक माया प्रमाता का मानस व्यापार होती है ॥ २७७ ॥

गुरुणेति श्रीप्रत्यभिज्ञाकृता। यदुक्तं तत्र

'तद्द्वयालम्बता एता मनोऽनुव्यवसायि सत्।
करोति मातृव्यापारमयीः कर्मादिकल्पनाः॥'

(ई० प्र० २।२।३) इति।

मन एव हि कल्पनानन्तरं चक्षुरादिव्यवसितमपि अर्थमनुव्यवस्यन्निश्चयदशामधिशाययत् तदेकानेकरूपं द्वयमवलम्बमाना एताः क्रियादिकल्पनाः कुर्यात्, एतावत्येव च मायाप्रमातुः प्रमातृत्वमित्युक्तं 'मातृव्यापारात्म' इति।

उक्त तथ्य की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में इस कारिका का अवतरण कर रहे हैं—

श्री प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के रचयिता परमाचार्य गुरुदेव ने कहा है कि मन अनुव्यवसाय करता है। पहले इन्द्रियाँ अर्थ सन्निकर्ष रत होती हैं। उसके बाद मन इन्दियों द्वारा व्यवसित अर्थ को अनुव्यवसित करता है। जबतक मन अर्थ सेसंयुक्त नहीं होता, इन्द्रियों को अर्थविषयक व्यवसाय का बोध भी प्रायः नहीं रहता। मन यह निश्चय करा देता है कि अर्थ की क्या स्थिति है। वह एक है या अनेक है। इस उभयात्मकता को आश्रित करने वाली क्रियाओं को मन अपनी कल्पना का विषय बनाता है। तब प्रमाता इस व्यापार के प्रति जागरूक होता है। माया प्रमाता का प्रमातृत्व भी यही है कि वह मन के द्वारा सम्पन्न इन क्रियाओं को स्वात्म व्यापार मान लेता है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में लिखा है कि,

"इन्द्रिय और अर्थ दोनों पर आश्रित सारे व्यापार द्वयालम्बी कहे जाते हैं। इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती हैं। मायाप्रमाता के सारे व्यापार इसी पर अवलम्बित हैं। मन इसमें अनुव्यवसायी बनता है। अनुव्यवसायी बन कर मन कर्म आदि की कल्पना करता है। ई० प्र० २।२।३ के इसी सन्दर्भ को ग्रन्थकार ने अपना वर्ण्य विषय बनाया है।

'निर्विकल्पदशायां हि सोऽयमैश्वरो भावः पशोरपि ।'

इत्यादिनीत्या तत्तदर्थजातमभेदेनैव परिस्फुरेन्,—इति कथ भेदाभेदमयी लोकयात्रा निर्वहेत् ॥ २७८ ॥

तन्मात्राणि पुनरत्र भूतादेस्तामसादेवाहंकारादित्याह

तान्मात्रस्तु गणो ध्वान्तप्रधानाया अहंकृतेः ॥ २७९ ॥

ननु बुद्धिकर्मेन्द्रियवर्गद्वयवत् तान्मात्रोऽपि वर्गः सात्त्विकादेवाहंकाराद् कथं नोदियात् ? इत्याशङ्क्याह

अत्राविवादः सर्वस्य ग्राह्योपक्रम एव हि ।

इस दशा को विकल्पात्मक दशा कहते हैं। "निर्विकल्प दशा में पशु में भी ऐश्वर भाव का उल्लास होता है।" इस नियम के अनुसार इस दशा में सारा का सारा विषय समुदाय अभेद भाव से ही स्फुरित होता है। किन्तु अभेदभाव के परिवेश में पुलकित रहने वाले की लोकयात्रा का निर्वाह नहीं हो सकता। लोकयात्रा भेदाभेदमयी होती है। माया प्रमाता इसी दशा में जी रहा है। मन उसके प्रमाता भाव को अपने अनुव्यवसाय से सारे व्यवहार-सम्पादन का आधार बनाता है। इस व्यवहार के, इस जागतिक व्यवसाय के मूल में इन्द्रियाँ और विषय समुदाय रहते हैं। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि बोलने आदि की सारी क्रियायें वैकल्पिक हैं और माया प्रमाता के मानस व्यापार रूप हैं ॥ २७८ ॥

तामस अहंकार से ही तन्मात्रवर्ग की भी उत्पत्ति का प्रतिपादन कर रहे हैं—

तन्मात्रसमूह (शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) भी ध्वान्तप्रधाना अहंकृति से अर्थात् तामस अहंकार से उत्पन्न हैं ; जैसे बुद्धीन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का वर्ग सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होता है, उसी तरह तन्मात्रवर्ग भी उससे क्यों नहीं उत्पन्न होता ? इस प्रश्न का समाधान है कि यह वर्ग भी ग्राह्य का ही उपक्रम है। सभो विचारक यह स्वीकार करते हैं कि तन्मात्रायें प्रकाश्य हैं प्रकाशक नहीं हैं। सात्त्विक अहंकार से प्रकाशक वर्ग ही उत्पन्न हो सकता है, प्रकाश्य वर्ग नहीं। कहा गया है कि,

नहि अत्र कश्चिद्विप्रतिपद्यते—यत् वरणात्मनो ग्राह्यस्यायमुपक्रम इति । अत एवायं प्रकाश्यो न तु प्रकाशकः तदस्य सात्त्विकादहंकारात् कथमुत्पत्तिः स्यात् । तदुक्तम्

'मात्रावर्गोऽप्यहंकाराद्वर्गद्वयविलक्षणः ।
प्रकाश्यस्तामसस्तस्माज्जातो भूतादिसंज्ञितात् ॥'

इति ॥ २७९ ॥

तन्मात्रवर्गमेव विभज्य दर्शयति

पृथिव्यां सौरभान्यादिविचित्रे गन्धमण्डले ॥ २८० ॥
यत्सामान्यं हि गन्धत्वं गन्धतन्मात्रनाम तत् ।

अन्यत् असौरभम् । आदिशब्दः प्रकारे । तेन तीव्रमन्दादेस्तत्प्रयुक्ततया घृतक्षतजादिसंबन्धिनश्च गन्धस्य ग्रहणम् । तदुक्तं भूपरीक्षायाम्

'घृतक्षतजपक्वान्नमदिरागन्धसंयुता ।' इति ।

विचित्र इति विशेषात्मनीत्यर्थः । सामान्यमित्यविशेषः । अविशेषनिष्ठैरेव हि विशेषैर्भाव्यमिति भावः । अत एव चानुद्भिन्नविशेषतया स गन्धादिरेव केवलस्तन्मात्र इत्युक्तम् ॥ २८० ॥

"यह तन्मात्रवर्ग अशुद्ध अहंकार से उत्पन्न है और वर्गद्वय विलक्षण है । प्रकाश्य तामस होता है और प्रकाशक सात्त्विक । इसलिये, प्रकाश्य तन्मात्र वर्ग तामस से ही उत्पन्न है" यह स्पष्ट है ॥ २७९ ॥

तन्मात्र वर्ग को विभक्त कर पृथक्-पृथक् उनका विश्लेषण कर रहे हैं—

पृथ्वी में एक प्रकार का सौरभ होता है । इसके अतिरिक्त अन्य गन्ध-मण्डल में जो सौरभ है, इसमें सौरभ-सामान्य गन्धत्व है, वही गन्धतन्मात्र है । गन्ध तीव्र और मन्द आदि भेद से कई प्रकार के होते हैं । भूपरीक्षा ग्रन्थ में लिखा है कि,

"घी, खून, पके अन्न और मदिरा आदि कई प्रकार के ग़ंधों से संयुक्त भू होती है" । ये सभी विशेष गन्ध हैं । ये सभी अविशेष निष्ठ विशेष हैं । अविशेष सामान्य होता है । यहाँ सामान्य गन्धत्व में तन्मात्रत्व का प्रतिपादन

तच्च सामान्यरूपत्वादेव अशेषविशेषान्वयात् व्यापीत्याह

व्यापकं तत एवोक्तं सहेतुत्वात्तु न ध्रुवम् ॥ २८१ ॥
स्वकारणे तिरोभूतिर्ध्वंसो यत्तेन नाध्रुवम् ।

न चैतद्देशानवच्छिन्नत्वात् कालेनापि अनवच्छिन्नमित्युक्तं 'सहेतुत्वात्तु न ध्रुवम्' इति । कृतकं हि न जातु नित्यं भवेत्—इति भावः । एवमप्यन्ते विनाशदर्शनाभावात् नैतद्विनश्वरमित्युक्तं 'नाध्रुवम्' इति । यस्मादस्मन्मते स्वस्मिन्नेव कारणे प्रलीनत्वं नाम नाशो, यदन्तर्विपरिवर्तिन एवार्थस्य बहिरवभासो नाम कार्यत्वं, पुनस्तत्रैव विश्रान्तिर्नाश इति । तेन नैतत् कूटस्थनित्यम्, अपि तु परिणामिनित्यम्, —इति सिद्धम् ॥ २८१ ॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति

एवं रसादिशब्दान्ततन्मात्रेष्वपि योजना ॥ २८२ ॥

किया गया है । जिस सामान्य में अभी विशेष की उत्पत्ति के लक्षण भी नहीं व्यक्त हुए हों, ऐसा केवल सामान्य गन्ध तन्मात्र होता है ॥ २८० ॥

यह गन्धत्व सामान्य होने के कारण समस्त विशेषों में अन्वित होता है । इसलिये व्यापी है । यही प्रतिपादित कर रहे हैं—

व्यापक कहने और मानने का यही आधार है कि यह सामान्य निष्ठ है । गन्धत्व नित्य है या अनित्य इस प्रश्न को भी साथ ही इस कारिका में प्रतिपादित किया गया है । चूँकि यह सहेतुक है । अतः यह ध्रुव या नित्य नहीं हो सकता । पृथ्वी कारण है । पृथ्वी न रहने पर यह नहीं रह सकता । इसलिये इसे ध्रुव नहीं कहा जा सकता । कोई भी कृतक वस्तु कभी नित्य नहीं होती क्योंकि कृतक नित्यत्वाभाव से और अनित्यत्त्व से व्याप्त होता है, यह नियम है । उसका नाश होता है । वस्तुतः नाश है क्या ? अपने ही कारण में प्रलीन होने को नाश माना जाता है । अन्तर्परिवर्त्ती अर्थ का जब बाह्यावभास होता है, तो उसे कार्यत्व कहते हैं और फिर वहीं विश्रान्ति को नाश । अपने ही कारण में तिरोभूति ध्वंस होती है । इसलिये इसमें परिणामी नित्यता रहती है, क्योंकि कार्य रूप में भी है और कारण में प्रलीन भी है । यह सही है कि इसमें कूटस्थ की शाश्वतिकता नहीं होती ॥ २८१ ॥

ननु किमेभिः परोक्षैरविशेषैः, विशेषा एव प्रत्यक्षा अभ्युपगम्यन्तां, यद्वशादियं लोकयात्रा सिध्येत् ? इत्याशङ्क्याह

विशेषाणां यतोऽवश्यं दशा प्रागविशेषिणी ।

अवश्यमिति, कार्यापेक्षया हि कारणेन भाव्यमिति भावः ।

एषामेव प्रकृतिरूपतां निरूपयति

क्षुभितं शब्दतन्मात्रं चित्राकारा श्रुतोर्दधत् ॥ २८३ ॥

नभः शब्दोऽवकाशात्मा वाच्याध्याससहो यतः ।

तदेतत्स्पर्शतन्मात्रयोगात् प्रक्षोभमागतम् ॥ २८४ ॥

वायुतामेति तेनात्र शब्दस्पर्शोभयात्मता ।

क्षुभितमिति कार्यजननोन्मुखमित्यर्थः । चित्राकारा विशेषरूपाः श्रुतोर्दधत् —इत्यनेनास्य शब्दैकगुणत्वमुक्तम् । ननु शब्द एव कथं नभो भवेदित्याशङ्क्योक्तं 'शब्द' इत्यादि । यतः शब्दोऽवकाशात्मा अवकाशात्मत्वात् नभसोऽनुगुणं कारणमित्यर्थः । अवकाशात्मत्वेऽपि अस्य हेतुः वाच्याध्याससह' इति । तेन यथा शब्दः स्वात्मनि वाच्यस्य अध्याससहत्वादवकाशतां ददाति

इसी प्रकार रूप, रस, स्पर्श और शब्द में भी सामान्य और विशेष भाव तथा कार्यत्व और कारणप्रलीनत्व का सिद्धान्त लागू माना जाता है। कोई यदि यह कहे कि सामान्य तो हमेशा परोक्ष होता है। जो विशेष होता है, वही प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रत्यक्ष व्यवहार से लोकयात्रा का निर्वाह होता है। सामान्य को मान्यता ही क्यों दी जाय ?

इस शङ्का पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विशेषों की स्थिति पहले तो सामान्य ही रहती है। कार्य विशेष होता है। कार्य के पहले कारण तो रहता ही है। कारण में सामान्य विद्यमान है। अतः उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

शब्द तन्मात्र जब क्षुब्ध होता है अर्थात् कार्याभिमुख होता है, तो चित्र-विचित्र विशेष श्रुतियों का अधिष्ठान हो जाता है और आकाश हो जाता है। क्योंकि शब्द अवकाश रूप होता है। अवकाश का यह गुण ही नभ में भी आ जाता है। जैसे शब्द स्वात्म में वाच्य भाव का अध्यास होने के कारण

तथा तत्कार्यं आकाशोऽपि सर्वस्येति । तदिति शब्दतन्मात्रम् । तेनेति शब्द-स्पर्शतन्मात्रकारणत्वेन हेतुना 'शब्दस्पर्शोभयात्मता' इति शब्दस्पर्शोभयगुणत्वम् इत्यर्थः ॥ २८४ ॥

नन्वन्यैराकाशैकगुणः शब्दः,—इत्युक्तम् । यदाहुः

'तत्राकाशस्य गुणाः शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः ।'

इति ।

तत्कथमिह वायोरपि तद्गुणत्वमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

अन्ये त्वाहुर्ध्वनिः खैकगुणस्तदपि युज्यते ॥ २८५ ॥
यतो वायुर्निजं रूपं लभते न विनाम्बरात् ।
उत्तरोत्तरभूतेषु पूर्वपूर्वस्थितिर्यतः ॥ २८६ ॥
तत एव मरुद्व्योम्नोरवियोगो मिथः स्मृतः ।

तदिति शब्दस्याकाशगुणत्वं, यतो वायुरम्बरं विना निजं रूपमेव न लभते, तत्सहचरितस्वभाव एवेत्यर्थः । तदुत्तरोत्तरस्मिन् वाय्वादौ भूते पूर्व-

---

अवकाशवान् होता है । उसी तरह उसका कार्य रूप आकाश भी सबके अवकाश का आधार बन जाता है ।

यह शब्द तन्मात्र ही स्पर्श तन्मात्र के योग से क्षुब्ध होकर अर्थात् कार्योन्मुख्य दशा में प्रयुक्त होकर शब्द और स्पर्श दोनों की गुणवत्ता का आधार वायु बन जाता है ॥ २८२-८४ ॥

प्रश्न है कि दूसरे लोग तो आकाश के गुण रूप में शब्द को स्वीकार करते हैं । कहा है कि,

"आकाश के शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग और विभाग रूप छः गुण माने गये हैं" ।

तो कैसे यहाँ वायु में भी शब्द गुणत्वोपलब्धि हो गयी ? इस विषय कह रहे हैं कि,

कुछ लोग कहते हैं कि ध्वनि ही आकाश की एकमात्र गुण है । इनके अनुसार शब्द आकाश का गुण है—यह ठीक ही है क्योंकि वायु विना अम्बर के

पूर्वस्याकाशादेः स्थितिरित्याकाशस्य वायोश्च परस्परमवियोगः स्मृत इति।
तदुक्तम्

'अत एव स्पर्श एव वायुः तथा चोत्तरोत्तरस्य पूर्वं पूर्वं भूतं कारणमाहुः।' इति।

अतश्च तत्सहचरितस्याकाशस्यैवायं मुख्यतया गुणः, वायोस्तु तत्साहचर्यादुपचरित इति ॥ २८६ ॥

शब्दस्पर्शौ तु रूपेण समं प्रक्षोभमागतौ ॥ २८७ ॥
तेजस्तत्त्वं त्रिभिर्धर्मैः प्राहुः पूर्ववदेव तत्।
तैस्त्रिभिः सरसैरापः सगन्धैर्भूरिति क्रमः ॥ २८८ ॥

त्रिभिर्धर्मैरित्युपलक्षितम्। पूर्ववदिति, उत्तरोत्तरस्मिन् भूते पूर्वस्यपूर्वस्यावस्थानात् यथा वायावुपचरितः शब्दो गुणः, तथा तेजस्यपि शब्दस्पर्शौ उपचरितौ रूपं तु मुख्य इत्यर्थः। सगन्धैरिति, अर्थात् तैश्चतुर्भिः।
तदुक्तम्

अपना रूप ही नहीं पा सकता। वह तो आकाश का ही सहचारी तत्त्व है। उत्तरोत्तर सभी महाभूतों में पहले-पहले को स्थिति बनी रहती है। जैसे वायु आदि में आकाश आदि की होती है। आकाश और वायु का परस्पर अवियोग सर्वविदित है। कहा गया है कि,

"स्पर्श ही जैसे वायु है, उसी तरह उत्तर-उत्तर में पूर्व-पूर्व के भूत कारण हो जाते हैं।"

इसलिये वायु सहचरित आकाश का ही मुख्य गुण शब्द है। आकाश के साहचर्य से उपचरित शब्द वायु का गुण है। यही इसका निष्कर्ष है ॥ २८६ ॥

शब्द और स्पर्श साथ ही जब क्षुब्ध होते हैं, तो तेजस्तत्त्व तीन धर्मों से युक्त हो जाते हैं। पूर्व की तरह अर्थात् उत्तर-उत्तर में पूर्व-पूर्व को स्थिति तरह वायु में भी शब्द गुण उपचरित रूप से स्वीकृत है। उसी तरह तेज में भी शब्द और स्पर्श गुण उपचरित माने जाते हैं। रस से युक्त इन तीनों से जल, और गन्धयुक्त चारों से भूतत्त्व इसी क्रम से पञ्च महाभूतों की सृष्टि हो जाती है। कहा गया है कि

'क्षुभिताच्छब्दतन्मात्रात् तदध्यासावकाशदात् ।
आकाशं जातमेकेन गुणेनैवोपलक्षितम् ॥
शब्दस्पर्शगुणाभ्यां तु क्षुभिताभ्यां समीरणः ।
गुणौ द्वावत एवास्य दृश्येते वीरवन्दिते ॥
शब्दस्पर्शालोकगुणैः क्षुभितैरनलोद्भवः ।
त्रिगुणत्वमतस्तस्य प्रशंसन्ति त्रयीविदः ॥
शब्दस्पर्शरूपरसैः क्षुभितैर्वारिसंभवः ।
चतस्रः शक्तयस्तेन वारिणो वरवर्णिनि ॥
शब्दादिभिः पञ्चभिश्च क्षुभितैर्भूसमुद्भवः ।
तेन सर्वगुणा भूमिः सर्वैरेव विभाव्यते ॥'

इति ॥ २८८ ॥

ननु गन्धादिगुणग्राम एव प्रत्यक्षत उपलभ्यते न तु तदतिरिक्तवृत्ति किंचिद्धरादि, तथात्वे वा गुणगुणिनोः किंचिज्ज्ञातेयमभ्युपगन्तव्यमित्याशङ्क्याह

"क्षुभित शब्द तन्मात्र से वाच्याध्याससहत्त्व के कारण अवकाश रूप आकाश उत्पन्न हुआ। इसमें एक मात्र गुण उपचरित शब्द तन्मात्र है। शब्द स्पर्श गुणों से क्षुब्ध होने से समीरण (वायु) का प्रादुर्भाव हुआ। इससे वायु में दो गुण हैं। शब्द स्पर्श और आलोक इनसे त्रिगुणात्मक अनल, शब्द स्पर्श रूप और रस से चतुर्गुण वारि, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से पाँच गुणयुक्त भू तत्त्व उत्पन्न हुआ। इस प्रकार सृष्टि में पंच महाभूतों की उत्पत्ति हुई है ॥ २८८ ॥

गन्ध आदि गुण समुदाय ही प्रत्यक्ष उपलब्ध हैं। इनसे अतिरिक्त वृत्ति वाले धरा आदि पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं होते अर्थात् गन्धवती धरा ही प्रत्यक्ष है निर्गन्ध नहीं। ऐसा मानने पर गुण और गुणी का ज्ञातेय क्या रहेगा ? इसलिये कारिका कहती है कि धरादि गुण संचय ही प्रत्यक्ष पदार्थ है। गन्ध आदि गुण समूह से धरा भिन्न नहीं होती, एकदम अभिन्न है। यही तादूप्य भी है। कहा गया है कि,

"इस प्रकार पूर्वोक्त गन्ध आदि समुदाय से अभिन्न धरा आदि लोक में प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ हैं·······॥" गन्धादि के अतिरिक्त धरादि पदार्थों को अतिरिक्त उपलब्धि असम्भव है। कारिका का यही भाव है कि गन्ध आदि

तत्र प्रत्यक्षतः सिद्धो धरादिगुणसंचयः ।

गुणसंचय इति गन्धादिगुणव्राताभिन्नत्वात् तद्रूप इत्यर्थः । तदुक्तम्

'इत्थं यथोक्तगन्धादिव्राताभिन्ना धरादयः ।
प्रत्यक्षसिद्धा लोकस्य ··· ····· ······ ········· ।।' इति ।

नहि धरादीनां तदतिरेकेणोपलम्भ एव भवेदिति भावः ॥

तदाह

नहि गन्धादिधर्मौघव्यतिरिक्ता विभाति भूः ॥ २८६ ॥

गन्धादीनामन्यतमस्य ग्रहे हि धरादिबुद्धिर्जायते नान्यथा,—इति गन्धादिभ्यो धरादोनामव्यतिरिक्तत्वं यस्मिन्नगृहोते हि यत् गृह्यते तत्ततोऽन्यत् जलादिव भूः । तदुक्तम्

'नागृहीतैस्तु गन्धाद्यैर्जातुचिज्जायते मतिः ।
धरित्र्या हि जलादीनामग्रहेऽपि प्रजायते ॥
गन्धादिभ्यस्ततो नान्या जलादिभ्यः पृथक्च भूः ।' इति ॥ २८९ ॥

ननु गन्धादय एव चेद्धरा तद्धराया एकरूपत्वात् नैषां क्रमेणोपलम्भो भवेदित्याशङ्क्याह

धर्मों के समवाय के व्यतिरिक्त पृथ्वी तत्त्व कभी भी विभासित नहीं हो सकता । गन्धादि वस्तु सत्ता में किन्हीं का ग्रहण होने पर धरा आदि की ओर बुद्धि की धारा बह चलती है । बिना उनके नहीं । जिसके न गृहीत होने पर जो गृहीत हो जाता है, उसकी सत्ता ही व्यतिरिक्त मानी जाती है । जैसे जल कहने से पृथ्वी का ग्रहण नहीं हो सकता । गन्ध आदि के ग्रहण पर धरा आदि का ग्रहण होता है । अतः ये इनके व्यतिरिक्त नहीं हो सकते । कहा गया है कि,

"गन्ध आदि के ग्रहण न होने पर धरा आदि की भावना भी नहीं उत्पन्न होती । जल आदि के ग्रहण न होने पर धरादि के ग्रहण से यह सिद्ध हो जाता है कि धरा गन्धादि के अतिरिक्त नहीं है । यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जलादि से भू की सत्ता पृथक् नहीं है" ॥ २८९ ॥

गन्ध आदि सभी पाँचों मिलकर ही यदि धरा हैं, तो धरा की एक रूपता में इनके प्रतीक ग्रहण क्यों नहीं होते हैं ? इस सम्बन्ध में काणाद आदि

यथा गुणगुणिद्वैतवादिनामेकमप्यदः ।
चित्रं रूपं पटे भाति क्रमाद्धर्मास्तथा भुवि ॥ २९० ॥

इह खलु काणादादिषु गुणगुणिनोर्भेदेऽपि यथैकमपि शुक्लरहितनीलादि-मयतया चित्रमिदं रूपं रूपाख्यो गुणो यथायथमुद्वेष्ट्यमाने गुणिनि पटे क्रमेणोपलभ्यते तथा धरादेरेकत्वादेकरूपा अपि गन्धादयो धर्मा धरादावस्मदादिभिः क्रमेणोपलभ्यन्ते,—इति न कश्चिद्दोषः । तदुक्तम्

'चित्रस्वभावकाः प्रोक्ता गुणाभिन्ना धरादयः ।
क्रमसंख्या यथा चित्रं पटे रूपं तु वेष्टिते ॥' इति ॥ २९०॥

ननु विषममेतत्, विस्तृतपटादौ विचित्रस्यापि रूपस्य युगपदुपलम्भा-दित्याशङ्क्याह

यथा च विस्तृते वस्त्रे युगपद्भाति चित्रता ।
तथैव योगिनां धर्मसामस्त्येनावभाति भूः ॥ २९१ ॥

मतवादियों के विभिन्न विचार हैं। ये यह मानते हैं कि गुण अलग हैं और गुणी अलग हैं। इन दोनों में भेद है। भेद मानने पर यह ध्यान देने की बात है कि एक वस्त्र जिस पर हरे, नीले, पीले और लाल आदि रंगों के चित्र बने हुए हैं—सब मिलकर उसका एक चित्रमय शबल रूप भासित होता है। उसे लपेट कर रख दिये जाने के बाद फिर खोलने पर सभी रंग क्रमिक रूप से प्रतिभासित भी होते हैं। उसी तरह धरा के एक रूप से भासित होने पर भी उसमें गन्ध, रूप, स्पर्शादि गुण भी हमारे विचारकों को प्रतिभासित होते हैं। कहा गया है कि, "धरा आदि तत्त्व चित्रात्मक स्वभाव सम्पन्न हैं। गुणों से इनकी भिन्नता नहीं है। लपेटे चित्रमय वस्त्र खोलने पर रंगों की तरह इसमें भी विचार कर गुणों का क्रमिक भान संभव है।" अतः गुणैक्यवाद में कोई दोष नहीं है ॥ २९० ॥

रंग विरंगे रंगों की रंगीनियों की रोचिष्णुता में चमकती छींट का एक थान लपेट कर कपड़े की दूकान में रखा हुआ है। ग्राहक के आने पर दूकानदार उसे उघाड़ता है। उघाड़ने पर छींट की छटा के और उसके रंगों के दर्शन होते हैं। इसमें एक क्रमिकता होती है। एक के बाद एक रंग उभर कर आते हैं। ग्राहक मुग्ध होता जाता है।

धर्मसामस्त्येनेति धर्मादीनां हि गन्धादीनां सामस्त्येन सहभावेन यौगपद्येनेति यावत् । पटस्य युगपत् चित्ररूपावभासे विस्तृतत्वं निमित्तम् इह तु धर्मसामस्त्यावभासे धरादिसिद्धानां योगिनां योगजधर्मातिशयात् पटुकरणत्वमिति ॥ २९१ ॥

एवं योगिनां पटुकरणत्वम् अयोगिनां तदभावः, इत्युपायभेदादेव धरादौ गन्धादीनां क्रमेणोपलम्भः,—इति । नेदं चोद्यं—यत् धरादीनामेकरूपत्वात् गन्धादीनां कथं क्रमेणोपलम्भः—इति तदाह

एक दूसरी दूकान है। वहाँ सारे रंगीन कपड़े पहले से ही खोल कर रख दिये गये हैं। इसमें छवि की छटा तो दीख पड़ती है पर यहाँ क्रमिकता नहीं होती। एक साथ समग्र दर्शन का स्वारस्य होता है। ये दो चित्र हैं। एक में क्रम दर्शन है। दूसरे चित्र में सामग्रीवाद है। यह वैषम्य का एक उदाहरण है। इसी आधार पर साधक की श्रेणी का आकलन होता है। प्रथम चित्र साधना की सक्रियता का प्रतीक है। दूसरा चित्र सिद्ध साधक की स्थितप्रज्ञ दृष्टि को संदर्भित करता है।

दूसरे तरह के लोग योगी होते हैं। जैसे फैले रंगीन कपड़ों की पूरी चित्रात्मकता एक साथ भासित होती है, उसी तरह गुणों के सामग्रीवाद से विभूषित एकरूपा रत्नगर्भा वसुन्धरा का अवभास योगियों को होता है। और एक साथ होता है। किसी नये पर्यटक की तरह बारी बारी से नहीं।

भू की विभा चित्रात्मक रूप से ही भासमान होती है। सारे गन्ध आदि गुण सहभाव से भासित होते हैं। कपड़ों के एक साथ चित्रात्मक अवभास में वस्त्रों का विस्तार कारण बनता है। धरा का धर्मसामरस्यावभास योगियों की सधी हुई दिव्य दृष्टि की शक्ति से सम्पन्न होता है। साधना की सधी हुई एकनिष्ठता से अनुभूतियों का आन्तर अवकाश प्रकाशमान हो जाता है। दृष्टि में दिव्यता अधिष्ठित हो जाती है। धरा आदि में भी सिद्ध योगियों के योगज धर्म में आतिशय्य के कारण धर्मसामरस्य का अवभास स्वाभाविक रूप से होने लगता है। यही उनका वैशिष्ट्य है ॥ २९१ ॥

योगियों में साधना की शक्ति का उल्लास होता है। उसे दृष्टि की दिव्यता कहते हैं। यह एक प्रकार की पटुता ही है। दूसरे शब्दों में यह पाटवातिशय

गन्धादिशब्दपर्यन्तचित्ररूपा　धरा　ततः ।
उपायभेदाद्भात्येषा　क्रमाक्रमविभागतः ॥ २९२ ॥

ननु यदि धरादेर्गन्धादेश्च रूपे न कश्चिद्भेदः संभवति तत् कथं

'उपायभेदे तद्भाति यदि बुद्धिभिदा कुतः ।'

इत्यादिनीत्या 'गन्धवती धरा' इति विशेषणविशेष्यता बुद्धिभेदो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

तत एव क्रमव्यक्तिकृतो धीभेद उच्यते ।
षष्ठीप्रयोगो　धीभेदाद्भेद्यभेदकता　तथा ॥ २९३ ॥

उनकी आन्तर अनुभूतियों का प्रकाश मात्र हो है। जो इस स्तरीय साधना से रहित है, उसे इसका अवभासन नहीं हो सकता। उसमें दृष्टि का पाटवातिशय नहीं आ सकता।

इसे उपाय भेद भी कह सकते हैं। पहली दशा में धरा आदि के धर्मों का क्रमिक अवभास होता है और दूसरी दशा में दिव्यदृष्टि के कारण सामरस्यावभास होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि धरा आदि जो एक रूप ही हैं, उनमें गन्ध आदि गुणों का क्रमिक अवभास हो ही नहीं सकता। कारिका से इसी का समर्थन किया गया है।

तन्मात्राओं से वसुधा को संविद् शक्ति ने विभूषित कर इसे अन्तिम तत्त्व का रूप प्रदान किया है। यह चित्रात्मक ही है। स्तरीय साधनात्मक दृष्टि गत उपायों से क्रम दर्शन और अक्रम दर्शन सहज संभाव्य है। धर्म-धर्म में पृथकता की दृष्टि में क्रमिकता और दिव्य दृष्टि से धर्मसामरस्यावभास अनिवार्यतः होते हैं॥ २९२ ॥

यहाँ उपाय भेद विचारणीय है। वास्तविकता पर विचार करें तो यह पता चलता है कि धरा आदि और गन्ध आदि में कोई अन्तर ही नहीं होता। भेद का आकलन अवास्तविक आकलन होता है। एक स्थान पर कहा गया है कि,

तत इति, यत उपायभेदेन क्रमाक्रमावभासः। षष्ठीप्रयोग इति, धराया गन्ध इति। भेद्यभेदकतेति विशेषणविशेष्यभाव इत्यर्थः। तद्यथा गन्धवती धरेत्यादि। तदुक्तम्

'विशेषणविशेष्यत्वव्यपदेशस्य धीभिदाम्।
क्रमव्यङ्ग्यत्वतो हेतोर्गोचरत्वं व्रजन्त्यमी ॥' इति ॥ २९३ ॥

प्रकृतमेवोपसंहरति

तेन धर्मातिरिक्तोऽत्र धर्मो नाम न कश्चन।

तेनेति क्रमग्रहणस्य अन्यथासिद्धित्वेन हेतुना।

"उपाय भेद से ही भेदावभास होता है। यदि यह सत्य है तो बुद्धि में फिर कैसे होता है। प्रश्न उपस्थित होने का कारण है कि पहले यह कह आये हैं कि धरा आदि और गन्ध आदि रूपों में कोई भेद नहीं होता। पर व्यवहार में बुद्धि भेद होता है। साथ ही जब हम प्रयोग करते हैं कि 'गन्धवती धरा है" तो इसमें भी विशेषण विशेष्य भाव स्वष्ट समझ में आता हो है। इस अभेद और भेद की समस्या का समाधान अनिवार्यतया आवश्यक है।

उपाय भेद में क्रमिकता की अभिव्यक्ति होती है। यह सब मानते हैं। क्रमाभिव्यक्ति से बुद्धि में भेद उल्लसित होना भो स्वाभाविक है। यह बुद्धि भेद क्रमाभिव्यक्ति के परिणाम की तरह का ही भेद है। बुद्धि में उत्पन्न भेद की तरह का अवभास मात्र है। षष्ठो विभक्ति सम्बन्ध कारक में होतो है। 'धरा का गन्ध है' इस वाक्य में धरा का सम्बन्ध गन्ध से स्पष्टतया भासित है। इसमें विशेष्य विशेषण भाव रूप बुद्धि भेद भो स्वाभाविक है। बुद्धि भेद से भेद्य भेदकता का उल्लास यहाँ प्रतीत होता है। इसी भाव से प्रेरित होकर गन्धवती पृथ्वी का प्रयोग होता है।

"विशेषण विशेष्य को व्यपदिष्ट क्रमाभिव्यक्ति बुद्धिवादियों के विचार का विषय बनती है।" इस आधार पर कह सकते हैं कि भेद्यभेदकता बुद्धि भेद पर निर्भर है ॥ २९३ ॥

इस विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म के अतिरिक्त धर्मी नहीं हो सकता। गन्ध आदि पाँचों धर्मों के ओघ अर्थात् समुदाय से संवलित धरा आदि कौन, कहाँ, कितने और कैसे होते हैं—यह विचार भी प्रसङ्ग के अनुसार आवश्यक प्रतीत होता है।

तदेवं गन्धादिधर्मौघाव्यतिरिक्ता धरादयः,—इत्युक्तं, ते च के कुत्र कियन्तः कीदृशाः पुनः ? इत्याशङ्क्याह

तत्रानेकप्रकाराः स्युर्गन्धरूपरसाः क्षितौ ॥ २९४ ॥
संस्पर्शः पाकजोऽनुष्णाशीतः शब्दो विचित्रकः ।
शौक्ल्यं माधुर्यशीतत्वे चित्राः शब्दाश्च वारिणि ॥ २९५ ॥
शुक्लभास्वरतोष्णत्वं चित्राः शब्दाश्च पावके ।
अपाकजश्चाशीतोष्णो ध्वनिश्चित्रश्च मारुते ॥ २९६ ॥
वर्णात्मको ध्वनिः शब्दप्रतिबिम्बान्यथाम्बरे ।

अनेकप्रकारा इति, तत्र गन्धो द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च, रूपमनेकप्रकारं शुक्लपीतादि, रसः षड्विधो मधुरादिः । पाकज इति, देशकालादिद्रव्यान्तरसंयोगप्रभवत्वात् तदुक्तम्

स्पर्शोऽस्या अनुष्णाशीतत्वे सति पाकजः ।' इति ।

विचित्रक इति, खटखटादिरूपत्वात् । शौक्ल्यादित्रयं **रूपरसस्पर्शविषयम्** । यदुक्तम्

वस्तुतः पृथ्वी में गन्ध, रूप और रस आदि अनेक प्रकार के और अनेक प्रकार से होते हैं । जैसे गन्ध को ही लीजिये । यह दो प्रकार का होता है । १—सुरभिरूप और २—असुरभिरूप । स्पर्श अनुष्ण और अशीत अवस्था में रहता है । और 'पाकज' होता है । 'पाक' पारिभाषिक शब्द है । विजातीय तेजः संस्पर्श अनुष्ण और अशीत होते हैं । ऐसी अवस्था में ये संस्पर्श 'पाकज' श्रेणी में आते हैं ।

विजातीय तेजः संयोग नाना जातीय रूप के जनक होते हैं । तेज की अपेक्षा रस जनक, इसकी अपेक्षा स्पर्शजनक आदि भिन्न जातीय रूप पाक, कर्मों में वैलक्षण्य उत्पन्न करते हैं । देश और काल आदि द्रव्यान्तर संयोग से उत्पन्न होने के कारण सभी संस्पर्श 'पाकज' माने जाते हैं । एक उक्ति है कि,

'शुक्लमधुरशीता एव रूपरसस्पर्शाः ।' इति ।

चित्रा इति, छलछलादिरूपत्वात् । एवमुत्तरत्रापि धमधमचटचटादिरूपतया वैचित्र्यं ज्ञेयम् । शुक्लभास्वरतेति रूपे । तदुक्तम्

'तत्र शुक्लं भास्वरं च रूपमुष्ण एव स्पर्शः ।' इति ।

अपाकज इति तदुक्तम्

'स्पर्शोऽस्यानुष्णाशीतत्वे सति अपाकजः ।' इति ।

"अनुष्णता और अशीतता की अवस्था में पृथ्वी का स्पर्श पाकज स्पर्श ही होता है।"

इसी तरह पाकज शब्द भी विचित्र होते हैं। जैसे खट् खट् पट् पट् आदि। जल के रूप में शुक्लता, रस में माधुर्य और स्पर्श की शीतलतायें सभी 'पाकज' हैं। जल में उपन्न शब्द छल-छल कल-कल ध्वनि करता हुआ कर्ण कुहर का स्पर्श करता है।

अग्नि में शुक्लता, भास्वरता रूप प्रकाश और उष्णता रूप स्पर्श भी पाकज हैं। उक्ति है कि,

"रूप वहाँ शुक्ल और भास्वर होता है तथा स्पर्श उष्ण होता है।"

यदि रूप स्पर्श अनुष्ण हो या अशीत हो वह अपाकज होगा। वायु में विचित्र मर्मर ध्वनि उत्पन्न होती है। सनसनाहट होती है। आकाश में शब्द के प्रतिबिम्ब उभरते हैं। कहा गया है कि,

"विचारक लोग यही मानते हैं कि आकाश में प्रतिध्वनियों का संघात स्वभाविक रूप से होता है।"

दूसरे काणाद मतवादी विचारक शब्द के विषय में कहते हैं कि यह अस्पर्शवत् है। इसके लिये तीन हेतुओं को उपन्यस्त करते हैं। ये मतवादी शब्द को आकाश गुण वाला ही मानते हैं। 'शब्दगुणकमाकाशम्' उनका सूत्र वाक्य है। इसलिये आकाश गुण वाला स्पर्श की तरह कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। इसके समर्थन में उन्होंने तीन कारण बताये हैं। "शब्द प्रत्यक्षत्व की अवस्था में १—अकारण गुण पूर्वकत्व, २—अयावद् द्रव्य भावित्व और ३—आश्रय से अन्यत्र उपलब्धि, ये तीन गुण हैं, जो सिद्ध करते हैं कि शब्द स्पर्शवत् विशेष गुण नहीं होते।"

वर्णात्मक इति, वाचकशब्दमय इत्यर्थः। प्रतिबिम्बानीति, तदुक्तम्

'प्रतिशब्दसंघातो नभस्येवोदितो बुधैः।' इति।

नन्वन्यैरस्पर्शवदाकाशैकगुणत्वं शब्दस्य निरणायि। यदाहुः

'शब्दः प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वादयावद्द्रव्यभावित्वात्।
आश्रयात् अन्यत्रोपलब्धेश्च न स्पर्शवद्विशेषगुणः॥'

इति।

तत्कथमिह स्पर्शवतां क्षित्यादीनामपि गुणः शब्दः,—इत्युच्यते ? इत्याशङ्क्याह

यत्तु न स्पर्शवद्धर्मः शब्द इत्यादि भण्यते॥ २९७॥
काणादैस्तत्स्वप्रतीतिविरुद्धं केन गृह्यताम्।

स्वप्रतीतिविरुद्धमिति, अनुभवबाधितमित्यर्थः॥ २९७॥

एतदेवोपपादयति

पटहे ध्वनिरित्येव भात्यबाधितमेव यत्॥ २९८॥

अतश्च आश्रयादन्यत्रास्य नोपलम्भः,—इति भावः॥

यह काणाद मत है। त्रिकमत में क्षिति आदि स्पर्शवान् तत्त्वों में भी शब्द गुण की बात कही गयी है। त्रिकदर्शन मानता है कि तन्मात्र रूप पाँचों धर्मों के समूह से संवलित धरादि तत्त्व होते हैं। काणाद के अनुसार शब्द स्पर्शवत् नहीं होता। इसी आधार पर यह जिज्ञासा की गयी है कि स्पर्श युक्त क्षिति आदिकों का गुण शब्द भी है—यह आप क्यों कहते हैं? इस जिज्ञासा के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि

काणादमतवादी लोग मानते हैं कि न स्पर्शवद्धर्मः शब्दः अर्थात् जिसका स्पर्श धर्म है, उसका धर्म शब्द नहीं हो सकता। कणाद का यह मत त्रिक मान्यता के अनुसार अनुभव के विरुद्ध है। अतएव अमान्य है।

यह अनुभव सिद्ध है—इस कयन के समर्थन में दृष्टान्त उपस्थित कर अपना मत प्रस्तुत कर रहे हैं कि,

ननु पटहे ध्वनिरिति पटहहेतुत्वादन्यथासिद्धोयमवभासः,—
इत्याशङ्क्याह

न च हेतुत्वमात्रेण तदादानत्ववेदनात् ।

नहि अत्र पटहे सति ध्वनिरित्येतावतीयं प्रतिपत्तिरस्ति, अपि तु पटह-देशोऽयं ध्वनिरिति; अतश्च असिद्धोऽयं हेतुरिति भावः ।

ननु कथं निष्क्रियतया पटहदेशमप्राप्तवतः श्रोत्रस्य तद्देशस्थशब्दोपलम्भ-निमित्तत्वं भवेदित्याशङ्क्याह

'पटह ध्वनि' शब्द के प्रयोग में श्रोता को क्या बोध होता है ? इस पर विचार करना है। पटह आश्रय है। वहीं उसी में ध्वनि है। वहीं उसको उपलब्धि (श्रुति) होती है। आश्रय से अन्यत्र उसकी उपलब्धि नहीं होती। यही प्रतीत होता है कि पटह में ध्वनि है जो सुन पड़ी। पटह में ध्वनि बाधित भी नहीं है। जिसका साध्याभाव दूसरे प्रमाण से सिद्ध हो जाय वह 'बाधित' कहलाता है। जैसे आग शीतल है क्योंकि द्रव्य है। यहाँ आग की शीतलता साध्य है। उसका अभाव उष्णत्व है। यह स्पर्श प्रमाण से सिद्ध हो गया कि आग उष्ण है। अतः आग की शीतलता बाधित है। पर पटह में ध्वनि है। इसमें पटह अध्वनि वाला है, क्योंकि ताडन से ध्वनि होती है। यहाँ अध्वनि का अभाव ध्वनि है। वह वहीं उपलब्ध है। अन्यत्र उसको उपलब्धि नहीं होती। अतः पटहध्वनि अबाधित भी है।

यहाँ शङ्का होती है कि पटह, ध्वनि का कारण है। कारण पटह है, तो ध्वनि रूप कार्य भी है। पटह नहीं रहेगा तो ध्वनि भी नहीं रहेगी। यह अन्यथा सिद्ध ध्वन्यवभास है। इसका उत्तर यह है कि पटह हेतु है। अतः हेतु होने से ध्वनि उत्पन्न होती है और वही ध्वनि सुन पड़ती है। ऐसा आभास यहाँ नहीं होता। वरन् पटह देश से उत्पन्न पटह देशीय ध्वनि होती है। यह प्रतिपत्ति होती है। ऐसो अवस्था में आश्रय से अन्यत्र उपलब्धि रूप तीसरा हेतु असिद्ध हो गया। असिद्ध होने से बाधित हो गया। इससे उल्टे यह सिद्ध हो गया कि शब्द आश्रय में उपलब्ध होता है। इस तरह काणाद मत स्वतः खण्डित हो जाता है ॥ २९७-२९८ ॥

श्रोत्रं चास्मन्मतेऽहंकृत्कारणं तत्र तत्र तत् ॥ २९९ ॥
वृत्तिभागीति तद्देशं शब्दं गृह्णात्यलं तथा ।

तदित्यहंकृत्कारणत्वाद्धेतोऽपि रजोरूपत्वात् क्रियावत्त्वम्,—इति तत्कार्यं श्रोत्रमपि क्रियावदित्युक्तं तत्र तत्र वृत्तिभागीति तत्र तत्र विषयदेशे व्यापारभाक् क्रियावदित्यर्थः । अतश्च श्रोत्रं पटहदेशमपि शब्दं तथा तत्स्थेनैवालं पर्याप्तेन रूपेण गृह्णीयात् । इह खलु काणादा एवमुचुः यत्—

'वीचीसन्तानक्रमेण कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं श्रोत्रतया संमतं नभोदेशं संप्राप्य संयोगविभागप्रभवप्रथमशब्दप्रसूतः शब्दः स्वविषयं ज्ञानं जनयेत् ।'
इति ॥ २९९ ॥

एतदेव प्रतिक्षेप्तुमनुवदति

यस्त्वाह श्रोत्रमाकाशं कर्णसंयोगभेदितम् ॥ ३०० ॥
शब्दजः शब्द आगत्य शब्दबुद्धिं प्रसूयते ।

इस तरह राजस अहंकार से श्रोत्र भी क्रियावान् हो जाता है। इस लिये तत्र-तत्र यह वृत्तिभागो होता है अर्थात् उन-उन स्थानों पर यह व्यापारवान् होता रहता है। इसीलिये पटह देशस्थ शब्द को भी वहीं से पर्याप्त रूप से ग्रहण करने में समर्थ होता है। इस विषय में काणाद मतवादी कहते हैं कि,

"जैसे लहरें एक पर एक संतान परम्परा के रूप में लहरा रही होती हैं, जिसे वीचीतरङ्गन्याय कहते हैं। इसी तरह शब्द की धारा भी उत्पन्न होती है। कर्णशष्कुलो में स्थित श्रोत्र रूप से संमत जो आकाश खण्ड, उसको प्राप्त होकर संयोग विभाग के सामर्थ्य से प्रथम शब्द से द्वितीय शब्द रूप में प्रसूत होता रहता है। यही शब्दज शब्द अपने ज्ञान को उत्पन्न करता है।" यहाँ उत्तर-उत्तर आगे बढ़ने वाले शब्दों के पूर्व-पूर्व में अवस्थित शब्द ही कारण बनते जाते हैं ॥ २९९ ॥

उक्त सिद्धान्त वादिता का खण्डनात्मक समीक्षण कर रहे हैं कि जो यह कहते हैं कि श्रोत्र-आकाश जो कर्ण शष्कुली में अवच्छिन्न है, से संयोग-विभाग सामर्थ्य से भेदित होकर शब्दज शब्द उत्पन्न हुआ। वही आकर शब्द-

तस्य मन्देऽपि मुरजध्वनावाकर्णके सति ॥ ३०१ ॥
अमुत्र श्रुतिरेषेति दूरे संवेदनं कथम् ।

अतश्च 'आश्रयादन्यत्रास्योपलम्भः' इति नायमसिद्धो हेतुरित्याशयः। तस्यैवमभिधातुः काणादस्य, मन्द इत्यन्त्यप्रायत्वात्, अपिना अस्यानाकर्णनयोग्यत्वं सूचितम् । अमुत्रेति मुरजदेशे, यदि नाम हि श्रोत्रतया संमतं नभोदेशं प्राप्तः सन् अन्त्यप्रायः शब्दजः शब्दः प्रतीयेत तदिह श्रोत्रे शब्दः,—इति प्रतिपत्तिः स्यात् न तु दूरतया मुरजदेशादाविति। ततश्च श्रवणाकाशसमवेतशब्दोपलम्भपक्षः स्वानुभवेनैव प्रतिक्षिप्तः—इति भावः ॥ ३०१ ॥

अत्रैव हेतुमाह

नहि शब्दजशब्दस्य दूरादूररवोदितेः ॥ ३०२ ॥
श्रोत्राकाशगतस्यास्ति दूरादूरस्वभावता ।

नहि दूराददूराद्वा शब्दादुतिस्य शब्दस्य श्रोत्राकाशदेशसमवायाविशेषात् कारणवैदूर्यावैदूर्याभ्यां स्वात्मनि कश्चिदतिशयः ॥ ३०२ ॥

बुद्धि उत्पन्न करता है, ऐसे कणाद मतवादियों के शब्दज शब्द दूर स्थित मुरज से मन्दतया उत्पन्न ध्वनि को कैसे कानों तक पहुँचा सकता है? समीप में स्थित शब्दज शब्द भले ही काणादों के कान में पड़ें पर दूर स्थित श्रवणाकाश में समवेत शब्द का उपलम्भ होने की बात अपने आप निरस्त हो जाने योग्य है। जब कहीं भो श्रोत्र रूपतया संमत आकाश देश को प्राप्त होकर अन्त्यप्रायः शब्दज शब्द प्रतोत होगा, तभी श्रोत्र में शब्द की जानकारी होगी। यह सारा उक्त तर्क अनुभव साक्षिक नहीं माना जा सकता। अतः नितान्त अमान्य है ॥ ३००–३०१ ॥

इसका स्पष्ट कारण है कि शब्दज शव्द की ध्वनियाँ चाहे दूर से या अदूर से उदित हों, श्रोत्राकाश में आने पर उसकी दूरादूर स्वभावता कैसे ज्यों की त्यों बनी रहेगी। इन सामान्य श्रवणात्मक बातों से स्वात्म में किसी प्रकार की अतिशय उपलब्धि नहीं होती। न तो यह कोई प्रेरक तर्क हो है। अतः यह अमान्य है ॥ ३०२ ॥

ननु मा भूत् श्रोत्रवृत्तितया शब्दजः शब्दो दूरप्रतीतिविषयः, प्रथम एव तु श्रोत्रपर्यन्तप्रसरणशीलो दूरदेशस्थतया तथा स्यादित्याशङ्क्याह

न चासौ प्रथमः शब्दस्तावद्व्यापीति युज्यते ॥ ३०३ ॥

तत्रस्थैः सह तीव्रात्मा श्रूयमाणस्त्वनेन तु ।
कथं श्रूयेत मन्दः सन्नहि धर्मान्तराश्रयः ॥ ३०४ ॥

प्रथमः शब्द इति, दूरदेशस्थमुरजाद्युद्भूतः । एवं हि प्रथमोऽयं मुरजादिशब्दस्तद्देशसंनिकृष्टैः श्रोतृभिः तीव्रतया श्रूयमाणः कथमनेन दूरदेशस्थेन श्रोत्रा मन्दतया श्रूयते; नहि स तीव्र एव शब्दो मन्दत्वाख्यस्य धर्मान्तरस्यापि आश्रयः स्यात्, एकस्य विरुद्धधर्मायोगात्; अतश्च स्वाश्रयमुरजादावेवास्योपलब्धिः,—इत्यसिद्ध एवायं हेतुः ॥ ३०४ ॥

प्रश्नकर्त्ता कहता है कि शब्दज शब्द यदि दूर प्रतीति-विषय न हो, तो न हो । पहला शब्द तो श्रोत्र पर्यन्त प्रसरणशील हो सकता है ? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं कि,

वह प्रथम शब्द भी तावद्व्यापी हा सकता है, यह कथन भी युक्ति युक्त नहीं प्रतोत होता । दूर देश स्थित पुरुष तारस्वर से सघोषोच्चरित महाध्वनि का श्रवण भले कर ले, मन्द मधुर मुरज की मृदुल नादनिःस्वनता का आनन्द कैसे उठा सकता है ?

दूर देशस्थ मुरज निःस्वन और वीणाक्वणन का मसृण मधुर प्रथम शब्द भी उतनी दूर तक नहीं जा सकता । तावद्व्यापी नहीं हो सकता । इसके विपरीत तो मोचा भी नहीं जा सकता । मुरज के समीपस्थ श्रोता तीव्रतया उसे सुन सकते हैं । दूर देश स्थित पुरुष उसी शब्द को मन्द भाव से सुन सकेगा—इस कथन का भी व्यावहारिक आधार नहीं प्रतीत होता ।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि वह तीव्र शब्द मन्दत्व रूप अलग धर्म का आश्रय बने यह भी कल्पना के परे की बात लगती है । तीव्रत्व और मन्दत्व दोनों विरुद्ध धर्म हैं । इनमें धर्मान्तर समाश्रयण की योग्यता नहीं होती । इसलिये आश्रय भूत मुरज देश में जिस शब्द की उपलब्धि होगी उससे दूर देश में हुए शब्द की श्रुति नहीं हो सकती । निष्कर्षतः शब्दज-शब्द-श्रुति रूप हेतु भी असिद्ध हो जाता है । अतएव अनुभव विरुद्ध और अमान्य है ॥ ३०३-३०४ ॥

ननु काणादैः शब्दस्य स्पर्शवद्धर्मतामपाकर्तुं हेतुत्रयमुपन्यस्तं, तत् कथमेतदेकेनैव हेतुना पराकृतेन पराकृतं स्यात्, अन्यस्य हेतुद्वयस्याविकलस्यैव भावात् ? इत्याशङ्क्याह

एतच्चान्यैरपाकारि बहुधेति वृथा पुनः ।
नायस्तं पतिताघातदाने को हि न पण्डितः ॥ ३०५ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि शब्द में स्पर्शवद् धर्मता के निराकरण के लिये काणाद मतवादियों ने तीन कारण उपन्यस्त किये हैं। आपने मात्र तीसरे हेतु से ही उसे निराकृत करने का प्रयास किया है। अभी दो कारण अवशिष्ट हैं। एक हेतु के निराकरण से समस्या का समाधान नहीं होता। दोनों उन अवशिष्ट हेतुओं के विषय में भी तो चर्चा करें ? इस पर ग्रन्थकार का कथन है कि,

ज्योत्स्नाकार आदि आचार्यों ने इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डाला है और उक्त मत वाद का समर्थतापूर्ण निरास किया है। सशक्त खण्डन किया है। इस विषय में व्यर्थ विचार करने से कोई लाभ नहीं। यह पिष्टपेषण मात्र होगा। अतः हम इस विषय का विस्तार नहीं कर रहे हैं। गिरे हुए संघातशीर्ण घायल को चोट पहुँचाने में तो कोई भी समर्थ हो सकता है। हम ऐसा नहीं कर सकते।

आचार्य जयरथ ने ज्योत्स्नाकार आदि आचार्यों के विश्लेषण का सूक्ष्म पर्यवेक्षण कर सुन्दर समीक्षा प्रस्तुत की है। उस पर विचार करने से सन्दर्भ का सुगमता पूर्वक अवगम हो जाता है।

काणाद मतदादियों का पहला हेतु अकारण गुण पूर्वकत्व है। अकारण गुण पूर्वकता क्या है ? यह संयोग में होती है। संयोग भी स्पर्श के समान ही एक गुण है। अकारण गुण पूर्वकता संयोग में है पर स्पर्श में नहीं। स्पर्श के लिये कारण का पहले विद्यमान रहना अनिवार्य है। संयोग संयुक्त-व्यवहार का हेतु होता है। यह सभी द्रव्यों में होता है। यद्यपि यह भी स्पर्शवद् गुण है पर अकारण गुण पूर्व है। ऐसा न मानने पर कार्य द्रव्यों में जो संयोग होगा, वह संयोगज संयोग होगा। यह मानना ही पड़ेगा क्योंकि कार्य संयोग कारण संयोग पूर्व ही होता है। जैसे हाथ से नदी में खोजते हुए शालिग्राम का स्पर्श गवेषक साधक के हाथ से हुआ। यह संयोग है। इसके पहले शालिग्राम शिला

अन्यैरिति ज्योत्स्नाकारादिभिः । ते हि एवमाहुः—यत् परैः संयोगस्य स्पर्शवद्गुणत्वेऽपि अकारणगुणपूर्वकतैव प्रत्यपादि, अन्यथा हि कार्यद्रव्येषु संयोगज एव संयोगः स्यात्, कारणसंयोगपूर्वकत्वादेव कार्यसंयोगस्य; ततश्चान्यतरोभय-कर्मजः संयोगः स्थाणुश्येनयोः श्येनश्येनयोर्वा न स्यात्, न च संयोगो यावद्द्रव्यं

ने अनन्तवर्षों से पत्थरों के संघर्षण से यह आकृति प्राप्त की थी। यह आकृति भी संयोग जन्य है। साधक के हाथ और शालिग्राम संयोग के पहले शिलाओं से यह संयोग हुआ था, जिससे उसे वृत्ताकार आदि चित्र-विचित्र आकृति मिली है। साधक के हाथ का शालिग्राम संयोग कारण गुण पूर्व है पर कार्य संयोग उसके शरीर से संयोग है।

संयोग व्यवहार हेतु संयोग सामान्य संयोग होता है। जैसे दो परमाणुओं का संयोग गुण है। यह उभय परमाणु संयोग अकारण गुणपूर्व संयोग है। हाथ और द्रव्य का संयोग कारण गुण पूर्व संयोग है, पर शरीर से संयोग कार्य संयोग है। जैसे दिया सलाई की बत्ती के जलने में गन्धक-लेप-युक्त-दीपशलाका फलक पर गन्धकाग्र भागयुक्त बत्ती (तिल्ली) का संयोग हाथ से हुआ। यह हाथ अवयव है। इससे अवयवी शरीर का संयोग कार्य-संयोग है।

कार्य संयोग में कारणसंयोग पूर्वकता आवश्यक है। वस्तु स्थिति यह है कि द्रव्य की ग्राहिका तीन शक्तियाँ होती हैं। १—चक्षु, २—त्वक् और ३—मन। अन्य इन्द्रियाँ गुण ग्रहण करती हैं। जहाँ द्रव्य से त्वक् इन्द्रिय का संयोग होता है, वहाँ द्रव्य वृत्ति में जो लौकिक विषयता है, उसका त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। इसमें हेतु त्वाच प्रत्यक्ष होता है। इसमें हेतु त्वाचप्रत्यक्षावच्छिन्न त्वक् संयोग होता है।

जहाँ तक शब्द संयोग का प्रश्न है, यह स्पर्शवद् गुण होता है। पर कणाद मतानुसार अकारण गुणपूर्व है। अन्यतर कर्मज संयोग स्थाणु और श्येन का है। संयोग तीन प्रकार के होते हैं। १—संयोगज संयोग, २—अन्यतर कर्मज संयोग और ३—उभयकर्मज संयोग। संयोगज संयोग हाथ से द्रव्य के संयोग होने पर शरीर का संयोग है। अन्यतर अर्थात् दो में से एक का कर्मजन्य संयोग श्येन का है जो स्थाणु पर बैठता है। उभयकर्मज संयोग दो श्येनों का संयोग है। ये दोनों संयोग अकारण गुण पूर्वकता न मानने पर संयोगज संयोग ही माने जायेंगे।

भवति, सत्येव द्रव्ये विभागोत्पत्तौ तन्निवृत्तेः । अतश्च द्वयोरपि हेत्वोः संयोगेनानैकान्तिकत्वम्, प्रत्युत संयोगमेव दृष्टान्तीकृत्य अकारणगुणपूर्वकत्वायावद्द्रव्यभावित्वाभ्यां स्पर्शवद्गुणत्वसाधने साधनविपर्ययसाधनाद्विरुद्धं, पिठरपाकपक्षे च घटपाकजरूपादिभिः स्फुटतरमनैकान्तिकत्वम् अकारणगुणपूर्वकत्वं च

स्थाणु पर श्येन का बैठना भी क्रिया व्यापार है। यहाँ अभ्यन्तर कर्मज संयोग है। श्येन श्येन का संयोग उभय कर्मज संयोग है।

यह ध्यान देने की बात है कि संयोग में यावद् द्रव्य भावित्व भी नहीं होता। किसी समय में संयोग हुआ। इसमें तुरत विभाग भी सम्भव है। ज्यों ही विभाग हुआ पदार्थों का बिलगाव हो जाता है। विभाग की उत्पत्ति में संयोग नहीं रह सकता। संयोग नाशक गुण ही विभाग माना जाता है।

इस लिये ये दोनों हेतु अर्थात् अकारण गुण पूर्वकत्व और अयावद् द्रव्य भावित्व दोनों ही संयोग में ऐकान्तिक रूप से संपृक्त नहीं हैं अपितु विरुद्धवत् हो हैं। संयोग को हो दृष्टान्त मान कर इन दोनों हेतुओं द्वारा संयोग के स्पर्शवद् गुणत्व साधन में साधनविपर्यय ही उपस्थित किया जा रहा है। ये कारण काणाद मत के अनुकूल या पक्षधर नहीं प्रतीत होते। एक तरह से सर्वथा प्रतिकूल हो हैं।

अतः शब्द की स्पर्श धर्मता का खण्डन करने के लिये जो तीन हेतु दिये गये थे, वे तोनों ही बाधित हेतु सिद्ध हो जाते हैं। शब्द में तीन हेतुओं का प्रदर्शन कर उसे स्पर्शवद् गुण न मानना उचित नहीं। संयोग भी एक गुण है। इसे अकारण गुणपूर्व मानते हुए भी स्पर्श धर्मवत् गुण मानते हैं। कहीं स्पर्शवत् मानना और कहीं नहीं मानना यह कोई शास्त्रीय और वैचारिक स्तर की बात नहीं हो सकती।

संयोग का सम्बन्ध शब्द से भी है। शब्द भी गुण, संयोग भी गुण और स्पर्श भी गुण। तीन का गुण होना सर्वमान्य है। शब्द सम्बन्ध कर्णकुहर में होता है। कान का आकाश शब्द संयोग से ही शब्द को सार्थक निरर्थक रूप से ग्रहण करता है। जब संयोग वहाँ है, तो स्पर्श भी है। पटह से निकला शब्द भी पहले तीव्र और दूर होने पर सीधे मन्द रूप से भी कर्ण कुहर के आकाश में संयोग पाता है। उसके बाद ही शब्द का अर्थज्ञान होता है। इस प्रकार शब्द, स्पर्श और संयोग के सन्दर्भों का अनुभव कर यह अर्थ निकलता है कि उक्त तीनों हेतु व्यर्थ हैं। सभी गुण समान समानधर्मा हैं।

परं प्रत्यसिद्धं च शब्दगुणादेवापादनात्, शब्दगुणस्य कार्यस्योत्पादोपगमात् अयावद्द्रव्यभावित्वमपि तथा यावद्द्रव्यमेव शङ्खादौ शब्दस्य भावात् कथं न श्रूयते,—इति चेत् अनभिव्यक्तत्वादिति ब्रूमः । यदनभिव्यक्तशब्दकादभिव्यक्त-शब्दः परिणामोऽन्य एवेति । तस्मात् स्पर्शास्पर्शवतोरुभयोरपि धर्मः शब्द इति । वृथेति, तत एवावधार्यमिति भावः ॥ ३०५ ॥

एवं शिवादेर्धरान्तस्य तत्त्वजातस्य क्रमं निरूप्य व्याप्यव्यापकभावं दर्शयति

अमीषां तु धरादीनां यावांस्तत्त्वगणः पुरा ।
गुणाधिकतया तिष्ठन् व्याप्ता तावान् प्रकाशते ॥ ३०६ ॥

पिठर पाक का दृष्टान्त वैशेषिक मतवाद है । इसके अनुसार मृद् घट अग्नि-विजातोय तेजः संयोग से घट पकता है । इस पक्ष में घट पाक आदि पिठर पाक रूपों में रक्त-कृष्ण आदि रूप गुण सम्बन्धी अनैकान्तिक स्थिति का ही आकलन होता है । अकारण गुण पूर्वकता भो दूसरे के प्रति असिद्ध हो जाती है । क्योंकि शब्द गुण से ही उसका उपादान हुआ है । शब्द रूपी गुण भो कार्य है । इसके उत्पाद का देश ज्ञात है । पटह देशीय शब्दार्थ के अवगम के उपरान्त अयावद् द्रव्य भावित्व रूप कारण भो असिद्ध हो जाता है ।

यावद् द्रव्य भावित्व और भी विचारणोय है । जब शङ्ख से शब्द का उद्भव होता है, तभी यह जान पड़ता है कि यह शब्द अभिव्यक्त है । न होने पर शब्द अनभिव्यक्त रहता है। तो क्या यावद् द्रव्य भावित्व सिद्ध है ? काणाद लोग अयावद् द्रव्य भावित्व शब्द का मानते हैं । पर शङ्ख के शब्द में यावद् द्रव्य भावित्व है । अनभिव्यक्त शब्द से अभिव्यक्त शब्द कुछ अन्य ही होता है । इसे परिणाम कहा जा सकता है । इसलिये स्पर्श और अस्पर्श दोनो का धर्म शब्द है—यह स्पष्ट हो जाता है ॥ ३०५ ॥

इस प्रकार शिव से धरा पर्यन्त सारे तत्त्वों का क्रमिक निरूपण सम्पन्न करने के बाद इनमें व्याप्यव्यापक भाव को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर रहे हैं—

शिव से धरा पर्यन्त इन सभी तत्त्वों में तीन गुण पहले आकलित किये गये हैं । वे सभी उत्तर उत्तर से पूर्व पूर्व गण गुणाधिक्य के कारण प्रसिद्ध हैं । जो तत्त्ववर्ग जिससे विशिष्ट होता है । वह उससे व्यापक होता है । जैसे शिव

पुरेति, यो यस्य पूर्वभावीत्यर्थः। इह खलु तत्त्वानां षट्त्रिंशत्त्वेऽपि मुख्यतया वृत्त्या नरशक्तिशिवात्मकत्वेन त्रैविध्यं तेषां प्रकाशमयचिद्धर्मताख्यो गुणो यथायथमधिकतया स्फुटीभवन् विशिष्यते,—इति यो यतो विशिष्टगुणः स तस्य व्यापको, यथा शक्तेः शिवः, शिवशक्ती च नरस्येवि । यदभिप्रायेणैव

'मायासदेशपर्यन्तमात्मविद्याशिवाह्वयम् ।
तत्त्वत्रयं यथापूर्वं चिन्मयत्वप्रकाशभाक् ॥'

इत्याद्यन्यैरुक्तम् । एवं च यद्यपि नरात्मके मायादौ तत्त्वजाते चिद्धर्मतात्मनो गुणस्याविशिष्टमेव न्यूनत्वं तथापि एषामवरोहक्रमेण वेद्यताया यथायथं स्थौल्यातिशयात्मगुणोऽपि आरोहक्रमेण तारतम्यात् विशेषः,—इत्युक्तम् । गुणाधिकतया तिष्ठन् यावान् पूर्वभावी तत्त्वगुणस्तावान् अमीषां धरादीनां तत्त्वानां व्यापको, यथा धराया जलं तस्यापि तेजः,—इत्यादि ॥ ३०६ ॥

अनुत्तर तत्त्व उसका उत्तर शक्ति तत्त्व है। अतः शक्ति से शिव तत्त्व व्यापक है। उसी तरह शक्ति के बाद नर वर्ग है। शक्ति तत्त्व नर वर्ग से व्यापक है। इसी अभिप्रायः से अन्यत्र यह लिखा गया है कि,

"मायात्मक देश काल पर्यन्त तीन तत्त्व वर्ग है। १—शिव, २—आत्मविद्या और ३—धरापर्यन्त तत्त्वों का प्रतीक नर वर्ग। यह यथा पूर्व चिन्मात्र के प्रकाश से ओत प्रोत एवं परिपूर्ण है"।

इसलिये नरात्मक माया आदि में चिद्धर्मता रूप जो गुणवत्ता है, वह सामान्य रूप से न्यून मानी जाती है। यह ध्यान देने की बात है जब इनमें अवरोह क्रम प्रवर्त्तित होता है, तो वेद्यता की स्थूलता का विस्तार होता जाता है। ठीक इसी प्रकार आरोह क्रम में सूक्ष्मता का आतिशय्य होते होते चिद्धर्म की पराकाष्ठा आ जाती है। गुणाधिक्य से वर्त्तमान जो चिद्धर्म विशिष्ट पूर्वभावी तत्त्व है वह उतना ही उतना अवरोह की पराकाष्ठा पर पहुँचे धरा आदि की अपेक्षा व्यापक हैं। जैसे धरा से जल। जल से तेज और तेज से वायु आदि व्यापक तत्त्व हैं ॥ ३०६ ॥

नन्वग्निधूमवत् कारणं कार्याव्यभिचारितया तद्व्यापकं, कार्यं च तद-व्यभिचारितया व्याप्यम्; अथवा तिरस्करिणीतिरोहितनटवत् सूक्ष्मं व्याप्यं, स्थूलं च व्यापकम्,—इति किमत्र गुणाधिक्यकथनेनेत्याशङ्क्याह

व्याप्यव्यापकता यैषा तत्त्वानां दर्शिता किल ।
सा गुणाधिक्यतः सिद्धा न हेतुत्वान्न लाघवात् ॥ ३०७ ॥

किलेति आगमे ॥ ३०७ ॥

एतदेव हेतुत्वस्य लाघवस्य व्यभिचारं दर्शयन्नुपपादयति

अहेतुनापि रागो हि व्याप्तो विद्यादिना स्फुटम् ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि अग्नि धूम का कारण है । कार्य में कारण का अव्यभिचरित भाव से व्यापक रहना स्वाभाविक ही है । कार्य भी कारण से अव्यभिचरित भाव से स्थित है । अतः कारण सामग्री व्याप्त है । यह एक कारण-कार्य दशा की वास्तविकता है ।

एक दूसरी स्थिति भी है । नट तिरस्करिणी विद्या का प्रयोग करता है । और तिरोहित हो जाता है । यहाँ नट स्थूल था जो लुप्त हो गया था । इसे व्यापक कहा जा सकता है । तिरस्करिणी सूक्ष्म थी । लुप्त कर देने से वह व्याप्य हो गयी है ।

इन दोनों स्थितियों में गुणाधिक्य कथन का क्या लक्ष्य है जैसा कि श्लोक ३०६ में कहा गया है ? इस पर अपना विचार व्यक्त कर रहे हैं—

व्याप्य व्यापक रूप से तत्त्वों की जो बात कही गयी है, वह गुण के आधिक्य के आधार पर हो कही गयो है । यह बात गुण की अधिकता से ही सिद्ध होती है । इसमें कारण, कार्य-कारण-भाव या हाथ की सफाई रूप लाघव को या विस्तार की बात नहीं है ॥ ३०७ ॥

उदाहरण रूप से कहते हैं कि, हेतु भाव या लाघव गुणाधिक्य में समर्थ नहीं होते । जैसे राग तत्त्व उत्पन्न हुआ है, पर इसमें विद्या कला की कारणता नहीं है । यह व्यभिचरित हेतु का उदाहरण हैं । कला विद्या के बाद राग की गणना है । पर यहाँ हेतु भाव नहीं है । प्रतोत मात्र होता है । इस का यहाँ हेतु व्यभिचरित है ।

अहेतुनेति, विद्यारागयोः 'अव्यक्तरागविद्याः कलासमुत्था' इत्याद्युक्त्या कलातः सहैव समुत्पत्तेः ।

ननु अकारणं च व्यापकं चेति विप्रतिषिद्धमेतत्,—इत्याशङ्क्याह

तद्विना न भवेद्यत्तद्व्याप्तमित्युच्यते यतः ॥ ३०८ ॥
न लाघवं च नामास्ति किंचिदत्र स्वदर्शने ।
गुणाधिक्यादतो ज्ञेया व्याप्यव्यापकता स्फुटा ॥ ३०९ ॥

न भवेदिति, आभास्यतां न यायादित्यर्थः । नहि आभासवादे विनाभासमन्यत् किंचित् भावानां सत्तावेदकं प्रमाणं संभवेदिति भावः । अतश्चेह यदनुग्रहं विना यन्न भासते तत्तद्व्याप्यमित्युक्तम्, इतरच्च तद्व्यापकमिति । अत्र स्वदर्शने इति, संविदद्वैतमात्रसतत्त्वे त्रिकशास्त्रे इत्यर्थः । नहि परां संविदमधिकृत्य स्थूलं सूक्ष्मं वा किंचिदस्ति,—इत्यभिप्रायः । अत इति हेतुत्वस्य लाघवस्य च व्याप्यव्यापकतायां निमित्तत्वानुपपत्तेः ॥ ३०९ ॥

ननु श्रीपूर्वशास्त्रे गुणाधिक्यादूर्ध्वाधरभावमात्रमेवोक्तं न व्याप्यव्यापककत्वम्,—इति किमेतदुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

इस पर यह तर्क उपस्थित करते हैं कि कोई वस्तु कारण न हो और कार्य में व्यापक हो यह सम्भव नहीं है । इस पर कह रहे हैं कि,

जो जिसके विना नहीं होता वही उससे व्याप्त होता हैं । आभासवाद का यह मूल दृष्टिकोण है । आभासवाद में भाव की सत्ता का ज्ञापक प्रमाण आभास ही होता है । आभास के विना भाव की सत्ता का आवेदक कोई प्रमाण नहीं होता । इसलिये हमारे संविदद्वैत सिद्ध त्रिकदर्शन में जिसके अनुग्रह के विना जो जो भासित नहीं होता वही वही व्याप्य होता है ।। अनुग्रह कर्त्ता ही व्यापक होता है । यहाँ लाघव आदि का कोई स्थान नहीं । इसी लिये व्याप्य व्यापकता गुणाधिक्य के आधार पर निर्भर है । यह पूरी तरह परा संविद् का महत्त्व है । उसके परिवेश में उसके महत्त्व के समक्ष न तो कुछ असूक्ष्म है और न कुछ सूक्ष्म । इसलिये निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि हेतुत्व और लाघवत्व व्याप्य व्यापकता में निमित्त नहीं हो सकते ॥ ३०८-३०९ ॥

यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्ट स तस्माद्‌र्ध्व उच्यते ।
ऊर्ध्वता व्याप्तृता श्रीमन्मालिनीविजये स्फुटा ॥ ३१० ॥

नहि एवमादावूर्ध्वत्वं देशकृतं कालकृतं वा विवक्षितं, किं तु चिद्धर्मत्व-तारतम्याद् गुणोत्कर्षः, तदेव च व्यापकत्वमित्युक्तम् ऊर्ध्वता व्याप्तृतेति ॥ ३१० ॥

एवमियता पर्यवसितमित्याह

अतः शिवत्वात्प्रभृति प्रकाशता-
स्वरूपमादाय निजात्मनि ध्रुवम् ।
समस्ततत्त्वावलिधर्मसंचयै-
विभाति भूर्व्याप्तृतया स्थितैरलम् ॥ ३११ ॥

श्री पूर्वशास्त्र में गुणाधिक्य से ऊर्ध्व और अधर भाव होने का उल्लेख है। व्याप्य व्यापकत्व का नहीं। यहाँ आप गुणाधिक्य से व्याप्य व्यापकभाव की स्वीकृति दे रहे हैं। यह शास्त्र विरुद्ध व्यवहार क्यों ? इस पर कह रहे हैं कि,

जो जिससे गुणों में उत्कृष्ट होता है, वही उससे ऊपर कहा जा सकता है। ऊर्ध्वता और व्याप्तृता का स्पष्ट अन्तर श्री मालिनी विजय शास्त्र में स्फुट रूप से अभिव्यक्त है। यह ध्यान देने की बात है कि ऊर्ध्वाधर भाव देश काल पर निर्भर नहीं मानना चाहिये। सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यही है कि चिद्धर्म के तारतम्य से गुणोत्कर्ष की दशा व्यापक होती है और ऊर्ध्वता ही व्याप्तृता होती है ॥ ३१० ॥

इसलिये पर्यवसितार्थ निष्कर्ष यही है कि शिव भाव से ही अवरोह क्रम में प्रकाश की भावात्मक दशा का उल्लास प्रारम्भ हुआ है। यह ध्रुव सत्य है कि इसी प्रकाश रूपता को लेकर समस्ततत्त्वों की परम्परा में तात्त्विक धर्मों का संचय हुआ है। इन्हीं धर्मों से हमारी यह अन्तिम तत्त्व रूपा मातृ शक्तिमयी पृथ्वी विभासित हो रही है। इसमें व्याप्तृता का महाभाव है।

अतो गुणप्रकर्षप्रयुक्तात् व्याप्यव्यापकभावात् हेतोः, शिवात्प्रभृति स्वात्मनि चिद्धर्मताख्यगुणप्रकर्षमादाय समस्तानां तत्त्वानां संबन्धिभिः संग्रहपर्यन्तैः धर्माणां संचयैर्निश्चितमेव पूर्णेन रूपेण व्याप्तृतया स्थितैर्भाति समस्ततत्त्वव्याप्येत्यर्थः ॥ ३११ ॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति

एवं जलादेरपि शक्तितत्त्वपर्यन्तधाम्नो वपुरस्ति तादृक् ।

तादृगिति, पूर्वपूर्वैस्तत्त्वैर्व्याप्यमिति भावः ।

ननु व्याप्यव्यापकभावेऽपि एषां को विशेषः ? इत्याशङ्क्याह

किं तूत्तरं शक्तितयैव तत्त्वं पूर्वं तु तद्धर्मतयेति भेदः ॥ ३१२ ॥

उत्तरमिति धरादि । पूर्वमिति जलादि तद्धर्मतयेति स धर्मो यस्येति शक्तिमद्रूपतयेत्यर्थः । तेन धरातत्त्वं शक्तिरूपं, जलतत्त्वं तु शक्तिमद्रूपं; सधरं च जलतत्त्वं शक्तिः तेजस्तत्त्वं तु शक्तिमत् । यावत् शक्तितत्त्वं शक्तिः शिवस्तु शक्तिमान् येन

इस तरह गुण प्रकर्ष की यह चमत्कारमयी दशा ही व्याप्य व्यापक भाव का आतान वितान तानने में समर्थ होती है—यह निश्चित सिद्धान्त है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि पृथ्वी समस्त प्रकाश धर्मा तत्त्वों से व्याप्त है अर्थात् स्वयं व्याप्त है। पृथ्वी के अतिरिक्त ऊपर के ३५ तत्वों को इस दृष्टि से आकलित करने पर गुण प्रकर्ष का चमत्कार और भी स्पष्ट होता जाता है। सबमें चिद्धर्मता का प्रकाश पौ की तरह फूटता अनुभूत हो जाता है ॥ ३११ ॥

यह तथ्य मात्र पृथ्वी से ही सम्बन्धित नहीं है, अपितु जल से लेकर अन्य चार महाभूतों, तन्मात्रों, धीकर्मेन्द्रियों अन्तःकरणों, प्रकृति पुरुषों, कञ्चुकों और शुद्ध अध्वा में शक्ति तक यही गुण प्रकर्ष और चिद्धर्मता का चमत्कार भरा हुआ अनुभूत हो जाता है। एक एक तत्त्व व्याप्य होते जाते हैं और उनमें प्रकृष्ट तत्त्वों की व्यापकता मालूम होने लगती है।

इस व्याप्य व्यापक के स्पष्ट वैशिष्ट्य पर, प्रकाश डालते हुए कह रहे हैं कि, इनमें जो भेद भासित होता है, वह मात्र उत्तर-उत्तर और पूर्व-पूर्वभाव में चिद्धर्मता के गुणोत्कर्ष की दृष्टि से ही प्रतीत होता है। पूर्व-पूर्व शक्तिमान् रूप का अवभास ही है। सधर जलतत्त्व शक्ति और तेज शक्तिमान्। शक्ति तत्त्व पर्यन्त सभी शक्ति और शक्तिमान् एकमात्र शिव ! आगम प्रमाण्य है कि,

'पञ्चत्रिंशत्तत्त्वी शिवनाथस्यैव शक्तिरुक्तेयम् ।'
इत्याद्यन्यैरुक्तम् ॥ ३१२ ॥

एतच्चान्यत्र वैतत्येनोक्तमिति तत एवावधार्यमित्याह

अनुत्तरप्रक्रियायां वैतत्येन प्रदर्शितम् ।
एतत् तस्मात् ततः पश्येद्विस्तरार्थी विवेचकः ॥ ३१३ ॥

अनुत्तरप्रक्रियायामिति श्रीपरात्रीशिकाविवरणादावित्यर्थः ॥ ३१३ ॥

एतदेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

इति तत्त्वस्वरूपस्य कृतं सम्यक् प्रकाशनम् ॥ ३१४ ॥

सम्यगिति अनेनात्र भोगकारिकादिभ्यो वैलक्षण्यं कटाक्षितमिति शिवम् ॥

"३६ तत्त्वों में से ३५ तत्त्व मात्र शिव रूप महामाहेश्वर की शक्ति और सबके स्वामी मात्र परमशिव हैं।"

इस तरह गुणोत्कर्ष का सिद्धान्त ही परम चरम तथा मान्य है ॥३१२॥

यह सब कुछ जो यहाँ प्रतिपादित किया गया है, वह सब इसके अतिरिक्त अनुत्तर प्रक्रिया रूप श्रीपरात्रीशिका के विवरणों में विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हैं। जिज्ञासु साधकों को उन ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिये। रहस्यान्वेषी विवेचक विस्तारपूर्वक प्रतिपादित उन ग्रन्थों का स्वाध्याय करें, जिससे हमारे विचारों को भी निकषायित करने का सुअवसर समुपलब्ध हो ॥ ३१३ ॥

शैली के अनुसार पूर्व श्लोक को प्रथम अर्धाली से तत्त्वप्रकाश प्रकरण के प्रकाशन की घोषणा करते हुए कह रहे हैं कि यहाँ तक की विरचित इस पूर्णार्थी प्रक्रिया का यह नवाँ आह्निक तत्त्व प्रकाशन प्रकरण है। इसमें तत्त्वों के 'स्व' रूप का चिद्धर्मोत्कर्ष-चमत्कार पूर्णतया प्रतिपादित है और भोग-कारिका आदि में जैसा प्रतिपादन किया गया है, उससे विलक्षण शैली यहाँ अपनायी गयी है। दूसरी अर्धाली दशम आह्निक का श्री गणेश कर इस महा ग्रन्थ की माला मन्त्रात्मकता का स्थापन करने के लिये यहाँ अनभिव्यक्त रूप से जिज्ञासु के 'स्व' भाव का आकर्षण कर रही है ॥ शिवायों नमः ॥

शंकरनन्दनसद्योज्योतिर्देवबलकणभुगादिमतम् ।
प्रत्याख्यास्यन्नवमं व्याचख्यावाह्निकं जयरथाख्यः ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते तन्त्रालोके श्रीजयरथाचार्यविरचितविवेकाभिख्यव्याख्याख्योपेते तत्त्वप्रकाशनं नाम नवममाह्निकं समाप्तम् ॥

शंकरनन्दन, देवबल, सद्योज्योति, कणाद,
आदि गुरुजनों के सभी निरसित कर मतवाद।
तन्त्रालोकाह्निक नवम की व्याख्या धीगम्य,
विमल विवेकाभिध नवल जयरथ ने की रम्य ॥

× × ×

माहेश्वरामृतमिदं सततं निपीय
राजानकेन विधिना चितिपात्रपूर्णः ।
तत्त्वप्रकाशनविधेः नवमाह्निकस्य
'हंसः' सुधां तदनु पाययितुं प्रवृत्तः ॥ ९ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपाद विरचित
श्रीराजानक जयरथाचार्य कृत विवेकव्याख्योपेत
डॉ० परमहंस मिश्र 'हंस' कृत नीर-क्षीर-विवेक
हिन्दी भाष्य संवलित

श्रीतन्त्रालोक का तत्त्वप्रकाशननामक नवम आह्निक

सम्पूर्ण, इति शुभं भूयात् ॥

[तृतीयोऽयं भागः]

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

अष्टममाह्निकम्

●

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

अष्टमात्तिकस्य

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

नवमस्याह्निकस्य

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

नवाँ आह्निक

विशिष्टशब्दादिक्रमः

शब्दाः   पृष्ठाङ्काः

विशिष्टोक्तयः

उक्तयः	पृष्ठाङ्काः
अकरणिका क्रिया न सम्भवेत्	५६०
अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधादीनां प्रभावः	३५५
अतत्स्वभाववपुषः स स्वभावो न युज्यते	३३२
अतत्त्वे तत्त्वबुद्ध्या यः सन्तोषः तुष्टिरत्र सा	१९७
अतथास्वभावस्य तथास्वभावायोगः	३३२
अतसीपुष्पसन्निभः	४१
अणवो नाम नैवान्यत् प्रकाशात्मा महेश्वरः	४४६
अणुरज्ञानरहितः क्वचिज्जातो न दृश्यते	४४४
अनक्षरमेवोक्तम्	३२५
अन्तःप्राणाश्रयं यत्तु कर्मात्र करणं हि वाक्	५६८
अभिन्नादभिन्नमभिन्नम्	४५४
अर्थक्रियामर्थयमानो जनः किंचिदुपादत्ते, किंचिच्च जहाति	५०७
अव्यवच्छिन्न-संवित्तिर्भैरवः परमेश्वरः	९
असतः सत्त्वं विरुद्धम्	३०७
अस्वतन्त्रस्य कर्तृत्वं नहि जातूपपद्यते	३१०
आभासमात्रपरमार्थो हि कार्यकारणभावः	३५७
इच्छाप्रधानं सदाशिवतत्त्वम्	३६६
इदं तत्त्वमिदं नेति विवदन्तीह वादिनः	२३६
ईश्वरेच्छावशादस्य भोगेच्छा सम्प्रजायते	३७४
उपरिष्टाद्धियोऽधश्च प्रकृतेर्गुणसंज्ञितम्	५३०
एवंविधं प्रधानं तद् ब्रह्मणा सहितं पुरा	५३१
कदम्बकुसुमं यद्वत् केसरैः परिवारितम्	१३७
करणं विना किं सम्भवेत् क्रिया	५५९

उद्धृताः ग्रन्थाः

गुरवः ग्रन्थकाराश्च

संकेतग्रहः

संक्षिप्तसंकेतः		पृष्ठाङ्काः
इत्याद्युक्तेः	सांख्यकारिका	५३९
ई० उ०	ईशावास्योपनिषद्	१०४
ई० प्र०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा	२५५,५८२
ऋ०	ऋचा	१०४
त०	श्रीतन्त्रालोकः	१९५,२०७,४९०,५५६,५५७
तं० सा०	तन्त्रसारः	५२५,५४५
न्या० मं०	न्यायमंजरी	५५९,५६५
न्या० सू०	न्यायसूत्रम्	५४६,५७७
परमा०	परमार्थसारः	५१३
पुराणे	(अनुक्ताभिधानम्)	११९
मतङ्ग०	मतङ्गतन्त्रम्	२२९,२३५,२४७,२६४,२६५,२८६,४८१
म० त० वृ०	मतङ्गतन्त्रवृत्तिः	२८७
मनुः	मनुस्मृतिः	४१९
मा०	मालिनोविजयोत्तरतन्त्रम्	४९३,४९७,४७८,५०३,५०६, ५०७,५०९,५२७,५३३,५३५,५७५
मा० वि०	मालिनोविजयोत्तरतन्त्रम्	१८,१९,२९,१३७,१३९,१४३, १५१,१५२,१५३,४-५,१६५–६,२१८,९,२३१,२४१,२८९, २९१,२९३
मृगेन्द्रा०	मृगेन्द्रागमः	८९
यद्गीतम्	(श्रीमद्भगवद्गीतायाम्)	४००,४१७,४४०
रुरौ	रुरुशास्त्रे	५२३
रौरवे	रौरवशासनम्	२४७
विष्णु पु०	विष्णुपुराणम्	४९६

न्यायप्रयोगः

शुद्धिनिर्देशः

अपमुद्रण संशोधनक्रमः

अशुद्धमुद्रणम्	शुद्धरूपम्	पृष्ठाङ्काः	पंक्तितततयः
अष्टनवति	अष्टानवति	१२	७
अयमाशयी	अयमाशयो	२२	७
ऊध्वना	ऊर्ध्वगा	२६८	११
कथ	कथं	२३७	३
कपालोशो	कपालीशो	१२८	१
कामुँक	कार्मुक	५८	७
क्रमेणै	क्रमेणैव	१२७	१७
गुणोत्कृष्ट	गुणोत्कृष्टः	६०९	१
चतुर्विशति	चतुर्विंशति	२८४	१
८३	१२२–१२६	९६	१
दशनार्थः	दर्शनार्थः	२०८	७
दशितं	दर्शितं	५३०	१२
दर्शिस	दर्शित	२८८	४
२२३	३२३	३२३	१
२२६	३२६	३२६	१
धमं	धर्म	५९२	३
धाता	घाता	४५६	२
धीकारान्तः	धिकारान्तः	२४८	१०
नुग्रहकारिणः	नुग्रहकारिणः	१८७	३
पशुत्व	पशुत्वं	३९७	९
पाथिवाद्यं	पार्थिवाद्यं	२७८	७
पिशिष्ट	विशिष्ट	४६८	३
पूर्वेति	पूर्वेति	५६४	१
पूर्व	पूर्वम् (पूर्वं)	४	११
प्रतिष्ठाया	प्रतिष्ठायां	२८१	११
प्राच्य	प्रोच्य	४७७	६

ब्राह्मणषु	ब्राह्मणेषु	२७	१३
ब्रह्महरो	ब्रह्महरी	२७९	१
भद्राध्वंतः	भद्रोर्ध्वतः	१४६	५
भवद्भद्रम्	भवेद्भद्रं	३०	९
भवनेश्वराः	भुवनेश्वराः	२८७	६
भाक्तृपूर्वकम्	भोक्तृपूर्वकम्	५१९	१२
भोक्त्रंशास्पर्शि	भोक्त्रंशस्पर्शिनः	५३८	६
मत्तिः	मतिः	५४४	४
मव	मेव	१७	१४
रित्थ	रित्थं	२४१	१०
रोद्श्री	रोद्ध्री	२७०	१२
लाकपाः	लोकपाः	३३	११
श्वेव	श्चैव	१२५	९
वद्युतो	वैद्युतो	१०४	६
विज्ञाज्ञाकल	विज्ञानाकल	४२५	११
वोधरूपं	बोधरूपं	९	२
श्चव	श्चैव	५४४	४
सकोचः	संकोचः	४११	२
समान	समन (मनसहित)	५७८	२५
समान	समनो	५७८	७
सव्योत्तरश्च	सव्योत्तरतश्च	४८	९
संभय	संभूय	४८७	५
साघ्यो	साध्यो	२३३	६
स्थलेश्वरौ	स्थूलेश्वरौ	१६५	११
स्व	स्वं	५५०	७
स्वतन्त्र्य	स्वातन्त्र्य	३६९	५
स्वमेव	स्वयमेव	४	१४
स्वेः	स्वैः	२३१	२